









|                            | पुटाः |
|----------------------------|-------|
| ३५ असार्वज्ञ्यम्           | १२३   |
| ३६ जीवाविद्या              | ”     |
| ३७ अज्ञानविषयत्वम्         | १२६   |
| ३८ अहमर्थः                 | १२८   |
| ३९ कर्तृत्वाध्यःसः         | १३५   |
| ४० देहात्मभ्रमः            | १३६   |
| ४१ अनिर्वचनीयत्वम्         | १४३   |
| ४२ अनिर्वचनीयत्वे प्रमाणम् | १४५   |
| ४३ ख्यातिभेदः              | १४८   |
| ४४ सत्तात्रैविध्यम्        | १५०   |
| द्वितीयः परिच्छेदः         |       |
| १ अखण्डार्थवादः            | १५२   |
| “प्रकृष्टप्रकाशाश्चन्द्रः” | १५३   |
| लक्षणवाक्यम्               | १६३   |
| सत्यं ज्ञानमनन्तम्         | ”     |
| तत्त्वमसि                  | १६५   |
| दण्डी कुण्डली              | ”     |
| सोऽयं देवदत्तः             | १६७   |
| स्वप्नान्तं मे सोम्य       | १६६   |
| २ निर्गुणत्वम्             | १७१   |
| एको देवः                   | १७२   |
| एको वशी                    | १७३   |
| गुणान्वयो यः               | १७४   |
| नेति नेति                  | १७६   |

|                         | पुष्पा |
|-------------------------|--------|
| न हिंस्यात्             | १७६    |
| तत्परतया प्राबल्यम्     | १७७    |
| अन्यशेषत्वादतात्पर्यम्  | ”      |
| अपरब्रह्म               | १८०    |
| सत्यत्वज्ञानत्वादि      | १८२    |
| अपहतपाप्मा              | १८३    |
| तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि | १८४    |
| सगुणनिर्गुणानुमानम्     | १८७    |
| ३ निराकारत्वम्          | १९०    |
| ४ ज्ञानत्वादि           | १९३    |
| ५ निमित्तोपादानत्वम्    | १९७    |
| ६ स्वप्रकाशत्वम्        | २०२    |
| ७ वाच्यत्वम्            | २१०    |
| ८ भेदः                  | २१३    |
| ९ भेदप्रत्यक्षम्        | २१७    |
| १० ,, अनुमानम्          | २१९    |
| ११ जीवभेदः              | २२१    |
| १२ भेदानुवादः           | २२६    |
| १३ तात्पर्यलिङ्गम्      | २२७    |
| १४ ऐक्यम्               | २२९    |
| १५ अभेदप्रमाणम्         | २३०    |
| शरीरलक्षणम्             | २३५    |
| तत्त्वमसि               | २३७    |
| अहं ब्रह्मास्मि         | २४०    |

|                           |       |
|---------------------------|-------|
|                           | पुटाः |
| सयश्चायम                  | २४२   |
| पुरुषमुपैति               | २४३   |
| नान्योऽतोऽस्ति            | २४४   |
| अनेन हि                   | २४५   |
| द्वितीयाद्वै भयम्         | २४६   |
| एको देवः                  | २४६   |
| क्षेत्रज्ञं च             | २५०   |
| १६ ऐक्यानुमानम            | २५३   |
| १७ अंशत्वम                | २५३   |
| १८ अणुत्वम                | २५४   |
| तृतीयः परिच्छेदः          |       |
| १ श्रद्धादि               | २५८   |
| २ ज्ञानविधिः              | २७१   |
| ३ शाब्दापरोक्षम्          | २७३   |
| चतुर्थः परिच्छेदः         |       |
| १ मुक्तिः                 | २८०   |
| २ निवर्तकम्               | २८३   |
| ३ पुरुषार्थत्वम्          | २८५   |
| अनुबन्धः                  |       |
| १-१०० द्रविडात्रेयदर्शनम् | २६७   |
| उपोद्धातः                 |       |

[ चिदाचिदशरीरकब्रह्मसिद्धेः सप्तविधानुपपत्तिपरीक्षायाः चतुर्मतसा-

मरस्यस्य च विमर्शाः सौकर्यविरहात् यथोद्देशमत्र न योजिताः ।  
आङ्गलभाषामयस्य द्वितीयसम्पुटस्यान्ते योजयिष्यन्ते ]

अस्य ग्रन्थस्य काश्यां मुद्रणसंविधानशोधनभरं स्वीकृतवान्  
अस्मत्प्रियसुहृत् विख्यातवैदुष्यः श्रीनीलमेत्राचार्यः प्रथम 'फार' मुद्रण-  
समनन्तरमेव अतर्कितं कांतिशेषो बभूवेति विषीदामः । अनन्तरं प्रयाग-  
विश्वविद्यालये द्रविडभाषाध्ययपकेन अस्मत्प्रियभागिन्नेयेन आयुष्मता  
V. S. रङ्गनाथेन मीमांसाशिरोमणिना (M. A., B. O. L.) सभारः  
ऊढः निर्व्यूढश्च । तस्मै समग्रामाशिषं प्रयुञ्जमहे ।

---

# शोधनिका

[ प्रथमं इमानि शाधनानि तत्र तत्र कृत्वा ततः परं ग्रन्थाव-  
लोकनं कार्यमिति प्रार्थना ]

|      |        |   |
|------|--------|---|
| पुटे | पंक्तौ |   |
| 2    | 21     | alone in the sense  |
| 3    | 26     | the concerned   |
| 4    | last   | One year  |
| 6    | 4      | The   |
| 7    | 13     | He  |
| 8    | 7      | blunders.   |
| 8    | 9      | He  |
| 13   | 22     | आत्मतत्त्वमनपेक्षितं तथापि  |
| 14   | 4      | स्यात् । न ।  |
| 18   | 5      | धूमज्ञानेन  |
| 18   | 7      | बाध्यत्वे हेतुः, न बाधकत्वे   |
| .,   | 15     | न तात्त्वि कत्वमभ्युपेतव्यम्”   |
| 20   | 6      | यत्र यदध्यासः   |
| 20   | 1-7    | प्रथमपङ्क्तौ “अनुकृतेस्तस्य च” इत्यारभ्य सप्तम-<br>पङ्क्तौ “अर्थलभ्यमुत्तरत्र” इत्येतदन्तं अनन्तरपुटे<br>12 पङ्क्तयनन्तरं ( “सुस्वष्टमेतत्” इत्यतः परं )<br>पठनीयम् । |

|                       |        |                        |
|-----------------------|--------|------------------------|
| पुटे                  | पंक्तौ |                        |
| 29                    | 11     | शिष् धाता              |
| 30                    | 3      | अतः परं इदमपि पठनीयम्— |
| न्या. सू ( 2. 1. 14 ) |        |                        |

“तत्प्रामाण्ये वा न सर्वप्रामाण्यविप्रतिषेधः ।” इति ।

अत्र भाष्यं वात्स्यायनस्य—“वीत्ययमुपसर्गः सम्प्रतिपत्त्यर्थे ।

न व्याघाते । अर्थाभावात् ।” इति ।

सम्प्रतिपत्तिः सम्यक् प्रतिपत्तिः । किञ्चिद्द्विशेषविशिष्टतया प्रतीतिः ।  
 प्रातिषेधरूपमर्थं स्थितं कृत्वा तत्र कञ्चन विशेषं बोधयितुं वीत्ययमुपसर्गः  
 प्रयुक्तः । न तु व्याघातं विरोधमर्थं बोधयितुम् । अर्थाभावात्, तस्या-  
 र्थस्य इहानन्वयादित्यर्थः । विप्रतिषेधशब्दस्य द्वावर्थौ विरोधः विशिष्ट-  
 प्रतिषेधश्चेति । तत्र विरोधार्थस्य इहानन्वयात् अर्थान्तरं गृह्यत इति भावः ।

कव्याद्भ्य इव भूतानामदान्तेभ्यः सदा भयम् ।

तेषां विप्रतिषेधार्थं राजा सृष्टः स्वयम्भुवा ॥

इति महाभारतश्लोकोदाहरणपूर्वकं अर्थान्तरं नवीनकोशकाराश्च दर्श-  
 यन्ति । न्यायवार्तिकं च :—“वीत्ययमुपसर्गः विशेषप्रतिषेधे । न व्याघाते”  
 इति ।

|      |        |                |
|------|--------|----------------|
| पुटे | पंक्तौ |                |
| 32   | 5      | प्रतिज्ञात्वेन |
| 32   | 11     | इति, इति       |
| 33   | 6      | कारण           |
| 36   | 10     | सिद्धिनाम्नी   |
| 36   | 17     | अशक्यमि        |
| 40   | 6      | भगवतो          |
| 45   | 6      | was a          |

| पुटे | पंक्तौ |                            |
|------|--------|----------------------------|
| 47   | 5      | form                       |
| ,,   | 9      | these                      |
| ,,   | 11     | all,                       |
| ,,   | 20     | effects                    |
| 48   | 5      | sat                        |
| 48   | 25     | Is it that                 |
| 49   | 20     | Soul,                      |
| 51   | 27     | existence                  |
| 52   | 7      | by this 'only one'. It was |
| ,,   | 13     | Creation                   |
| 53   | 2      | expression, the            |
| 54   | 25     | contrasts                  |
| 55   | 16     | requires                   |
| 56   | 12     | White                      |
| ,,   | 16     | "This"                     |
| ,,   | 25     | in:elligent                |
| 57   | 4      | these                      |
| 60   | 27     | and the                    |
| 67   | 16-17  | with full life             |
| 69   | 6      | unwonted                   |
| 81   | 17     | मपागात्                    |
| 83   | 20     | permanent                  |
| 85   | 10     | with you                   |
| ..   | 26     | attacks,it                 |



|      |          |                           |
|------|----------|---------------------------|
| पुटे | पंक्तौ   |                           |
| 86   | 2        | Upanishads                |
| 87   | 13       | pain-factors              |
| ,,   | 21       | accord                    |
| ,,   | the last | bound                     |
| 88   | 13       | Sankhyas                  |
| ,,   | the last | how                       |
| 92   | 1        | eternal                   |
| 93   | 12       | world, such Brahman as is |
| ,,   | 22       | woefully.                 |
| ,,   | the last | and two                   |
| 94   | 11       | imagine                   |
| 95   | 10       | infinitum                 |

### ग्रन्थः

|      |        |                     |
|------|--------|---------------------|
| पुटे | पंक्तौ |                     |
| ३    | २०     | केवलदृश्यत्वत्वस्य  |
| १३   | २४     | -वाच्यस्य           |
| १८   | १२     | -असम्भव उच्येत ।    |
| २०   | २      | -अनुविद्धत्वेन      |
| ,,   | ६      | च ।                 |
| ,,   | १८     | अत्रा               |
| २१   | १२     | तस्यां              |
| २७   | २१     | -दूषणम् ।           |
| ३०   | ६      | सन्नित्यनेनाभिलष्यत |

| पुटः | पं० |   |
|------|-----|---|
| ३१   | ६   | वर्तत इति ।                                     |
| ॥    | १६  | उपलभ्यते,                                       |
| ॥    | २१  | -वाधाभाः ।                                      |
| ४२   | १२  | स्वरूपत्वात्                                    |
| ॥    | २२  | अब्रह्मात्म                                     |
| ४३   | २१  | वस्तुनो   |
| ४६   | ५   | बाध्येत   |
| ॥    | ८   | दुस्समा गान                                     |
| ॥    | १२  | अविरोधेन  |
| ४७   | ५   | नायं सर्पः                                      |
| ४८   | २०  | शब्दानुप  |
| ५०   | ७   | यजमानाभेदा                                      |
| ५१   | ५   | निश्चितमात्रे                                   |
| ५३   | १०  | अनुदयात्  |
| ५४   | १   | म्बतः   |
| ५५   | ४   | असत्त्वानधि                                     |
| ॥    | ६   | शुक्तिरुच्यवत्                                  |
| ५६   | १०  | -अभाववृत्तित्वात्                               |
| ॥    | २५  | ११. परमाधि                                      |
| ५७   | १४  | ....रिक्तत्वव्या                                |
| ॥    | २३  | १६. दृश्यत्वं                                   |
| ५८   | १   | मसद्विलक्षणं                                    |
| ॥    | २१  | जानीमः  |
| ५९   | १३  | द्रव्यत्वसमानाधिकरणत्वात् गुणाश्रयत्वात् इत्या- |

|      |        |  |
|------|--------|--|
| पुटः | पंक्तौ | भाससाम्यं च । मोक्ष  |
| ”    | १४     | विषयत्त्वत्वान्  |
| ६०   | ५      | प्रतियोगि प-   |
| ”    | १०     | धर्मिको  |
| ६१   | १      | प्रपञ्च  |
| ”    | ३      | प्रपञ्चस्य च   |
| ”    | २१     | एवेति एतद्   |
| ६७   | ३      | ग्रहणमवश्य   |
| ”    | ११     | मप्यर्थानां  |
| ६६   | ६      | ‘सूचकत्वाभावाच्च’ इत्यतः परं एवं पठनीयम्—<br>वस्तुतस्तु स्वच्छद्रव्यान्तर्वर्तित्वेन गृह्यमाणस्य<br>विम्बस्यैव प्रतिबिम्बत्वान् तत्र ग्रहणे विषयतया<br>ऽवच्छेदकस्यान्तर्वर्तित्वस्य विम्बे स्वरूपतोऽविश-<br>मानस्य वक्ष्यमाणरीत्या प्रयोजकत्वं वा विम्ब-<br>मिथ्यात्वापादकत्वं वा न भवतीति ज्ञेयम् । |
| ७०   | १२     | उपलक्ष्यज्ञान  |
| ”    | २१     | आपतनः  |
| ७२   | १७     | विषयि ज्ञानम्  |
| ७३   | ८      | सत्यत्वावि   |
| ७७   | १२     | तद्वाचक  |
| ७६   | ११     | -अनुपपत्तेः स्वा-  |
| ”    | १७     | सत्यत्वं   |
| ८२   | ८      | अतिरिक्तो  |
| ८३   | ८      | उक्तविद्या   |

| पुटः | पंक्तौ |                    |
|------|--------|--------------------|
| ८३   | २१     | वस्तुतः            |
| ८५   | ५      | णोपारूढस्य         |
| ८६   | १२     | अज्ञातत्वे         |
| ८७   | ११     | दोषमूलकत्वं        |
| ९१   | १९     | आपतोदति च ।        |
| ९२   | ६      | धीर्यदा            |
| ९८   | ७      | शयितं              |
| ९९   | ७      | एकस्यामेव रज्ज्वां |
| १०१  | १      | उक्त्वा            |
| १०२  | ७      | परमात्मत्व         |
| ”    | १०     | एषः प्रकृतो        |
| १०८  | ६      | अत एव              |
| ११०  | २२     | प्रत्ययै           |
| १११  | २      | स्वाभावाति         |
| ”    | ८      | तादृ. द्वेष        |
| ११२  | ९      | अज्ञत्वसाधन        |
| ११४  | २      | रूपदर्शनान्        |
| ११५  | १      | विषयकमीश           |
| ”    | १६     | जीवस्थानवच्छिन्न   |
| ११६  | ८      | नानादित्व          |
| ”    | १२     | चोन्नम्            |
| ”    | १५     | ३३., अज्ञान        |
| १२०  | ८      | न सम्भवतीति        |
| १२३  | १९     | च वाच्यम् ! तथा च  |

| पुटः | पंक्तौ |                                   |
|------|--------|-----------------------------------|
| १२४  | १६     | स्थितःवपि ।                       |
| „    | १६     | -अधीन ।                           |
| १२६  | २२     | च एवं                             |
| १३०  | १२     | अस्मीति                           |
| १३१  | ३      | उपासनं                            |
| १३२  | ६      | ... त्वान् ।                      |
| „    | „      | कर्तारं वितर्यपि                  |
| १३५  | १०     | मनिष्टं                           |
| १३७  | ८      | प्रवृत्तिष्वस्य                   |
| १३८  | २०     | अवच्छिन्ना या                     |
| १४४  | १०     | तथा-च                             |
| १४७  | ११     | तदानाम्                           |
| १५०  | १४     | पूर्वोत्पन्नविषय                  |
| १५२  | १६     | तद्बोधकत्वे वाक्यत्वस्यैव हानेः । |
| १५४  | ११     | तत्फलभूतं                         |
| १५७  | ५      | चन्द्रः चन्द्रत्व                 |
| १६६  | २      | सम्बन्धेव                         |
| „    | १४     | ... साधनविवक्षणात्                |
| „    | २४     | .... वाच्यतावच्छेदकत्वात्         |
| १६६  | १५     | अयमिति ।                          |
| १६७  | ११     | .... त्यागेन                      |
| १६७  | २४     | किञ्चित्स्वरूपा                   |
| १६६  | ७      | सर्वस्य                           |
| १७०  | ४      | घटखं महाखं                        |

|      |        |  |
|------|--------|--|
| पुटः | पंक्तौ |  |
| १७०  | २३     | प्रमाणत्वेन  |
| १७४  | १६     | निगुणश्चेति  |
| १७६  | १      | बृंह   |
| १८१  | १४     | -धारणात् ।   |
| १८२  | २०     | -हि त्वः नवगाह्रित्याभ्यां                           |
| १६६  | ४      | प्राप्नुयामिति ।                                     |
| „    | १४     | इदमा   |
| „    | २४     | वाच्यत्वान् ,  |
| २००  | २२     | पारमार्थिकमेव ।                                      |
| „    | २३     | प्रति कारणे अचिदंश एव कारणम् ।<br>एवं चेतनांशं प्रति |
| २०८  | २३     | ज्ञानत्वान्  |
| २०९  | ६      | तत्र ।   |
| २१४  | १६     | कलहोद्धुरतां   |
| २१५  | २५     | तथा च  |
| २१६  | १०     | -न्मायिकी  |
| २२०  | १३     | - व काशः । एतेन                                      |
| २२५  | २      | - मापाद्यते  |
| २२६  | ७      | जीवानां मिथः,  |
| „    | ६      | - सिद्धमिदं  |
| २२८  | २०     | फले,   |
| २३३  | १      | -कत्वात् ।   |
| „    | १६     | ब्रूतस्तयोस्तु                                       |
| २३५  | १६     | नाद्यः ।   |

| पुटः | पंक्तौ |                          |
|------|--------|--------------------------|
| २३६  | ४      | बन्धनत्वात् ।            |
| २३६  | २      | स्थिते च                 |
| २४०  | १७     | मनुरभवं                  |
| २५५  | १६     | ...न्नत्वात् "परम        |
| २५६  | ८      | तद्दि चिदं               |
| "    | २०     | बुद्धेर्गुणेन            |
| २५७  | १५     | श्रुतिमित                |
| २६०  | १७     | प्राक्तने                |
| २६१  | १६     | -न्वयव्यतिरेकवत्त्वात् । |
| २६६  | १४     | मुक्त्युपाय              |
| २७३  | ८      | -निर्मितस्यैव            |
| २७४  | ४      | सौनिकाः ।                |
| २७६  | ८      | -ज्ञानवत्त्वं            |
| "    | १३     | वेदानानन्तरं             |
| २८०  | ३      | इत्यवोचाम ।              |
| २८१  | १४     | अज्ञातृत्वात् ।          |
| "    | १७     | -वृत्तिमुक्ति            |
| २८३  | २१     | भुञ्जे                   |
| २८४  | १४     | न च स                    |
| २८५  | ८      | उच्यते, न                |
| २६१  | १६     | प्रमाणान्तरा-            |
| २६२  | ६      | सर्वावस्थ-               |
| २६८  | ८      | -मर्हीमात्मनः            |
| ३०२  | ११     | सूचकत्व                  |

| पुटः | पंक्तौ; |                                 |
|------|---------|---------------------------------|
| ३०३  | २       | -अनुपपत्तेः ।                   |
| "    | ५       | शदेरू च                         |
| "    | "       | शुचेर्दृश्च                     |
| ३०६  | २०      | प्रसिद्धेः ।                    |
| "    | १४      | प्रतिपाद्य दहर                  |
| ३१२  | २४      | चेन्, द्वे                      |
| ३१४  | १       | तथैव                            |
| ३१५  | ८       | स्वावलोकितत्वं                  |
| ३१६  | ५       | मवोचन् ।                        |
| ३२०  | २३      | - मपीदम् ।                      |
| ३२६  | ३       | परिणामादिभाषा                   |
| ३२७  | १७      | नभिप्रेत                        |
| "    | २३      | -यत्रपि                         |
| "    | २५      | विरोधि,                         |
| ३२६  | १६      | शान्                            |
| ३३५  | ६       | ब्रह्मण एव                      |
| ३४०  | १४      | वाजिनानिवेश                     |
| ३४२  | ५       | कृष्णादीनां गोत्वादिविशिष्टानां |
| ३४३  | ११      | इति । पूर्वा                    |
| ३४५  | ६       | 'न किरिन्द्र                    |
| ३४८  | १८      | सर्वेषु वेदेषु                  |
| ३५८  | ६       | पूर्वोत्तरवत्                   |
| ३६६  | ११      | अभ्यधार ( राध ) यम् ।           |
| ३७४  | १२      | इति । बहूनां                    |



| पुटः | पंक्तौ |                          |
|------|--------|--------------------------|
| ३७८  | ४      | पदपरत्यागस्य             |
| ३८०  | ५      | पर्यायेण                 |
| ३८४  | १६     | अन्तर्गुणमित्यस्य        |
| ३८५  | १५     | त्वधिष्ठान               |
| ३८६  | ८      | स विशेषतो                |
| ३९२  | २२     | -विषयाणि                 |
| ३९६  | १०     | एकतन्त्र्यं              |
| "    | २४     | -कृत्स्निना              |
| ४०४  | २५     | सगुणत्ववादं              |
| ४०५  | ४      | प्रतितन्त्र              |
| ४०८  | १३     | -मुखेनैव ।               |
| ४१०  | १२     | मारग,                    |
| ४११  | ३      | ब्रुवन्ति                |
| ४१६  | १५     | तथैव                     |
| ४१६  | १०     | सम्बन्धवादित्वं          |
| "    | २१     | -विगमान्                 |
| ४२०  | ६      | -मत्रोद्देश्यम्          |
| ४२१  | १      | -ब्रह्माभेद              |
| ४४०  | ५      | ...सम्बन्ध               |
| "    | १६     | आदरो न्याय्यः, आवश्यकः । |

## Preface

My acquaintance with Advaita is as old as that with Visishtadvaita. When I began in 1919 studying the latter as expounded by Ramanuja in his Sri Bhasya, it may be said, I began studying also the former, since the work elaborately and in a detailed manner deals with this too, though for the sake of criticism. Seen in the light of Ramanuja's criticisms Advaita appeared a weak and absurd philosophy. I wanted to know whether it was really so. There arose a strong desire in me to satisfy myself as to whether Ramanuja's criticisms against Advaita were quite reasonable and justified and see whether it is not possible to defend it against them. With this end in view I had equal interest in understanding both the philosophies and read not only all the important works on Visishtadvaita but also those on Advaita.

The question of Brahman's contact with *maya* or *avidya*, or to put it in another form, the question of *maya* or *avidya* eclipsing Brahman the absolute, is a very difficult one. It is absolutely impossible for me to connect with each other the two concepts: The Absolute, the Nirvisesha, Brahman and the false *maya*. Saying this I am obviously confessing that I belong to the group of men whom Amalananda, the author of the Kalpataru, calls *manda*, meaning those of small intelligence. But I have made honest and sincere at-

tempt to find the nature of conception of Brahman in contact with *avidya* on the part of the most intelligent authors on Advaita. So far as I could see none of them has explained the point in a convincing and satisfactory manner. I am almost convinced that none of them has any direct and correct answer to the question. All of them are fully aware of the difficulty but taking the point for granted propound Advaita.

Brahman the absolute as conceived and accepted in Advaita is not open to any change. It is absolutely changeless. It cannot change itself and it is incapable of being affected in any way by any thing else. And there is nothing else than itself which could affect it. It is the one, secondless and attributeless reality. How could the pure Brahman become an impure one?

Advaitins say in reply that *avidya* and its contact with Brahman are beginningless. What is meant by this is this : No doubt Brahman is pure in itself. But there was no time in the past when it remained alone, in the sense "without *avidya*." It should not be thought that at first Brahman was in its perfect purity, and later on *avidya* came to it. *Avidya* is always there. It is as beginningless as Brahman itself.

Some appear to hold the view that one *avidya* contacting Brahman is responsible for another *avidya* and this similarly in contact with Brahman is responsible for yet another *avidya* and in this way there is a long and beginningless chain of *avidya*. Now we have got a series of *avidyas* instead of one. But the point

is how could there be any *avidya* at all occurring to Brahman which is eternally intrinsically and absolutely pure and changeless. Brahman as such cannot have any *avidya* happening to it. Where is the question of a previous *avidya* being responsible for a succeeding *avidya* ?

*Avidya*, also called by many as *maya* and positive ignorance, pertaining to Brahman is said to evolve itself into the world and all phenomena in it. It is not as if Brahman comes in contact with that kind of *avidya* already existing somewhere. It is one imposed on itself by Brahman. Is the absolute Brahman capable of having any thing new happening to it ? If the answer is 'yes' then that capability will be a 'second reality and it will kill Advaita. If on the other hand the answer is, as it should be according to Advaita, 'No' then how the Advaita Brahman could impose on itself *avidya* could never be explained. The postulation of a previous *avidya* to explain the subsequent one is absolutely useless. For, the criticism applies equally to that also.

Even supposing there is some primary *avidya* it cannot help us out of the difficulty. The Sankhya view about the ultimate cause of the world is rejected by Badarayana, the author of the Vedanta sutras and concerned sutras are explained by Sankara faithfully and correctly. The *purusha* accepted by Sankhya is just like the Advaita Brahman, incapable of any will or movement or action. Prakriti or matter is unintelligent ; it cannot take any initiative towards the creation of

the world. How could the world come into existence? Just the same is the case with Advaita Brahman and *avidya*. Brahman is absolutely indifferent. It can neither influence nor be influenced by any thing else. Avidya, like matter, cannot act by itself. So neither Brahman nor *avidya* could be the cause of the world.

There is however a difference between *prakriti* matter, accepted in Sankhya and *avidya* accepted in *Advaita* : whereas the former has its own reality, its own existence, independent of *purusha* the latter owes itself to Brahman. There could be no *avidya* unless Brahman errs. Can Brahman ever err? That which errs can not be Brahman, and that which is Brahman can not err. This fact renders the Advaita philosophy more irrational and more difficult to understand than Sankhya. *Avidya* is beginningless just like Brahman may be an answer to the question --“When did *avidya* catch hold of Brahman ?” and not to the question—“how could any *avidya* happen in Brahman ?” *Avidya* in Brahman would be just like darkness in the midday sunshine. One is as impossible as another.

Such considerations as these forced upon me the conclusion that Ramanuja was justified in criticising Advaita and it is impossible to defend it.

In the old princely state of Pudukkottai which conducted a *Vidotsabha* during *navaratri* festival every year, the Dewans used to invite all the pandits to their residence just in the evening preceding the *Sambhavana* day and listen to the speeches delivered by some of the eminent *vidvans*. one year the Dewan

who was a follower of Advaita asked the same question as we considered above : How could the pure Brahman get affected by *avidya* or maya ? He just wanted to know how it was possible. There were many great Advaita scholars in the gathering. One of them began to say something, first mentioning some example. The Dewan at once intervened and said "Let us consider examples afterwards. I want to know first how it is possible for the absolute Brahman to be caught by *avidya*." Having waited for one or two minutes during which perfect silence prevailed in the hall the Dewan ordered distribution of pansupari. This incident well proved to me that the question is really a very difficult one and none of my Advaita friends who were very many help me to understand it.

I am a writer of books from my young age and have written a few since. I could have written a book also on Vedanta putting forth my thoughts on Advaita. But I refrained lest my advaita friends should feel unhappy and get displeased with me. These are days when Hinduism, the most ancient religion in the world and a religion vitally connected with the life of people all over the world, is fast disintegrating and threatening us with its total disappearance. It behoves one and all of us, that belong to the great religion, to be completely united and find ways and means to save it from the impending peril. In the circumstances it would be utter folly on any body's part to be in any way responsible for split and widening the gap among us. It was this idea that prevented me

from writing any work criticising others philosophy.

To refer to one more incident that took place in the same Pudukkottai *vidvat sabha*, but in another year, the Dewan desired that three scholars representing the three schools of Vedanta might say some thing about their respective philosophy. The Advaita gentleman said :

“Take the *sruti* text ‘*tat tvam asi*’. Do not twist it. Accept what its natural and clear meaning is. Does it not tell us unequivocally that *jiva* is identical with Brahman ? What is it but Advaita ? No doubt part of the word ‘*tat*’ as well as ‘*tvam*’ is to be abandoned in order to warrant the identity ; but it is inevitable. When we ask our servant to bring the resting plank he will first get it vacated and then only bring it to us.

The gentleman did not at all refer to such *Sruties* as *bhokta bhogyam preritarām ca matva*, whose meaning is clear enough to be understood even by an ordinary man and which insist on our knowing *jiva*, matter, and Brahman as entities quite distinct and different from each other, as if they do not exist at all. Besides his meaning of the text *tat tvam asi* is not a natural one. *Jiva* is an individual soul undergoing all sorts of sufferings but Brahman is the Supreme Soul, the universal soul absolutely free from all pains and sorrows. How could there be any identity between the two ? To get over this difficulty he had to give a forced and unnatural meaning to both the terms *tat* and *tvam*. Regarding the example it may be pointed

out that a servant, if and when asked to bring the hand box of cash will never do so after opening it and removing all its contents and thus emptying it. I was the next speaker. But I did not say anything criticising his speech on these lines. I simply avoided making any reference to it and spoke on some uncontroversial general subject and finished my speech. Such has been my disinclination to write or say anything criticising Advaita.

M.M. Ananta Krishhna Sastri was a friend of mine and we knew each other since very many years back. To write some thing attacking the Sri Bhashya and Visishtadvaita was his hobby, he was a hasty writer with little or no care for correctness of statements and worth or merit of the writings. Parthasarathi Misra most probably a contemporary of Vachaspati Misra, is a famous Mimamsa auth.or. Sastra Dipika is one of his great and valuable works. In it he has subjected Advaita to trenchant criticisms. He describes this as the prattling of those that have not studied well the rules of interpretation. In his introduction to this work published by the Nirnaya Sagara Press, Bombay Sri Sastri says nothing regarding those criticisms but refutes the Visishtadvaita view that the Purva and Uttara Mimamsas constitute one Sastra, these two being only parts of that whole. The two are concerned with the two parts of the Veda relating to Karma and Brahman respectively. So like Veda, Mimamsa which is nothing but a commentary on it is one consisting of two parts. Sri Sastri



could not or would not understand this simple question. His reasoning was so bad that I felt compelled to write a reply. I wrote one with the title "Mimamsa Nyaya Sanchara", which may be found at the end of my Mimamsabhyudaya. In that paper too I did not say anything against Advaita. His subsequent works were too full of mistakes and blunder to keep me silent. I however resisted the temptation. he has written a commentary on the Advaita Vedanta Paribhasha, wherein he frequently criticises the good old commentary by Ramakrishna Dikshita, a profound scholar. I began to write a commentary of my own on the Vedanta Paribhasha with a view to make known to the scholarly public the fact that wherever Sri Sastri differed from the old commentator the latter is always correct and the former always wrong. Unfortunately the commentary could not be completed and published.

It is a matter for utmost regret and sorrow for all good men, for a well-wishers of humanity, that H. H. Sankaracharya of Kamakoti Math is since very long back inducing and encouraging Advaita Pandits to write works refuting Visishtadvaita. I fail to understand why at all any advaitin should look askance at the other philosophy. I remember to have read somewhere in Sri S. Radhakrishnan's work a line like "We are Advaitins in theory, Visishtadvaitins in religion and Dvaitins in practice". That should be the attitude of Advaitins towards the other schools of Vedanta. All that is

accepted in Visishtadvaita Advaitins may assign to the lower level, that of *vyavhara* and have the satisfaction that the truth their philosophy establishes pertains to a higher level, that of *paramartha*. The body and soul relationship—*sarira sariri bhava*—between the world and Brahman is the hinge on which Visishtadvaita turns. If this is accepted as a *vyavhara* reality what is lost to Advaita? Sankara has not only not rejected this relationship but accepted it as may be seen from a passage of one of his minor works.

Common people are in need of such religion or philosophy as would make them God-fearing and *dharma*-minded, so that they may live a peaceful contented and prosperous life. For achieving this end a God full of auspicious qualities and capable of rewarding the virtuous and punishing the wicked is required and not a qualitless absolute. Advaitins sole concern should be to get first themselves convinced and then prove that there is a *paramartha* reality other than the *vyavhara* one, and not to attack the other schools of Vedanta.

As soon as I came to know Sri Sastri's ridiculous attempt to criticise Desika's *Satadushani* it appeared to me that if I wrote now a work critically dealing with Advaita, not only I would not be misunderstood and accused of unnecessarily attacking that philosophy but I would be serving it by clearly pointing out the difficult points in it so that competent scholars may seriously consider and make if possible a genuine attempt to explain and elucidate them.

The work Visishtadvaitasiddhi, was completed many years back. It is now presented to the scholarly public for careful study appreciation and evaluation.

My thanks are due to Sriman Babu Govindalalji of Calcutta who helped the publication by granting a substantial amount from the M.R.B.C. Trust.

Tirupati,  
12. 2. 1965.

D. T. Tatacharya.

श्रीः

# विशिष्टाद्वैतसिद्धिः

उपोद्धातः

चतुश्चत्वारिंशतो वत्सरेभ्यः प्राक् अस्माकं वेदान्तश्रवणं सम्पन्नम् । श्रीभाष्यमधीयाना वयं न परं तेन प्रतिष्ठापिते विशिष्टाद्वैते अपि तु तेन सविस्तरं विमृष्टे अद्वैतेऽपि गाढपरिचया अभवाम । विशिष्टाद्वैतिनां कुले लब्धजन्मनां अस्माकं तस्मिन् दर्शने अनुरागातिशयः अन्यत्र अनादरश्च यज्ञभविष्यतां लोके सर्वसाधारणतया दृश्यमानस्य मनुष्य-  
स्वभावस्य अनुरूपमेव तत् । परं तु औत्सर्गिकी इयं मनोवृत्तिः अस्माकं नासीत् । चक्षुषी निमील्य अस्मदीयमित्येकत्र आदरः परकीयमित्यन्यत्र अनादरश्च नैव कार्यः । परस्परविरुद्धे द्वे अपि दर्शने सत्ये इति न कदा-  
चिद् भवितुमर्हति । अतोऽन्यतरत् प्रामाणिकं दर्शनं, इतरन्नेति स्थिते-  
कतरत् प्रामाणिकमिति यत्नेन परीक्ष्य अवधारणीयमिति महत् कुतूहल-  
मजायत । तदनुगुणा प्रवृत्तिः तदा जाता अद्याप्यनुवर्तते । किन्तु अद्वैतं  
शोभनं दर्शनमिति प्रतिपत्तुमद्यापि न शक्नुमः । यथा यथा चिन्त्यते  
तथा तथा प्रबला अनुपगतयः स्फुरन्ति । यस्य साहाय्येन आसां परि-  
हारो भवेत् तादृशो यः कोऽपि प्राचीनो नवीनो वा अद्वैतग्रन्थो नास्ति,  
न लभ्यते ।

अद्वैतस्य गौडपादोपज्ञत्वेऽपि तत्प्रतिष्ठापकप्रथमाचार्यत्वं श्रीशङ्कर-  
स्येत्येतन्निर्विवादम् । स तावत् किमाहेति प्रथमं किञ्चित् पश्येम । यदेष  
विरुद्धस्वभावयोः आत्मानात्मनोः मिथोऽध्यासमुपपादयति तत् स्याणु-  
पुरुषशुक्तिरजतादिसर्वभ्रमस्थलसाधारणम् । आत्मानात्मनोर्विरुद्ध-  
स्वभावतया मिथो भेदे असिद्धे अध्यासो नोपपद्यते । अबाधितप्रतीति-

बलेन स्थाणौ पुरुषे च पृथक् निश्चिते दोषवशात् क्वचित् स्थाणौ पुरुषत्वं वा पुरुषे स्थाणुत्वं वा अध्यस्यते । एवमध्यस्तं पुरुषत्वं वा स्थाणुत्वं वाऽनृतं भवति । न तु स्थाणुर्वा तद्भूति स्थाणुत्वं वा पुरुषो वा तद्भूति पुरुषत्वं वा । निश्चितप्रमाणभावस्वस्वप्रतीति-सिद्धत्वात् । एवमेव आत्मा च अनात्मा च विरुद्धस्वभावौ स्वस्व-प्रमाणबलात् पृथक् सिद्धौ । अथापि अविवेकिनां तयोः पृथक्स्थित्य-नर्हतापादकेन संसर्गविशेषेण अन्योन्यात्मकत्वाध्यासो भवति । तत्र अध्यस्तस्य आत्मत्वस्य अनात्मत्वस्य च बाधादनृतत्वेऽपि धर्मिणोरात्मा-नात्मनोर्वा तत्र विद्यमानयोरात्मत्वानात्मत्वधर्मयोर्वा अनृतत्वं कथमपि न भवति । यथा अहमर्थ आत्मा तथैव तद्भूतिज्ञानादिकं च, शरीरादिर-नात्मा तद्भूतिगुणक्रियादिकं च पारमार्थिकमेव । अन्यथात्वे प्रमाणा-भावान् । तथात्वे प्रमाणसत्त्वाच्च ।

अध्यासः अविद्यमानस्य आरोपः । स्थाणौ पुरुषात्मकत्वं नास्ति । तत् तत्र आरोप्यते अयं पुरुष इति । अस्य अध्यासस्य अविद्यात्वव्य-पदेशः विद्याविरोधित्वान् । आरोपितस्य वस्तुनः वस्तुतोऽधिष्ठाने अवि-द्यमानत्वात् तस्य तत्र गुणाधायकत्वं वा दोषाधायकत्वं वा नास्तीति युक्तमिदमुक्तम् । परन्तु किमर्थमिदमुक्तमिति चिन्तनीयम् । तत् पर-सनात् । यत्तु

तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमा-णप्रमेयव्यवहाराः लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः । सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि ।

इति तन्न । प्रमाणप्रमेयव्यवहारेषु आत्मानात्मनोरितरेतराध्यासस्य पुर-स्करणीयत्वाभावात् । सत्यशुक्ति-सत्यरजतरूपप्रमेयतत्प्रमाणव्यवहारे यथा शुक्तिरजताध्यासोऽन्यो वा कश्चिदध्यासो न पुरस्करणीयः तथा । कामं पुरुषस्य देहात्मभ्रमोऽतु । ततः किं नाम देहात्मनोः स्वस्वकार्य-

करणप्रवृत्तेर्भविष्यात् । आत्मनो हि नियन्तुः स्वशरीरमिन्द्रियाणि च विधेयानि । स यथेच्छति तथा प्रवर्तन्ते । तदिच्छया चक्षुरुन्मीलति । स्वयोग्यं विषयं गृह्णाति । प्रमा जायते । एतदनुकूलयत्नवत्त्वात् आश्रयत्वाच्च आत्मा प्रमाता भवति । अत्र देहात्मनोरितरेतराध्यासस्य कोपयोगः । ननु निस्सङ्ग आत्मा । स कथं देहेन्द्रियप्रयोक्ता भवेदिति चेत् स कथमध्यासे कर्ता भवति । न स कर्ता अध्यासे, इति चेत् कस्तर्हि ? देहेन्द्रियादि हि जडम् । न चान्यः कश्चिदस्ति योऽध्यस्येत् । तस्माद्यस्य अध्यासे कर्तृत्वं सम्भवति तस्य तथैव प्रमितात्रपि तत् सम्भवतीति नाध्याससापेक्षत्वं प्रमातृत्वस्य । प्रत्युत प्रमातृत्वपुरस्कारेणैव अध्यासो भवतीति वक्तव्यम् । यो हि प्रमाता स एव कदाचित् इन्द्रियगतेन विषयगतेन वा दोषेण अन्यदन्यस्मिन् अध्यस्यति । अध्यासकालेऽपि धर्मिविषये स प्रमातैव । यथाऽऽहुः “सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तम्” इति ।

पश्वादिभिश्चाविशेष इत्यपि न साधु । पश्वादयो यद्यपि आत्मानात्मविवेकहीनतया प्रसिद्धमुग्धभावाः तथापि तेषां स्वहिताहितप्रमातृत्वे स मुग्धभावः कथमुपयुज्यते । अविवेकोऽन्यविषयः । प्रमितिरन्यविषया । विषयान्तरप्रमितिकर्तृत्वे विषयान्तरव्यामोहो नापेक्ष्यते । तस्मात् “अविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च” इति साक्षाद्विरतिवादः ।

शास्त्रीये च व्यवहारे बुद्धिपूर्वकारी नाविदित्वा आत्मनः परलोकसम्बन्धं अधिक्रियते । तस्यायमध्यासो न सम्भवति । यद्यपि तस्य वेदान्तवेद्यमशानायाद्यतीतं अपेतब्रह्मज्ञानादिभेदं असंसार्यात्मत्वं लोकान्तरानुभाव्यफलभोक्तृ अनश्वरमात्मतत्त्वमपेक्ष्यत एव । नचेदृशविवेकवतः उक्तविधोऽध्यासः सम्भवी । यत्तु ‘ब्राह्मणो यजेत’ इत्यादीनि शास्त्राणि वर्णाश्रमवयोऽवस्थादिविशेषाध्यासमाश्रित्य प्रवर्तन्त इति तन्न । ‘स्वर्ग-

‘कामो यजेत’ इति देहात्मविवेकमाश्रित्य प्रवृत्तानां तेषां अविवेकमूलका-  
ध्यासाश्रयेण प्रवृत्तत्वायोगात् । कथं तर्हि ब्राह्मणो यजेतेति । न  
आत्मा ब्राह्मणो वा अन्यो वा । उच्यते । ब्राह्मणः ब्राह्मणशरीरक  
इत्यर्थः । नन्वेवं गौणः शब्दः स्यात् । शरीरवार्चिनां शब्दानां शरीरि-  
पर्यन्तत्वस्य वृत्तिसिद्धत्वात् । अथापि गौणः स एष्टव्य एव ।  
सिंहो माणवक इत्यादिवत् । देहात्मभेदस्य प्रमाणसिद्धत्वेन व्यापकस्य  
तस्य निवृत्ता व्याप्यं गौणत्वमपि निवर्तत इति वक्तुमशक्यत्वात् । ‘जन्तु-  
जन्यशरीरिणः’ इति निघण्टुपाठेन हि शरीरात्मभेदः सुप्रसिद्ध इति  
ज्ञायते ।

ननु ब्राह्मणशरीरक इत्यर्थो लक्षणया, न तु सिंहो माणवक इतिवद्  
गौण्येति चेत् कामं तथा । जवन्यवृत्त्यभिप्रायेण तु गौणत्ववाचोयुक्तिः ।  
नन्वारोपितार्थवृत्तित्वं गौणत्वम् । माणवके सिंहत्वमारोप्य तद्वाचितया  
प्रयोगात् । सिंहशब्दस्तत्र गौणो भवति । एवमात्मनि ब्राह्मणत्वमारोप्य  
तद्वाचित्वेन प्रयुज्यमानो ब्राह्मणशब्दोऽपि गौण इति सुवर्चमिति चेन्न ।  
प्रशंसातात्पर्यात् तत्र सिंहत्वमारोपोऽभिमतो ज्ञायते । प्रकृते तु आरोपगमकं  
किमपि नास्ति । अतः केवललक्षणैव । अथवा अस्वारोपः । तथापि  
नायमविद्यारूपो भवदभिमताऽध्यासः । विद्वदाश्रितत्वात् । न हि सिंहो  
माणवक इति वदन् अज्ञो वा भ्रान्तो वा । तथैव ब्राह्मण इति वदन्नपि ।  
तस्मादयमध्यासो विवेकमूलत्वद् विद्यारूप एव नाविद्यारूपः । वस्तुतस्तु  
आरोपितब्राह्मणत्ववतः ब्राह्मणशब्दार्थत्वे स्वस्मिन् ब्राह्मणत्वमारोप्य  
क्षत्रियोऽपि ब्राह्मणधर्मेण अधिक्रियेत । अतो ब्राह्मणशरीरक इत्येव  
वेदे विवक्षितोऽर्थः बोद्धारोऽपि तमेवार्थं बुध्यन्त इति ज्ञेयम् ।

पुत्रभार्यादेषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति  
बाह्यधर्माध्यासोऽपि न भ्रमरूपः । पुत्रभार्यादेः आन्ध्ये जाते तं हस्ते गृहीत्वा  
नयन् पुरुषः न हि स्वयमंध इति भ्रमितुं शक्नोति । स्वस्य आन्ध्ये जाते

A. C. C. 11 279

( ३ )

|                               | पुटाः |
|-------------------------------|-------|
| ७ पञ्चममिध्यात्वम्            | ७     |
| ८ मिध्यात्व ”                 | ”     |
| ९ दृश्यत्वम्                  | १०    |
| १० जडत्वम्                    | १६    |
| ११ परिच्छिन्नत्वम्            | १९    |
| १२ अंशत्वम्                   | २०    |
| १३ सोपाधिकत्वम्               | २३    |
| १४ आभाससाम्यम्                | २४    |
| १५ प्रत्यक्षबाधः              | २९    |
| सन् घटः                       | ३०    |
| निश्चितप्रामाण्यं प्रत्यक्षम् | ३१    |
| आगमविरोधासम्भवः               | ३३    |
| चन्द्रपरिमाणप्रमितिः          | ”     |
| देहात्मैक्यप्रत्यक्षम्        | ३४    |
| प्रत्यक्षमुपजीव्यम्           | ”     |
| लिङ्गाभासान्त साध्यप्रमा      | ३५    |
| प्रामाण्यपरीक्षा              | ”     |
| पशुत्वेन शृङ्गानुमानं         | ३६    |
| ( शब्दबाध्यं प्रत्यक्षं )     | ३८    |
| अपच्छेदन्यायः                 | ४०    |
| वह्निशैत्यानुमानम्            | ४४    |
| अद्वैतश्रुतेर्गतिः            | ४५    |
| तात्त्विकानौष्य-              | }     |
| यूपादित्यादि                  |       |



|                               | पुटाः |
|-------------------------------|-------|
| उव लैक्यप्रत्यक्षम्           | ४७    |
| चन्द्रादेशिकत्वम्             | ४८    |
| अगृहीतप्रामाण्यकः शब्दः       | ४९    |
| भाविबाधनिश्चयः                | ५०    |
| १६ अनुमानबाधः                 | ५१    |
| १७ विशेषानुमानानि             | ५५    |
| १८ आगमबाधः                    | ६०    |
| सूत्रविरोधः                   | ६६    |
| १९ असतः साधकत्वम्             | ७     |
| २० दृग्दृश्यसम्बन्धः          | ७७    |
| २१ प्रतिकर्मव्यवस्था          | ८२    |
| २२ प्रतिकूलतर्कः              | ८५    |
| २३ मिथ्यात्वश्रुतिः           | ९०    |
| २४ अद्वैतश्रुतिः              | ९१    |
| २५ एकमेवाद्वितीयम्            | ९३    |
| २६ ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्तिः | ९५    |
| २७ दृष्टिसृष्ट्यनुपपत्तिः     | ९६    |
| २८ एकजीववादः                  | १०२   |
| २९ अज्ञाने प्रत्यक्षम्        | १०४   |
| ३० ,, अनुमानम्                | १०९   |
| ३१ ,, श्रुतिः                 | १११   |
| ३२ ,, अर्थापत्तिः             | ११५   |
| ३३ अज्ञानप्रतीतिः             | ११६   |
| ३४ चिन्मात्राश्रयत्वम्        | ११७   |

यावद् दुःखं स्यात् तावद्दुःखं जातमभिप्रेत्य तु अहमेव विफल इति व्यवहरति । एवं तस्मिन् सर्वसम्पत्समृद्धिमति तस्य यावत् सुखं तावत् सुखमत्मन इत्यभिप्रेत्य अहमेव सकृत् इति । 'स्यूतोऽहं, कुराऽहं' इत्यादा स्यूतशरीरः कुराशरीर इत्याद्येव विवक्षितम् । विवेक्षणां भ्रमासम्भवत् । मूढोऽहं काणोऽहमित्यादौ उपहततत्तद्दिन्द्रियोऽहमिति मन्यते । उक्तदेव हेनोः । अविवेकिनां तु भ्रमः कामं भवति । परन्तु सः शुक्तिरजतरञ्जुसर्पादिभ्रमसाधारणत्मा । न ततोऽस्य मात्रयाऽपि विशेषः । अत इह शास्त्ररम्भे अस्य विशिष्य निरूपणं निष्प्रयोजनम् । असङ्गम् । अभिमतजगदुवादानभूनाविशासधनाक्षमम् ।

कामसङ्कल्पादयः आत्मन एव धर्माः । नत्वन्तःकरणस्य । चेतनो हि कामयते सङ्कल्पयति विविक्षिते अव्यवस्थिति च । अतोऽत्राध्यासोक्तिर्न युज्यते । यत्तु "अहम्प्रत्ययिनमशेषप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य तं च प्रत्यगात्मानं तद्विर्ययेणान्तःकरणादिव्वधरति" इति तत् स्वमतप्रक्रियापन्यासमात्रम् । न विचारसहम् । अहमिति प्रत्ययो यस्य तस्य स प्रत्ययः स्वविषय एव । तस्य अन्यत्राध्यास इति कथमेतत् । अहं जानामीति हि स्वरूपत एव ज्ञानाश्रयो भवत्यहमर्थः । अहं गच्छामि पचामीति शरीरद्वारा गमनाद्याश्रयत्वम् । अविवेकिनां तु देहमेव आत्मानं मन्यमानानां भवत्यध्यासः । स तु देहे अत्माध्यासः । अहमिति प्रतीतेः । आत्मन एवाहमर्थत्वात् । अन्तःकरणस्य तु आत्मन्यध्यासः केन प्रमाणेन सिद्धयति ? न खलु तत् अहम्प्रत्ययि । जडस्य तस्य अहम्प्रत्ययानुपपत्तौ । प्रत्ययस्य चेतनधर्मत्वात् । अहमर्थः अन्तःकरणमेव । अतस्तस्य प्रत्यय उपपद्यत इति चेत् तर्हि तदेव ज्ञातृ कर्तृ भाक्तृ चेति तदतिरिक्त आत्मैव न सिध्यति । कुतस्तस्य तत्र अध्यासः । किञ्च प्रत्यय इति ज्ञानमुच्यते । प्रतीतिपर्यायत्वात् । स कथं जडस्यान्तःकरणस्य भवेत् । अथ अन्तःकरणवृत्तिरेव प्रत्ययः । तद्विज्ञान्तःकरणमेवेति चेत् जडा अन्तः-

करणवृत्तिः न क्षमा यस्यकस्यापि ग्रहणे, स्वस्य वा परस्य वा । तत्र कथं अहमर्थावगाहित्वनिमित्तकं अहमप्रत्ययत्वं तस्या भवेत् । तस्मादन्तःकरणं अहमप्रत्ययीति न घटते ।

अथान्तःकरणमात्मनि कोऽध्यस्यति ? न तावत्स्वयमेव तत् । अध्यासात्पूर्वमसत्स्य अध्यासे कर्तृत्वानुपपत्तेः । नाप्यात्मा । तस्य निस्सङ्गत्वात् । नापि चिदचिद्प्रान्थिरूपो जीवः । अध्यासेनान्तःकरणसिद्धेः प्राक् तदभावात् । प्राक्तनेनाध्यासान्तरेण सिद्धो जीवः उत्तराध्यासे कर्तेति चेत् प्राक्तनोऽध्यासो निवर्तते न वा । आद्ये प्रतिभासैकशरीरस्य अन्तःकरणस्य निवृत्त्या जीवोऽपि निवृत्त इति कथं तस्य उत्तराध्यासे कर्तृत्वं घटते ? अन्त्ये उत्तराध्यासो नोपपद्यते । युगपत् नानाध्यासासम्भवन् । पूर्वाध्यासस्य अनिवृत्तिरपि दुर्बला । अध्याससामान्यस्य द्विज्ञानमात्रावस्थायित्वात् । तस्य स्थिरत्वे शुक्तिरजताद्यध्यासान्तराणां अत्यन्तसम्भवापत्तेः । एवमत्यन्तमसमञ्जसेयं अध्यासकल्पनेति ज्ञेयम् ।

अथ यद् भामत्यामुक्तम्—

तस्मादिदङ्कारास्पदेभ्यः देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयेभ्यः व्यावृत्तः स्फुटतराहमनुभवगम्य आत्मा..... । न चार्हामति सर्वजनीनस्फुटतरानुभवसमर्थित आत्मा देहेन्द्रियादिव्याप्तारिक्तः शक्य उपनिषदां सहस्रैरप्यन्यथायतुम् अनुभवविरोधात् । न ह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुमीशते ।

इति, तत् तथैव । यत्तु ततः परं

“तस्मात् अनुभवविरोधात् उपचरितार्था एवोपनिषद् इति युक्तमुत्पश्यामः ।”

इति उपनिषदां उपचरितार्थत्वं प्रसज्य

‘न चैतानि उपक्रमपरामर्शोपसंहारैः क्रियासमभिहारेण ईदृगात्म-

तत्त्वमभिदधति तत्पराणि सन्ति शक्यानि शक्रेणापि उपचरितार्थानि कर्तुम् ।'

इति तदसम्भवः प्रतिपाद्यते, तदयुक्तम् । असंसारिणं सर्वेश्वरं परमात्मानं प्रतिपादयन्ति श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणानि हि तत्पराणि सन्ति मुख्यार्थान्येव । अहमनुभवस्तु प्रादेशिकं अनेकविधशोकदुःखोपप्लुतमात्मानं आदर्शयन् जीवात्मतत्त्वगोचरः अस्मिन् जीवात्मतत्त्वे प्रमाणं भवति । तत्र विरोध एव नास्ति । कुतस्तन्मूलोपचरितार्थत्वप्रसङ्गः । अहमनुभवासिद्धिर्वाविधदुःखभाजनजीवात्मातिरिक्तः परमात्मा नास्तीति यदि प्रत्यक्षप्रमाणबलेन साध्येत तदा हि तथा साध्यतः श्रुत्यादीनामुपचरितार्थत्वं वक्तव्यमापतेत् । निरसनीयं च सिद्धान्तनां भवेत् । न च प्रत्यक्षेण ईश्वराभावः साध्यितुं केनापि शक्यते । अतीन्द्रियत्वात् ईश्वरतत्त्वस्य । प्रत्यक्षेण तदभावेन वा ईश्वराभावस्य साधनायोगात् । ननु अहमनुभवसिद्धस्य जीवात्मनः श्रुत्या ईश्वरभेदो बोध्यते । तत्रास्ति विरोध इति चेन्न । स्वस्वप्रमाणेन असंसारिण ईश्वरस्य संसारिणो जीवस्य च परस्परविरुद्धधर्मवत्तया भिन्नतयैव सिद्धत्वेन सिंहो देवदत्त इतिवत् अभेदबोधकत्वासम्भवात् । नन्वेवं अभेदबोधकश्रुतीनां उपचरितार्थत्वमेवोक्तं भवति । न च तद्युक्तमिति चेन्न । भवन्मते प्रत्यक्षादीनामतात्त्विकप्रमाणभावस्य भेदश्रुतीनाममुख्यार्थपरत्वस्य च कल्पनीयत्वेन तदपेक्षया न्यायसिद्धस्य औपचारिकत्वस्यादोषत्वात् । औपचारिकत्वमङ्गीकृत्येदमुक्तम् । वस्तुतस्तु तन्नास्तीति सूपपादितमन्यत्र । प्रत्यक्षादेः तात्त्विकं प्रामाण्यं नास्ति, किन्तु सांख्यव्यवहारिकमेवेति अप्रामाण्यिकी कल्पना । न ह्यत्र अद्वैतरक्षणाभिनिवेशं विना हेत्वन्तरमस्ति । अबाधितव्यवहारानुगुण्यापादकत्वमेव हि सांख्यव्यवहारिकत्वम् । तात्त्विकत्वमपि तदेव । कोऽनयोर्भेदः ।

यदपि 'वर्णे ह्रस्वदीर्घत्वादयोऽन्यधर्मा अपि समारोपिताः तत्त्व-

प्रतिपत्तिहेतवः” इति तत्र । ह्रस्वत्वदीर्घत्वादिप्रतीतेरेव विद्यमानायाः तत्र हेतुत्वात् । अविद्यमानानां अन्यधर्माणां हेतुत्वासम्भवात् । अविद्यमानस्यापि हेतुत्वे वह्न्यभाववति पर्वते धूलीपटले धूमभ्रमेण जाताया वह्ननुमितेरपि प्रमात्वप्रसङ्गान् । आरोपितधूमजन्यत्वात् । न च वस्तुसता धूमज्ञाने जातत्वात् तवापि स प्रसङ्गः समान इति वाच्यम् । धूमप्रमाया एव प्रमात्मकानुमितिहेतुत्वान् ।

“ज्येष्ठत्वं चानपेक्षितस्य न बाध्यत्वे हेतुः । बाधकत्वे । रजतज्ञानस्य ज्यायसः शुक्तिज्ञानेन कनीयसा बाधदर्शानात्” इत्यपि न युक्तम् । ज्यायसः शुक्तिज्ञानस्यापि कनीयसा रजतज्ञानेन बाधप्रसङ्गान् । पूर्वं यथावत् शुक्तिं गृहीतवतोऽपि पश्चाद् दोषवशेन रजतभ्रमसम्भवान् । एतेनात्र अपच्छेदन्ध्यायसङ्गमनमयुक्तमिति ज्ञापितम् । न हि प्रमाणाप्रमाणयोर्विरोधे परस्य तत्र प्राबल्यमुच्यते । अपि तु प्रमाणयोः सतरेव द्वयोः शास्त्रयोः एकत्र पौर्वापर्येण सन्निपाते परस्यैव अनुष्ठापकत्वं न पूर्वस्येति ।

“येऽप्यहङ्कारास्पदमात्मानमास्थिषत तैरप्यस्य—आत्मनः अहङ्कारास्पदत्वस्य—न तात्त्विकमभ्युपेतव्यम्” इत्यपि न । जीवात्मा हि न सर्वव्यापी । अपि तु प्रादेशिक एव । शरीरान्तर्मात्रवृत्तित्वात् । अतः ‘अहमिहैवास्मि सद्ने जानानः’ इति यथार्थं एवानुभवः । एवं सति आत्मनः अहङ्कारास्पदत्वं कुतो न तात्त्विकम् । यस्य तु देहातिरिक्तात्मविवेको नास्ति तदीये ‘अहमिहैवास्मि सद्ने जानानः’ इति व्यवहारे अहमिति देहस्यैव प्रत्ययात् तदीयमेव प्रादेशिकत्वं भाति । जानान इति देह एव आरोपितं ज्ञातृत्वम् । तथा च भ्रममूले अस्मिन् व्यवहारे शुक्तिरजतव्यवहारवन् न गौण इति युक्तमेवेदमुच्यते । विवेकिनां तु व्यवहारे वस्तुतः जीवात्मनः प्रादेशिकत्वान् ज्ञातृत्वाच्च न गौणत्वप्रसङ्गः । यत्तु “परीक्षका अपि व्यवहारसमये न लोकसामान्यमतिवर्तन्ते” इति तत्र तथा । यदा परीक्षकः कश्चित् ‘देहातिरिक्त आत्मेत्यहं मन्ये’ इति प्रति-

जानंते तदा अहमिति तेन कोऽर्थोऽभिप्रेतः ? न हि देह इति ऋधमपि युज्यते । नहि प्रत्यक्षानुमानशास्त्रैः नित्यं ज्ञानधर्माणं च आत्मानं निश्चितवतां व्यवहारसमये भ्रमो भवतीति अस्ति सम्भवः । एवं नश्चयवन्तो यदि आत्मनः प्रादेशिकत्ववादिनः 'तर्हि अहमिहैव सद्ने अस्मि' इति मुख्य एव व्यवहार इत्युक्तम् । यदि तु विभुत्ववादिनः तर्हि देहगतं प्रादेशिकत्वं आत्मनि आरोप्य तथा व्यवहरन्तीति ज्ञेयम् । गच्छामि पतार्मात्यादिहिं व्यवहारः देहद्वारकसन्बन्धेनैवोपपादनीयः । तथा अयमपि । श्रोताऽपि यदि विवेकी गौणतयैव तं व्यवहारं गृह्णाति । तत्र वक्तृश्रोत्रोः सम्प्रतिपत्तिः । अविवेकी तु स्वानुरूपं प्रतिपद्यते । तत्र नास्त्येव सम्प्रतिपत्तिः । तवता व्यवहारस्य गौणत्वं न हीयते । आरोभितार्थवृत्तित्वस्यैवेह गौणत्वः त्मकत्वात् ।

एतेन "आत्मनः अणुपरिमाणत्वे स्थूलोऽहं दीर्घ इति न स्यादित्येतत् प्रत्युक्तम् । देहधर्मस्य स्थौल्यादेरात्मन्यारोपेण एवं व्यवहारप्रवृत्तोः । अनेन स्वरूपगताणुत्वस्य विरोधाभावात् । एवं सुस्थत्वात् अहमनुभवप्रमाणभावस्य तस्य पूतकूशमाण्डीकरणप्रयासां निष्फलः । अहमप्रत्ययमिथ्याभावस्य सर्वप्रवादिप्रशितत्वामिधानं अयथार्थमेव । श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रथितत्वाभिधानमपि तथा । जीवात्मनः प्रत्यक्षासिद्धस्य ज्ञादृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादेर्निषेधे तेषामशक्तत्वात् । एतन्निषेधेन जीवात्मविलक्षणपरमात्मोपदेशतत्परत्वेन जीवात्मनि ज्ञादृत्वादिनिषेधे तास्पर्याभावाच्च ।

अथ यत् मरीचितोयमनिर्वाच्यमिति साधनं तदप्यचारु । तथा हि । मरीचिषु तोयमध्यस्यत इति तावदयुक्तम् । इमास्तोयवत्य इति प्रतीतिप्रसङ्गात् । किन्तु तोयतादात्म्यम् । तोयत्वमिति यावत् । तत्तु सदेव । तोये विद्यमानत्वात् । असच्च मरीचिषु । आसु नोऽस्य मरीचिषु मरीचित्वरूपः । अस्याग्रहणात् मरीचय इति प्रतीतिर्न भवति । तोयत्वा-

रोपात्तु तोयमिति प्रतीतिः । तोयत्वेन मरीचीनामेव ग्रहणात् धर्मिभूतानां तासां पुरत एव दृश्यमानत्वात् इहेति प्रतीतिः । न तु गङ्गायामिति । एवं मरावित्तायप्रतीतेरन्यथैव समञ्जसतया उपपत्तेः अनिर्वाच्यमरीचि-तोये न किञ्चित् प्रमाणम् । नतरां अनिर्वाच्यदेहेन्द्रियादिषु । बाधाभावेन पारमार्थिकत्वस्यैव तेषु दृढप्रतीतेः ।

“तत्रैवं सति तत्र यदध्यासः तत्कृतेन दोषेण गुणेन वा अणुमात्रेणापि स न सम्बध्यते ।

इत्यध्याससाधनप्रयोजनप्रदर्शनपरं भाष्यं भामतीकारः एव योजयति—“तत्त्वा-वधारणाभ्यासः अनादिमपि निरूढनिबिडवासनमपि मिथ्याप्रत्ययमपनयति” इत्येतत्तात्पर्यकमिदमिति । इदं भाष्याक्षराननुगुणम् । अध्यस्तेन वस्तुना अध्यासाधिष्ठानस्य गुणरूपो दोषरूपो वा यः कोऽपि विशेषो न भवतीति भाष्यग्रन्थार्थः स्फुटः । तत्र विद्यया अविद्यायाः बाधेऽपि वासनाऽनुवृत्ति-र्भविष्यतीति शङ्कायाः, वासनाया अपि निवर्तनक्षमा विद्येति समाधानस्य च का नामात्र सङ्गतिः । तर्हि कोऽत्र भाव इति चेत् उक्तमेतत् अध्यास-साधनप्रयोजनप्रतिपादनपरमिदमिति । कुत आत्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिक-मध्यासेनोपपाद्यने । पारमार्थिकमेव कुतो नेष्यते ? इत्यत्राह—तत्रेति । पारमार्थिकं चेत् विद्यया न निवर्तेत । अतोऽध्यस्तत्वं वाच्यम् । तदर्थ-मध्याससाधनम् । ननु अध्यस्तकर्तृत्वादेर्निवृत्तावपि तत्कृतो विशेषः आत्मनि स्थास्यत्येव । पुष्पसमुद्रके पुष्पापनयनेऽपि तत्परिमल इव । तथा च मुक्त्यभावप्रसङ्ग इति चेन्न । अध्यस्तेन अध्यासाधिष्ठाने यस्य-कस्यापि विशेषस्यानुत्पादनात् । न हि शुक्तिरजतेन शुक्तौ कश्चन विशेष आधीयते । अतो नानुपपत्तिरिति ।

“एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्व-भोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः” इति भाष्यम् । शरीरभेदेन अध्यास-भेदादेकत्वमनुपपन्नम् । देहेन्द्रियाद्युत्पत्त्यनन्तरमेव अध्यासप्रवृत्तेरना-

दित्वं नास्ति । बाह्यवस्तुषु वस्त्वन्तराध्यासकाले आत्मानात्मा-  
ध्यासनिवृत्तोरनन्तत्वमपि नास्ति । प्रवाहतोऽनादित्वमनन्तत्वं चेति  
चेत् तर्हि जगदुपादानतया ऽभिमता एकाऽविद्येति न सिद्धयेत् । मिथ्या-  
प्रत्ययरूप इत्यस्य अनिर्वचनीय इति भामतीविवरणमनुपपन्नम् । विषयो  
हि मिथ्या । न तु प्रत्ययः । स तु सन्नेव । तस्य कथमनिर्वचनीयत्वम् ।  
एवं तावत् भाष्यभामतीकारधोरेव अद्वैतसिद्धान्तोपपादनं न हृदय-  
ङ्गमम् । किमुनेतरेषाम् ।

“सर्वथाऽपि अन्यस्य अन्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति” इत्यध्यास-  
लक्षणमाह श्रीशङ्करः । अनेन भ्रम एवाध्यास इत्युक्तं भवति । स कथं  
ब्रह्मणो भवेत् । भ्रमश्च ब्रह्मणश्चेति हि विप्रतिषिद्धमेतत् । ब्रह्म चेत् न  
भ्रमवत् । नित्यनिर्दोषत्वात् । भ्रमश्चेत् न ब्रह्मणः । हेयत्वात् । अथ  
जीवस्यायं भ्रमः, न । ब्रह्मणोऽभन्नो वा जीवः, भिन्ना वा । आद्ये उक्ता-  
ऽनुपपत्तिः । ब्रह्मणो न भ्रमसम्भव इति । अन्त्ये अद्वैतहानिः । अध्यास-  
सिद्धो जीव इति चेन्न । कस्य संऽध्यासः । न ब्रह्मण इत्युक्तम् । न च  
जीवस्यैव । असतो जीवस्याध्यासायोगात् । सतोऽध्यासनिरपेक्षसिद्धि-  
कत्वात् । इत्थमद्वैतसिद्धान्ताधारस्तम्भभूतोऽध्यासो नोपपद्यते । न  
जानीमः कथमद्वैतिन इममध्यासं बुद्धौ आरोपयन्ति, धारयन्ति चेति ।  
शङ्कर एवात्र विशदं किमपि नोक्तवान् । अत एव व्याख्यातृणां विप्रति-  
पत्तिः ब्रह्माश्रिता अविद्या जीवाश्रितेति । प्रधानप्रश्नमिमं उत्तिष्ठन्तं न न  
जानाति शङ्करः । जानाति, समाधानं च अनृजु किमपि वक्ति । तस्येमा  
उक्तयः—

“कस्य पुनरयमप्रबोध इति चेन् यस्त्वं पृच्छसि तस्य त इति  
वदामः । नन्वहमीश्वर एवोक्तः श्रुत्या । यद्येवं प्रतिबुद्धोऽसि  
नास्ति कस्यचिदप्रतिबोधः ।”

इति सूत्रभाष्ये आत्मेति तूपगच्छन्तीत्यत्र । अत्र प्रष्टुरयमाशयः ।



ईश्वरस्य अप्रबोधो न सम्भवति । ईश्वरत्वहानेः । न जीवस्य । तदतिरिक्तस्य जीवस्याभावादिति । तत्र 'यस्त्वं पृच्छसि तस्य ते' इति न ऋजु संशयहरं च उत्तरम् । अथापि जीवस्येति प्रतीतिर्भवति । तत्रानुपपत्तिं पश्यन् स्वाशयं स्फुटीकुर्वश्च पुनः पृच्छति—नन्वहमीश्वर एवोक्तः श्रुत्येति । ईश्वरादहमनतिरिक्तः । ईश्वरस्य च नास्त्यप्रबोधः । तस्मादप्रतिबोधाश्रयो न कश्चिदस्ति । अतः अश्रयाभावान् सोऽनुपपन्न इति प्रष्टुरभिप्रायः । तत्र यद्येवमित्यादि न समञ्जसमुत्तरम् । प्रतिबोधानन्तरं नास्ति कस्यचिदप्रतिबोध इति काममदमस्तु । ततः प्राक्तनोऽप्रतिबोधः कस्येति हि प्रश्नः । तस्योत्तरं नैव दत्तम् ।

एवमन्यत्रापि "अत्राह साऽविद्या कस्येति" इत्युपक्रम्य साडम्बर-निस्सारबहुभाषणानन्तरं "ननु ममैवाविद्या । जानासि तर्हि अविद्यां तद्वन्तं चात्मानम्" इत्याह । अत्रापि अविद्यावानात्मा कोऽभिप्रेत इति न ज्ञायते । ईश्वरे तदसम्भवात् तदतिरिक्तस्य जीवस्याभावाच्च प्रसक्ता अद्विःया अश्र-ानुपपत्तिः न ह्यत्र परिहृता ।

एवं स्वयमुत्तिष्ठन्तीः अन्या अपि शङ्का उपनिष्य अहृद्यमेव समाधानमाह । तत्र इयमेका शङ्का—"न ह्यपहतपाप्मत्वादिगुणो विपरीतगुणत्वेन शक्यते ग्रहीतुम् । विपरीतगुणो वऽपहतपाप्मत्वादिगुणत्वेन । अपहतपाप्मत्वादिगुणश्च परमेश्वरः । तद्विपरीतगुणस्तु शारीरः" इति । अत्र समाधानम्—"यत्तूक्तं न विरुद्धगुणयोरन्योन्यात्मत्वसम्भव इति, नायं दोषः । विरुद्धगुणताया मिथ्यात्वोपपत्तेः" इति । कथं मिथ्यात्वोपपत्तिः । उभयमपि हि प्रमाणप्रमितं—ईश्वरस्य अपहतपाप्मत्वादि-इतरस्य संसारित्वं च ! तत्र गुणद्वये वक्तव्ये विपरीतगुणत्वस्य मिथ्यात्वं कथं भवेत् । शीतोष्णस्पर्शाभ्यां हि जलान्तयोर्भेद इष्यते । न तु अन्यतरस्पर्शस्य मिथ्यात्वं कृत्वा उभयोरेकद्रव्यत्वमङ्गीक्रियते ।

अन्या शङ्का—“ईश्वरस्य च संसार्यात्मत्वे ईश्वराभावप्रसङ्गः” इति । अत्र समाधिः—“यत् पुनरुक्तमीश्वराभावप्रसङ्ग इति, तदसत् । शास्त्रप्रामाण्यादनभ्युपगमाच्च ।” इति । अत्र ‘शास्त्रप्रामाण्यात्’ इत्येतदुपहास्यम् । न हि शास्त्राणि एकमेव वस्तु विरुद्धधर्मद्वययोगितया युगपन् वर्तमानं बोधयितुं क्षमन्ते । एक एव हि आत्मा इष्यते । तस्य संसारित्वे ईश्वराभाव एव । संसारित्वं प्रत्यक्षसिद्धम् । तस्मादीश्वराभाव एव अभ्युपगन्तव्यो भवति । तत्र शास्त्रं किं करिष्यति । अनुपपन्नार्थं हि तद् गौणतया नेयम् । अथ यो द्वितीयो हेतुः ‘अनभ्युपगमाच्च’ इति स एवं विवृतः—“न हीश्वरस्य संसार्यात्मत्वं प्रतिपाद्यत इत्यभ्युपगच्छामः । किं तर्हि । संसारिणः संसारित्वापोहेन ईश्वरात्मत्वं प्रतिपादादायिषितमिति । एवं च सति अद्वैतेश्वरस्य अपहृतपाप्मत्वादिगुणता, विपरीतगुणता तु इतरस्य मिथ्येति व्यवतिष्ठते ।” इति । नेदमाक्षेपस्य समाधानं भवति । काममस्तु शास्त्रं ईश्वरस्य संसार्यात्मत्वं न प्रतिपादयति । अपि तु संसारिणः संसारित्वापोहेन ईश्वरात्मत्वमिति । अथापि वस्तुवृत्तां तावत् कीदृशं भवति । एक एवात्मा छेदनभेदनानर्हः । स संसारी चेत् ईश्वरः कः ? स नास्तीत्येव हि प्रसज्यते । एवं सति ईश्वरबाधकशास्त्रानर्थक्यं च दुष्परिहरम् । अस्य प्रसङ्गस्य ‘न हीश्वरस्य संसार्यात्मत्वं प्रतिपाद्यत इत्यभ्युपगच्छामः’ इत्येतेन कथं परिहारः । ईश्वरादन्यः संसार्यात्मा किं कश्चिदस्ति ?

अपरा शङ्का—“संसारिणोऽपि ईश्वरात्मत्वे अधिकार्यभावात् शास्त्रानर्थक्यमेव । प्रत्यक्षादिविरोधश्च ।” इति । परिहारश्च—“यदप्युक्तं अधिकार्यभावः प्रत्यक्षादिविरोधश्चेति । तदप्यसत् । प्राक् प्रबोधान् संसारित्वाभ्युपगमात् । तद्विषयत्वाच्च प्रत्यक्षादिव्यवहारस्य ।” इति । अयमप्यनुपपन्न एव । प्राक् प्रबोधात् संसारित्वं कस्य । आत्मन एव हि । स च एक एव । सः प्राक् प्रबोधात् संसारी । प्रबोधे तु ईश्वरो

भवतीत्युक्तं भवति । तथा च प्रबोधात् प्राक् ईश्वराभाव एवेत्यभ्युप-  
गच्छति तत्र भवान् । क्रमेवं वेदान्तशास्त्रं बोधयति । न हि कालि-  
काव्याप्यवृत्ति ईश्वरस्य ईश्वरत्वमिति श्रुतिराह । निर्विकारत्वस्य सर्व-  
विधपरिच्छेदराहित्यस्य च श्रावणात् । ननु संसारित्वं यद्यपि प्राक्  
: बोधादस्ति तथाऽपि तस्य मिथ्याःवात् ईश्वरत्वमक्षतमिति चेत् तर्हि  
जीवाभावात् अधिकारिशून्यं शास्त्रमनर्थकं स्यात् । संसार्यात्मा हि  
जीवः । तस्य वस्तुतः संसारित्वविरहे जीव एव नास्तीति हि पर्यव-  
स्यति । मिथ्याभूतमेव संसारित्वं जीवत्वमापादयतीति चेत् अनीश्व-  
रत्वमापादयतीत्येवोक्तं भवति । जीवत्वेश्वरत्वे हि मिथो विरुद्धे ।  
तथा च एकात्मवादे ईश्वराभावो वा जीवाभावो वा प्रसज्यमानो  
दुष्परिहरः ।

तदेवं प्रमाणयुक्तिरहितं तद्विरुद्धं च अद्वैतम् । अत एव तद्रक्षणं  
अशक्यम् । श्रीशङ्कर इदं सम्यग् वेद । तथापि विरन्तनसमीचीन-  
वेदान्तदर्शनसम्प्रदायस्य तदानीं मन्दप्रचारत्वान् तं ज्ञातुमवसरमल-  
भमानः, अन्योन्यविजयसंरब्धैः प्रबलैः सौगतैर्नैयायिकैश्च अनुसृतया  
न्यथपद्धत्या वेदान्तदर्शनस्य लोके अत्यन्तत्रिलयमाशङ्क्य सन्त्रस्तः  
कथमपि तद्रक्षणीयमिति कृतदृढसङ्कल्पश्च धीरः श्रीशङ्करः गौडपादोप-  
ज्ञातैव सारणिः तदनुगुणेति मन्यमानः तदनुसारेण प्रवचनं ग्रन्थांश्च  
चकार । अन्ये च बहवः तमन्वगच्छन् ।

भास्कराचार्यस्तु शङ्करानुसृतं ग्रन्थानं अत्यन्तमनुपपन्नं पश्यन्  
स्वयमन्यदेव भेदाभेददर्शनं प्रादुर्भावयामास । लोके तस्य  
आदरोऽत्यल्पोऽभूत् । एवं यादवप्रकाशदर्शनस्यापि । अथ ब्रह्मसूत्र-  
वृत्तिकारभगवद्बोधायनप्रभृति प्रवृत्तं, विशिष्टाद्वैतवेदान्तदर्शनं चिरा-  
नुवृत्तं यदा कालदैर्घ्यात् निलीनमिव बभूव तदा श्रीशङ्कोपमुर्निशब्धः  
श्रीमन्न्यायमुनिः प्रवचनेन ग्रन्थकरणेन च तत् पुनः प्रावर्तयेत् । तस्य पौत्रेण

श्रीयामुनाचार्येण पोषितं अस्य प्रशिष्येण भगवद्रामानुजेन श्रीभाष्यादि-  
प्रणयनेन प्रतिष्ठापितं च तत् जगति पप्रथे ।

तत्त्वजिज्ञासया गाढविमर्शे कृते शाङ्करमद्वैतं अत्यन्तमनुपपन्नमिति  
यः कोऽपि विपश्चित् स्वयं जानीयात् । अथापि भगवद्रामानुजात् प्राञ्चोऽ  
द्वैतिनः तदेव वेदान्तदर्शनं, नान्यत् किमप्यस्तीति प्रतियन्तः तदेव  
कथञ्चिद् युक्तिभिः स्थापयितुं यत्नमकुर्वन् । अर्वाञ्चस्तु श्रीभाष्याव-  
लोकनेन दृढतरप्रतिपत्ताद्वैतालामञ्जस्य। अपि कुलक्रमागतं दर्शनं परि-  
त्यक्तुमनिच्छन्तः तदेव अधीयानाः परिचिन्वानाश्च आसन् । न तु  
विशिष्टाद्वैतसिद्धान्ते द्वेषं तन्निरसनचिन्तां वा अकुर्वन् । विद्यारथ्य-  
प्रभृतय ईदृशाः ।

अप्ययदीक्षितः पुनः शतदूषणीप्रभृतिप्रौढग्रन्थखण्डने अप्रवृत्तः  
न्यायरक्षामणिप्रभृतिषु ग्रन्थेषु लुट्रोपद्रवान् काञ्चित् चकार । बहुज्ञोऽयं,  
ग्रन्थलेखननिपुणश्च । परन्तु अप्रतिटितिबुद्धिः । कदाचित् किञ्चिद्  
दूषयितुमिच्छति । तदनुगुणं न्यायमालामुपन्यस्यति । कदाचित्  
किञ्चिद् भूषयितुमिच्छति । तदनुगुणं महतीं न्यायमालामुपन्यस्यति ।  
तत्त्वनिर्णये न तथा श्रद्धते यथा वैदुष्यप्रकाशने । रागद्वेषाभ्यां च  
क्लृप्तमना भवति । तत्कारणं यदयं अद्वैती सन् शैवेऽप्यभिनिविष्टो  
ऽभवत् ।

व्याससूत्रमिदं नेत्रं विदुषां ब्रह्मदर्शने ।

पूर्वाचार्यैः क्लृप्तं श्रीकण्ठेन प्रसाद्यते ॥

इति श्रीकण्ठभाष्योपक्रमस्थलोके तृतीयं पादं विवृण्वन् क्लृप्तित्व-  
निदर्शनाय श्रीभाष्यमेव प्रथमं गृह्णाति । प्रथमानुबन्धे अस्माभिः प्रद-  
र्शितया रीत्या सूत्रभाष्यस्य बहुषु स्थलेषु श्रीकण्ठेन खण्डनात् खण्ड्य-  
मानार्थप्रतिपादकमद्वैतभाष्यमेव निदर्शनीयम् । न तु श्रीभाष्यम् । विष्णु-

स्थाने शिवनिवेशनं विना तस्य क्वापि खण्डनाभावात् । गतेरर्थवस्त्वमिति सूत्रे अस्ति खण्डनमिति केचिन्मन्यन्ते । वस्तुतस्तु तत्रापि शिवलोकपारम्यायैव 'उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोऽपत्तोलोकव'दिति सूत्रस्य पूर्वपठनेन पूर्वपन्नसूत्रत्वं गतेरर्थवत्वमित्यस्य सिद्धान्तत्वं च आश्रितमिति खण्डनतात्पर्यं नैव ज्ञायत इति विभाव्यम् ।

कलुषितत्वं च अर्थतो वक्तुमुचितम् ! तथा करणे निर्गुणब्रह्मपरमद्वैतभाष्यमपि अवश्यं निदर्शनीयं भवेदिति तत्परिहरन् शब्दतः कलुषितत्वं श्रीभाष्ये कतिपयस्यलान्यादाय दर्शयति हठादेव । न तु तत्र वस्तुतः कालुष्यं दृश्यते । तथा हि । कृत्स्नसक्त्यधिकरणे 'सर्वोपेता च तदर्शनात्' इति यत् सूत्रं तत्र सर्वोपेतेत्यस्य सर्वशक्त्युपेता परा देवतेति शङ्करभाष्ये श्रीभाष्ये चार्थ उक्तः । श्रीकण्ठभाष्ये तु सर्वा शक्तिः ब्रह्म उपेता आश्रिता इत्यर्थ उक्तः । "अयमेव वाच्यः । उपेतेति स्तीलिङ्गसामञ्जस्यात् । अर्थान्तरे अनुपस्थितदेवतापदाध्याहारप्रसङ्गात् । न हि पूर्वत्र वा विषयवाक्येषु वा देवतापदं श्रूयते । न च शाङ्करभाष्येऽप्ययं दोषः समान इति वाच्यम् । सर्वप्रपञ्चोपेता माया । ब्रह्म तु न परिणमते इति तत्र कृत्स्नैकदेशचोद्यस्य नैवावकाश इत्यर्थान्तरव्यञ्जनतात्पर्येण तत्र तथाऽर्थकथनात् । न च श्रीभाष्येऽपि सर्वकार्योपेता प्रकृतिरित्यर्थान्तरद्योतनमभिमतमिति किं न स्यादिति वाच्यम् । ज्ञानेच्छादीनां कार्याणां प्रकृत्युपादानकत्वाभावेन प्रकृतेः सर्वकार्योपेतत्वासम्भवात् । ब्रह्मरूपकार्ये ब्रह्मणस्तत्तच्छरीरावच्छेदे च उक्तविरूपप्रसराप्रतिज्ञेपाञ्च ।" इत्याह । अत्र वदामः ।

सूत्रार्थविवरणे पूर्वैरनाश्रितः अभिनवः कश्चन प्रकार आश्रयणीयः सति सम्भवं, इति लुद्रकुतूहलभरितान्तरङ्गाः प्रायः सर्वे अर्वाञ्चो ब्रह्मसूत्रव्याख्यातारः । तदेवात्र निदानं यत् श्रीकण्ठ इहार्थान्तरमाह । एतदाश्रित्य भूषणदूषणप्रपञ्चनं दीक्षितस्य व्यसनमात्रम् । श्रीकण्ठोक्तोऽर्थः

अस्वरस एव । 'अधिकं तु' इति प्रथमान्ततयैव हि ब्रह्मोपस्थितिः । तस्येह द्वितीयान्ततया विपरिणामः क्रियत इत्येकोऽस्वरसः । ब्रह्म कारणं भवत्येव । सर्वशक्त्युपेतत्वादिति साक्षात् हेतुप्रतिपादकं सूत्रं प्राचाम् । सर्वा शक्तिः ब्रह्म आश्रिता । अतः सर्वशक्तियुक्तत्वात् ब्रह्म कारणमिति अनपेक्षितमर्थं प्रथममुक्त्वा ततः परं अपेक्षितो हेतुः कल्पनीय इत्यपरोऽस्वरसः । 'यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः' इत्येतदनुसारेण, श्रीभाष्यरीत्या 'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि' इत्यस्मिन् सूत्रे 'विचित्राश्च' इत्येतदनुसारेण च सर्वाभिः शक्तिभिरुपेतैति शक्तिबहुत्वाविवक्षा 'सर्वा' इति पृथक्पदत्वे न घटत इत्यन्योऽस्वरसः ।

उपपन्नत्वात् ऐकपद्यं श्रीभाष्यकारा आश्रयन्ति । न गतानुगति-कत्वात् । अन्यथा स्वप्राक्तनग्रन्थान्तरोक्तमर्थं गतानुगतिकतयैव शङ्कर आहैति कुतो न स्यात् । यत्तु सर्वप्रपञ्चोपेता मायेति अथान्तरं व्यङ्ग्य-मभिप्रेतमिति तदस्य केवलं कल्पनामात्रम् । ज्ञापकलेशस्यापि विरहात् । प्रत्युत बाधकसत्त्वाच्च । ब्रह्मकारणत्वसमर्थनपरं हि प्रकरणम् । तत्र सर्वकार्योपेता मायैव न ब्रह्मेति प्रतिपादने तत् कारणमेव न भवतीति पूर्वपक्ष एव स्थापितः स्यात् । यच्च ज्ञानेच्छादीनां प्रकृत्युपादनकत्वाभावात् प्रकृतिः सर्वकार्योपेतैत्यर्थान्तरविवक्षा न सम्भवतीति, तदपि न । चेतनाचेतनभेदेन द्विविधत्वात् प्रकृतेः । गीतं हि 'अवरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्' इति । यदपि ब्रह्मरूपकार्यादौ विकल्पप्रसराप्रति-क्षेप इति तदद्वैतेऽपि समानम् । विवर्ताधिष्ठानत्वं कृत्स्नस्य वा ब्रह्मणः तदेकदेशस्य वेति । विचित्रशक्तियोगात् परिहारः उभयत्र तुल्यः । अथ वा न तुल्यः । निर्विशेषस्य शक्तिमत्त्वायांगात् ।

अथ यदस्य सर्वस्य दुर्लेश्वनस्य मूलं देवतेति स्त्रीलिङ्गोपस्थितिरिह नास्तीति, तदप्यसत् ; सदेव सोम्येत्येतत् बुद्धौ कृत्वा 'अधिकं तु भेदनिर्देशात्' इति नपुंसकलिङ्गप्रयोगः । कृत्स्नैकदेशावकल्पेन कृतस्य

परिणामाक्षेपस्य परिहाराय शक्तिमत्त्वे वक्तव्ये, न सर्वकार्यकरणसाम-  
र्थ्यमात्ररूपा शक्तिः अपि तु परिणामोपपादकचेतनाचेतनात्मिकाऽपि  
शक्तिर्वक्तव्येति स्थिते तत्प्रमापकस्य 'हन्तेमास्तिस्त्रो देवता अनेन  
जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' इति वाक्यस्योपस्थितौ, तत्रोपक्रमे 'सेयं देव-  
तैक्षत' इति परस्य ब्रह्मणः देवतात्वेनैव कीर्तनात् तद्विशेषत्वमभिप्रेत्य  
सर्वोपेतेति स्त्रीलिङ्गादरणान् । एवमस्मिन् प्रकरणे सद्विद्यावाक्यं सूत्र-  
कारबुद्धौ विपरिवर्तत इति व्यञ्जनायैव इतरव्यपदेशाधिकरणे 'अनेन  
जीवेनात्मनाऽनु-विश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति च "परा देवता"  
इति सूत्रभाष्ये देवतात्वेन परस्य ब्रह्मणो निर्देश इति ।

दोषान्तरमाह । पाञ्चरात्राधिकरणे चरमसूत्रे विप्रतिषेधादिति पदस्य  
विस्मरणशब्दस्य स्मरण इव प्रतिषेधे शक्तिर्नास्तीति गौणी लक्षणा वा  
क्लिष्टा जघन्यवृत्तिराश्रितेति । नायं दांषोऽस्ति । विनिपातशब्दस्य  
निपात इव विनिवृत्तिशब्दस्य निवृत्ताविव विज्ञानशब्दस्य ज्ञान इव च  
प्रकृते शक्तिसद्भावात् । विस्मरणशब्दस्य कचिदपि विशिष्टमरणे  
प्रयोगाभावात् न स्मरणार्थत्वम् । वीक्षणपदस्य ईक्षण इव विप्रतिषेध-  
पदस्य प्रतिषेधे अस्ति प्रयागः । यथा आपस्तम्बधर्मसूत्रे "बुद्धे क्षेम-  
प्रापणं तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धम्" इति । किञ्च यौगिकानां पदानां अर्थ-  
विशेषे प्रयोगप्राचुर्ये सत्यपि योगार्थविवक्षयैव प्रौढग्रन्थकाराः तानि  
पदानि प्रयुञ्जते । यथा कालिदासः 'झायाविनीताध्वपरिश्रमेषु' इति  
विनीतपदं अपनीतार्थे । 'अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वम्' 'स्वाभाविकं विनी-  
तत्वम्' इति प्रसिद्धे विनयार्थे प्रयुञ्जान एव सः उक्तरीत्या अपनयना-  
र्थेऽपि तत् पदं प्रयुक्तवान् । एवं 'विरक्तसन्ध्यार्कापशं पुरस्तात्' इति  
वैराग्यार्थे प्रसिद्धं विरक्तपदं अतिरक्तार्थे प्रयुङ्क्ते । न चात्र जघन्यवृत्तिः ।  
रूढिमात्रस्य निरूढलक्षणाभात्रस्य वा परित्यागात् । योगार्थस्य अभिध-  
यैव प्रतीतेः ।

“अनुकृतेस्तस्य च” इति दहराधिकरणसूत्रश्रीभाष्ये सविस्तरं दोषमाह । इदं, श्रीभाष्यभावं श्रुतप्रकाशिकास्पष्टांक्तिं च अनवहितवतो दीक्षितस्य केवलं भ्रममूलमिति भावप्रकाशिकायां स्पष्टम् । सूत्रे दहराकाशपरामर्शी तच्छब्दः कर्मणि षष्ठ्यन्त इति श्रीभाष्यम् । जीवपरामर्शी कर्त्तरि षष्ठ्यन्त इति शैवभाष्यम् । दहराकाशानुकारः केनेत्यत्र जीवनेत्यर्थलभ्यं पूर्वत्र । जीवकर्त्तृकानुकारः किङ्कर्मक इत्यत्र दहराकाशकर्मक इत्यर्थलभ्यमुत्तरत्र । इदमत्र बोध्यम् । विस्मरणमित्यत्र उपसर्गः न स्मरणे ऽन्वेति । अपि तु स्थानिनि गमने । विगतं स्मरणं विस्मरणमिति । अतो विस्मरणपदस्य स्मरणार्थकत्वं न भवति । विज्ञानादिपदेषु पुनः श्रुतधात्वर्थ एवान्वयः । अतो विशिष्टं ज्ञानमित्यादिरर्थो भवति । न चात्रापि अश्रुते शिणधातावेवान्वय इति वाच्यम् । तथापि श्रुतधात्वर्थगतविशेषबोधकत्वेन तन्निवृत्तिबोधकत्वाभावात् । ईदृश एव विप्रतिषेध इत्यत्र व्युपसर्गः । न ह्यत्र विगतः प्रतिषेधो बाध्यते । अपि तु विशिष्टप्रतिषेध एव । स विशेषः परस्परप्रतियोगिकत्वरूपः । शीतं स्वसमानाधिकरणमुष्णं प्रतिषेधति । एवमुष्णं स्वसमानाधिकरणं शीतं प्रतिषेधति । अतोऽनयोर्विप्रतिषेधः । अयमेव अनयोर्विरोध इत्युच्यते । न तु विरोधत्वावच्छिन्ने विप्रतिषेधशब्दस्य शक्तिः । यौगिकशब्दत्वात् । असामानाधिकरण्यवध्यधातुकभावादिरूपस्य विरोधस्य पर्यवसानगत्या लभ्यत्वाच्च । साङ्ख्यमते पुरुषगतभोक्तृत्वनिर्विकारत्वयोरपि ईदृश एव विप्रतिषेधः । भोक्तृत्वं निर्विकारत्वं प्रतिषेधति । इदं नैवास्तीति प्रतीतिं जनयतीत्यर्थः । एवं निर्विकारत्वं भोक्तृत्वं प्रतिषेधतीति । तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धमित्यत्र आत्यन्तिकत्वं विशेषः । शास्त्रैः अत्यन्तं प्रतिषिद्धमित्यर्थः । पाञ्चरात्राधिकरणसूत्रे यस्मिन् तन्त्रे जीवस्योत्पत्तिरुक्तेति पूर्वपक्षिणा उच्यते तस्मिन्नेव विद्यमानत्वं प्रतिषेधस्य विशेषः । ‘तस्मिन् अपि तन्त्रे’ इत्यनेन श्रीभाष्ये इदं व्यञ्जितम् । अतो विस्मरणपदेन



स्मरणाभाव इव विप्रतिषेधपदेन न कश्चित् प्रतिषेधाभावो बोध्यते । अपि तु सर्वत्र प्रतिषेधे प्रतीयमाने विशेषः कश्चन बोध्यत इति नैव क्लिष्टा काचन वृत्तिरासितेति ।

श्रीकण्ठ एव 'विप्रतिषेधान्' इति सूत्रस्य 'विशेषेणास्य प्रतिषेधो दृश्यते' इति विवरणं करोति । तत्र दीक्षित एव "विप्रतिषेधादिति सूत्रस्य निषेधादित्यर्थमभिप्रेत्य" इत्याह । इत्थं स्वयं प्रतिषेधार्थत्वं वदन् श्रीकण्ठः तमर्थं वदद्भिः प्राचीनभाष्यकारैः सूत्रस्य क्लृप्षितत्वं कथमभिप्रेतवान् भवेत् । "निषेधान्" इत्यर्थमभिप्रेत्य" इत्यनेन इतः पूर्वं अर्थान्तरमभिप्रेति श्रीकण्ठ इति व्यञ्जयति । तत्तु नास्ति । तत्रापि विशेषेण प्रतिषेधस्यैव तेन विवरणात् । विरोधार्थस्य वेदविरुद्धति विशेषणेनैवोक्तत्वेन विरोधादित्यर्थस्य तत्रासङ्गतत्वात् । अभिनिवेशातिशयवृत्तभ्रमव्याकुलतयैव अस्थाने दूषणसम्भ्रमी दीक्षित इति सुस्पष्टमेतत् ।

उभयत्र दहराकाशकर्मकत्वं जीवकर्तृकत्वं चावशिष्टम् । दहराकाशो न जीवः इत्येव पूर्वसूत्रानुगुणाऽत्र प्रतिज्ञा । तथाऽपि इयमर्थलभ्येति कृत्वा श्रीभाष्ये भावविशेषन्यञ्जनाय "प्रतापतिवाक्यप्रतपाद्यः मुक्तबन्धः प्रत्यगात्मा न दहराकाशः" इति विपर्यस्ता प्रतज्ञा दर्शिता । तत्र 'तस्य दहराकाशस्य परस्य ब्रह्मणः' इति तच्छब्दार्थे उक्ते अर्थान्तरकथनकुतूहलात् श्रीकण्ठः 'तस्य जीवस्य' इत्याह । इत्थमत्र विशेषाभावेऽपि श्रीभाष्यदूषणवैयग्र्यं दीक्षितस्य द्वेषमात्रमूलकम् । तदधीनभ्रममूलकं च । वस्तुतोऽत्र यो दोषः श्रीभाष्ये उक्तः, स न तत्र, अपि तु एतदाहते श्रीकण्ठभाष्य एव ।

तथा हि । "अत्र हि दहराकाशं प्राप्तस्य पाप्मकार्यान्धत्वाद्यभावे सततोदितप्रकाशत्वे च प्राप्यस्य दहराकाशस्य अपहृतपाप्मत्वं...हेतुत्वेनोच्यते ।" इत्याह श्रीकण्ठः । एवं यदि कारणभूतं अपहृतपाप्मत्वादिदिकं प्राप्यस्य दहराकाशस्य, कार्यभूतं तत् प्राप्तुर्जीवस्य च स्वप्रकरण

एवावगतं तर्हि तत एव भेदसिद्धेः साम्यापत्तिरूपानुकारेण साध्यं किमस्ति । अयं चेदभिप्रायोऽत्र सूत्रकारस्य 'भेदव्यपदेशाच्च' इत्येव सूत्रं करणीयम् । न त्वनुकृतेरिति । यच्च

“तस्य तद्धेतुत्वं 'निरञ्जनः परमं  
साम्यमुपैति' इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धम् ।”

इति तन्न । विद्वान् साम्यमुपैतीति स्वगताया विद्यायाः साम्यापत्तिहेतुत्व-  
मत्रोक्तम् । न त्वपहतपाप्मत्वादेर्गुणस्य ब्रह्मगतस्य । यदप्युपरि—

“तेन दहराकाशां प्राप्तस्य उक्तफलावाप्तिः तत्साम्यापत्तिरूपा तदनु-  
कृतिरिति लभ्यते”

इति, तदप्यसाधु । साम्यं हि समानधर्मवत्त्वम् । अपहतपाप्मत्वादिधर्म-  
योगात् उभयोः साम्यं तत एवावगम्यत इति श्रुत्यन्तरावसेयस्य कस्य-  
चिदभावात् । एवं च भेदस्यैवात्र साध्यत्वात् तस्य च प्राप्यगुणस्य  
प्राप्तगुणहेतुत्वप्रतिपादनेनैव सिद्धेः 'हेतुव्यपदेशाच्च' इत्येव सूत्र-  
यितुमुचितम् । प्रागुक्तरीत्या भेदव्यपदेशाच्च इति वा । न तु  
'अनुकृतेरिति' इति सूत्रमेवासमञ्जसं भवति श्रीकण्ठभाष्यानुरोधे ।  
एवं सति श्रीभाष्यदूषणं पापतरम् । अस्मिन् सूत्रे दहराविद्याप्रकरणस्थं  
वाक्यं किमप्यनुपादाय 'यदा पश्यः' इत्युपनिषदन्तर्वाक्यमात्रमुदाहृत्य  
सूत्रार्थं वर्णितवतः श्रीभाष्यकारस्य गम्भीरं भावं श्रुतप्रकाशिकायां  
विवृतमपि श्रीकण्ठो न जग्राहेति प्रतिपत्तव्ये स्वयमेव तथा अप्रतिपद्य-  
मानः वैपरीत्येन दूषणसंरम्भमपि बिभ्रत् दीक्षितः शोच्यः ।

'अनुकृतेस्तस्य च' 'अपि स्मर्यते' इति सूत्रद्वयं भगवद्रामानुजवत्  
दहराधिकरणान्तर्गतमेव कृत्वा भाष्यं रचयन् श्रीकण्ठः तद् द्वयं पृथग-  
धिकरणं कृत्वा 'तमेव भान्तमनुभाति सर्व', इत्येतद्वाक्यविषयतया  
योजयन्तं शङ्कराचार्यं सूत्रकालुष्यकारं मन्यत इति पक्षपातरहितैः प्रदर्श-

नीयम् । दीक्षितस्तु रागद्वेषपरवशः दूषणीयं उपेक्षते । अदूषणीयं  
अमार्गं गत्वा दूषयति ।

पुनरपि भाष्यद्वयवाक्यानामापातप्रतीतिमाश्रित्य श्रीभाष्ये दोषा-  
न्तरमाह ।

“शान्त्रयोनित्वार्दिति सौत्रहेतौ पूर्वसूत्र एव प्रतिज्ञातत्वेन योजयितुं  
शक्ये परभाष्ये ब्रह्म शास्त्रप्रतिपाद्यमिति प्रतिज्ञामध्याहृत्य हेतोः  
साध्यावैरिष्टयपरिहारार्थं अब्रह्मज्ञादिवदबधारणगर्भतया शास्त्रेतरा-  
प्रमाणकत्वादित्यर्थे पर्यवसानमुक्तम् । तदप्यतिक्रिष्टमिति स्पष्टमेव ।”  
इति । अहृदयमेव इदमुक्तमिति विदुषां सुग्रहम् । जगज्जन्मादिकारणं  
ब्रह्मेति पूर्वसूत्रार्थः । तत्र किं प्रमाणमिति चेदाह सूत्रकारः ‘शास्त्रयोनि-  
त्वात्’ इति श्रीकण्ठः इदं सूत्रमवतारयति । पूर्वाधिकरणे अयं ‘यतो  
वा इत्मानि भूतानि जायन्ते’ इत्यादिवाक्यं विषयः ।” इत्युपक्रम्य अत्रोक्तं  
जन्मादिकारणत्वं न सम्भवतीति पूर्वपक्षं प्रापय्य ‘अतो जगज्जन्मा-  
दिलक्षणं ब्रह्मेति सिद्धान्तं प्रतिपादयामास । एवं सति ‘जगत्कारणं  
ब्रह्म किम्प्रमाणकमित्यत आह’ इति प्रकृतसूत्रावतरणं नोपपद्यते ।  
शास्त्रमुपादायैव जगत्कारणस्य ब्रह्मणः साधितत्वात् । पुनः प्रमाणपे-  
क्षाया असम्भवात् । इमामनुपपत्तिं स्वयमुद्भाव्य परिहरति तस्मिन्न-  
धिकरणे दीक्षितः—

तत्र प्रमाणप्रदर्शनार्थमुत्तराधिकरणमित्यर्थः । यद्यपि तस्मिन्  
‘यतो वा’ इत्यादि शास्त्रं प्रमाणमिति पूर्वाधिकरण एवोदाहृतं,  
तथाप्यानुमानिके जगज्जन्मादिकर्तारि तत्सिद्धार्थानुवादकं तद्वाक्यं  
न प्रमाणमिति तस्य पूर्वाधिकरणे तत्र प्रमाणतयोदाहरणमयुक्त-  
मिति प्राप्ते शास्त्रप्रामाण्यादेव जगज्जन्मादिकारणं ब्रह्म न त्वनु-  
मानप्रामाण्यादिति स्थापयितुमाक्षेपसङ्गत्या इदमधिकरणमारभ्यत  
इति भावः ।

इति । अत्र आरम्भे 'तत्र प्रमाणप्रदर्शनार्थमुत्तराधिकरणमित्यर्थः' इति भाष्यार्थो य उक्तः सः 'न त्वनुमानप्रमाण्यादिति व्यवस्थापर्यितुं..... इदमधिकरणमारभ्यते' इत्यनेन निरस्तः । न हि प्रमाणप्रदर्शनार्थमिदमधिकरणम् । अपि तु प्रमाणान्तरप्रतिषेधार्थम् । अयं प्रतिषेधः सूत्रात् कथं लभ्यते । शास्त्रस्यैव प्रमाणत्वादित्यवधारणगर्भत्वात् । अनुमानस्याप्रमाणत्वादिति सूत्रार्थः पयवस्यति । अयं हेतुः ब्रह्म जगज्जन्मादिकरणमिति प्रतिज्ञया साक्षात् नान्वेति । अनुमानप्रमितार्थविषयतया यतो वेत्यादि शास्त्रं कारणे ब्रह्मणि न प्रमाणमिति ह्याक्षेपः । तत्परिहाराय इदं शास्त्रं तत्र प्रमाणं भवत्येव अनुमानस्य तत्राप्रमाणत्वात्, इत्युच्यते । शास्त्रप्राधान्येन प्रदर्शितोऽय प्रयोगः तद्वेद्यब्रह्मप्राधान्येन कारणं ब्रह्म यतो वेत्यादिशास्त्रवेद्यं तदितरप्रमाणागम्यत्वात्, इति यदि प्रदर्श्यते तत्र को दोषः । अतः

“ननु शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो न सम्भवति । प्रमाणान्तरवेद्यत्वात् ब्रह्मणः” “यथोक्तलक्षणं ब्रह्म जन्मादिवाक्यं बोधयत्येव । कुतः । शास्त्रैकप्रमाणत्वाद् ब्रह्मणः ।”

इति श्रीभाष्ये सूत्राभिप्रेतपूर्वोत्तरपक्षप्रदर्शनं निरवद्यम् । तदनुसार्येव

“अत्र जगत्कारणं ब्रह्म शास्त्रैकगम्यम्,

उत प्रमाणान्तरेणापि गम्यमिति सन्देहः ।”

इति श्रीकण्ठभाष्ये सन्देहकोटिद्वयप्रदर्शनमपि । तस्मादत्रापि द्वेषमात्रेण दूषणसंरम्भः । रागातिशयेन दूषणीयदूषणे औदासीन्यम् । न परं तत्र औदासीन्यं, पोषणे आदरश्चेति सुग्रहं धीमताम् ।

कृष्णानन्दयतिः स्वकोये सिद्धान्तसिद्धाञ्जननाम्नि ग्रन्थे श्रीभाष्यखण्डनसंरम्भं प्रदर्शयति । पदे पदे क्रोधद्वेषप्रज्वलितमनाः श्रीभाष्यकारं निन्दति । अनेन क्रियमाणे परपक्षदूषणे स्वपक्षभूषणे वा सामञ्जस्यं अतिदुर्लभम् । लोकक्षेमङ्करस्य वैदिकमार्गस्य आत्यन्तिकलोपप्रसञ्जक-

योरदुरवस्थाविषमेऽस्मिन् काले वैदिकानां मिथः कलहो न युक्त इति मत्या परमतखण्डनपराङ्मुखा अपि वयं श्रीभाष्यदूषणानि अनेन कृतानि न तत्र लगन्तीति प्रमाणन्यायविरुद्धानीति च प्रदर्शनपरं ग्रन्थं कर्तुं महतामादेशेन विंशतेर्वर्षेभ्यः प्राक् आरभामहि । सति सौकर्ये तं समाप्य प्रकाशयिष्यामः ।

अथास्माकं चिरसुहृन् म० म० अनन्तकृष्णशास्त्री बाल्यान् प्रभृति विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तदूषणपरः तत्र ऐदंपर्येण बहून् निबन्धान् प्रकाशितवान् । अयं निस्सारबहुभाषी । विषयाणां यथावदवगमे निरूपणे च न श्रद्धानुः । यथोपस्थितं ऋटिति लिखति प्रकाशयति च । अबद्धं चे अन्ये खण्डयन्तु इति वदति । खण्डने आगते यथाशीलं असारं प्रतिग्रन्थं कञ्चन त्वरया विलिख्य प्रकाश्य कृतकृत्यमात्मानं मन्यमानस्तृप्यति । अद्वैतवेदान्तपरिभाषायाः श्रीरामकृष्णदीक्षितकृतं प्रौढं व्याख्यानं प्रसिद्धम् । तस्याः स्वयमभिनवं किमपि व्याख्यानं कुर्वन् शास्त्री अस्थान एव तन् प्राचीनं व्याख्यानं दूषयति । अत्र असामञ्जस्यप्रदर्शने तत्त्वतः कृते सति अद्वैतिनोऽपि विद्वांसः अस्य विलक्षणं वैदुष्यं यथावद् ज्ञास्यन्तीति मत्वा वयमपि तस्य ग्रन्थस्य अभिजातां नाम व्याख्यां निर्मातुं प्रावर्तामहि । इयमपि कृतिः असमग्रैव वर्तते ।

अथायं सन्निहिते काले श्रीमन्निगमान्तमहादेशिककृतेः शतदूषण्याः खण्डनमुद्दिश्य शतभूषणीं नाम कञ्चन ग्रन्थं प्रकाशितवानित्यश्रुणुम । न तु तमपश्याम । न च तदर्शने अस्माकं कुतूहलम् । यतः तस्य पाण्डित्यं लेखनचातुर्यं च ईदृशमिति प्रागेव जानन्तः तमदृष्ट्वैव तद् लोकनस्य अत्यन्तत्रेफल्यं खण्डनप्रयासाङ्गीकरणोचितप्रौढिराहित्यं च निरधारयाम । महतामादेशेन तत्खण्डनार्थं परमार्थभूषणं नाम विस्तृतं सहस्राधिकपुटं ग्रन्थं प्रकाशितवन्तः “अभिनवदेशिक” बिरुदभाजः श्री उत्तमूर् वीरराघवाचार्यस्वामिनः श्रीशास्त्रिणं प्रति उपोद्धाते एवं

लिखन्ति—

एष पगीक्षकः शुद्धमुद्रणं शतदूषणीग्रन्थं द्रष्टुमलब्धवाक्काशः  
 अशुद्धवाक्यानि यथाभूतानि मत्वा वृथैव बहु लिखति । शुद्धवाक्यानामपि  
 श्रुतानां यथावस्थितमर्थं नावबुध्यते । पूर्वापरग्रन्थशैलीं न परिशील-  
 यति । आपादचूडं वादमेकैकमननुद्दश्य विवेचनकार्ये संरम्भं  
 वहति । स्वानुकूलान् प्रतिकूलांश्च सर्वान् गतदूषणीविकल्पितान्  
 कल्पान् स्वयं समर्थयितुं यतते । तत्र तत्र प्रतिवादं स्वपक्षं  
 मनागुपन्यस्य 'एतेनायं शतदूषणीभागो व्याख्यातः । एतेनायम्'  
 इत्येवं लेखनमात्रेण समग्रं ग्रन्थं खण्डितं कलयति । खण्डनकारा-  
 दिग्रन्थेषु शतदूषण्या संयक् खण्ड्यमानेषु तदंशाविवेकेन  
 खण्डनादिग्रन्थानुवादेन अपूर्वार्थप्रदर्शिनमात्मानमध्वस्यति ।  
 श्रीभाष्यमतामिदमित्यविज्ञाय च स्वतुर्द्विहितं किञ्चिदारोप्य  
 दूषणं विस्तृणाति । 'प्राचीना अद्वैतिनः प्रायः पङ्क्तयर्थं यथावद-  
 वबोद्धुः', तत्र यदंशे स्वयं किञ्चिद्वक्तुमभारयन् तत्र किञ्चिन् कर्तुं  
 व्याभियन्त । अयं तु अनवबुध्यैवार्थं आटोपेन अयथायथप्रपञ्चनेन  
 कार्यं साधितं मन्यते । अतः एतन्मात्रदूषणेन न कालः क्षेप्रञ्च इति  
 परिशील्य परमार्थभूषणग्रन्थोऽयमित्थमवतार्यते, यथाऽयं न केवलं  
 शतभूषणीग्रन्थम्य, न वा एतत्समानकर्तृरुवेदान्तरक्षामण्यादिमात्र-  
 सनाथस्य, न वा एतत्सुहृज्जनविहितसाम्प्रतिककतिपयग्रन्थमात्र-  
 युक्तस्य, किं तर्हि अद्वैतसिद्ध्यादिप्राचीनानेकाद्वैतग्रन्थजातस्यापि  
 खण्डनरूपः सन् अद्वैतसिद्धान्तस्य सर्ववधदौःस्थ्यदर्पणायमानः  
 सूक्ष्मधियां प्राज्ञानामाराधनान् विशिष्टद्वैतसिद्धान्तसुधागससमा-  
 स्वादनाच्च अशेषमनीषिजनानुग्रहभाजनमिमं जनं कारयति ।'

इति । अनन्तकृष्णशास्त्रणः यं कर्मापि ग्रन्थमवलोकयतो यस्य कस्यापि  
 विदुषः तं प्रति ईदृशोऽभिप्रायो न न भवेत् । यथा लोके नराणां तथा

ग्रन्थकरणे ग्रन्थकाराणामपि दया आवश्यकी । अस्माराप्रःमाणिकार्थप्रति-  
पादकग्रन्थकरणे तद्दर्शनः सामान्यजनाः भ्रान्ताः विनष्टाश्च खलु भवेयुरिति  
भेतव्यम् । विदुषामपि तद्दर्शने विनियुक्तः कालः अत्यन्तं विफलो हि भवे-  
दिति पर्यालोयनीयम् । नैवम्प्रकृतिः शास्त्री । कुग्रन्थान् कुर्वन्नेव वर्तते ।  
स्वसिद्धान्तस्य अणुमात्रोऽप्युपकारः तदीयैर्ग्रन्थैर्न भवति । परासिद्धान्त-  
दूषणेऽपि अभिनवा काचिद् युक्तिर्न प्रदर्श्यते । प्राचीनग्रन्थपङ्क्तीरेव  
अयथायथं विरलस्य विषयान् व्याकुलयति । तस्मादेतद्ग्रन्थनिराकरणे  
सर्वथा औदासीन्यमस्माकम् ।

सिद्धान्तसिद्धाञ्जनकारान् कृष्णानन्दयतेरपि उत्कृष्टतरं विशिष्टा-  
द्वैताचार्येषु द्वेषं कुर्वन् करुङ्गलं कृष्णशास्त्री सूत्रानुगुण्यनाम्नी ग्राम्य-  
निन्दावाक्यमात्रकारां काञ्चन कृतिमकरोत् । परनिन्दाप्रावण्यमेवास्य  
स्वमतविषयाणां समञ्जसोपपादने मतान्तरस्य ऋजुना मार्गेण निरसवे  
च असामर्थ्यं प्रकाशयति ।

इत्यमद्वैतस्यापरि श्रीभाष्ये उद्भावितानां दोषाणां परिहारो येन  
लभ्येत तथाविधे प्राचीने नवाने वा ग्रन्थे अत्यन्तं दुर्लभे सति वस्तुतः  
विशिष्टाद्वैतमेव औपनिषदं मतमिति अध्यवसातव्यमासीत् । न परं तत् ।  
येन केनापि विदुषा अद्वैतं पारमार्थिकमिति वस्तुतो मन्तुमशक्यामि-  
त्यपि प्रत्ययोऽजायत । तेन सन्तु ग्रन्थाः । ये अद्वैतपण्डिताः सन्ति ते  
अद्वैतं स्वबुद्धौ कथं गृह्णन्ति कथं तत्र श्रद्धां कुर्वन्तीति ज्ञातुमिच्छा  
प्रबला अर्जानि । परन्तु प्रश्ने कृते दूषणप्रवृत्तं मां मत्वा भूटिति प्रकुप्ये-  
युरिति भिया तूष्णीम्भाव एव चिरमवालम्ब्यत ।

मतत्रयविद्वत्समवायवति कस्मिंश्चित् सदसि तदध्यक्षपदमधिति-  
ष्ठता अद्वैतिना महापुरुषेण जिज्ञासुना शुद्धस्य चैतन्यस्य कथमविद्या-  
सम्बन्ध इति कृतं प्रश्नं समाधातुं प्रवृत्तः अद्वैतविदामग्रणीः कश्चित्  
आकाशतलमलिनतादिनिदर्शनमुपन्यसितुमारभत । सद्यः प्रष्टा 'निदर्शनं

पश्चाद् भवत् । प्रश्नः साक्षात् समाधेयः' इत्युक्तः सः जोषमेवास्त । सम्भावितेषु विद्वत्सु सदो व्यटत । अन्यदा कदाचित् अद्वैततत्त्वं सदसि विवृण्वन् तद्वित् "पश्यत श्रुतिवाक्यस्वरससिद्धमद्वतं न वेति । पीठमानयेत्युक्तः कर्मकरः पीठे य उपविष्टः तं ततोऽपगमय्य हि पीठमानयति । तथा तत्त्वमसीत्यत्र तत्त्वम्पदाभ्यां प्रतीतविशेषपरिहारेण अभेदो बोध्यत इति ननु सूपपन्नमेतत्" इति भाषते स्म । धनपेटीमानयेत्युक्तेन कर्मकरेण किं पेटीमुद्धात्र्य अन्तः स्थितं सर्वमपनीय केवला पेटी आनेया ? तत्तद्वस्तुसामर्थ्येन हि ईदृशो विशेषोऽवगम्यते । न वाक्यस्वारस्येन । तत्त्वमसिवाक्यस्वारस्यं तु सिंहा देवदत्तः, अयमात्मा ब्राह्मण इत्यादौ यादृशोऽर्थः तादृश एवार्थे । न निर्विशेषवस्तुनि । अप्रासिद्धत्वात् । एवमादिवृत्तैः "परमार्थतः अद्वैतवित् न कोऽप्यस्ति । न कोऽपि भवे" इति निश्चिता मतिरभूत् । नायं पुरुषदोषः । अपि तु मतदोषः । सर्वप्रमाणोपपत्तिविरुद्धं मतं धीमतामग्रेसरेणापि केन रक्षितं शक्यते । अथवा किं रक्षणोक्तया । बुद्धावारोपयितुमेव केन शक्यते ? कृत्स्नप्रसक्तिसूत्रे श्रीशङ्कर आह—

नैष दोषः । अविद्याकल्पतरूपभेदाभ्युपगमात् । न ह्यविद्याकल्पतेन रूपभेदेन सावयवं वस्तु सम्पद्यते : न हि तिमिरोपहितनयनेन अनेक इव चन्द्रभा दृश्यमानोऽनेक एव भवति । अविद्याकल्पतेन च नामरूपलक्षणैः रूपभेदेन व्याकृताव्याकृतात्मकेन तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयेन ब्रह्म परिणामादिसर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते पारमार्थिकेन च रूपेण सर्वव्यवहारातीतं अपरिणतं अवतिष्ठते इति । चन्द्र एक एव । तिमिरोपहतनयनः पुरुषः नयनदोषेण तमनेकमिव पश्यति । तस्मिन् अनेकत्वभिदं पुरुषगतभ्रमरूपाविद्यया कल्पितम् । अतस्तस्य पारमार्थिकमेकत्वम् । अविद्याकल्पितमनेकत्वमित्युपपद्यते । चन्द्रमसः पुरुषेण वा अविद्यया वा न कश्चित् सम्बन्धः । अतः



एतत्कल्पितेन अनेकत्वेनापि तस्य नास्ति सम्बन्धः । न हि प्रकृते एवं सम्भवति । ब्रह्म याद् सर्वव्यवहारातीतं अपरिणतमवतिष्ठते, कोऽन्योऽस्ति यम्याविद्यया तस्मिन् नामरूपलक्षणरूपभेदः कल्प्यते । अन्यस्य सत्त्वे अद्वैतभङ्गः । असत्त्वे नामरूपव्यवहार एव न स्यात् । ब्रह्मैव स्वगत्याऽविद्यया विविधभेदवत्त्वेन स्नात्मानं पश्यतीति चेत् पारमार्थिकरूपेणावस्थानप्रतिज्ञा परित्यक्ता स्यात् । अतो द्वैतगर्भेऽष्टान्तैः अद्वैतोपपादनं न युक्तम् । उपपन्नत्वाद् दृष्टान्तो वृद्धिमारोहति । न तु दार्ष्टान्तिम् । वपम्यात् । अनुपपन्नत्वात् । अतो न केनचित् सहृदयं अद्वैतिना भवितुं शक्यम् । सङ्केतमात्रेण अद्वैतिनः अद्वैतमाद्रियन्त इति प्रकारान्तरासम्भवेनाध्यवसीयत ।

वस्तुस्थितेरीदृशत्वात् अस्थाने अस्मत्सिद्धान्तदूषणे संरम्भातिशयभाजोऽद्वैतिनः परावृत्य स्वात्मानं यथा पश्येयुः तथाऽस्माभिरपि किञ्चित् कर्तुमुचितमिति जातमतयः कालतः शतदूषण्यपेक्षयाऽर्वाचीनत्वेऽपि विंशष्टाद्वैते तस्या यत् स्थानं तदेव स्थानं अद्वैते आतस्थुषीं अद्वैतसिद्धिमादाय विमर्शं कर्तुं निराचिनुम ।

अद्वैतसिद्धिकारां मधुसूदनसरस्वती सर्वशास्त्रज्ञः प्रौढपाण्डित्यः बहुदृष्टा ग्रन्थलेखने पटिष्ठः । ततः प्राक्तनेषु अद्वैतग्रन्थेषु यो यावान् सारांशः तस्य सर्वस्य अद्वैतसिद्धौ अनेन निबद्धत्वात् तेषां परिशीलनप्रयासो मुधेति ततो वयमुदास्महि । निपुणोऽपि उदारप्रकृतिरप्ययं मतस्यात्यन्तदुर्बलत्वात् तत्र तत्र अगत्या दुबलान् अनूजूनपि प्रतिवादान् प्रपञ्चयति । अद्वैते ब्रह्मण एव संसारित्वं अपरिहार्यम् । तन ब्रह्माभावप्रसङ्गश्च । अथापि इदमङ्गीकर्तुं नैच्छद् भाष्यकार इति पूर्वं प्रादर्शयाम । सिद्धकारः पुनः तदुभयमङ्गीकुर्वन् स्पष्टमेवाह—

“अविद्यावशात् ब्रह्मैव एकं ससरति । स एव जीवः । तस्यैव प्रतिशरीरं अहमित्यादिबुद्धिः ।”

इति । “व्यवहारदशायामपि संसार्यन्ययुद्धत्रह्यभावापातात् ।” इति च । एवमन्या अपि दुरवस्था आपतन्त्यः सोढव्या एवेति ज्ञापयन् धीरं ब्रवीति—

जीवैक्यस्य प्रमाणसिद्धत्वे संसारोपलम्भ एवातः पूर्वं तत्त्वज्ञानानुत्पत्तौ प्रमाणम् । न च तत्त्ववित्त्वेन श्रुत्यार्दासिद्धानां शुक्वामदेवादीनां मुक्तिर्नाभूत् । मम तु भावष्यतीति कथं श्रद्धयार्दित्वाच्यम् । शास्त्रप्रामाण्यदाह्यार्दितं गृह्णाण । अन्यथा तेषां महानुभावानां मुक्तत्वेऽपि मम भावष्यति न वेति शङ्कापिशाच्या प्रवृत्तिप्रतिबन्धापत्तेः । ननु तर्हि श्रुतिप्रामाण्यबलादेव तत्सिद्धो जीवभेदः पूर्वमपि केषाञ्चिन्मोक्षश्चाभ्युपेयताम् । श्रूयते हि—“तद्यो यो देवानां प्रत्यवुध्यत स एव तदभवत्, तथर्षीणां, तथा मनुष्याणाम्”, “अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां मुक्तभोगामजोऽन्यः ।” “नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां” इत्यादि । स्मर्यते च—

“बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।”

“इदं ज्ञानपुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ॥”

“सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥”

इत्यादि-इति चेन्न । उक्तवाक्यानां सार्वलौकिकभ्रमसिद्धभेदानुवादकत्वेन तत्परत्वाभावात् । जीवैक्यबोधकवाक्यानां च मानान्तराप्राप्तस्वार्थपरत्वात् । स्वप्नन्यायेन भेदस्य कल्पितत्वोपपत्तेश्च । ज्ञानस्तुतिपराणि वाक्यानि नात्मभेदं प्रमातुं प्रभवन्ति । तात्पर्यचद्वाक्याविरोधेन अतात्पर्यवद्वाक्यानां गुणवादत्वोपपत्तेः ।

अतीतानागताश्चैव यावन्तः सहिताः क्षणाः ।

ततोऽप्यनन्तगुणिता जीवानां राशयः पृथक् ॥

इत्यादिस्मृतिरपि जीवोपाधिभेदानुवादकतया व्याख्येयाः ।”

इति । अद्वैतं तत्त्वमित्यातिष्ठमानैः जगन्मिथ्यात्ववत् शुक्वामदेव.दी-  
नामपि ज्ञानानुदयः मुक्त्यभावः तत्प्रतिपादकवचनानामन्यपरत्वं, अन्य-  
दपि सर्वं निःशङ्कं वक्तव्यमिति भावः । तर्कबलादेव अद्वैतं साध्यम् ।  
न तत्र शास्त्रबलमस्ति । शास्त्राणि तु तदनुगुणं नेतव्यानि नित्यमभिप्रैति ।  
अत एव अनुमानं प्रधानीकृत्य तेन विश्वमिथ्यात्वं साधयन् तत्र बाधो-  
द्धारप्रसङ्गेन शास्त्रं तदयिरुद्धं नयति । अनुमानबलेनैव भवगतो लीला-  
विभूतिमिव नित्यविभूतिं गुणान् दिव्यमङ्गलविग्रहं च निराकरोति ।  
सर्वमिदं नास्तिक्यपर्यवसायि । लोकायतं पामरनास्तिक्यम् । अद्वैतं तु  
परिहृतनास्तिक्यमिति विशेषः । प्रपञ्चो नासीदास्ति भविष्यतीति पर-  
मोऽद्वैतसिद्धान्तः । प्रपञ्चभानं स्वाप्रभानवत् । न च स्वाप्रभाननिवृत्ति-  
मुद्दिश्य किमपि क्रियते, कर्तव्यं वा । तथा जागरितभाननिवृत्त्यर्थमपि  
न किञ्चित् कर्तव्यम् । मिथ्यात्वात् ! आत्मनो नित्यमुक्तत्वात् । यदि  
केचन शास्त्राण्यधीयते, मुक्तिमागमन्विष्यन्ति, श्रवणमननादि कुर्वन्ति  
तत्सर्वमनिर्वचनीयानुपपन्नतैकवेषाविद्याकार्यं स्वाप्रवृत्तिकल्पम् । वस्तुतः  
परमार्थसत आत्मनो नित्यमुक्तत्वात् अन्यस्य सर्वस्य मिथ्यात्वात्  
विवेकवतां न किञ्चित् कर्तव्यमस्ति । स्वच्छन्दवृत्तिभिर्भवितुं  
शक्यम् । इति हि निर्गलितः अद्वैतसिद्धान्तसारः । किमिदमास्तिक्यं  
उतान्यदिति अद्वैतिन एव पर्यागोचरितुमर्हन्ति । दायक्रमेण वा कारण-  
वशेन वा अद्वैतदर्शनमवलम्बितवन्तः तत्र ग्रन्थान् कृतवन्तश्च सर्वे  
प्रौढाः पूर्वाचार्याः वस्तुतस्तत्र सङ्कसुकवृत्तय एव । अत एव ते भग-  
वस्तुतिपरा अभवन् । शङ्कराचार्यः अन्तकाले विष्णुपादादिकेशान्त-  
स्तोत्रमकरोदिति प्रसिद्धिः । अद्वैते विस्मम्भवतः कथमीदृशस्तुतिनिर्माणे  
प्रवृत्तिर्जाता स्यात् । भक्तिसाध्यस्य मोक्षस्य अनित्यत्वपरिहारं मार्गा-  
न्तरमपश्यन् सः अद्वैतमेव तत्त्वमित्यास्थाय वेदान्तदर्शनरक्षणे प्राव-  
र्तत । प्राप्तविजयश्चाभवत् । परन्तु स्वहृदये सः वैष्णवाप्येसरः सन्

“भगवच्चरणारविन्दप्राप्तिरेव मुक्तिः । तद्भक्तिरेव साधनम् । एतदुपदेश-  
तत्परा एवोपनिषदः ।” इत्येव प्रत्ययमकरोत् ।

स्पष्टतरमिदं मधुसूदनाविषये । स हि भगवद्गुणविग्रहनिराकरण-  
समनन्तरमेव भक्तिरसस्यान्द हृद्यं पद्यमिदं निबध्नाति—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्

पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।

पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्

कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

इति । समस्तकल्याणगुणाकरात् साक्षान्मन्मथममथात् भगवतो वासु-  
देवात् परं ततोऽनीतं किमपि तत्त्वं निर्विशेषं वस्तु किञ्चित् न जाने  
अस्तीति न मन्ये । ननु इयता प्रबन्धेन निरूप्य कथं तदेवेदानीमपह्नुषे ?  
न । ‘अहं न जाने’ इति मम हि मतमिदानीमुच्यते । कोऽभिप्रायः ।  
पूर्वाचार्याः अद्वैतदर्शनं प्रवर्तयामासुः । तस्य दूषणमपरे अकुर्वन् । एषां  
निरसनमिदानीं करोमि । एतावता मम स्वकीयं दर्शनं अद्वैतमेवेति  
न मन्तव्यमिति । किं तर्हि भवतः स्वकीयं दर्शनम् । अत्र तदायमुत्तर-  
मेवमनुसन्धेयम् । परतत्त्वमुक्तं-कृष्ण एवेति । अवरतत्त्वमुक्तं-अहमिति ।  
हितं मुक्तिसाधनं भक्तिः । तद् व्यज्यते पूर्वेण पादत्रयेण । भक्तिर्नाम प्रीति-  
रूपापन्नः स्मृतिसन्तानः । स्वस्य वर्तमानमिमं अभिलषति विशेषणैः ।  
स्वगृहे स्वकर्मकरणपरोऽयमवर्तत । तदा भगवतः कृष्णस्य वेणुना-  
दोऽस्य कर्णे पपात । सद्यः प्रधाव्य स यत्र अवर्तत तं देशमभजत ।  
तत्र प्रथममस्य वंशीवादनपरौ भगवतः करौ दृष्टिगोचरावभवताम् ।  
तावनुबभूव । ततः क्रमेण प्रकौष्ठौ, प्रगण्डौ, अंसौ, कण्ठः, भुजान्तरमिति  
दिव्यरूपस्य मध्यभागमन्भवत् । तदाह नवनीरदाभादिति । तदनन्तरं  
अधोभागानुभवः पीताम्बरादित्यनेन व्यज्यते । अथोर्ध्वं प्रसृता दृष्टिः  
वंशीविभूषितौ करौ पुनरपि गोचरयामास । परं तु तदनुभवस्य

प्रकाशितत्वात् वाद्यमाना वंशी यत्र बभौ तं अधरमनुभवति—अरुण-  
बिम्बफलाधरोष्ठादिति । अथ कृत्स्नमुखमण्डलानुभवः—पूर्णेन्दुसुन्दर-  
सुखादिति । इत्थमेकाग्रतया स्वसौन्दर्यमनुभवन्तं भक्तं भगवान्-  
कृष्णः अनुकम्पासरिदम्बुजैरपाङ्गैरनुगृह्णाति । तद्व्यञ्जयति—अर-  
विन्दनेत्रादिति ।

एवं हितशब्दवाच्यः भक्तिर्व्यञ्जिता । अनन्यप्रयोजनाया भक्तेः,  
'ब्रह्मविदाप्रोति परम' 'मद्भक्ता यान्ति मामपि' इति श्रुतिस्मृतिप्रमितायाः  
परतत्त्वरूपभगवत्प्राप्तेरेव फलत्वात् परमपुरुषार्थोऽपीह व्यञ्जितः । इत्थं  
विलक्षणानामेव तत्त्वहितपुरुषार्थानामभ्युपगमात् अहृदयनिष्ठैवाद्भैते  
सिद्धिकारस्य । पूर्वकारणदेवताधिकरणान्ते

इति जैर्निमित्तनिष्कर्षः । मम त्वेवं वदतोऽपि वाणी दुष्यतीति  
हरिस्मरणमेव शरणम् ।

इति वदतो महामीमांसकस्य खण्डदेवस्य या पारमार्थिकी मनोवृत्तिः  
सैवात्र मधुसूदनसरस्वत्या इति सुस्पष्टमेतत् । आत्मवञ्चनप्रावण्यविरहे  
एवमेव अद्यतना अपि सर्वे अद्वैतिनो भवितुमर्हन्ति ।

द्वैतिग्रन्थोक्तसर्वानुपपत्तिपरिहारपरो भवन् सिद्धिकारः महान्तं  
ग्रन्थविस्तरं कृतवान् । वयं तु अनेन कृताः तत्परिहाराः साधवोऽन्यथा  
वेति विमर्शो दृष्टमकुर्वन्तः अद्वैतसिद्धये तेन यदुक्तं तत्र विशिष्टाद्वैत-  
सिद्धये यत् प्रतिवक्तव्यं तत्पर्यालोचनमात्रमुद्दिश्य विशिष्टाद्वैतसिद्धि-  
ग्रन्थमिममलिखाम ।

विशिष्टाद्वैतप्रवर्तकान् पूर्वाचार्यान् प्रति द्वेषे तेषां कुत्सने च इतर-  
सर्वातिशायिना कठिनकुटिलतरहृदयेन पोलकं श्रीरामशास्त्रिणा कृतं  
द्रमिडात्रेयदर्शनं, तत्रत्यः उपोद्धातः, इञ्जिक्कोल्लै जगदीश्वरशास्त्रिणः  
कृती चिदचिदशरीरकब्रह्मसिद्धिः, सप्तविशानुपपत्तिपरीक्षा चेति एषां  
चतुर्णां प्रत्याख्यानपराः चत्वारोऽनुबन्धाः अन्ते योजिताः । श्रीरामशा-

खिङ्कृतचतुर्मतसामरस्यग्रन्थविमर्शनपरः पञ्चमोऽपि । अद्वैतिनः अन्ये च  
विद्वांसः इमं ग्रन्थं अनुबन्धांश्च मध्यस्थदृष्ट्याऽवलोक्य गुणान् दोषान्  
वा यदि वदेयुः तदस्माकं महते आनन्दाय कल्पेत ।

अस्मद्गृहे अबकरराशिरिति बहिः प्रासनाय गृहीते जीर्णमल्लिनका-  
रुद्बन्धे यद्दृच्छया एकं पत्रं ऋषिगोनरनामगान्, यत्र स्थितमिदम् --

श्रीः

श्रीश्रीनिवासपरब्रह्मणे नमः ।

श्रीमते निगमान्तमहादेशकाय नमः ।

— — —  
ऐश्वर्यसिद्धिः

—:~:—

तमप्यवति यः प्रीत्या यश्छिनत्ति स्वमाग्रहात् ।

सर्वसिद्धयै मम श्रीमान् कल्पवृक्षः स कल्पताम् ॥

श्रीवाससूरिचरणाम्बुजशेखरस्य

धर्यानि कानिचिद्दहानि मम व्यतीयुः ।

स्वान्नेऽपि वाऽद्य दयया स न चेद्भास्यन्

किं जीवितस्य फलमस्य बताभविष्यत् ॥

ऐश्वर्यमैश्वरमपारमशेषमान-

सिद्धं यदस्ति तदपह्नुवतेऽतियत्नात् ।

वस्त्राहुरस्तामितसर्वगुणं च किञ्चित्

तन्नोपपद्यत इति प्रतिपादयामः ॥

हृदि यन्त्र इव स्थितो ममायं

प्रकटत्वं गमितो निमित्तयोगात् ।

कवितार्किकसिंहनाद एव

श्रवणं सम्प्रति वादिनामुपैति ॥

सारं विहाय पदवाक्यविकल्पकृत-  
नानार्थलक्षणपरीक्षणदुःस्थितासु ।  
सत्ताः कथासु निगमान्तनिगम्यमर्थ-  
मप्यत्र हन्त परिहासपदं वितेनुः ॥  
तदद्य शुद्धां नयपद्धतिं श्रिता  
विपश्चिनो वेदविनिश्चितेश्वराः ।  
निबन्धनेऽस्मिन् ऋजुनैव वर्त्मना  
यदुच्यते तद् विमृशन्तु जाग्रतः ॥

बहुभ्यो वत्सरेभ्यः पूर्वं अद्वैतसिद्धिग्रन्थं अवलोकितवन्तो वयं तत्र  
कृतं भगवदैश्वर्यनिराकरणं निगमस्य समग्रं तदैश्वर्यं साधनीयमिति मत्या  
ऐश्वर्यसिद्धिं नाम कञ्चन ग्रन्थं लेखितुं प्रवृत्ता इति परमतग्रन्थखण्डनेन  
तदवलम्बिनां हृदयव्यथा नात्पादनीयेति सा प्रवृत्तिः परत्यक्तेति च  
इतोऽस्माकं स्मृतिर्भवति । अद्य तु प्रागुक्तरीत्या, बहुभिर्द्वैतिभिः  
अकाण्ड एव विशिष्टाद्वैतदूषणसंरम्भवहनात् दर्शनयोः तात्त्विकस्वरूप-  
प्रकाशनं प्राप्तकालं भवतीति इमं ग्रन्थं प्रकाशयामः ।

क्रोधितुलाशुक्लनवमी

भृगुवासरः । १३-११-१९६४

।  
।

प्रबन्धा

# Visishtadvaitasiddhi

## *Introduction*

### 1. Visishtadvaita

The sage Uddalaka, had a son whose name was Svetaketu. Since the moment Svetaketu was born Uddalaka had the great ambition to initiate him as early as possible and make him a great scholar well-versed in all sastras and vidyas. But he was very keenly disappointed. Svetaketu was very haughty boy. He never cared for learning. He always disobeyed his father. Whenever he thought his father would catch him he ran to his grandfather and fell into his lap which was always ready to receive and entertain him. His grand-father, Aruna, was so fond of him that he took all interest in keeping him pleased rather than in his learning. Uddalaka could not chide or chastise the boy in the presence of his esteemed father.

Svetaketu grew a boy of twelve. His father was impatient and once finding him alone said—"Boy, learn Vedas. None born in our family remains without learning like a pseudo-Brahman." These words of his father hurt Svetaketu very deeply and severely. That very moment he left home and approaching a guru studied all the Vedas and the ancillary *sastras* under him. His extra ordinary intelligence and wisdom, aptitude for learning, fine conduct and behaviour,



and devoted and enthusiastic services to himself, all these combined in making the guru not only extremely kind to him but quite prepared to teach him all the time of the day and all that he knew so that he would become a consummate scholar and that in as short a time as possible. What others would require forty-eight years to learn Svetaketu learned in twelve years and returned home, full of pride as if he was the most learned in the world and there was nothing more to be learnt by him. This lack of virtue, this pride and impudence on the part of his son pained again Uddalaka. He asked—"Boy, you seem to think that your learning is perfect. But did you seek to learn that commander, to know whom is to know all?" This idea was quite new to Svetaketu, so new that he thought that such a thing, such a commander, could never exist: "To know one is to know all! No; there is no possibility for such an entity." So he put the question to his father: "Revered sir, how is that commander?" The kind father, in order to help his son conceive that strange and important concept and convince him about it mentioned three instances. The first was clay. "Take a mass of clay, of which several things are made, viz. pot and other vessels or some other things: All these things remain even then clay as they were originally. When it lay as a mere mass the clay had no different forms or names but when several things are made out of it, it is that very clay that has taken those many forms and names, in order to serve different purposes which a mere mass

of clay cannot serve. All these productions are nothing but that original clay. So the comprehension of the clay is the comprehension of all these things. The substance of every thing made of the clay is covered by the comprehension of the clay, though the form and name it takes later were not existing then and therefore cannot be the object of that comprehension. The other two instances are gold and iron.

Uddalaka concluded his reply saying "Like there is that Commander". When Uddalaka mentioned the commander as one to know whom is to know all. Svetaketu could not understand, because the question at once arose within him "How can knowledge of one thing be knowledge of anything else, not to speak of knowledge of all." The examples cited by his father suggested the proper and convincing answer to the question. The effects are not separate and distinct from their material cause. They are identical with it. The same substance in a state is the cause and in another the effects. In the former it is one and not many with different names. But in the latter it becomes many with different forms and names. The substance is the same though undergoing certain changes to become fit to be called effects. There are certain philosophers who hold the view called *asat-karya-vada*, according to which the material cause and its effects, i.e., the thing made of it are separate substances; there is no identity between them. Rejecting this view as untenable the Vedanta philosophy accepts the view called *sat-karya-vada*. In a mud-pot we do not see two sepa-

rate substances—mud and pot. Nor can we say that mud is gone and only pot is there, since the pot is mud and nothing else. What is new in the effect is not any substance but the shape and name. The substance already existing, *sat* takes a new form and name and this is its state as effect. So this view of identity between the material cause and its effect is called *sat-karya-vada*. When this identity between the material cause and its effect is borne in mind there will be no difficulty in understanding when it is said that cognition of mud is the cognition of all the things made of it. So Svetaketu now clearly understood what was meant by his father's question to him. Did you ask your guru to teach you about that Commander who is the material cause of the whole world ?” This was the meaning of it, he thought.

The form of the question is significant. Uddalaka did not ask Svetaketu “Did your teacher teach you that Commander...” but “Did you request your teacher to teach you that commander...” In the former form the question may reflect on the teacher. It may mean “was he kind to you and so taught you this great truth or is it that he was not so kind as to teach you that ?” So Uddalaka avoided this form. The question as it is, means “Is that you asked him to teach you that and he did so, or is it that you did not ask him and therefore he did not teach.” If the latter was the case the fault lay with the disciple and not with the teacher.

Svetaketu said in reply bluntly “Certainly my revered Guru himself did not know this. Otherwise

how could it be that he did not teach me that ? He knew well that it was not proper on his part to give expression to his guru's ignorance. But he wanted to tell his father that it was neither his fault nor his guru's that he did not impart to him this knowledge. He craved his guru to teach him all that he knew and he was pleased to do so and said that he did so when he sent him home. There was another reason also for this plain statement of Svetaketu. If he simply said that he did not ask his guru to instruct him in this *Vidya* his father might perhaps ask him to go again to his guru and get enlightened. He therefore indicated beforehand that there was no use going again to his *gurukula*.

From the pedantic behaviour of Svetaketu his father knew quite well that he had not received instruction in the *Brahma Vidya*, for he thought a person possessing true knowledge of Brahman would never be so insolent and proud as Svetaketu was after his return from *gurukula*. With a view to humble him and make him prone to receive Brahman-knowledge which he would impart if he sought for it he asked the question and it had the desired effect. Uddalaka, for indicating the world cause, the Supreme Soul Brahman, used purposely the term *Adesa* meaning commander or *Adeshta* in Sanskrit. Svetaketu was too proud of his learning and capacity. He must be made aware of the fact that men are not their own masters. There is the Supreme Lord who controls all men and things in the

world. Whatever happens in the world happens due to his will. But for his will nothing good or bad will ever happen. Svetaketu was intelligent and shrewd enough to understand all this and implored his father that he himself might teach him the great truth. The father readily consented and taught him.

This is the story which introduces the *Sadvidya* contained in the sixth chapter of the Chandogya up-nishat. This is meant for telling us that though born in good family and with all facilities available, boys turn to be indifferent and averse to learning. The elders however should take all care to make them learned ones.

Uddalaka begins his teaching with the declaration : "Boy, the existent alone was all this previously, only one without a second." Explaining the exclusive 'alone' he then said : "Here some say that non-existent alone was this previously, only one without a second. But this is an impossible view. How could the existent arise from the non-existent ?

We see the world is one that exists. The cause of the world that exists must have been existent. Can a thing come into existence out of nothing? If there is no clay there will be no pot. So the cause of an existing thing must be an existent one. This rule has no exception.

One school of Buddhist philosophy holds the extreme view that void alone is the ultimate truth. But this is quite untenable. It is absolutely impossible for holders of this view to explain the phenomena of the world. One may say this is all mere appearance. But

one should seriously think how could there be even a bare appearance in the void. Appearance itself is impossible not to speak of one to whom the appearance occurs and of that which appears. Appearance implies these two. Without these two there could be no appearance.

According to another school every thing is momentary. A thing exists only for a moment. In the next moment the thing automatically perishes and becomes non-existent. What we see in the next moment is not the same thing as existed in the first moment, but a new one but very closely similar to it. This end of things in the next moment is called the uncognised or unobserved end. When the pot is broken or the cloth is burnt that end of the n is their cognised or observed end. This view also is unacceptable. There is no reason which will compel us to accept the uncognised end of things and a new thing coming into existence without a cause against our well established experience of their continued existence.

The view of Vaiseshika philosophers-asat-karyavada has been already explained. Though it accepts an existing thing as the material cause of the effects, still holding that the effects are quite distinct and separate from the material, it has to face the difficulty in explaining how a new substance separate from its material cause can come into existent. Uddalaki indicates that rejection of all these and similar wrong views is meant by 'alone' in his statement : "The existent alone was this at first."

What is meant by 'only one' becomes clear when we consider his next statement. It is this :—

"It saw I shall become many.

I shall be born"

It was only one and it thought "I shall become many" and became many as stated subsequently. It is clear 'only one' in the previous statement indicates contrast 'with many' in the succeeding one. After creation it became many. But before it, It was 'only one'. So the plurality which pertains to it during the creation period is excluded by this only one at first i.e. before creation, not many as after creation.

Now what does 'without a second' mean ? creation requires not only the material cause but also an agent. It has been said that sat, the Existent was the material of which the world is made. Was there also an Agent apart from Sat, who, using Sat as the material created the world ? No. Sat itself was the creator. It was the creator as well as the material. This we know from the subsequent statement : "It created fire". So previously there was not an agent separate from sat. Therefore only sat without a second was there before creation. 'Only one' excludes all created things and beings. "Advitiyam" excludes a being equal to sat as the creator.

'It saw' implies that sat was an intelligent being. After its will to become many and to be born what did it do ? It created fire. To be consistent with 'I shall become many. I shall be born' he might have said

'It became fire,' instead of 'it created fire'. But he purposely made the change in expression. The significance of which has been already indicated. The teacher wanted to convey to his disciple the idea of oneness of the material cause and the agent cause of the creation and for that he invented and employed this device. This is however a formula capable of conveying the idea of separateness between the creator and the created. But this idea should be avoided. So describing the next creation Uddalaka says "That fire saw I shall become many. I shall be born." It is quite clear that 'fire' means here, the intelligent being, Sat, with the form of fire. We may understand from this that when Uddalaka said 'It created fire' he meant to say that it created for itself the form of fire, and came into existence in that form. This Sat with the form of fire, having the same will to become many and to be born created water and came into existence in that form. Water again having the same will created the form of earth and existed as that.

The first creation mentioned here is fire. From a part of it, was evolved water and from a part of this again was evolved earth. Thus Sat created these three forms for itself and existing in these three forms it became three. There are many kinds of living beings in the world : born from wombs, born from eggs, and growing from earth. The ultimate origin of all these, Uddalaka declares, is these three elements : fire water and earth.



Here arises the question : what was the material from which fire was evolved ? Is it Sat itself or some thing else ? If it be the former we will have to accept that Sat itself undergoes changes where as there are unequivocal statements in the Upanishats declaring that it is absolutely changeless. That some thing other than Sat was the material is equally unacceptable because there was nothing else than Sat before creation. That some thing could come into existence out of nothing has been rejected. In reply to this question we may say that we accept the second alternative. Since nothing could come into existence from nothing there must have been something other than the changeless Sat which served as the material cause of the fire. Since fire is an insentient being its material cause also must have been so. This material cause of fire is called matter, prakriti in Sanskrit. Thus the statement 'It created fire' itself suggests and warrants the inference of matter existing even before creation. The statement cannot be explained otherwise; it would be meaningless. Such inference based on authoritative statements is called in Sanskrit *srutarhkapatti*.

There is no statement contradicting the existence of matter before creation. It has been said that "only one" in the previous statement contradicts Sat with 'many' which it becomes after creation. "It becomes many" means it assumes and exists in many forms. Bearing this in mind we may easily understand that 'only one' in the previous sentence "...only one without a second" means the absence of created forms

which are responsible for Sat becoming and being many. It had no forms then that would make it many. Therefore It was only one. Just as plurality pertains to Sat through the forms evolved from matter, oneness also pertains to it through matter in its original, formless state. It was a subtle state. There was not yet such change in it as to make it fit for evolving different forms. So it was only one and with it Sat was only one. Because there are many forms evolved from matter and Sat indwells each and every one of them Sat is many during the time of creation. But during the time of destruction, matter remaining only one undifferentiated and subtle entity, Sat, indwelling it, also remains only one. Thus it may be seen that 'only one' in the sentence is not only not opposed to the presumption of the existence of matter but require it for its explanation and justifies it.

We saw that 'alone' after 'Sat' in the sentence excludes the non-existent, while '*aditiyam*'—without a second—excludes an agent separate from Sat. So these two also do not contradict the existence of matter before creation.

Just as, due to *srutaaarthaapatti*, we are compelled to take Sat in the sense 'Sat with matter in its original, changeless and undifferentiated state, so we have to take 'this' also in the sentence in a sense wider than it would ordinarily carry. 'This' in the sentence means 'the world' that we see i.e. each and every one of things which constitute what we collectively call the world or universe. All those things

are we know evolved from matter and not from Sat. There is no identity therefore between Sat and the world. These are entirely distinct and different from each other. How is then 'this' in the sentence put in coordination with Sat ?

The answer is that this co-ordination is intended to teach us some thing. The world or any thing in it is not what our ordinary experience shows it to be. There is some thing in it, dwelling within it, some thing to which it is an adjunct, some thing of which it is a form. "This" here means that which has 'this' for its form, that which exists in this form. 'white' we know is a colour. The colour of milk is white" we say. But when we say 'Milk is white' white means the substance which has the white colour, because 'white' is put in co-ordination with milk, a substance. Similar is the case here. This ordinarily means the world we see. Svetaketu or anyone else would take the word only in this sense and accordingly the sentence would seem to carry the idea that the world was previously the Existing one alone. When however one realises that to be consistent with the following statement 'It saw I shall become many' 'the existent one' in this sentence should mean an intelligent being, the question at once arises, 'How could this world have been the intelligent being previously ? The identity seems impossible. Since however the statement is an authoritative one and therefore cannot be rejected as an incorrect and meaningless one we have to interpret it so that it may convey a sensible and correct idea. We saw in 'Milk is white' white has an extended meaning. Like wise 'this' in the Upanishadic passage under consideration must have an ex-

tended meaning, and it can be 'That which exists in the form of this world.' We do not and could not know through our worldly experience that there is some being indwelling the worldly things and there are merely the visible forms of it. But this very passage of the Upanishat teaches us this truth by implication. What is here thus implied is expressly taught in the very opening line of the Isavasyopanishat: "Whatever is there in this world all that is an abode of God." Take for instance a pot. Our idea about it is that it is simply a thing made of clay. But sastras tell us that it is a composite thing, the constituent parts being the visible clayish substance and the invisible Being. The former of these two is the form of the latter. The clay substance and the invisible inner Being both together make what is called pot, though our worldly experience is limited to the clay-substance alone. Now bearing this in mind we will be in a position to appreciate the philosophers when they say that though the names used in ordinary speech are intended to indicate only things evolved from matter the full significance of them covers their inner Being also. Pot could mean that which exists with the form called 'pot'. Applying this principle we are able to understand that the Upanishadic statement under consideration means: "that being which exists now with this world as its form was previously only Sat, the formless and nameless Existent." We have already seen that in the statement "That fire saw I shall become many, I shall be born" 'fire' means Sat with the form of fire. The same

principle is to be followed in interpreting 'this' in the passage we are now considering.

Sat is the one reality. There is nothing apart from it. But that reality is not, as has been already stated, a simple reality. Matter is its permanent adjunct. It was said that matter remains in a subtle state, with no forms, no names, no difference whatsoever during the time of destruction. But during the time of creation it is in a gross state. Though this matter has changes and accordingly has different states it remains always an adjunct to Sat. So Sat is always *visishta*, a composite entity, and not a simple entity. This fact explains the name of the philosophy, *Visishtadvaita*, the view of oneness of truth which is a composite one.

Sat possesses very many qualities also. It was said it is an intelligent being. It is omniscient. It has will and skill to do whatever it pleases, and its will never fails.

"Having created the three elements", Uddalaka continued, 'the God saw, "entering into these gods through this jiva-self I shall manifest forms and names. Of these I shall make each one a triple one." The elements are mentioned here as gods because they are forms of God that dwells in them. The three elements, fire, water and earth which were the first creation of Sat were incapable of producing the world and things in it. So they were admixed with each other, the process being called *trivrt-karana* or triple-making. Each one of them was divided into two halves, and one half of each of them

was again divided into two equal parts, i.e., two quarters. Then the integral half of fire and a quarter of water and a quarter of earth were combined together and the combination made the fire from which all luminous things were evolved. Similarly the half of original water with a quarter each of fire and earth added to it became the tripled water and the half of original earth together with a quarter each of fire and water became the tripled earth and all watery and earthen things were created respectively from these two triple elements. Though each of these three triple elements is made of three different parts it retains the old name, fire etc. because the particular part dominates over the other two.

So far Uddalaka was speaking about two categories namely, Sat and matter. Now, it must be noted he makes mention of a third category, *Jiva*. The individual soul is called *jiva*, because it lives, being in close and indispensable contact with breath. *prana* in Sanskrit. The pronoun *anena*, meaning 'this' is used here as if pointing to *jiva* by finger with the purpose of indicating that *jiva* is quite different from Sat. A form with a name is created and Sat enters into it, putting within it only one *jiva*. This explains the singular number of *jiva*. The *jiva* souls are countless. Each and every form that is created has a *jiva* within it and Sat also is present there. So each and every thing in the world is a group of three, the form, the soul and Sat which is the Supreme Soul. This fact suggested to the ancient authors comparing our body to

Arjuna's chariot with him and Sri Krishna in it.

Another very important point to be noted here is that unlike the elements, fire, water and earth *jiva* is not said to have been created, it is simply referred to as 'this *jiva*'. The implication is that it existed even during the time of destruction, though then having no body, no breath, no organs, it was in no way better than the insentient matter, and it will exist forever. Though thus *jiva* in itself is eternal it is said to have been created when it is provided with a body and organs. When it comes to this world with a gross body it is said to be born and when it goes away leaving the body behind it is said to die. For itself it has neither birth nor death. In whatever state it is, it is, like matter, an inseparable adjunct of Sat. There are thus three truths or realities, namely, The Supreme Soul, here called Sat, *jiva* and matter. Since however the latter two are only adjuncts of Sat and have no independent existence Sat together with these two is considered and often spoken of as 'one truth'.

It has been said that the three elements from which the world and all things in it were evolved were triple ones. Illustrating this and referring for this purpose to fire, the sun, the moon and lightning all of which pertain to the category of the triple fire-element Uddalaka tells Svetaketu that the red part of each of them is that of fire, the white that of water and dark that of earth. The triple fire in certain processes of its evolution become these things and get the names of fire the sun, the moon and lightning and serve diffe-

rent purposes. But when these states are gone we will find that only the three parts of the elements, red white and dark are there, these alone are of permanent nature. Similarly all things in the world are effects of one or another of these tripe elements.

Proceeding Uddalaka said that the three elements being the material cause are not only responsible for all things in the world but in the form of edibles they also sustain the human and other beings. We eat rice or some thing like that, drink water and take nourishing substances such as ghee and oil. These are said to belong to the three elements, earth, water and fire respectively. Each of these, when taken in, undergoes a three fold change : one part of it becomes a gross one, another a middle one, and the third a subtle one. "The gross part of food," says Uddalaka, "forms excretion, the middle flesh and the subtle mind." The three parts of water form urine, blood and breath, while those of ghee form the bone, marrow and the speech organ respectively. Illustrating the three subtle parts becoming mind, breath and speech, Uddalaka says :—'just as the essence of curd when churned comes up and becomes ghee the essence of food water and ghee come up and form mind breath and speech.'

Uddalaka causes an experiment to be made in order to convince Svetaketu about the point he now explained. He asked his son to fast for a fortnight though he could take water so that he would not die, breath getting nourishment from water. On the sixteenth day he was asked to recite passages of the Vedas he had



mastered but he could not remember a single one of them. Then he took food and that enabled him to remember well and recite readily any *rk* or *saman* or *yajus* specified by his father-guru. This proved that mind, breath and speech owed their capacity to function to food, water and ghee etc. respectively.

Svetaketu well understood the teachings of his father, and felt enlightened. He was not only fully convinced of but thoroughly appreciated the fact that since the supreme commander, subsequently called Sat, creates every thing in the world out of himself, i.e., out of his inseparable adjuncts and every thing is himself, to know him is to know all. So the course of instruction stopped here. Uddalaka however thought that there was yet much to be taught and therefore gave another course of instruction. He begins with describing the sleep-state of man. When a man sleeps," he says, "he becomes one with Sat ; he merges in Sat which is his own Self". Sleep is a state in which jiva has no conscience at all. This happens because, after functioning for long, mind and other sense organs get tired and rest on breath and so do not function.

Just as in the sleep-state, so also in the wakeful state, Sat is the support and abode of all born souls. When hungry, one takes food and the food is changed by water into that which constitutes and sustains the body. Likewise when a thirsty man takes water, this is changed by heat into something which also keeps body in a living condition. We clearly see therefore that body is an effect of the three elements. How these

evolve themselves so as to make the body of man that takes in them has been already explained. What is now specially to be noted is that in the reverse process food loses itself in water and water loses itself in heat and so on.

Now our body as an effect must have a cause. Without a cause it could not have come into existence, and what could be the cause? The ready and clear answer is 'food'. Let us take food in its wider sense, the original earth, as in the previous statement relating to the creation of the earth: 'That water saw, I shall become many. I shall be born. It created food'. Earth also is an effect and must have a cause in which it would merge when the time of its end comes. On the analogy of food we take, which, when dissolved becomes fluid, we may infer that water is the cause of earth. Similarly we have to infer that the cause of water is fire. Since fire could not have come into existence out of nothing, it must have its cause in 'Sat,' The Existent. 'Thus,' Uddalaka declares, 'Sat is the origin. Sat is the support and abode and Sat is the ultimate place of merger of all these born souls.' The idea is that since everything in the world has sprung from Sat and merges in it at the end, it is the material cause of all creations. And since the effects of a material cause rest only on it, It is the support, container, abode of all of them. Sat being the material cause of all born souls, it is the ultimate bearer and the resting place of them during their wakeful state, though they remain within their

respective bodies. This means that they owe their existence to Sat.

There is a third state, that of dying. In this all the outer organs merge in mind, mind in breath, breath in jiva, jiva in the elements, and these in the supreme God; Sat. So in this state also Sat is the final resting place of all.

After hearing so much said about Sat the disciple may feel tempted to ask whether he could see that Sat. As if to forestall that question being asked, Uddalaka calls it as subtlety itself. It is too subtle to be experienced directly by any of our sense organs, or to be inferred. It could be known only through teaching by competent Gurus.

Stating the conclusion to which all that he said so far leads, Uddalaka declares that all things in the world have this subtlety as their soul. It has been said that Sat is the support of all beings. This means that but for it they cannot exist, they cannot *be*. Now how does the Sat support the beings? Like the table the books? or like the basket the fruits? No, it supports them by its will. It enters into everything that is created and keeps it existing by its will and controls it. And since that which does all this in respect of a thing is called its soul, Sat, doing all this in respect of all creations is the soul of all these.

From the two discourses there emerged two truths about Sat. It is the origin of all things in the world and it is their soul. Has not Sat it's own origin and soul? One may ask. With an idea to answer this question with an emphatic 'no', Uddalaka asserts 'It is

Satya. It is Atma, It is of permanent and not of ephemeral nature. It does not have such states as birth growth, aging and death, which other beings pass through. Therefore it has no origin and there could be no origin for It. It is one without a second. There is none else equal or superior to it that could ensoul it. It is the one supreme soul. It is changeless. Therefore Satya. It is Atma in the widest sense and not in the narrow sense in which Jiva is. It is Satya whereas all other things and beings in the world are full of changes. It is Atma whereas all others are It's bodies.

Finally Uddalaka says, 'That thou art, O ! Svetaketu'. The principle underlying such coordination as seen in this statement has been already explained. The teacher intended to say to his disciple this : "you are a Jiva, an individual soul. You have got another soul within you as one and all of other beings have. That inner soul of yours is Sat which I taught you so long". It is clear there is nothing new in this statement. What was said before in general is repeated in respect of this one particular case so that Svetaketu might learn the lesson which Uddalaka thought, his son needed very badly.

The idea intended to be conveyed by these words is this ; 'My dear son, look here. Listen to me. Your birth,' existence, activities, all these and everything else are entirely and absolutely due to the will of Sat, the commander, your inner soul. You are not an independent agent in respect of any action you do. If you have mastered the Vedas, if you have got some intelli-

gence and wisdom and learning, it is all due to His grace. But for Him you would be nothing, you would have nothing, you would have been able to do nothing. Realise this great truth and be humble and courteous and respectful to your elders and not proud, indifferent and misbehaving as you had been hither-to-fore. You are to Him what your body is to you. You are not your own master. He is your master. You should serve Him and not your ownself."

There could be no doubt that Svetaketu understood his father's words quite well and introspected ; 'I am proud of having achieved this and that. By saying 'you are Sat' father tells me and wants me to realise that for all that which I think I have done Sat is responsible. Sat is the independent agent. I am only an instrument in its hand. If I boast of any thing which I have done it will be, father intends to tell me, like the boasting of the brush used by an artist in drawing a fine picture.'

It may be noted that the teaching of the great philosophical truth is done here as the means of removing Svetaketu's pride just as it is done in the Gita, for removing Arjuna's grief caused by thoughts of the prospect of the terrible bloody war.

Sadvidya proper is now over. Since however Svetaketu had certain doubts and wanted them to be cleared, he asked his father to teach him further, and he clears his doubts. So the chapter continues.

It was said that during sleep jivas go to Sat and rest on It. If so how is it that jivas do not know that they rest on It? The answer is that as soon as the

mind merges in breath they lose all conscience as well as all contact with their respective bodies. Therefore they could not know of their merging in Sat.

At the end of sleep they come away from Sat. Even this they do not know. How is it? This is another doubt. Uddalaka's reply here is the same as before. They do not regain their contact with body and conscience until the mind emerges from breath and begins to act. But they come away from Sat before the mind does so. So they cannot know their coming away from Sat.

Men die. There is the end of the Jivas. They could not exist during the period of destruction. How then could they be put in the forms evolved from matter and the world created. The reply to this question is this; "Look at the big tree here, all green with full of life. Hit it at the bottom or in the middle or at the top of it. It will be wet so long as it lives. Enlivened and permeated by a Jiva-soul it is full of growth having a pleasant life. But when the Jiva withdraws from one branch it dries up. When again he withdraws from another branch it also becomes dry. This is the case also with a third branch. When the Jiva leaves the whole tree, the entire tree dries up. We see Jiva's absence is responsible for a part or parts of the tree becoming dry and not the Jiva's death, because there is life in all the other parts of it. By this analogy one may understand that when men die the death pertains to the body and not to Jivas. They pass away leaving their respective bodies behind and these are dead.

Then another question was raised. It was said that Sat was a very subtle Peing. How could this big universe spring from that subtle Peing. Uddalaka caused a banian seed to be brought and broken to atoms. And asked Svetaketu to take one atom and break it further, which he did. Uddalaka put the question to him, 'What do you see here?' When he replied, 'nothing, sir,' he said to him, 'Is not this very big tree standing before us, grown from the subtlety which you do not see? Have faith, boy.'

The seed is not a mere physical entity. If so, it could not grow into a living tree. There must be something in the seed other than the atoms which make it, which is responsible for its growth into a tree. That thing being very subtle could not be seen and yet it has brought about the very big banian tree. Likewise Sat being subtle may not be seen and yet we should conceive It as the cause of this big universe. This is the significance of the example.

Why should we accept an unseen thing as existing? What is seen exists. What is not seen does not exist. Sat is not seen. Therefore It does not exist, 'No', says Uddalaka. 'The reasoning is wrong. Put a quantity of salt into a vessel full of water and let it dissolve completely in the water. Then can you see the salt with your eyes or feel it with touch? No. Can we on that account deny the presence of salt in the water? No; because by tasting the water from any part of the vessel we experience the salt. Likewise, we have to hold Sat exists and is present everywhere and in every thing though we can not see it.

Though we can neither see nor touch the dissolved salt in the water, taste proves its presence there. There is nothing like that to prove the existence of Sat. 'No'. says Uddalaka, A person carried away blind-folded from his native country and left as such in the heart of a jungle unwanted by men, would be with his face turned now to one direction and now to another which he could not know crying aloud, "Blind-folded I am brought here. Blind-folded I am abandoned here." If somebody happens to go there, and removing the eye-cover tells him, 'your country lies in this direction. Go in this direction.' he, if intelligent and learned, making enquiries village after village reaches his own country. Similarly he who has a teacher to teach and guide him will know and get realisation. Such a person has to wait only till his getting out from the body. Then he will attain Brahman.

Uddalaka meant to say that there are certain things which we could not know by ourselves. They must be known only through the teachings of competent teachers. Sat is such a subject. A learned and kind and sympathetic teacher would not only bring conviction to his disciple regarding Sat, but also put him in the path of its realisation which would result in his freedom from bondage and the attainment of Sat, the supreme Brahman, the ultimate goal and the destiny of man.

Is it possible to achieve these results? Attachment to relatives and properties is inherent in man. How could he turn away from them and seek the higher results mentioned above? The reply to this question is as follows. Attachment



to relatives and properties is not inherent in man. It is conditioned on the body. So long as one lives, one considers some persons and things as his own. But when one dies the body itself ceases to be one's own not to speak of the relatives and properties. Take into consideration the Jiva apart from the body which he leaves behind and which therefore is dead. Who are his relations and which is his property? When this truth is taught and learnt, there is no doubt that some at least would try to get rid of their attachment to persons and worldly things and aspire for superior and permanent results.

One more question which is the final one. It is Karma, action that is responsible for Samsara, series of births and deaths and the resultant sufferings of men. Each man has got his Karma that has accumulated from time immemorial. No Karma could be got rid of unless its result is experienced. In these circumstances is it possible for any man to be ever free from Karma and attain Brahman?

'Yes, it is possible,' says Uddalaka. "After knowing the truth and greatness of Sat from a competent teacher one should practise 'Dhyanyoga' meditation upon it. When this yoga is ripe it becomes so powerful as to render all the Karma of the practiser ineffective on him. To illustrate this. To decide the case of a person accused of theft but denying the charge, he is asked to receive a red-hot iron ball with his hands. If what he said was false he gets burnt which is the proof of his guilt, and if on the other hand what he said was true

he is not burnt and having thus proved his innocence he is discharged. The guilty man covers himself with falsehood. Therefore he gets burnt. The innocent man covers himself with truth. Therefore the hot iron ball could not burn him. Sat is truth. The well practised meditation on the Sat-truth renders the practiser Karma-proof. No Karma of his can have any effect on him. He is freed from all of his accumulated Karma. So there is nothing to prevent him from attaining Brahman. As soon as he gets out from his last body, he attains Brahman.

Eight were the questions that have been raised and thus answered by Uddalaka. At the end of his answer to each of the questions he repeats with a slight change the statements :—

All this is ensouled by this subtility. That is Satya.  
That is Atma. That thou art.

This repetition for nine times indicates the stress Uddalaka lays on these points as the main and important theme of his teachings.

## 2. Advaita

Philosophy, when unqualified, means a systematic thinking in a general way about the origin, existence and end of the world. It seems that the purpose western philosophy is intended to serve is discipline of mind, and developing its thinking capacity. But eastern philosophy devotes itself to showing the way leading to liberation from bondage, from *Samsara*, the source of all sorts of our sufferings. Though this is the common and ultimate aim of all schools of Indian philosophy it is only the Vedanta philosophy that is directly and particularly concerned with it. If a man feels tired with his life, present as well as future, such questions as the following ones naturally arise in him; "who am I? Why am I suffering like this? Is it possible to be absolutely free from all these? If so what is the means for it? Is it available for me?" When he is anxious and grows impatient to have answers to these questions Vedanta comes to help him. Vedanta gives and it is only Vedanta that could give full and satisfactory answers to these and similar questions.

Veda means that source of valid knowledge which enables us to know things that could not be known otherwise. It is accepted as an authority only on such things. Things that are known already either by perception or inference do not fall within the scope of its teaching. They are excluded from it. Since Vedanta

is a part of Veda, it also is accepted as concerned only with matters unknown otherwise. It follows that we must take scrupulous care to understand it and to find out its true meaning. If we force it to mean something which our worldly experience or our ordinary and common reasoning leads us to consider as truth, it may not be its true meaning and no benefit could accrue from it to us ; we will be simply playing with Vedanta. This was the principle strictly followed in interpreting the *Sadvidya* as we did in the preceding section. We shall now consider whether Advaita could be the philosophy taught by Uddalaka to his son. Explaining :—

‘वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् - Vaacaarambharam Vikaaro Naamadheyam Mrttiketyeva Satyam’<sup>5</sup> in the illustrative passages Sankara Says :—

‘वागलम्बनं वागलम्बनमात्रं, नामैव केवलं, न विकारो नाम वस्त्वस्ति । परमार्थतो मृत्तिकेत्येव मृत्तिकैव तु सत्यं वस्त्वस्ति ॥’

‘only name to be uttered. There is no entity as an evolved thing. Speaking the truth mud alone is the real thing’

There could be no doubt that this idea of the unreality of the evolved thing is extraneous to the words of the Upanishat. When the mud takes the particular shape it is called a pot. There is no doubt the pot is mud. But the particular shape also is there. It is as real as the mud. We see the shape with our own eyes and feel it. Besides, the thing in that shape serves certain purposes and we see that when that shape goes it

becomes quite useless so far as those purposes are concerned. It is not sublated by any subsequent valid experience but lasts for several days, months, and years. What is there to warrant the attribution of unreality to the evolved things ? One and the same substance takes very many shapes in succession or in its several parts. It is true the shapes are transitory and passing events. But to say this is not the same as to say they are false or unreal. Uddalaka's statement that the articles evolved from the mud are real only as mud, does not and cannot mean that the evolved things are unreal. This is an example given for proving the possibility of the previous statement regarding Adesa, "to know whom is to know all." To suit and serve this purpose the example must be one well-known and fully familiar to Svetaketu. He had seen that the heap of mud that was in the morning in the pot-maker's house was turned in the afternoon into several and different objects. He knew that since all these articles were only those evolved from the heap of the mud that was seen in the morning, his comprehension of the mud in the morning included in its contents the substance, though not the shape, of every one of the articles seen in the afternoon. So the example helped Svetaketu in conceiving the nature of Adesa described by his father. He thought his father told him that just as the comprehension of the mud is the comprehension of all articles made of it, so the comprehension of Adesa could well be the comprehension of all things in the world. This meant that just as the mud is the mate-

rial cause of the pots etc. the Adesa is the material cause of all things in the world. Is here any suggestion of the pots etc. or things in the world being false or unreal? Not only the idea of unreality of them is neither suggested nor needed but it is impossible to have it. Our worldly experience establishes the reality and not the opposite, unreality, of pots etc. This being so how could Uddalaka expect on the part of Svetaketu the idea of unreality of the effects of the material causes mud and others.

What is excluded and consequently denied by the assertion, 'pot etc. are real only as mud,' is not the reality of the substance or the new shape but the effects which in the new shape are called pots etc. being any other substance than mud. In spite of the difference in the shape the substance of the effect continues to be the same mud and nothing else, is the idea. Identity between the material cause and its effects so far as the substance is concerned is the point which Uddalaka intended to bring home to Svetaketu. For this, unreality of the new shape or form is in no way required. It cannot be therefore the meaning of the passage.

Again raising the question 'How could the partless Sat change into something with a new form?' Sankara says in reply,

‘एज्ज्वाद्यवयवेभ्यः सर्पादिसंस्थानवत् बुद्धिपरिकल्पितेभ्यः  
सद्वयवेभ्यो विहारसंस्थानोपपत्तेः’

‘There could arise effects, forms, from the imagined parts of Sat just as the serpent-form does from the parts of the rope.’

The example is not quite apt. The parts of the rope are not known as the imagined ones, and it has been already said that there is nothing to warrant the presumption that the things in the world are unreal like the rope-serpent. These are, though impermanent, as real as Sat itself and therefore the material cause of these must also be real. The postulation of imagined parts to Sat is baseless and so unacceptable as implied by the Upanisat. No doubt Sat must have parts since otherwise it could not be the material cause of the world. But that the parts are unreal or imagined ones there is nothing to suggest.

Explaining the next passage (1-2-3) Sankara says :  
 'तत् सत् ऐक्षत ईक्षां दर्शनं कृतवत् । अतश्च न प्रधानं सांख्य-  
 परिकल्पितं जगत्कारणम् । प्रधानस्याचेतनत्वाभ्युपगमात् ।'

'That Sat saw, did the seeing. Thus matter accepted by Sankhyas is not the cause of the world since it is accepted as insentient.'

The interpretation here is as it should be. But according to this Sat must be accepted as one capable of seeing and acting accordingly. Such is not however Sankara's conception of Sat. For him it is one absolutely qualitless, void of all attributes. This he makes clear by his comments on 'Sadeva' (6-2-1)

'सदेव । सर्वादात् अस्मितामात्रं वस्तु सूक्ष्मं निविशेषं सर्वगतं  
 एकं निरञ्जनं निरवयवं विज्ञानम् ।'

'Sat means existence alone, an entity, subtle,

vioid of all distinctions, omnipresent, one, stainless, partless conscience.

How could such Sat have the will to create, and create the world ? Sankara thinks this will of Sat and its action of creation also are the effects of Avidya, the unreal matter. So in the subsequent lines of his commentary he cites not only the example given by the Upanishat but also one of his own.

‘तत्र ह्यथमैक्षतेति ‘आह’ बहु प्रभूतं स्यां भवेयम् । प्रजायेय प्रकर्षेण उत्सृजेय । यथा मृन् घटाद्याकारेण । यथा वा रज्ज्वादि सर्पाद्याकारेण बुद्धिपरिकल्पितेन ।’

‘How did he see ?’ (Uddalaka) says :

‘I shall become plenty. Shall be born profusely, as the clay does in the form of the pot etc. *and again as the rope etc. do in the form of serpent etc. occasioned by mind.*’

It is quite clear that there is absolutely no reason to reject what the Upanishat expressly and unequivocally states. Sankara interprets as he does only to make it suit his Advaita. Sat is an intelligent being and full of all good qualities. It willed to create the world and created it. This is clearly stated here. If this is not consistent with Advaita and goes against it the only reasonable conclusion to arrive at is that Advaita is not and cannot be the philosophy which the Upanishat teaches through the mouth of Uddalaka.

No body can escape the position that Sat in itself



could not be the material cause of fire. Something has to be attributed to it to make it possible for it to become and create fire. There being nothing to suggest that that something may be unreal we have to take it as real. On the other hand unreality of it is objectionable since if accepted it necessitates to explain away the seeing and the action of creation of Sat and to take them in a secondary sense. It is difficult to understand Sankara when he says (under 6-2-4)

‘Since the seeing of Sat is to be known only through Sabda (Veda) it cannot be taken in a secondary sense.’

If Sat is the pure Advaita Brahman it could not see in the proper and primary sense of the word. If on the other hand Sat saw in the proper primary sense of the word it could not be the Nirvisesha Advaita Brahman.

‘That fire saw’ (6-2-3) is correctly explained by Sankara :

“तन् सत्सृष्टं तेजः ऐक्षत । तेजोरूपसंस्थितं सत् ऐक्षतेत्यर्थः ।—

That fire which was created by Sat saw. what is meant is ‘Sat in the form of fire saw.’ ”

But it is difficult to explain why he should say subsequently (under 6-2-4).

‘तेजःप्रभृति ईक्षत इव ईक्षत इत्युच्यते भूतम्’

“The elements, fire, etc., are said to see taking them as if they do’

His Bhashya on “अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य” = “entering through this jiva-self” also is not quite clear” :

‘ननु न युक्तमिदम्—असंसारिण्याः सर्वज्ञाया देवताया बुद्धि-पूर्वकमनेकशनसहस्रानर्थश्रयं देहमनुप्रविश्य दुःखमनुभविष्यामीति सङ्कल्पनम् । अनुप्रवेशश्च स्वातन्त्र्ये सति । सत्यमेवं न युक्तं स्यात् यदि स्वैतैवाविकृतेन रूपेणानुप्रविश्येयं दुःखमनुभवेयमिति च सङ्कल्पितवती । न त्वेवम् ; कथं तर्हि ; अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्येति । वचनात् । जीवां हि नाम देवताया आभासमात्रम् , बुद्ध्यादिभूतमात्रासंमर्गजनितः । आदर्श इव प्रविष्टः पुरुषप्रतिबिम्बः । जलादिष्विव च सूर्यादीनाम् । अचिन्त्यानन्तशक्तिमत्या देवतायाः बुद्ध्यादिसंबन्धश्चैतन्याभासः देवतास्वरूपविवेकाग्रहणनिमित्तः सुखी दुःखी मूढ इत्याद्यनेकविकल्पप्रत्ययहेतुः । छायामात्रेण जीवरूपेणानुप्रविष्टत्वात् देवता न दैहिकैः स्वनः सुखदुःखादिभिः संबन्धने । यथा पुरुषादित्यादयः आदर्शोदकादिषु छायामात्रेणानुप्रविष्टाः आदर्शोदकादिदोषैर्न संबन्ध्यन्ते तद्वद्देवताऽपि ।’

Regarding Sat's entering into the elements he raises this question : “God being free from bondage and omniscient how is it that He wills “Entering the body, the abode of hundreds of thousands of sufferings, I shall experience pains ?” Being independent why should he enter ?” and in answer says : “True, this objection would be there if it is said to enter by itself. How then does it enter ? Through Jiva-self. Because the Upanishad says so, he enters through Jiva and not directly by himself. So all sufferings and experiences

of pain pertain to Jiva and not to himself." This is a suitable and proper reply to the question raised, and so Sankara might have stopped here.

Since however this implies Jiva's separateness from God and offends Advaita, he adds :

'Jiva indeed is a mere appearance of God occasioned by contact with the effects of elements, minds and others, just like the reflection of man having entered in the mirror and that of the sun in water etc. Contact with mind and others of God who possesses unimaginable and limitless powers is due to lack of discernment of this nature, and causing pseudo-consciousness it is responsible for such false ideas as 'I enjoy, I suffer, I am ignorant.' Having entered only through the shadow which is the form of Jiva God himself is not touched by pleasure, pain and others which belong to body. Man and the Sun and others having entered into the mirror water etc. are not touched by the defects of the mirror and water and others. Similar is the case with God.'

There is nothing in the Upanishat to warrant the assumption that jiva is only a shadow of God and not a separate entity. Even supposing it is justifiable it is extremely difficult to know how Sankara explains the actual experiences of pain and pleasure by people in the world. Shadow is not a sentient being and therefore cannot have any pleasure or pain. Exactly

the same is the case with mind and body. Who is it that feels the pain and pleasure, if not God Himself ?

Besides we shall see in the text shadow itself is impossible. A thing with a form and colour throws its shadow in a mirror or water. Sat has none. Further there could be neither mind nor body for Advaitins. They are held by them as false as the rope-serpent. The latter is imagined by a person due to *some circumstances*. The pure Brahman is incapable of imagining, and there is none else to do so.

Equally unreasonable is his interpretation of :

‘अपागाद्गनेरग्नित्वम्’

‘Fireness of fire has gone.’

He writes :

‘तत्रैवं साति रूपत्रयव्यतिरेकेणाग्निरिति यन्मन्यसे त्वं तस्याग्ने-  
रग्नित्वमिदानीपपागात् अपगतम् । प्राग्ग्नयविवेकविज्ञानान्  
या अग्निबुद्धिरासीत् ते सा अग्निबुद्धिरपगता । अग्निशब्दश्चे-  
त्यर्थः । यथा दृश्यमानरक्तोपधानसंयुक्तः स्फटिको गृह्यमाणः  
पद्मरागोऽयमिति शब्दबुद्धयोः प्रयोजको भवति प्रागुपधानस्फ-  
टिकयोर्विवेकविज्ञानान् । तद्विवेकविज्ञाने तु पद्मरागशब्दबुद्धी  
निवर्तेत तद्विवेकविज्ञानतुः तद्वत् ।’

‘This being so what you think as fire apart from the three entities (the original fire, water and earth) fireness of that fire is gone. The idea of fire which you had before you understood the truth by an analytical study of it has now gone. That the name ‘fire’ also has gone is meant here. A crystal in contact with a red thing when looked at causes the idea in our mind ‘this is an emerald’ and makes us

call it emerald until we come to know the truth of it. As soon as we see the two things distinctly the idea and the name go. Similar is the case here."

There could be no difference of opinion that this is a violent interpretation. Sankara knows this well and gives the true and correct meaning of the sentence but only to be rejected because it goes against Advaita. He says :

‘ननु किमत्र बुद्धिशब्दकल्पनया क्रियते । प्राग्प्रत्ययविवेककरणान् अग्निरेवासीत् । तदग्नेरग्नित्वं रोहितः।दिरूपविवेककरणदपागादिति युक्तम्, यथा तन्त्वपकर्षणे पटाभावः । नैवम् । बुद्धिशब्दमात्रमेव ह्यग्निः ।’

‘Now what is the use of ringing in the idea and name? Before dissection there was fire. That fireness of fire went away by the dissection just as there is no cloth when threads are drawn away. No; this is not so, because fire is nothing but mere idea and name.’

Sankara frankly says he had to reject the natural meaning of the sentence because there is no such thing in reality as fire according to him. As an authority for this he refers to the next line of the Upanishat :

‘वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्

( ६-४-१ )’

which he interprets as meaning. “The effect is only to be spoken of ; ‘mere name’; the three entities alone are true”. Even if this be the correct meaning of the passage we have to reject it and interpret the

passage anew, because our practical experience firmly establishes the reality of fire in every sense of the term. It is not at all mere idea and name like the emerald which the crystal in contact with a red flower caused to appear. Fire serves our practical purposes. Can that false emerald be put to any use? What is and where is the comparison between the two? Advaitins always ignore easily and conveniently but most unjustly and even insincerely this well established difference between the real things and false ideas.

Sat combining the three first-created elements in a particular manner evolves something which gets the name 'fire' and which serves very many purposes in the world. This something is nothing but a particular state of the three elements from which it is evolved. When that state is disturbed it goes together with the name 'fire' and there remain the three elements. The state as fire comes and goes. The substance remains and it is the same. It is permanent. This is said by the passage quoted above. Why should you bring in the question of unreality here? Sankara is quite right when he says under (6-2-3):

“रञ्जुविवेकदर्शिनां तु सर्पाभिधानबुद्धी निवर्तते ।

But for those who found the rope distinctly the wrong idea of it as a serpent and calling it as such ceases.”

But he is not so when he says immediately after :

‘यथा च मृद्विवेकदर्शिनां घटादि शब्दबुद्धी ।

And just as for those who found distinctly the mud, calling it as pot etc. and the idea of it as pot etc. cease.'

People are aware all the time that the pot is mud, and perceive it as pot and they call it as pot. The idea of it as pot and calling it as pot never ceases. Ask anybody in the world pointing to a mud pot 'what is this?' He will at once reply, 'This is a mud pot.' The conception of a rope as a serpent and the conception of it as a rope are mutually contradictory and exclusive. Therefore the former is invalidated by the latter. But the conception of a pot as a pot and the conception of the same as mud are not so. A pot has both the aspects as pot and as mud. Therefore there is no contradiction between the two conceptions and none of them gets falsified. When the pot is broken there is no longer the pot and then nobody will conceive the remains as pot and call it as such. This proves only the temporary nature of it and not its unreality. So long the pot exists all take it as such and call it as such. Fire is not mere idea and name. Mere idea and name do not burn us but fire does.

'That thou art' is given much importance and called 'Mahavakya.' Sankara says that this could mean nothing else than identity of Jiva with God. God was described from the beginning as the ultimate cause of the universe 'Thou' referring to Svetaketu means a jiva who is a bound soul. How could there be any identity between the two? For getting over this difficulty Advaitins resort to 'Lakshana' the secon-

dary significance of the two words 'That' and 'thou'. But according to the rules of interpretation it should be avoided if possible. It could be well avoided here. We have seen that in the statements 'That fire created.' 'That water created.' fire and water mean even according to Sankara God in these forms. Similarly 'That thou art' means 'you are a form of it', 'you have it as your soul' 'your soul is that.' That which exists with in you as its form is that.' Uddalaka began his teaching, saying 'Sat alone was all this before creation' and explaining the relation between the world and sat, which makes it possible to put them in co-ordinate terms says in the conclusion: 'All this has It for its soul. 'The idea intended to be conveyed is that the soul-and-body relationship is responsible for the co-ordination. Sat enters into everything that is created and remains there as its soul. Svetaketu also is a created being. Sat is within him as his soul. So Svetaketu is sat.

What has been said so far is enough to convince one that Advaita is not the philosophy that the Upanishat teaches but one imposed on it by Sankara. His Advaita was propounded by his predecessors themselves. But it was only he that advocated, propagated and defended from attacks. But for him the Vedanta philosophy would have lost its place among the Indian philosophies and gone down. He was a very powerful writer and debater. He vanquished in *vada* all his contemporaries who attacked



Vedanta, and wrote great commentaries on the *Prasthanatraya*, panisads, Brahmasutras and the Bhagavadgita, besides many independent works. The credit of not only having saved the Vedanta philosophy from falling into oblivion, not only restoring it to the place in our literature which it deserved to occupy and which it originally occupied but also making it a more respectable and more important and more valuable philosophy than any other one should go, there is no doubt, to Sankara.

Two are the main considerations which drove Gaudapada and his successors to Advaita of the type they propounded and advocated. The purpose of vedanta is to help people that are anxious to attain *Mukti*, liberation. *Mukti* once attained is said to be everlasting. A person once free will never get again entangled in *Samsara*—this wordly life. They thought it was absolutely impossible to maintain this position except by Advaita.

It was said that *mukti* or *moksha* means enjoyment of such pleasure as lies beyond the entire scope of speech and mind, pleasure undescribable and unimaginable, in the highest of the worlds. It is opposed to reason that a world could be everlasting. Any world even the highest must be full of parts and differences and so must have a beginning like this world of ours. Any thing that has a beginning must have an end. It could not be everlasting. It may be a bigger or more durable heaven than that of the

lower Gods. But at sometime it must perish. This is the consideration concerning the nature of *mukti*. The other is concerned with the means, *bhakti*. Any result that is achieved by human efforts must come to an end, like *svarga* and other results brought about by *yajnas*. *Bhakti* is also an action, though mental, like *yajnas*. If *svarga* attained through *yajna* is subject to time limit, how could *mukti* attained through *Bhakti* be otherwise ?

Following this line of reasoning the Nyaya philosophers accepted *mukti* and its means in a negative sense. *Mukti* for them is the total destruction of all pain-factors and its means is cessation of all activities with their causes resulting from the knowledge of truth. This is not acceptable for Vedantins. Upanishads say clearly and unequivocally that attainment of Brahman is the ultimate end to be achieved by the seeker and that is *mukti* while the means of it is the Brahman-knowledge and nothing else. So a system of philosophy which would be rational and at the same time accords with the Upanishadic teachings had to be founded. Gauḍapada founded it and Sankara explained, elaborated and defended it :

(1) If *Mukti* is something newly acquired it would not and could not be permanent. For this reason it had to be accepted that we have it already ; we are always *Muktas*.

(2) But this could be impossible in case we are separate from Brahman because we are actually born souls suffering from all sorts of afflictions.

This compels us to accept identity of Jivas with Brahman.

(3) Brahman itself could not be *mukta* if it has such changes as knowing and not knowing. So it must be qualitless.

(4) How could the pure and the changeless Brahman turn to be Jivas experiencing pain and pleasure and passing through the series of births and deaths ? Sankhyas have shown the way to explain this. There is something which obscuring Brahman, is responsible for all world-phenomena.

(5) But that thing cannot be the *prakṛti* of the sankhya's because it cannot be removed or destroyed by knowledge, jnana, which is the means of *mukti* taught by the Upanishats. Instead it should be ignorance, *Avidya* or *Ajnana*.

(6) Since the negative ignorance is incapable of being the material cause of the world we have to accept it as the positive ignorance, Bhavarupa-Ajnana.

(7) *Avidya* is blind, insentient. It cannot act itself. It requires something to make it a knower so that it may act. So Brahman like the *Sankhya Purusa* is accepted as conscience, *chaitanya*. Contacting such Brahman *Avidya* becomes a knower and then acts.

(8) The world and things in it being only evolutions of ignorance like the rope-serpent and the shell-silver, bow, it may be asked, could they serve practical

purposes ? A rope-serpent cannot bite and the shell-silver cannot be turned into a vessel. True. But Buddhās help us in having an answer to this question. The worldly things are *vyavahāra satya*, true so far as the practical purposes are concerned. They are not false in the sense in which the rope-serpent and others are. They are removable only by Brahman knowledge and nothing else.

Thus was Advaita worked out. It may be seen that except the names, Brahman and Jnana, about the truth and means taught in the Upanisads, there is nothing Upanishadic in this. The whole system is based on reason and thought. But it had to be made Vedānta. Sankara had the courage and ability to do so and did so. His job was not to find out and tell the world what the Upanisads teach but to bring them in line with his own philosophy. Perhaps he was frank enough to say so in the beginning of the *sūtra-bhāṣya* wherein he first expounds Advaita with reasoning and then introducing the sūtra text says, "Now this is the meaning of all vedāntas we shall show in this Sariraka-Mimamsasāstra" (Brahma-sūtras).

He resorted to certain devices which enabled him to dispose of very easily the Upanisadic passages and Gīta-slokas which were opposed to Advaita. He had no hesitation in making the *prima facie* view the conclusion and *vice versa* in the *Kōryadhikāraṇa* the last of the third Pada of the fourth Adhyāya of the Brahma-sūtras. He openly says there that this is inevi-

table since otherwise the vednata philosophy would collapse. Reading his Bhashyas any scholar with an unbiased mind cannot escape getting the impression that he is dragging the text to his own view. The remark made by Bhaskara in one of the opening verses of his Bhashya on the Brahmasutras that Shankara interpreted the sutras concealing what they meant and putting on them his own views, is cent percent true. One may be fully justified if one even goes to the extent of saying that Sankara's commentaries, though called Bhashyas, are practically refutations of the texts. Having been thoroughly dissatisfied with Sankara's Advaita, Bhaskara and Yadavaprakasa expounded their own schools of vedanta. But they were not able to secure any following for them. The Bhashya of the former some how survived the danger of peril but that of the latter did not. Ramanuja who came after these two and who studied for sometime under the latter received instructions in Visistadvaita which was coming down in the tradition represented by Nathamuni and his grandson Yamunacharya and wrote his Sribhashya on the Brahmasutras establishing this Vedanta philosophy and criticising Sankara's Advaita as well as the views of others. Tanka, Dramida and Guhadeva are some among the Acharyas who belong to the pre-Sankara period and were advocates of Visistadvaita. And they are said to be the followers of Bhagawan Bodhayana, who wrote an extensive commentary on the Brahmasutras.

Ramanuja found the way to get over the difficulties which confronted Sankara. Let us accept *mukti* as it is described by the Upanishats in a very plain language; "enjoyment of indescribable and unimaginable bliss in the highest of the world." Why should it have an end? Any world must one day perish like the world of ours, is not a valid inference. That there is a world to which the freed souls go and enjoy we know only through *Sruti*. If the same *Sruti* tells us that that world is eternal how could your inference based on the analogy of this world contradict it? Let us consider the example of God. The agent of any action in this world is a bound soul. Is it therefore reasonable to conclude God the creator of the world also must be a bound soul. God and bound soul are contradictory terms. Similar is the case with the world to which the freed souls go. *Vaikuntha* is the eternal world. How could you connect the idea of perishableness with it? Either you deny the existence of that world or accept it as eternal. There is no other alternative.

With regard to Bhakti there is no doubt it is a mental action. But it does not yield *mukti* in the same manner as *yajna* yields svarga. Jivas are in their nature capable of going to *Vaikuntha* and enjoying the extreme bliss there. But they are prevented from it by their *karma*. Bhakti removes this obstruction and *mukti* happens automatically and remains for ever. It is their right, and the capacity to experience it is inherent in them. They are

eternal and the wonderful world also is eternal. How could *mukti* once attained come to an end?

Thus Vedanta philosophy could stand on its own. It is in no need at all of all the inventions of Advaita. On the other hand Advaita is not only un-vedantic but also untenable. It is so weak that excepting Brahman the absolute there is no fundamental point on which there is agreement among its followers themselves. For some among them Maya is different from Avidya while for others both are one and the same. Some hold that Avidya rests on the Absolute Brahman while others hold it rests on Jiva. According to some there is only one Jiva but according to others there are many. Similarly there are divergent and opposite views held regarding the material cause of the world, the nature of God, Jiva, *mukti*, and means of *mukti*, and Jivan mukti that is Mukti while living etc.

A later author holding views different from those of an ancient one has to put forth reasons for rejecting the views of the latter. In this way almost all views on the important points of Advaita have met with adverse criticisms from Advaitins themselves. The important topics on which there were divergent and mutually contradictory views, and such views on each point were so many that Appayyadikshita thought it fit to write a fairly big work called Siddhantalesasangraha using them as material. All the views which are opposed to each other and mutually contradictory cannot be *siddhantas*. Which particular one of them may be

so it would be difficult to decide. But since almost all these are corollaries of accepting the qualitless absolute Brahman the first and foremost question to be considered in connection with the study of soundness or otherwise of Advaita is whether we can explain the world phenomena with that Brahman as the ultimate Truth. Ramanuja considers in detail and extensively the question of proof of such Truth and comes to the conclusion that there is, there could be, no proof at all. The other question is whether the Advaita Brahman can be the ultimate cause of the world. Such Brahman as that is incapable of knowing or willing or doing anything. How could the world come into existence or appear? It has been said in Advaita that knowing or willing means a change and there could be no change in Brahman. Now Maya is brought in. Let us accept for the sake of argument there is such thing as Maya. What happens? Maya is insentient like Sankhya's *Prakriti*. It could not think or move. Badarayana in his *Brahmasutras* is emphatic in declaring that the Sankhya philosophy has awfully failed to explain the existence of the world. We have to consider how is Advaita better? Brahman is a changless being like Sankhyas' Purusha and Maya is as insentient as their *Prakriti*. In none of them any thinking or movement towards the creation of the world could happen. 'United the two act' is no answer, since union itself is impossible. Besides, two blind men coming together cannot become capable of seeing, and the



lames coming together cannot become capable of walking.

Now Maya itself is inexplicable, an impossible category. It could not be real in the sense in which Brahman is; because Advaita has no place for a second reality. If unreal, as the Advaitins have to hold it to be, like the rope-serpent or shell-silver it must be one imagined by somebody. just as these instances are. Now who is it that imagines it? The absolute Brahman is incapable of it and there is none else than It, who could imagin it. To say that it has been there always without anybody's imagination and it is unreal is to speak in contradictory terms. If it is unreal it should necessarily be due to misconception on the part of some one, just like the stock instances the rope-snake and shell-silver. Any thing that has its existance independent of one's false idea or perception must be a real entity, never an unreal one. like the rope and shell or the real snake and silver. If Maya is such, then it is the same as Sankhya's Prakrti and nothing else.

Old authors on Advaita have said :

“Jiva and God, difference between these two, the pure conscience (Brahman the absolute), Avidya (Maya), the contact between Avidya and Brahman, these six are for us beginningless.”

If Avidya or Maya is as beginningless as Brahman and has absolute co-existence with it, is it not to be considered as real as Brahman? What is there to

make it unreal like the rope-snake and the shell-silver? Here is a dilemma from which it is difficult to escape. Maya if real will kill Advaita. If otherwise there must be, whereas there is not, a sentient agent whose wrong conception would be responsible for its appearance. Postulation of another Maya cannot help to get over the difficulty since the same question arises regarding it also and postulation of further Mayas will without helping in any way only result in *ad infinitum*.

There is also another difficulty. We do not see that the shell-silver evolves itself into something else as mud or gold does into pot or other useful articles. Likewise the positive Avidya which is accepted by Advaitins as false in the same sense as the shell-silver is, cannot be the material cause of the world. The fact that Advaitins are forced to accept the six categories as beginningless clearly shows that they have realised the impossibility of explaining the appearance of the world with one reality, the absolute Brahman and the false Maya. It has been however already pointed out that beginninglessness of Avidya and its falsity cannot go together. It is of much interest to note that there is not a single one among the multitude of authors on Advaita including Sankara who has raised this question relating to Maya or Avidya and made a genuine attempt to answer it. Every one of them takes Avidya and its contact with the absolute Brahman for granted and deals with several topics with a view to defend Advaita. At times some

of these authors quite unable to meet criticisms made by others are driven to take such a ridiculous position as forces them to say "Irrationality is an adoring virtue of Avidya and not a defect of it."

It has been said that Sankara advocated Advaita, because he thought that except by being interpreted as Advaita the Vedanta philosophy could not be saved. Many inherit this philosophy of Sankara and therefore stick to it. But candidly speaking one who had thoroughly studied and understood it cannot help wondering, how this most irrational and untenable line of thinking not only rose to the level of philosophy but secured for itself and occupied a very important place among the philosophies of the world. It appears that the wrong notion on the part of majority of scholars that the ultimate truth taught by philosophy must be devoid of all differences which pertained to this world of ours, is responsible for it. Anyhow it is, so far as I have studied it, a fact that Advaita is not yet established. It is yet to be proved.

---

श्री :

श्रीश्रीनिवासपरब्रह्मणे नमः

श्रीमते रामानुजाय नमः

श्रीमते निगमान्तमहादेशिकाय नमः

॥ विशिष्टाद्वैतसिद्धिः ॥

चराचरशरीराय सुरासुरनताङ्ग्ये ।

भयाभयनिदानाय घनाघनरुचे नमः ॥१॥

श्रियाऽभिजुष्टं श्रुतिभिः प्रदिष्टं

तत्त्वं विशिष्टं सुधियां यदिष्टम् ।

अद्वैतसिद्धिप्रसरोपरोधात्

प्रदर्शयामः परिनिष्ठितं तत् ॥२॥

असावध्यासीनः शिखरमुदयाद्रेरनुदिनं

जगद् भासा भास्वान् जयति विदधानो वितिमिरम् ।

समिन्धानं पीठे महति महता ब्रह्ममहसा

गुरुं नः श्रीवासं स्मृतिपथमजस्रं नयति यः ॥३॥

## (१) प्रस्तावः

“भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा” इति चिदचिदीश्वरात्मकानि त्रीणि तत्त्वानि पृथग् ज्ञातव्यान्युपदिश्य “यस्य पृथिवी शरीरम्” इति चेतनानामचेतनानां च सर्वेषां वस्तूनां शरीरत्वं ब्रह्मणः शरीरित्त्वं चाभिधाय “सदेव सोम्येदमग्र आसीत्” “तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति” “असद् वा इदमग्र आसीत्” “तदात्मानं स्वयमकुरुत” “सच्च त्यच्चाभवत्” इति प्रलये सृष्टौ च विशिष्टमेव ईश्वरतत्त्वं प्रथत इति तावदसन्देहगन्धं शास्त्राणि प्रतिपादयन्ति । “अधिकं तु भेदनिर्देशात्” “अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः” “अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः” “भोक्तापत्तेरबिभागश्चेत् स्याल्लोकवत्” इति भगवता सूत्रकारेणापि तत् सुनिरूपितम् । अथापि अन्यमेव कमपि कुतर्कमवलम्बमानाः अचित्तत्त्वस्य कृत्स्नस्य मिथ्यात्वं, चित्तत्त्वस्य परेण ब्रह्मणा ऐक्यं, ब्रह्मणः सकलविशेषरहितत्वं च आस्थाय अद्वैतमेव पारमार्थिकमिति प्रतिष्ठापने संरभन्ते । तत्र

कृते च प्रतिकर्तव्यमिति न्यायानुसारिणः ।

विमर्शं कर्तुमिच्छामो न खण्डनकुतूहलात् ॥४॥

## (२) विश्वमिथ्यात्वानुमानम् ।

यत्तावदत्र अद्वैतसिद्धिकृता पूर्वाचार्यदर्शितमनुमानमुक्तम्- ‘विमतं मिथ्या, दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्’ इति, तन् लोकशास्त्रयोरत्यन्तविरुद्धत्वाद् आपातरम्यमपि न भवति । यस्मात् दृश्यते तस्मादस्ति, तस्मात् सत्यं न मिथ्या, इति हि सर्वो वदन्- दृश्यते । न तु यः कोऽपि ‘यस्मात् दृश्यते तस्मान्नास्ति, तस्मान्मिथ्येति’ वदन् । शास्त्रकारा अपि

श्वमेव व्यवहरन्ति । यथा चोदनासूत्रे शबरस्वामी—“न च निश्चित-  
मवगम्यमानमिदं मिथ्या स्यात्” इति । “नाभाव उपलब्धेः” इति सूत्रं  
च स्थितमेव । ननु शुक्तिरूप्यादिकमपि दृश्यत एव । न च तत्सत्यम् ।  
अतोऽनुपपन्न एवायं व्यवहार इति चेत्, तर्हि स्फीतालोकमध्यवर्तिनं घटं  
पश्यताऽपि भवता घटोऽस्तीति न प्रतिपत्तव्यम्, यस्माद् दृश्यते तस्मा-  
दस्तीति दर्शनास्तित्वयोः सम्बन्धानभ्युपगमान् । अथाभ्युपगम्यते, तर्हि  
पूर्वोक्तो लोकशास्त्रव्यवहारः समञ्जस एव । तथा च दृश्यत्वात् सत्यत्वे  
साधनीये मिथ्यात्वसाधनं विपरीतमेव । ननु सम्यग्दर्शनविषयत्वं  
सत्यत्वे हेतुः, तदिह न विवक्षितमिति चेत्, तर्हि असम्यग्दर्शनविषयत्वात्मकं  
दृश्यत्वं हेतुरिति स्यात् । तथा च हेतोरसिद्धिः । न हि भ्रमात्मकदर्शन-  
विषयत्वं घटादिषु वर्तते । न हि घटादिविषयस्य दर्शनस्य शुक्ति-  
रजतादिविषयस्येव भ्रमत्वं प्रतिपत्ते सम्प्रतिपन्नम् । तत् पश्चात्  
साधयिष्यत इति चेत् निराकरिष्यते च । ततः किमिदानोम् । यदि  
शुक्तिरूप्ये यादृशं दृश्यत्वं तादृशमिह हेतूक्रियते तर्हि तत् पक्षे  
नास्ति । अथ ततो व्यावृत्तं तर्हि तद् दृष्टान्ते नास्ति पक्षे विपरीत-  
साधकं च । अथोभयसाधारणं तर्हि दर्शितलोकशास्त्रव्यवहारविरोध-  
स्तदवस्थः । दर्शनादिशब्दानां सम्यग्दर्शनादिष्वेव रूढेः । अत  
एव हि ‘नास्ति घटोऽनुपलब्धेः यत् प्रत्यक्षं न तद् व्यभिचरति,  
यद् व्यभिचरति न तत् प्रत्यक्षम्’ इति शास्त्रकर्ता स्वरसवाही  
व्यवहारः । धूमे द्रव्यत्वस्येव प्रकृते केवलदृश्यत्वस्य व्याप्यतान-  
वच्छेदकत्वं चेत्यपारमत्र दौस्थ्यम् ।

### (३) प्रथममिथ्यात्वम्

अथ परिष्कृतं साध्यादि विशिष्य परामृशेम । तत्र साध्यं मिथ्यात्वं  
विवृण्वन् ‘मिथ्याशब्दोऽनिर्वचनीयतावचनः’ इति पञ्चपादिका-

वचनमादाय, सदसदनधिरणत्वरूपाऽनिर्वचनीयतेत्यभ्युपेत्य, सदसदन-  
धिकरणत्वमपि सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावरूपधर्मद्वयात्मकमित्या-  
स्थाय, तदुपरि अत्र त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्त्वव्यतिरेको नासत्त्वम्, किन्तु  
क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वानाधिकरणत्वम्, तद्व्यतिरेकश्च  
साध्यत्वेन विवक्षितः तथा च त्रिकालाबाध्यविलक्षणत्वे सति क्वचिदुपाधौ  
सत्त्वेन प्रतीयमानत्वरूपं साध्यं पर्यवसितम्, एवं च सति न शुक्तिरूप्ये  
साध्यवैकल्यम् । बाध्यत्वरूपसत्त्वव्यतिरेकस्य साध्याप्रवेशात्” इत्यह,  
अत्र ब्रूमः । प्रथमं तावत् ‘मिथ्याशब्दोऽनिर्वचनीयतावचनः’ इत्येत-  
दनुपपन्नम् । व्यवहारमूलो हि शब्दान्मर्थन्निश्चयः । तत्र शुक्तिरूप्ये  
मिथ्येति यो व्यवहारः स केन निमित्तेन ? बाधितत्वेनेति चेत् साधु ।  
तथा च तन्मात्रवचनो मिथ्याशब्दः । अविद्यमानवचनो वा, बाधित-  
स्याविद्यमानत्वात् । न तु भवदुक्तःसत्त्वाभाववचनोऽपि । माना-  
भावात् । न हि शुक्तिरूप्यं वस्तुतोऽर्साद्भन्नमित्येतावताऽसत्त्वाभावस्य  
मिथ्याशब्दाभिधानान्तर्भावो भवितुमर्हति । न हि घटादिशब्दानां  
वस्तुतोऽसद्भिन्नघटादिवाचिनां असत्त्वाभाववाचित्वात्स्यते । तस्माद्  
बाध्यत्वेन निर्वचनीयवचन एव मिथ्याशब्दः, न त्वानिर्वचनीय-  
वचन इति ।

अथ यत् सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावरूपधर्मद्वयात्मकं साध्य-  
मुक्तं तत्र असत्त्वात्यन्ताभावांशे सिद्धसाधनदोष एव । यत्तु “गुणादिकं  
गुण्यादिना भिन्नाभिन्नम् । समानाधिकृतत्वात्” इति भेदाभेदादि-  
प्रयोगे ताकिंकाङ्गीकृतस्य भिन्नत्वस्य सिद्धावप्युद्देश्यप्रतीत्यसिद्धेर्यथा  
न सिद्धसाधनं, तथा प्रकृतेऽपि मिलितप्रतीतेरुद्देश्यत्वान्न सिद्ध-  
साधनम् । यथा तत्त्वाभेदे घटः कुम्भ इति सामानाधिकरण्यप्रतीते-  
रदर्शनेन मिलितसिद्धिरुद्देश्या, तथा प्रकृतेऽपि सत्त्वरहिते तुच्छे  
दृश्यत्वादर्शनेन मिलितस्य तत्प्रयोजकतया मिलितसिद्धिरुद्देश्येति

समानम्” इत्युक्तं तदयुक्तम् । असमानत्वात् । दृष्टान्ते हि घटः कुम्भ इत्यत्राभेदो वर्तते । न च तस्य सामानाधिकरण्य-प्रतीतिप्रयोजकत्वं भवतीति युक्तं तत्रोभयसिद्धेरुद्देश्यत्वम्, प्रकृते तु सत्त्वाहित्यं कथं तुच्छस्य । त्रिकालाबाध्यत्वं हि सत्त्वम् । तदभावो बाध्यत्वमेव । न चेद् तुच्छे सम्भवति, कदाचिदप्यप्रतीयमानस्य बाधा-योगात् । प्रतीतस्य निवर्तनं हि बाधो नाम । एवं बाध्यत्वाभावे तत्प्रयुक्तं दृश्यत्वमपि तुच्छस्य नास्तीति कुतोऽत्र मिलितसिद्धिरपेक्ष-णीया । ननु तुच्छे यदि सत्त्वात्यन्ताभावो न स्यात् तर्हि तन् सदि-त्यापद्येतेति चेत्, यदि स्यात् तर्हि तद् बाधितमित्यापद्येतेति समानम् । त्रैकालिकाबाध्यत्वाभावो हि बाध्यत्वमेव । ननु कस्यचित् सत्त्वं वा तदभाववत्त्वं वा भवेत् । न प्रकारान्तरमस्ति, ‘परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः’ इति स्थितेः । तथा सति तुच्छस्य सत्त्वमपि नास्ति तदभाववत्त्वमपि नास्तीति कथमेतदिति चेत्, आत्मानमुपालभस्व, यः तुच्छमपि वस्तिव कृत्वा ब्रह्मप्रपञ्चादिभिः सह समानं व्यवहरन् न मनागपि विशेषं प्रतिपद्यते । वस्तुधर्मो ह्ययं सत्त्वं वा तदभावो वा । अथ कथं तुच्छस्यासत्त्वमिति चेत् असत्त्वं तस्य केनेष्टम् । इच्छ-ताऽपि भवता कचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वानधिकरणत्वमित्य-न्यादृशमेवेष्टम् । इदमपि तुच्छस्यासम्भवि । अवस्तुनो धर्मानाधारत्वात् । न चैतदभावो दृश्यत्वप्रयोजकः, बाध्यत्वमात्रेण तदुपत्तेरित्यास्तां तावत् । एतेन ‘सत्प्रतियोगिकासन्प्रतियोगिकभेदद्वयं वा, सत्त्वात्यन्ता-भाववत्त्वे सति असत्त्वात्यन्ताभावरूपं । विशिष्टं वा साध्य’मित्यपि प्रत्युक्तं वेदितव्यम्, यथा जातिशून्यत्वं सामान्यविशेषसमवायाभावानां सामान्यमित्युक्ते तुच्छेऽतिव्याप्तिरिति कृत्वा तद्धिन्नत्वमपि न निवेश्यं तथाऽत्रापीति ।



## (४) द्वितीयमिथ्यात्वम्

“प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं वा मिथ्यात्वम् इत्यपरं मिथ्यात्वमुक्तम् । अत्र त्रैकालिकनिषेध इत्यत्यन्ताभाव इष्टः । येन रूपेण यदधिकरणतया यत् प्रतिपन्नं तेन रूपेण तन्निष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वं तस्य मिथ्यात्वमिति विवक्षितमिति स्वयमेव तद् विवृतम् । अत्र तद्वस्त्वधिकरण एव वर्तमानतया तद्वस्त्वत्यन्ताभावो न प्रतिपत्तुं शक्यत इति त्रिरोधः स्फुटः । अत इदं परित्यज्य “सन्मात्रनिष्ठात्यन्ता-भावप्रतियोगित्वमेव मिथ्यात्वमित्याह । “सन्मात्रनिष्ठेति । स्वप्रकारक-धीविशेष्यनिष्ठसत्त्वव्यापकेत्यर्थः ।” इति इदमप्यनुपपन्नम् एवंविधस्य मिथ्यात्वस्य दृष्टान्ते शुक्तिरूप्ये पूर्वमगृहीतत्वेन तस्य व्यापकत्वाभावात् । बाधकप्रत्ययेन इदमर्थनिष्ठत्यन्ताभावप्रतियोगित्वमेव रजतस्य गृहीतम् । न तु इदमर्थनिष्ठसत्त्वव्यापकत्वात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् हेत्वभावात् अनर्पितत्वात् । असम्भवि च सत्त्वव्यापकत्वमत्यन्ताभावस्य । सत्यरजते सत्त्ववति रजतात्यन्ताभावाभावात् । ब्रह्मात्मकसत्त्वविवक्षायां च शुक्ति-रूप्ये तद्व्यापकत्वाग्रहणमुक्तम् । तस्मादिदमपि साध्यं न युज्यते ।

## (५) तृतीयमिथ्यात्वम्

ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा मिथ्यात्वमित्यन्यन्मिथ्यात्वम् । तच्च स्वयं व्यवृणुत, ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्वमिति । दृष्टान्त इदं न सम्प्रतिपन्नम् । न हि शुक्तिरजतभ्रमे किमपि रजतं जातं पश्चान्निवर्तत इत्यनद्वैतिन इच्छन्ति । तथा साधयिष्यत इति चेत् आरम्भात् प्रभृति आवसानं सर्वं भवतां साध्यावस्थमेव । न तु कस्यचित् सिद्धिरस्ति भविष्यति वा । परं प्रति अप्रसिद्धाविशेषणता तु स्थिता । प्रारब्धकर्मण्यव्याप्तिश्च, भोगैकनाशयत्वात् । एतेन दृष्टान्तसिद्धिरप्यनुमानदूषणमिति ज्ञापितं भवति । शुक्तिरूप्यमिति कस्यचिद्वस्तुनोऽसम्प्रतिपन्नत्वात् ।

## (६) चतुर्थमिथ्यात्वम्

स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमितीतरत् । इदं विवृत्तं 'स्वात्यन्ता-  
भावाधिकरण एव प्रतीयमानत्वम्' इति । अत्राधिकरणपदेन यदि  
प्रतिपन्नोपाधिगृह्यते तर्हि तत्र स्वात्यन्ताभावो दुर्ग्रहः । प्रतीयमानत्वं  
ह्यत्र शक्तिरूप्यवन्न भ्रान्तिविषयत्वम् । अतः प्रतियोगी तत्र वर्तते एव ।  
तथा सति तदत्यन्ताभावः कथं तत्र गृह्येत । अत एव साध्यत इति चेत्  
नूनं बह्वेरेणुष्णत्वसाधनेऽपि कुशलो भवान् । अथ सन्मात्रं गृह्यते तर्हि  
दृष्टान्ते तन्निरूप्यतया अत्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनो वा अगृहीतत्वात्  
हेतुव्यापकत्वं न सिद्धम् । अत इदमपि साध्यमयुक्तम् ।

## (७) पञ्चममिथ्यात्वम्

अथान्ते "सद्विविक्तत्वं वा मिथ्यात्वम् । सत्त्वं च प्रमाणसिद्धत्वम् ।  
प्रमाणत्वं च दोषसहकृतज्ञानकरणत्वम् । तेन स्वाप्नादिवत् प्रमाण-  
सिद्धभिन्नत्वेन मिथ्यात्वं सिद्धयति," इत्याह । इदमपि पक्षे दुर्ग्रहमेव ।  
पृथिव्यादीनां हि प्रमाणसिद्धत्वनिश्चयोऽनद्वैतिनां वर्तते । ते कथं तत्र  
प्रमाणासिद्धभिन्नत्वं गृह्णीयुः । पृथिव्यादिप्रत्यक्षं न प्रमाणम् । दोषसह-  
कृतज्ञानकरणकत्वादिति चेन्न । असिद्धेः, न हि पृथिव्यादिग्राहकचक्षु-  
राद्युपघातिदोषविशेषसद्भावे किञ्चन प्रमाणमस्ति । अद्वैतश्रुतिः प्रमाण-  
मिति चेत् तर्हि सैव परिशीलनीया । किमनुमानव्यसनेनेति ।

## (८) मिथ्यात्वमिथ्यात्वम्

अथेदं साध्यं मिथ्यात्वं मिथ्या न वेति विकल्प्य, आद्ये प्रपञ्चः सत्यः  
स्यात् । एकस्मिन् धर्मिणि प्रसक्तयोर्विरुद्धधर्मयोरेकस्य मिथ्यात्वे  
अपरसत्त्वनियमात् । अन्त्ये मिथ्यात्ववदेव प्रपञ्चः सत्यः स्यात् उभयथाऽ-  
प्यद्वैतहानिरिति परैः कृतमाक्षेपं परिहरन् इदमाह— "मिथ्यात्वमिथ्या-

त्वेऽपि प्रपञ्चसत्यत्वं न भवति । परस्परविरहरूपत्वेन परस्परविरह-  
 व्यापकत्वेन वा विरुद्धयोर्द्वयोरेकतरनिषेधे हि इतरसत्त्वमापतेत् । यथा  
 रजतत्वत्तदभावयोः रजतभिन्नत्वरजतत्वयोर्वा शुक्तौ । तत्र निषेध्यता-  
 वच्छेदकभेदनियमात् । प्रपञ्चसत्यत्वमिथ्यात्वयोस्तु परस्परविरहरूपत्वं  
 वा परस्परविरहन्यापकत्वं वा नास्तीत्युक्तम् । तेन दृश्यत्वादि एकमेव  
 प्रतिषेध्यतावच्छेदकम् । यथा गजे गोत्वाश्वत्वयोर्गजत्वात्यन्ताभाव-  
 व्याप्यत्वम् । न हि गोत्वं न गजवृत्ति गजत्वात्यन्ताभावव्याप्यत्वादि-  
 त्युक्ते अश्वत्वस्य गजवृत्तित्वं सिद्धयति । तस्यापि गजत्वात्यन्ताभाव-  
 व्याप्यत्वात् । एवं प्रकृते प्रपञ्चमिथ्यात्वस्य दृश्यत्वादिना मिथ्यात्वेऽपि  
 तत्सत्यत्वस्य नापत्तिः । सत्यत्वस्यापि मिथ्यात्वस्येव मिथ्यात्वात् ।  
 दृश्यत्वादिसाधारण्यात् ।” इति । तदिदं उपक्रान्तां जल्पकथां विस्मृत्य  
 शिष्यान् प्रत्युपदिशतेवेत्तं विदुषामुपहास्यम् । न हि वादिनः प्रपञ्च-  
 मिथ्यात्वं सिद्धं कृत्वा तन्मिथ्या सत्यं वेति विकल्प्य चोदयन्ति, येनैव-  
 मुपपत्तिः क्रियेत । अनुमानदूषणतात्पर्येणैव एवं विकल्पनात् । ते चैवं  
 मन्यन्ते । दृश्यत्वादिलिङ्गजन्येयं प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमितिः किं ब्रह्मप्रतीति-  
 तुल्या, अथवा सत्यरजतप्रतीतितुल्या, यद्वा शुक्तरजतप्रतीतितुल्या । आद्ये  
 प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वेऽप्यस्य मिथ्यात्वस्य ब्रह्मवत् सत्यत्वेनाद्वैतभङ्गः । द्वितीये  
 प्रपञ्चसत्यत्वग्राहकप्रबलप्रत्यक्षविरुद्धतया बाधावश्यम्भावेन मिथ्यात्वस्य  
 मिथ्यात्वात् प्रपञ्चसत्यत्वं सुस्थितम् । अत एवाद्वैतभङ्गश्च । तृतीये  
 सुतरां तथेति । तदिह चोद्याभिप्रायमगृहीतवतैव यत्किञ्चिदुक्तम् । न तु  
 चोद्यं समाहितमिति ज्ञेयम् । एतेन “परस्परविरहरूपत्वेऽपि व्यावहारिक-  
 मिथ्यात्वेन व्यावहारिकसत्यत्वापहारेऽपि काल्पनिकसत्यत्वानपहारात्  
 तार्किकमतसिद्धसंयोगतदभाववत् सत्यत्वमिथ्यात्वयोः समुच्चयाभ्यु-  
 पगमाच्च” इत्यादि निरस्तम् । प्रत्यक्षसिद्धप्रपञ्चसत्यत्वविरोधिनस्त-  
 न्मिथ्यात्वस्यानुमित्यसम्भवेन व्यावहारिकमिथ्यात्वेन व्यावहारिकसत्य-

त्वापहारोक्तेरत्यन्तमसङ्गतत्वात् । अत एव प्रपञ्चसत्यत्वस्य काल्पनिकत्वो-  
क्तेरयोगाच्च । तदिहानुमीयमानं प्रपञ्चमिथ्यात्वं यदि ब्रह्मतुल्यं तर्हि  
अद्वैतासिद्धिः । यदि प्रपञ्चतुल्यं तर्हि तत्सत्यत्वेन विरोधादन्य-  
तरबाधेऽपरिहार्ये प्रत्यक्षसिद्धस्य प्रबलत्वादानुमीयमानं मिथ्या  
भवति । तथा च प्रपञ्चसत्यत्वं निश्चयम् । शुक्तिरूप्यतुल्यत्वं तु  
प्रामाणिकं सन् अद्वैतभङ्गमयत्नसिद्धमापादयति । इत्ययं वादकुशलाना-  
मभियोगो दुर्निवारः प्रपञ्चापलापिनाम् । एतदुक्तं भवति । प्रकृतानु-  
मानसाध्यस्य प्रपञ्चमिथ्यात्वस्य सत्यत्वमनिष्टम् । द्वितीयसत्यप्रसङ्गात् ।  
शुक्तिरूप्यवन्मिथ्यात्वमप्यनिष्टम् । प्रपञ्चस्य सत्यत्वापत्तेः । परिशेषात्  
प्रपञ्चवत्सत्यत्वं वाच्यम् । तत्तु प्रपञ्चसत्यत्वेन विरुद्धयते । शुक्तिसत्यत्वेन  
शुक्तिरूप्यसत्यत्वमिव । शुक्तिसत्यत्वेन तद्भावसत्यत्वमिव च । न हि प्रपञ्च-  
सत्यत्वे सति तन्मिथ्यात्वसत्यत्वं भवति । अस्मिन् सति वा तत् । एवं प्रपञ्च-  
सत्यत्वमिथ्यात्वयोः परस्परविरहात्मकत्वेन एकस्य साधकेनापरस्य बाधा-  
द्विषमसत्ताकत्वमपरिहार्यम् । तत्र सत्यत्वसाधकं दृढं प्रत्यक्षं अनुमेयं  
मिथ्यात्वं बाधते । तथा चेदमनुमानं प्रपञ्चमिथ्यात्वं साधयितुम-  
क्षममिति ।

यत्तु “न च भावत्वाभावत्वात्यन्ताभाववत्त्वासम्भवः । सत्त्वासत्त्वा-  
त्यन्ताभावयोः परस्परपरिहारनियमादिति वाच्यम्, सत्त्वे तावन्न सत्त्व-  
मस्ति । वृत्तिविरोधात् । न चासत्त्वम्, तथा सति सर्वशून्यतापातान् ।  
एवमसत्त्वे नासत्त्वम् । वृत्तिविरोधान् । न सत्त्वम् । विरोधादेव । इति  
सदसतोरेकतरनिषेधस्येतरविधित्वनियमासिद्धेः ।” इति न्यायचन्द्रिका-  
यामुक्तं तद्युक्तमिति सुप्रसङ्गम्, ब्रह्मणोऽप्येवमनिर्वचनीयत्वापत्तेः । तत्र  
हि न सत्त्वम् । सविशेषत्वापत्तेः । नाप्यसत्त्वम् । शून्यतापत्तेः । अथ  
सत्त्वाभावेऽपि ब्रह्मणो नासत्त्वम् । अत एव न शून्यत्वम् तत् सत्त्वेऽपि  
तुल्यम् । घटो न नास्तीत्युक्ते घटसत्त्वप्रतीतिनियमानुपपत्तिश्च, असत्त्व-

विरहस्य सत्त्वविधित्वनियमासिद्धिवचनात् । कुतश्च सत्त्वे सत्त्वं नारित । स्वस्मिन् स्ववृत्तिविरोधादिति चेत् घटे सत्त्वमस्तीति व्यवहारं प्रामाणिकमभ्युपेत्य वा इदमुच्यते अनभ्युपेत्य वा । आद्ये जातिरूपं देशविशेषकालविशेषसम्बन्धित्वरूपं वा घटवृत्तिसत्त्वमन्यत् । अन्यच्च एतद्वृत्ति प्रामाणिकत्वादिरूपं सत्त्वमिति नास्ति वृत्तिविरोधः । अन्ये सार्वत्रिकव्यवहारबाधप्रसङ्गः सत्त्ववृत्त्यभावद्वयप्रतियोगिनोः सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहात्मकत्वेन तदभावयोरैकाधिकरण्यं च दुर्घटम् । असत्त्वाभावेनाशून्यत्वं सत्त्वाभावेन शून्यत्वं चेति सत्त्वं शून्याशून्योभयान्मकं स्यात् । तुल्यमेतदसत्त्वेऽपि । तत्त्वं तु असत्त्वे सत्त्वमस्त्येव । घटादेर्देशविशेषेऽविद्यमानत्वस्य प्रमाविषयत्वात् । इति ॥

यदुक्तं प्रपञ्चतन्मिथ्यात्वयोरेकब्रह्मज्ञानबाध्यत्वेन समसत्ताकत्वात् मिथ्यात्वबाधकेन प्रपञ्चस्यापि बाधान्नाद्वैतक्षतिरिति, तन्न । उभयोरेकबाध्यत्वःसम्भवात् । ब्रह्मज्ञानेन प्रपञ्चो निवर्तते । सानिवृत्तिरेव बाधः । तत्प्रतियोगित्वमेव प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वम् । तत्त्वज्ञानाधीनेऽस्मिन् आविद्यकत्वविरहात् दृश्यत्वं नास्ति । तदुत्तरोत्पन्नब्रह्मज्ञानान्तराभावात् बाध्यत्वमपि नास्ति । तस्मात् प्रपञ्चस्य यदि मिथ्यात्वं स्यात् पारमार्थिकमेव तत् स्यादिति हतमेवाद्वैतम् ।

### (६) दृश्यत्वम्

अथाद्यहेतुविमर्शः । तत्रेदमादौ वक्तव्यम् । दृष्टान्ते यन्निरूपिता व्याप्तिर्यस्मिन् गृहीता तयोः क्रमेण व्यापकत्वं व्याप्यत्वं च, प्रयोगे साध्यत्वं हेतुत्वं चेति नैयायिकमर्यादा । इमामतिलङ्घमानो न विदुषां ग्राह्यवचनः । एवं सति शुक्तिरूप्यस्थले कयोर्व्याप्यव्यापकभाव इति द्रष्टव्यम् । दूरस्थत्वादिदोषवशात् शुक्तिं रजतं मन्यमानः तद्ग्रहणायोपसृत्य नेदं रजतमिति तत्त्वं बुध्यते । अत्र पूर्वः प्रत्ययो बाध्यः, उत्तरो

बाधकः । अयथार्थत्वप्रकाशोऽत्र बाधः । तद्विषयत्वं बाध्यत्वम् । अय-  
थार्थत्वं मिथ्यात्वम् । विषयस्य तु बाध्यत्वं बाधितप्रत्ययविषयत्वं  
बाधकप्रत्ययाधीननेतिप्रत्ययविषयत्वं वा । मिथ्यात्वं पुनः स्वधर्मिवृत्ति-  
विरहप्रतियोगित्वम् । ज्ञानानां स्वतः प्रामाण्यात् स्वरसतः प्राप्तमर्थनिश्चा-  
यकत्वं पूर्वप्रत्ययस्य बाधकवशेनायथार्थत्वनिश्चयान् तेन दुष्टकरणजन्य-  
त्वनिश्चयाच्च अपोद्यते । प्रत्युताप्रामाण्यमध्यवसीयते । तदभावे बाध-  
कप्रत्ययादेरनुपपत्तेः । एवं च बाधितेन अत एवायथार्थेन दुष्टकरणजन्येन  
च प्रत्ययेन यद्यत्प्रकाशितं तत्सर्वं बाधितत्वेन स्वधर्म्यधिकरणकात्यन्ता-  
भावप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्ववदिति व्याप्तिर्गृह्यते । वस्तुवृत्ते एवं स्थिते  
विशेषतः प्रतिपन्नस्यायथार्थदर्शनविषयत्वस्य हेतुतां विहाय सामान्यतो  
दृश्यत्वस्य यद्वेतुत्वं कल्प्यते यच्च मिथ्यात्वप्रत्यायकस्य अत एव  
तद्व्याप्यत्वेनाध्यवसेयस्य बाध्यत्वस्य प्रमाणासिद्धभिन्नत्वस्य वा व्यापक-  
मिथ्यात्वरूपत्वं कृत्वा साध्यतया निर्देशः क्रियते, तदेतन् तत्रभवतां  
न्यायमार्गातिलङ्घनसाहसप्रियतामेव प्रथयति । शुक्तिरूप्येऽसमीचीनदृष्टि-  
विषयत्वस्यैव हि मिथ्यात्वेन साहचर्यं दृश्यते । तथा सति समीचीन-  
प्रत्ययविषयसत्यरूप्यसाधारण्येन दृश्यत्वमात्रस्य कथं व्याप्यत्वं भवेत् ।  
न हि धूमस्य वह्निसाहचर्येण सामान्यतो द्रव्यस्य तद्रथप्यत्वं भवेत् ।  
तदिह मानाधीना मेयसिद्धिरिति क्रमं परित्यज्य आभिमानिकं मेयं  
किञ्चित्कृत्वा तदनुरोधेन मानव्यवस्थां कुर्वन्तो विपरीतं क्रमान्तरमा-  
श्रयन्ति भवन्तः ।

अथेदं दृश्यत्वं यदि वृत्तिव्याप्यत्वं तत्र वृत्तिपदार्थः कः । किमस्मद-  
भिमतं धर्मभूतज्ञानं, उतान्यत् किञ्चित् । नाद्यः । जडान्तःकरणधर्मत्वा-  
भ्युपगमः । नान्त्यः । हेतोरसम्प्रतिपन्नत्वापत्तेः । न हि भवदभिमता  
वृत्तिरस्माकमिष्टा । अभ्युपगम्यापि तु ब्रूमः । वृत्तिव्याप्ये ब्रह्मणि हेतोः  
सत्त्वाद्ब्रह्मभिचारः, वेदान्तवेद्यं हि तत् । न च तस्य “यत्तदद्रेश्यम्” इति

श्रुत्या दृश्यत्वं न सम्भवतीति वाच्यम् । तस्याश्चक्षुरादीन्द्रियजन्यप्रत्य-  
याविषयत्वपरत्वात् । 'मनसैवानुद्गृह्यम्' 'तस्मिन् दृष्टे परावरे ।' इति  
श्रुत्यैव तस्य दृश्यत्वोक्तेः । ब्रह्मादिपदजन्यप्रतीतिविषयत्वस्यानुभवसिद्ध-  
त्वेन श्रुत्याऽदृश्यत्वस्य बोधयितुमशक्यत्वाच्च । अथेदं दृश्यत्वमुपहित-  
स्यैव, न शुद्धस्य । उपहितस्य च मिथ्यात्वमिष्टमेवेति चेत् एवं  
वदतः कोऽभिप्रायः । किमुपाधिवदुपधेयमपि मिथ्यैवेति ।  
तथा चेत् शून्यवादप्रसङ्गः । अथ तत् स्वरूपेण न मिथ्या  
अपि तूपहितत्वरूपेणेति चेत्, अनेन किमुक्तं भवति ? किमुपाधेरेव  
मिथ्यात्वं, नोपधेयस्येति उतान्यत् किमपि । नाद्यः । तद्वदेव वृत्ति-  
मिथ्यात्वमेव, न तु प्रपञ्चमिथ्यात्वम् । स तु ब्रह्मवदेव सत्य इत्यपि  
सुवचत्वात् । नान्त्यः । तदनिरूपणात् । यच्च शुद्धस्य न दृश्यत्व-  
मिति, तत्प्रत्यक्षविरुद्धं स्वव्यवहारविरुद्धं च । शुद्धपदेन भवत्येव  
ह्यनुपहितप्रत्ययः । स कथमपह्नूयेत । शक्यं हि "घटपदेन केवलो  
घटो न प्रतीयते । अपि तु वृत्त्युपहित एव । तथा च तथाविधस्यैव  
तस्य मिथ्यात्वम् । केवलस्य तु वृत्त्यविषयत्वात्सत्यत्वमेव" इत्यपि  
वक्तम् । अथोच्यते—शुद्धपदेनानुपहितं न प्रतीयते । तद्घटितस्य तु  
वाक्यस्य लक्षणयाऽन्योऽर्थो वाच्यः । यथा शुद्धं स्वप्रकाशमित्यस्य  
अशुद्धत्वं अस्वप्रकाशत्वव्यापकमित्यर्थः । तथा चाशुद्धत्वव्यावृत्त्या  
शुद्धे स्वप्रकाशता पर्यवस्यति—इति । प्रत्यक्षापलापस्तावदत्र स्थित  
एव । कुटिलार्थान्तरवर्णनमतिरिच्यते । सत्यमेवोक्तं नीलकण्ठदीक्षि-  
तेन—'येनाऽन्यथा कर्तुमिदं यतन्ते क्लेशेन तेषां हि स एव दण्डः'  
इति । अथ शुद्धे स्वप्रकाशता पर्यवस्यति इति भवदुक्तेः कोऽर्थः ?  
यद्यत्रानुपहितस्य न प्रतीतिस्तर्हि प्रलापमात्रमिदं स्यात् । अथ प्रतीति-  
र्भवति तर्हि अनेन स्वव्यवहारेणापि विरुद्धं भवतः शुद्धस्य वृत्ति-  
विषयत्वशून्यत्वाभिधानम् । व्याख्याता ब्रह्मानन्दोऽप्यत्र कुटिलतराय-

र्थान्तराणि कथयन् “अशुद्धत्वमुपहितत्वम् । न तु शुद्धमिन्नत्वम् । शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वापत्तेः ।” “न चोपहितत्वाभावविशिष्टे स्वप्रकाशत्वाभावो न ज्ञायत इत्याद्युक्तवाक्यजबुद्धौ शुद्धभानभावश्यकमिति वाच्यम् ।” इत्यादि स्थलेषु अनुपहिततात्पर्येणैव शुद्धपदमसकृत्प्रयुङ्क्ते । अतिमात्रं हि सङ्गतमिदं यदाचार्या उपहसन्ति—स्ववाग्विरोधमपि न जानन्ति भवन्त इति । यत्तूच्यते शुद्धं ब्रह्मेति वृत्तिः स्वोपहितमेव ब्रह्म विषयो करोति । तथा च वृत्तिदशायामनुपहितस्य विरहात् उपहितमेव विषयो भवति । तस्य च मिथ्यात्वमिष्टमेव । यद्वा विष्णवे शिपिविष्टाय, अग्नीषोमीयमित्यादौ प्रत्येकं देवतात्वाभाववत् प्रत्येकं विषयत्वं नास्ति । अतो न शुद्धस्य दृश्यत्वम् । नापि मिथ्यात्वमिति । तन्न । शिपिविष्टो नाम पृथग्देवता न प्रसिद्धा । प्रसिद्धा तु शिपिविष्टत्वगुणविशिष्टा विष्णुदेवता, अतस्तत्र पृथग्देवतात्वं नास्ति । तदुक्तं शास्त्रदीपिकायां षष्ठेऽभ्युदितेष्टयधिकरणे—‘दातृप्रदातृशिपिविष्टशब्दानां यौगिकानां श्रुत्यैवाग्न्यादिपदसामानाधिकरण्यात् पदद्वयप्रतिपादितं विशिष्टं देवताकारकम्’ इति । अग्नीषोमीयमित्यत्र द्वन्द्वात्परमुत्पन्नस्तद्धितः उभयपर्याप्तं देवतात्वं गमयति । अतः प्रत्येकं देवतात्वपर्याप्तिर्नास्ति । न चैवं विशिष्टप्रतीतिस्थले उभयं विषयत्वपर्याप्त्यधिकरणं, न प्रत्येकमिति सम्भवति । विशेष्यताप्रकारतारूपेण विषयताभेदान् । प्रत्येकं तत्तद्विषयतापर्याप्त्यधिकरणत्वात् । अतो विषयत्वाभाववचनं तावदसङ्गतम् । उपहितस्यैव विषयत्वम् । तस्य च मिथ्यात्वमिष्टमितीदं रिक्तं वच इति चोक्तम्, न ह्युपाधिमिथ्यात्वातिरिक्तं किमपि उपहितमिथ्यात्वमित्यनेनोक्तं भवति । शिखाध्वंसमात्रतात्पर्येण शिखी ध्वस्त इति यथा तथैव हीदं भवद्भिरिष्यते । न चेदं चोद्यस्य समाधानं भवति । शुद्धपदवाच्यस्थानुपहितस्य दृश्यत्वमस्ति । मिथ्यात्वं तु नास्ति । अतो हेतोर्व्यभिचार इति पदे



चोदयन्ति । तत्र उपहितं मिथ्यैव, अतो न व्यभिचारः' इति कथं समाधानं भवेत् । अनुपहितविषयो ह्याक्षेपः । उपहितविषयस्तु परिहार इति का गङ्गतिः । अनुपहितो न विषय इत्यत्र पर्यवसानात् सङ्गतिरिति चेन्न । पर्यवसानमिति । प्रतीतिरभिप्रेता न वा । आद्येऽनुपहितस्य तत्प्रतीतिविषयत्वान् "अनुपहितो न विषयः" इति माता मे वन्ध्ये-तिवत् व्याघातः । अन्त्ये समाधानासङ्गतितादवस्थम् ।

शाब्दवृत्त्या शुद्धस्योपधानमभ्युपेत्य एतावदुक्तम् । तदेव तु कथमिति वक्तव्यम् । वृत्तेः शुद्धचैतन्यं प्रति को व्यापारोऽस्ति, य उपधानमित्युच्येत । सत्त्वमेव व्यापारः । वृत्तिर्यदा वर्तते तदा शुद्धचैतन्यस्य विषयत्वं भवति । अन्यदा नास्ति । तदुपपन्नमुपधानमिति चेन्न सर्वविषयसाधारण्यात् । यदा घटविषया वृत्तिर्वर्तते तदैव घटस्य विषयत्वम्, नान्यदा, तद्वत् शुद्धचैतन्यस्यापि भवतु । तेन को विशेषः घटवदेव तस्यापि विषयत्वाद्गतेः । यदि त्वेवमपि उपहितमेव विषय इत्युच्यते घटोऽपि तथैव विषय इति स्यात्, नियामकाभावात् ।

ननु शुद्धस्य दृश्यत्वाभावेऽपि स्वतः सिद्धिर्भवति जडस्य घटादेस्तु दृश्यत्वाभावे अलीकत्वमापतेदिति चेन्न, स्वतः सिद्धेन विषयिणा विषयाणामपि सिद्धिसम्भवात् । सर्वविषयविरक्तत्वाच्छुद्धचैतन्यस्य न तेनेतरसिद्धिसम्भव इति चेत्, तर्हि तत् स्वयमपि सेद्धुं न क्षमत इति विभावयतु भवान्, यदि स्वाविषयकमपि चैतन्यं स्वसिद्धयै अलम्, तत् कथं पराविषयकमपि तत्सिद्धयै नालं भवेत् । तदेवं शुद्धस्य दृश्यत्वमपरिहार्यमिति तदपि मिथ्या स्यात् । अन्यथा हेतोर्व्यभिचारो दुष्परिहरः । ब्रह्मवदेव शुद्धः प्रपञ्चः सत्यः स्यादित्यर्थान्तरं च ।

यत्पुनरत्र बौद्धदूषणम्—एतेन स्फुरणमात्रमेव मिथ्यात्वे तन्त्रम् । लाघवात् । अतः स्फुरदपि ब्रह्म मिथ्यैवेति शून्यवादिमतम-

पास्तम् । स्वतःस्फुरणतायाः शुक्तिरूप्यादावभावात् । स्फुरणविषय-  
त्वस्य ब्रह्मण्यसिद्धेः” । इति, तत्रोच्यते । विषयस्य मिथ्यात्वप्रयोजकं  
स्फुरणं स्वमिथ्यात्वे न प्रयोजकान्तरमपेक्षते, आश्रयस्य चालुषन्व-  
प्रयोजकं रूपं स्वचालुषत्व इव । तथा च विषयत्वतादात्म्यान्यतर-  
सम्बन्धेन स्फुरणं मिथ्यात्वे तन्त्रमिति ब्रह्मकबलीकारेऽपि तत् क्षमत  
इति तत्तात्पर्यमिति । यदुच्यते साहसमात्रेण स्वतःसिद्धं ब्रह्मेति ।  
तत्र का सिद्धिर्नाम ? संशयाद्यगोचरत्वमात्रं तुच्छेऽपीति संशय-  
विपर्ययासहनिश्चयगोचरत्वमेव सेत्यकामेनाप्यभ्युपेयम् । तथा च दृश्य-  
त्वमवर्जनीयम् मिथ्यात्वं तु नास्तीति व्यभिचारो वज्रश्लेषायते ।  
सिद्धिश्चेयं कस्य ? किं केवलस्य ब्रह्मण एव, नास्माकम्, अथवाऽस्मा-  
कम् ? आद्ये अस्माकमसिद्धं तन् गगनकुसुमप्रायमेव स्यात् । अन्त्ये,  
योऽयमस्माकमहम्प्रत्ययः अहमिदं करोमि घटमहं जानामि, ममेदं  
सुखावहमित्यादिः स एव किं स्वतःसिद्धिरित्यभिमतः उतान्या काचित्  
सा ? आद्ये विशिष्टस्यैव स्वतःसिद्धिरुक्ता स्यात् । अन्त्ये का सेति  
निरूपणीयम् । तत्र केवलचिद्विषया वा तद्रूपा वा कथमपि सा न  
भवतीति वक्ष्यामः ।

यच्च शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वमेव दृश्यत्वम् । तच्च वेदान्तजन्य-  
वृत्तिविषयत्वेऽपि शुद्धस्य नास्तीति न व्यभिचार इति, तदप्युक्तम् ।  
यागादिजन्यतया शब्दैकसमधिगम्ये स्वर्गेऽव्याप्तेः । धूमेऽयोगोलका-  
वृत्तित्वस्येव वृत्तौ शब्दाजन्यत्वस्य दृष्टान्ते व्याप्यतावच्छेदकत्वाग्रहणाच्च ।  
एतेन सप्रकारकवृत्तिविषयत्वमेव दृश्यत्वमित्यपि प्रत्युक्तम् । सप्रकारक-  
त्वस्य व्याप्यनन्तभूतत्वात् । तेन निष्प्रकारकज्ञानविषयीभूते शुद्धे  
न व्यभिचारः इति स्ववचनेन निष्प्रकारकज्ञानविषयोभूतत्वप्रकारक-  
वृत्तिविषयत्वस्य शुद्धे स्वयमेव भवता प्रदर्शनाच्च । नह्यत्र अनृज्वपि  
अर्थान्तरं विवक्षितं, वक्तुं शक्यं वा ।

“यथा कथञ्चित् चित्सम्बन्धित्वरूपं चिद्विषयत्वं वा दृश्यत्वम् । स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षानियतिर्वा । स्वापरोक्षत्वे स्वातिरिक्तानपेक्षत्वरूपस्वप्रकाशताराहित्यं वा । अवेद्यत्वे सति यदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं तदभावो वा” इत्येतेऽपि दृश्यत्वविकल्पाः न हेतुभावायालम् । दृष्टान्तेऽगृहीतव्याप्तिक्त्वात् । अप्रयोजकत्वाच्च । दृग् दृश्यमिति पदार्थद्वेधा विभज्य दृश्यस्य सर्वस्य मिथ्यात्वं कृत्वा तत्साधनौपयिकतया हेतुविशेषनिर्देशव्यग्रैः स्वबुद्ध्योल्लिखिता हीमे धर्माः न तु प्रमाणपारतन्त्र्योचितया प्रक्रियया दृष्टान्ते व्याप्यत्वेन गृहीताः ।

ब्रह्मणः सिद्धिमद्वैती न प्रमाणेन वाञ्छति ।

अवेद्यत्वाभ्युपगमात् स्वतःसिद्धिस्तु दुर्लभा ॥५॥

अतोऽत्र दुष्परिहरं शून्यवादे निमज्जनम् ।

प्रमाणशरणानां तु दुर्निवारा विशिष्टधीः ॥६॥

### (१०) जडत्वम्

प्रपञ्चमिथ्यात्वे जडत्वमिति हेत्वन्तरं यदभिमतं तदपि पूर्ववदेव दुष्टम् । व्याप्त्यग्रहणात् अप्रयोजकत्वाच्च । जडत्वमस्तु, मिथ्यात्वं मा भूदिति हि सुवचमेव ।

जडत्वं चाज्ञानत्वं वा अनानन्दत्वं वेति यदुक्तं तन्न युक्तम् । तथा हि । वस्तुतो ब्रह्मणि ज्ञानत्वादयो विशेषाः सन्ति न वा ? आद्ये अद्वैतहानिः । अन्त्ये तस्याप्यज्ञानत्वान्मिथ्यात्वम्, हेतोर्व्यभिचारो वा । अद्वैतरक्षणाय निर्विशेषमिति व्यभिचारवारणाय विशेषाः सन्तीति चोभयथा भाषणं प्रामाणिकानां न शोभनम् । “अर्थोपलक्षितप्रकाशस्यैव ज्ञानत्वेन मोक्षदशायामपि तदनपायात्” इति रिक्तं वचः । अर्थोपलक्षितत्वमिति कस्यचिद्विशेषस्य प्रकाशेऽनभ्युपगमात् । अभ्युपगमे नि-

विशेषत्वभङ्गान्, अर्थोपलक्षितेति च किमुच्यते ? यद्यर्थो नास्ति, तथाऽपि तत्प्रकाशोऽस्तीति, तदसम्भवि । न ह्याश्रयो नास्ति, तथाऽप्यग्निरस्तीति सम्भवति । अन्यथा आश्रयोपलक्षितोऽग्निरस्तीति स्यात् । न चेष्टापत्तिः । अनुपलब्धिविरोधान् । ननु ब्रह्मरूपः प्रकाशो नित्य एकः । स एव तैस्तैरर्थैः सम्बन्ध्यमानः सन् ज्ञानमित्यभिधीयते । स चार्थानां सर्वेषां निवृत्तावप्यनुवर्तत एवेति किमनुपपन्नमिति चेन्न । अर्थसम्बन्धनिवृत्तौ तन्निवन्धनस्य ज्ञानत्वस्यापि निवृत्तेः । अर्थप्रकाशो हि ज्ञानं नाम । तन् कथमर्थाभावे स्यात् । प्रकाशत्वमेव च तदा निवर्तेत । स्वस्य वा परस्य वा कस्यचिन् स्फुरणं हि प्रकाश इत्युच्यते । तदुभयविषयत्वाभावे कथं केवलं स्फुरणं नाम किञ्चिद् भवेत् । यन् प्रकाश इत्यभिधीयेत ? तथा च प्रयोगः—ब्रह्मतयाऽभिमतं न प्रकाशः, निर्विषयत्वान्, घटवदिति । अथ स्वप्रकाशं तन् स्वविषयकमेव स्फुरणं भवतीति चेन् युक्तमेवैतत् । किन्तु स्वयं स्फुरन् तन् 'अहं' इत्येव स्फुरेत् । तथा चाहमर्थ एवात्मा, न चैतन्यमात्रम् । इदं ज्ञानपदाभिधेयं तस्य धर्म इति पर्यवस्येत् । इदं च प्रामाणिकमपि भवतामनिष्टम् । इत्थं च ब्रह्मणो ज्ञानत्वेऽद्वैतभङ्गः । तदभावे तस्यापि जडत्वं तेन च मिथ्यात्वमित्युभयतस्पाशा रज्जुः । यदत्र 'इदमहं जानामि' इत्यनुभवस्य, 'ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वात्' इति विवरणग्रन्थस्य चान्यथोपपादनं क्रियते--"कदाचिन् ज्ञातृज्ञेयसम्बन्धेनैव अनुभवस्य विवरणग्रन्थस्य चोपपत्तेः" इतितदसमीचीनम् । ज्ञातृज्ञेयसम्बन्धरहितस्य ज्ञानस्य केनापि प्रमाणेनासिद्ध्या तस्य कदाचित्कत्वोक्त्यसाङ्गत्यात् । विवरणवाक्यस्य लक्षणपरत्वेन ज्ञानत्वावच्छेदेन तत्सम्बन्धघटवप्रतिपादनतत्परत्वाच्च । ज्ञानस्य ज्ञातृसम्बन्धो नाम ज्ञातृन्याप्यत्वम् । न चाप्रयोजकत्वम् । ज्ञात्रभावेऽपि ज्ञानोदयापत्तिरूपस्य तर्कस्य विद्यमानत्वात् । ज्ञातृसमवेतत्वं वा । यत्तु ज्ञात्रसमवेतस्यापि ज्ञानस्या-

स्ति सम्भव इति तद् धार्ष्ट्यमात्रेणोक्तम् । दर्शननियमविरोधेनापि यदि कस्यचिदर्थस्य सम्भव उच्यते, तर्हि वह्निं विनापि अस्ति धूमस्य सम्भवः, शशोऽपि कदाचिदस्ति शृङ्गस्य सम्भव इति कथं नोच्येत । मा भून् ज्ञानं गुणो वा क्रिया वा अथापि पारतन्त्र्यनियमान् रत्नप्रभया रत्नस्येव । आलोकेन ज्योतिष इव चाश्रयस्यानुमानं निरावाधमेव । ज्ञेयसम्बन्धश्च ज्ञेयव्याप्यत्वम् । तच्च यद्यत् ज्ञानं तत्तन् क्रिञ्चिदर्थवागाहि इत्येवंरूपम् । न तु तत्र देशस्य कालस्य वा घटनाऽस्ति । तदत्र न कस्यचिन् दूषणस्यावकाशः । जानातोति निरावाधव्यवहारबलाच्चाश्रयापेक्षा ज्ञानस्य सिद्धा । न चास्याः कादाचित्कत्वं सुवचम् । मानाभावान् । अस्ति ब्रह्मेति सत्ताया अपि कल्पेक्षा नियतैव । नित्यत्वेऽपि तत्सम्भवात् । न ह्युत्पादकत्वमत्र कर्तृत्वमिष्यते, येन सत्ताया नित्यत्वात् तत्कर्तृत्वासम्भवाद् उच्येत । अपि त्वाश्रयत्वम् । यत्तु नित्यत्वेन तदसम्भवात् साधुत्वार्थ एव तत्र कर्तरि लकार इति । तदयुक्तम् । ब्रह्म नास्तीत्यस्य साधुत्वापत्तेः । सत्तानिरूपितकर्तृत्वाभाववत् ब्रह्मेति ह्यत्र बोधः । स चावाधित एवेति । अथोच्येत—नन्वभावे यस्य बोधः तदभाव एव नन्वा बोध्यते । अस्ति ब्रह्मेत्यत्र च कर्तृत्वस्य नास्ति बोध इत्युक्तम् । अतस्तदभावबोधो नञ्घटितस्थले न भवितुमर्हतीति । तर्हि नन्वभावस्थले कथं बोध इति विमर्शनीयम् । यदि सत्त्वाश्रयत्ववद् ब्रह्मेति, तर्हि सत्ताया अस्त्येवाश्रयापेक्षा । अथ सत्तैव ब्रह्मणि प्रकारतयाऽन्वेति, न लकारोक्तमाश्रयत्वमपेक्षत इति मतम् तदनुपपन्नम् । नामार्थस्यापि साक्षान् क्रियान्वयाभ्युपगमेन विभक्तीनामपि साधुत्वार्थत्वप्रसङ्गान् । घटोऽस्तीत्यादावपि चेतनधर्मस्य कर्तृत्वस्य दुर्घटत्वेन साधुत्वार्थ एव लकार इति प्रसङ्गाच्च । किञ्च केन सम्बन्धेन ब्रह्मणि सत्ताया अन्वयः ? यद्याश्रयत्वेन, आश्रयाकाङ्क्षाभ्युपगमप्रसङ्गः । यद्यभेदेन व्युत्पत्तिविरोधः । न हि धात्वर्थस्य कर्तृवाचिनामार्थेऽभेदेना-

नवयः कचिद्न्युत्पन्नः । बाधश्च, न हि सत्तैव ब्रह्म । अत्र तु सदित्यलं  
विस्तरेण ।

### (११) परिच्छिन्नत्वम् ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति ब्रह्मलक्षणमाह श्रुतिः । अत्र ब्रह्मणः सत्य-  
त्वाभिधानान् तदितरस्य कृत्स्नस्यासत्यत्वरूपं मिथ्यात्वं वक्तव्य-  
मित्यातिष्ठमानास्तस्य साध्यधर्मत्वं कुर्वन्ति । अथ यद् ज्ञानमिति तत्र  
तत्प्रतिसम्बन्धि द्वयं भवति-ज्ञेयं ज्ञानभिन्नं च । तत्र ज्ञेयत्वं दृश्यत्वम्  
ज्ञानभिन्नत्वं जडत्वम् । इदमुभयं हेतूकुर्वन्तीत्यपश्याम । अथ यद्-  
नन्तमिति तस्यापरिच्छिन्नमित्यर्थः । अनेन ब्रह्मभिन्नस्य सर्वस्य  
परिच्छिन्नत्वं लभ्यते । इदमपि हेतूकुर्वन्नाह—परिच्छिन्नत्वमपि  
हेतुरिति । अस्य पूर्वाभ्यां हेतुभ्यां मात्रयाऽपि न विशेषः । न हि  
शुक्तिरुच्चगतपरिच्छिन्नत्वस्य मिथ्यात्वस्य च महानसीयपरिच्छिन्न-  
त्ववह्नयोरिव मिथः सम्बन्धं यः कश्चिददाकदाचिद् गृह्णाति । तस्माद्य-  
मप्यहेतुः ।

यदत्र सर्वसमर्थनसामर्थ्याभिमानातिरेकेणोक्तम् “अत एव घटादयः  
स्वानुगतप्रतिभासे वस्तुनि कल्पिताः विभक्तवान् । तथा सर्पमालादिकं  
स्वानुगतप्रतिभासे रज्ज्वादौ इदमंशे विभज्यते, एवं ब्रह्मण्यनुगच्छति  
घटादिकं विभज्यते सन् घटः सन् पट इति, इत्यानन्दबोधोक्तमपि  
साधु ।” इति, तन् श्रद्दालुमालसह्यम् । नीलो घटः, जातो घटः, शुक्लः  
पटः, नष्टः पटः, इत्यादिवन् सन् घटः सन् पट इति प्रतीतिः कामं  
भवति । तत्र नैल्यादीनामिव सत्वस्यापि घटादिधर्मत्वे स्थिते तस्य  
ब्रह्मत्वं धर्मित्वं च प्रतिज्ञायमानं कथं तत्त्वविद्धिः सद्येत । न च  
गौर्गच्छति, अश्वो गच्छति, महिषो गच्छति, मनुष्यो गच्छतीत्यनुवृत्त-  
प्रतिभासायां गमनक्रियायां कल्पिता गवादयः । न च रज्जुसर्पमालादीनां

मिथो विभक्तत्वात् कल्पितत्वम् । अपि तु बाधितत्वात् । एतेन “अत एव घटादिकं सद्रूपे कल्पितम्, प्रत्येकं तदनुसिद्धत्वेन प्रतीयमानत्वात् । प्रत्येकं चन्द्रानुविद्धजलतरङ्गवत्, इति ब्रह्मसिद्धिकारोक्तमपि साधु ।” इत्येतदपि निरस्तम् । यदा सत्त्वं प्रतीयते तदा ‘सन्तमेनं ततो विदुः’ ‘भूतानामीश्वरोऽपि सन्’ इत्यादाविव विद्यमानत्वाद्यात्मकधर्मरूपमेव हि तन् प्रतीयते । न त्वधिष्ठानतया ब्रह्मरूपतया च पूर्वं ‘यत्तद्वेश्य’ मित्यादिनाऽऽश्रयत्वमुपपाद्य पुनरत्र ब्रह्मणः सर्वेन्द्रियगोचरत्वोपपादनं काममल्लभतः शोभते । यदि शुद्धभिदं सद्रूपं ब्रह्म तर्हि तस्यातीन्द्रियत्वेनाधिष्ठानत्वं न घटते । अथाशुद्धं तथाऽपि तस्यापि कल्पितत्वात् घटादिकल्पनाधिष्ठानत्वानुपपत्तिस्तदवस्थैव । भूतले सन् घटः कुड्ये असन् इति पामरसाधारणसर्वत्रप्रहारविषयभूतं सत्त्वं हि न ब्राह्मात्मकं कथमपि भवितुमर्हति ।

### (१२) अंशित्वम् ।

अथ पश्यतोहरत्वकाष्ठागतैरुक्तमनुमानान्तरं रक्षितुमना इदमाह—  
 “चित्सुखाचार्यस्तु अयं पट एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी । अंशित्वान् । इतरांशिवत्, इत्युक्तम् । तत्र तन्तुपदमुपादानपरम् । एतेनोपादाननिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वलक्षणमिध्यात्त्वसिद्धिः” इति । अत्र सिद्धयप्रयोजकत्वे पूर्ववत् स्थिते एव । बाधश्च । पक्षाप्रसिद्धिश्च । अयमिति हि एतद्देशकालसम्बन्धीत्यर्थः । पटश्च तस्मिन् काले तस्मिन् देशे नास्तीति साध्यते । अत इदमिष्टं भवतः । कालान्तरदेशान्तरावृत्तित्वं सर्वसम्मतम् । अतोऽप्रसिद्ध एव पक्षः । अयं पट एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी न । एतत्तन्वारब्धत्वात् । व्यतिरेकेण पटान्तरवत्, इति प्रतिसाधनं च । अत्राह । “सोपाधिकत्वादिदं प्रतिसाधनं हीनबलम् । यत्रै तत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तत्रै-

तत्तन्त्वारब्धत्वाभावः' इति हि व्यतिरेकव्याप्तिः । तत्र एतत्तन्तुनिष्ठ-  
 प्रागभावाप्रतियोगित्वमुपाधिः । एतत्तन्त्वारब्धत्वाभावव्यापकस्य  
 एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्वस्य पक्षावृत्तेः पक्षवृत्तितया सन्दिह्य-  
 मानैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाव्यापकत्वात्" इति । इदम-  
 युक्तम् । एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्वस्य भवत्साधनेऽप्युपाधि-  
 त्वात् । भवति ह्येतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपसाध्यव्यापकस्य  
 तस्य पक्षावृत्तेः पक्षान्तर्भावेनांशित्वरूपसाधनाव्यापकत्वम् । एवं  
 एतत्तन्त्वनारब्धत्वमप्युपाधिः पूर्ववत्साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्या-  
 पकत्वात् । यत्तु नायमुपाधिः । एतद्व्यतिरेकेण साध्यव्यतिरेके साध्यमाने  
 सोपाधिकत्वस्योक्तत्वात् । अयं पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी,  
 एतत्तन्त्वारब्धत्वात्, इत्युपाधिव्यतिरेकेण साध्यव्यतिरेकः साध्यः । तत्र  
 च यन्नैवं तन्नैवं, यथा अंश्यन्तरमिति व्यतिरेकव्याप्तिर्वाच्या । यस्यां  
 चैतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्वमुपाधिरुक्त इति, तन्न । अस्याप्युपाधेः  
 सोपाधिकत्वस्य सुवचत्वात् । अयं पट एतत्तन्त्वारब्धः, एतत्तन्तुनिष्ठ-  
 प्रागभावप्रतियोगित्वादित्युपाधिविरहेण साध्यविरहे साध्यमाने यत्र  
 एतत्तन्त्वारब्धत्वाभावस्तत्र एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावप्रतियोगित्वाभाव  
 इति व्यतिरेकव्याप्तौ एतत्तन्तुनिष्ठरूपसामानाधिकरण्यविरहस्योपाधि-  
 त्वात् । अस्ति हि तस्य एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावप्रतियोगित्वाभावव्यापकत्वं  
 पक्षावृत्तित्वं, पक्षवृत्तितया सन्दिह्यमानैतत्तन्त्वारब्धत्वाभावव्यापकत्वं  
 च । नाल्ल सन्दिह्यमानत्वमिति चेत् तुल्यमत्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽपि ।  
 विप्रतिपत्त्या संशय इति चेत् इदमपि तुल्यमेव । यदपि 'अव्याप्यवृत्ति-  
 संयोगाभ्युपगमे तत्र व्यभिचारान् अत एव यत्र एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ता-  
 भावप्रतियोगित्वं तत्र एतत्तन्त्वनारब्धत्वमिति साध्यव्यापकताग्रह-  
 णस्याप्यसम्भवाच्च नास्योपाधित्वमिति, तदपि न । भवताऽप्यायवृत्ति-  
 संयोगानभ्युपगमात् । अभ्युपगमपक्षे एतत्तन्तुत्वाच्छिन्नवृत्ति-



त्वमत्यन्ताभावविशेषणं देयमिति स्वयमेवोक्तत्वाच्च । वस्तुतस्त्वत्तो-  
पाध्युद्भावनं केवलं तार्किकविडम्बनामात्रम् । को हि नाम पृथिवी  
गन्धवत्त्वादित्यत्र, यत्र पृथिवीत्वाभावस्तत्र गन्धाभाव ३ व्यतिरे-  
कव्याप्तौ वायुत्वासमानाधिकरणानुष्णाशीतस्पर्शशून्य पाधिः ।  
गन्धाभावव्यापकस्य तस्य पक्षावृत्तेः पक्षवृत्तितया सन्दिग्धम् .पृथिवी-  
त्वाभावव्यापकत्वात्, इति ब्रूयात् । एवं हि सति वह्निमान् धूमादित्य-  
त्रापि ह्रदावृत्तिद्रव्यवत्त्वमुपाधिरिति कुतो न स्यात् । पक्षेतरत्वतुल्य-  
मेवेदं सर्वमिति विभाव्यम्

यत्तु लघुचन्द्रिकायां दीधितिकारोक्तलक्षणानुसारेण पृथिवीतरेभ्यो  
भिद्यते, पृथिवीत्वादित्यादौ व्यतिरेकव्याप्तौ पाकजरूपाभावादेरुपा-  
धित्वं सन्दिग्धमित्युक्तं, तदयुक्तम् । साध्यव्यापकत्वे सति साधना-  
व्यापकत्वमुपाधित्वमिति प्राचीनलक्षणमाश्रित्यैव मूलकारेणो-  
पाध्युद्भावनत् । लक्षणान्तरानुरोधे तदुद्भावितोपाधेरप्यसङ्गत्यापत्तेः ।  
यत्पुनरस्य दोषस्य परिहाराय “उक्तोपाधौ तूक्तलक्षणमस्त्येव । उक्त-  
प्रतियोगित्वंरूपसाधनवत्त्वेनोभयवादिनिश्चिते एतत्तन्त्ववच्छिन्नचिदु-  
पादानकसर्पादौ तत्पटोपादानोपादानकत्वरूपसाध्यासमानाधिकरण-  
धर्मनिश्चयात् ।” इत्युक्तं तदुपहास्यम् । तन्तुसर्पादौ तन्तुनिष्ठप्रागभाव-  
प्रतियोगित्वस्योभयवादिसिद्धित्वाभावात् । भ्रमस्थलेऽनिर्वचनीयो-  
त्पत्तिवादिभिरेव हि तदभ्युपगम्यते । नेतरैरिति ।

विपुलः कुटिलः विलष्टो ब्रह्मानन्दोक्तिविस्तरोऽसारः ।

तस्मात्तस्य विमर्शो नातीव कुतूहलं भवति ॥

अथ यदनुमानान्तरं दर्शयतोक्तम्—“एवं च विमतं ज्ञानव्यतिरे-  
केणासत् ज्ञानव्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्वात् । स्वाप्नादिवत्, इति  
विद्यासागरोक्तमपि साधु । ज्ञानव्यतिरेकेणासत्त्वमुक्तमिथ्यात्वान्यतमं

साध्यम् । ज्ञानव्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्वं चिदाभासे सत्येवोपलभ्यमानत्वं हेतुरिति न किञ्चिदनुपपन्नम् ।” इति, तत्र “वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिव” इति सूत्रकारेण कण्ठोक्त्या निरस्तमर्षादं विद्यासागरेणादृतमनुमानं सौगतसौहार्ददाढ्यं व्यञ्जयतीति व्यलीकव्याविद्धमनसा स्वोक्तमेव साध्यादिकमिहाभिप्रेतमिति दर्शितमिति स्फुटमेतन् । अत्र चिदाभासे सत्येवोपलम्भमानत्वं कथं मिथ्यात्वे हेतुरित्युपपादनीयम् । न ह्यालोके रूपे वा सत्येवोपलभ्यमानत्वं घटादेर्मिथ्यात्वं साधयति । न च तदपेक्षयाऽत्र कश्चन विशेषोऽस्ति । तस्मिन् सत्येव तदितरस्योपलभ्यमानत्वं तस्य तदितरोपलम्भे हेतुत्वं गमयतीति हि प्रामाणिकसरणिः । तदितरस्य मिथ्यात्वमिति कुत एतन् । निद्रोपहतमनोजन्यप्रत्ययविषयत्वात्तु स्वाप्नार्थमिथ्यात्वमित्यलं विस्तरेण ।

### (१३) सोपाधिकत्वम् ।

दृश्यत्वादिहेतूनां सोपाधिकत्वं परिहरता यदुक्तम्—‘दोषप्रयुक्तभानत्वं तु भवति साध्यव्यापकम् । तच्च साधनव्यापकमपीति नोपाधिः । दृश्यत्वादिनैव मिथ्यात्वंवत् तस्यापि साधना’ इति तदुक्तम् । दृश्यत्वादीनामगृहीतव्याप्तिकत्वस्यासकृदुक्तत्वान् । यो बाधितः स एव हि प्रत्ययः स्वविषयस्य मिथ्यात्वं कारणस्य दुष्टत्वं च विना बाधानुपपत्तेस्तदुभयं गमयन् तेन सह स्वविषयत्वस्य व्याप्तिं प्राहयति । तत्र अतिप्रसक्तस्य सामान्यस्य दृश्यत्वस्य तद्व्याप्यत्वं कथमुच्यते । यदा तु हठादेव व्याप्यत्वं सिद्धमिव कृत्वा तत् हेतूक्रियते तदा व्याप्यत्वासिद्धिप्रदर्शनाय दोषप्रयुक्तभानत्वरूपोपाध्युद्भावनं युज्यत एव । यथा मिथ्यात्वस्य तथा तस्यापि पक्षे सन्दिग्धत्वान्निराबाधमेव साधनाव्यापकत्वम् । यदि त्वेवमपि दृश्यत्वादिनैव पक्षे दोषप्रयुक्तभानत्वमनुमीयत इत्युच्यते तर्हि धूमवान् वह्नेरित्यत्र वह्निनाऽऽर्द्धेन्धनानुमानं

कुतो न भवेत् ? अयोगोलकादौ आर्द्रैन्धनाभावस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन तदनुमानं न सम्भवतीति चेन्न । भवत्सम्मतरतीत्या सत्त्वस्येवाभावस्यापि दुर्निरूपत्वात्तदवगाहि प्रत्यक्षमसम्भवीत्येवं तर्कसन्ततेः सुभिन्नत्वात् ।

“दृश्यत्वादिनैव मिथ्यात्ववत् तस्यापि साधनात् तत् साधनव्यापकमपि” इति वचनमुपहास्यम् । व्याहृतेः । यदि उपाधित्वेनोद्भावितं दोषप्रयुक्तभानत्वं पक्षे साध्यावस्थं तर्हि तस्य पक्षे सन्दिग्धत्वात् साधनव्यापकत्वाभिधानं न युज्यते । अथ पक्षे सिद्धं तत् तर्हि दृश्यत्वादिनैव मिथ्यात्ववत् तस्य साधनमिति वचनं न युज्यते । ननु प्रथमं दृश्यत्वादिना दोषप्रयुक्तभानत्वं साध्यते । ततः परं मिथ्यात्वमिति सिद्धं तस्य साधनव्यापकत्वमिति चेन्न । तत्र मिथ्यात्वस्योपाधित्वात् । पक्षे तस्यासिद्धतया साधनाव्यापकत्वात् । साध्यव्यापकत्वाच्च । अथोभयमपि युगपत्साध्यते तर्हि परस्परंशो परस्परस्योपाधित्वमक्षतमेव ।

### (१४) आभाससाम्यम्

जगन्मिथ्यात्वानुमानं सर्वमाभासरूपमेव, न त्वाभाससमम् । अथापि नैवमिति निरूपयन् प्रत्यनुमानेषु दोषानाह । तत्र “विमतं प्रातिभासिकं दृश्यत्वान्” इत्यत्र यदुच्यते, जगतो व्यावहारिकसत्त्वबाधे व्यवहारानुपपत्तिरिति, तत्र जगतस्त्रैकालिकनिषेधविषयत्वे अनित्यत्वव्यवहारानुपपत्तिरिति समानम् । न हि शुक्तिरूप्यमनित्यमिति केचिद्व्यवहरन्ति । व्यवहरन्ति च जगदनित्यमिति । “अनित्यमसुखं लोकम्” इति भगवता च गीयते । किञ्च मिथ्यात्वेऽपि व्यवहारानुपपत्तिस्तुल्या । शुक्तिरूप्येण व्यवहाराभावात् । मिथ्यात्वे प्रातिभासिकत्वस्यावर्जनीयत्वात् । मिथ्याभूतं हि वस्तु कालत्रयेऽपि न वर्तते, तस्य प्रतिभासमात्रशरीरत्वं विना किमन्यद्रूपम्, येन प्रातिभासिकत्वं न

भवेत् । ननु मिथ्यात्वे समानेऽपि वस्तुरजतस्य व्यवहारौपयिकं रूप-  
मस्ति । तेन तस्य शुक्तिरजतवन् न प्रतिभासमात्रशरीरत्वमिति चेन्न ।  
शुक्तिरजतस्यापि अविद्यापरिणामतया उत्पत्यभ्युपगमेन रूपविशेष-  
वत्त्वान्, प्रतिभासमात्ररूपत्वाभावात् । ननु तद्रूपं प्रतिभासमात्रो-  
पयोगि । न तु वस्तुरजतवत् व्यवहारोपयोगि । अतो वैलक्षण्यमिति  
चेन्न । वस्तुरजतस्यापि अविद्यापरिणामतया शुक्तिरजतवदेव व्यव-  
हारोपयोगित्वस्य दुर्घटत्वात् । ननु दृश्यत एतत् । किं वयं कुर्म इति  
चेन्, किं दृश्यते ? वस्तुरजतस्य व्यवहारोपयोगित्वं अन्यस्य  
तदनुपयोगित्वं चेति चेन् साधु । दुरपह्नवोऽयं विशेषः किन्निबन्धन  
इति विमर्शो एकं वस्तुसत् । अतो व्यवहारक्षमं भवति । अन्यत्तु  
असन् । अतो न तथेति वक्तव्यम् । तत्र असतो मिथ्यात्वं युक्तम् ।  
तद्दृष्टान्तेन सतो मिथ्यात्वं कथं भवेत् । कथं तत्साधनोद्यमः क्रियते ?  
एतत्प्रतिबोधनाय 'विमतं प्रातिभासिकं, दृश्यत्वात्' इति न्यायविद्धिः  
प्रातिभासिकत्वसाध्यकः अनुमानाभासो दर्शितः । प्रातिभासिकत्वं  
साध्यं निर्दिशतां व्यवहारानुपपत्तिप्रसञ्जन एव तात्पर्यम् । यदि  
शुक्तिरजतवन् स्वयं रजतस्यापि मिथ्यात्वं भवेत् तर्हि तद्वदेव  
प्रातिभासिकत्वं च भवेत् ततो व्यवहाराद्यनुपपत्तिश्च । तदत्र व्यवहारा-  
नुपपत्त्युद्भावनं अनुपदं दर्शयिष्यमाणरीत्या ब्रह्ममिथ्यात्वानुमाने  
शून्यवादापत्त्युद्भावनवन् असमञ्जसमिति ज्ञेयम् ।

ननु ब्रह्मेतरज्ञानबाध्यं शुक्तिरजतं प्रातिभासिकम् । तद्बाध्यं  
वस्तुरजतं व्यावहारिकमिति विशेष इति चेन्न । ज्ञानबाध्यत्वस्यैव  
प्रातिभासिकत्वव्यवहाराक्षमत्वयोः प्रयोजकत्वात् । ब्रह्मेतरज्ञान-  
बाध्यत्वस्य तत्राकिञ्चित्करत्वात् । अन्यथा शुक्तीतरज्ञानाबाध्यत्वेन  
शुक्तिरजतस्यापि व्यावहारिकत्वप्रसङ्गात्, तस्मादप्रामाणिकाद्वैतस्था-

पनाशया उपन्यस्यमानं विश्वमिथ्यात्वानुमानं आभाससमं तद्रूपं  
चेत्येतद् दुरपलपम् ।

यच्च 'प्रातिभासिकत्वं ब्रह्मेतरज्ञानवाध्यत्वं प्रतिभासमात्रशरीरत्वं  
वा । आद्ये साध्वे देहात्मैक्ये व्यभिचारः । अप्रयोजकत्वं च । द्वितीये  
दृष्टिसृष्टिमतेन सिद्धसाधनम्' इति, तत्र ब्रूमः । देहात्मैक्ये नास्ति  
व्यभिचारः, "अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः" 'समानं वृत्तं  
परिष्वजाते' 'वायुरनिलममृतम् ।' 'अथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।' 'न  
जायते म्रियते वा विपश्चिन्' 'न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे  
जनाधिपाः ।' 'अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः' इत्यादि-  
भिस्तस्य बाधितत्वात् । अत एव साक्षिबाधोद्धारप्रकरणे "ननु तर्हि  
देहात्मैक्यज्ञानं उष्णं जलमित्यादि ज्ञानं च प्रमा स्यात् । व्यवहार-  
दशायां विषयावाधात् इति चेन्न । आब्रह्मज्ञानमबाधितत्वेन तेषामपि  
घटादिज्ञानसमानयोगक्षेमत्वात्" इति शङ्कासमाधानमुखेन देहात्मैक्य-  
ज्ञानस्य प्रमात्वप्रतिपादनमत्यन्तमसमञ्जसम् । मम देह इति स्वानुभवेन,  
ज्ञातृत्वजडत्वादिदृष्टवैलक्षण्यहेतुकानुमानेन, आगमवचनशतेन च  
बाधस्य स्फुटत्वात् व्यवहारदशायां विषयाबाधोक्तेरयुक्तत्वात् । साधितं  
च "एक आत्मन शरीरे भावात्" इत्यत्र सूत्रभाष्ये देहान्तिरिक्तत्व-  
मात्मनः । पूर्वकारण्डे एव चायं व्यतिरेकः सिद्धः । अन्यथा देहान्तरानु-  
भाव्यफलेषु अधिकारानुपपत्तेः । जलौष्ण्यबाधश्च "उष्णत्वमग्न्यातप-  
सम्प्रयोगात् शैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य" इति व्यवहारदशायां  
सुप्रसिद्धः । बाधितत्वे कथमनुवृत्तिरिति चेत् कामलादिदोषानुवृत्तौ  
शङ्कपीतिमभ्रमानुवृत्तिवत् देहसम्बन्धस्य दोषस्यानुवर्तमानत्वात् अवि-  
वेकिनां भ्रमानुवृत्तिः । विवेकिनां तु सा नैवास्तीति ज्ञेयम् । अतो  
व्यभिचारः सर्वथा दुर्वचः । अप्रयोजकत्वं मिथ्यात्वेऽपि तुल्यम् ।  
सिद्धसाधनबाधश्च न युक्तः । जलाहरणादिव्यवहारानुपपत्तिप्रसङ्गात् ।

न हि प्रातिभासिकेन व्यवहारो घटते । व्यवहारोऽपि प्रातिभासिक इति चेन् तर्हि भवदीयाद्वैतस्थापनयत्नस्यापि प्रातिभासिकत्वात् तद्विपयभूतमद्वैतमपि प्रातिभासिकमिति सिद्धमेतन् । दृष्टिसृष्टिवादश्च निराकरिष्यते ।

अथ 'ब्रह्म मिथ्या व्यवहारविषयत्वान्' इत्यनुमानं प्रत्याह-ब्रह्मणो मिथ्यात्वे शून्यवादापत्तिरिति । अत्रोच्यते । "अनुमानाभासेन प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधनोद्यमो न शोभते । अन्यथाऽन्येनानुमानाभासेन शून्यवादस्य पि समर्थयितुं शक्यत्वान्", इति ह्यत्र प्रतिवादिनस्तात्पर्यम् । एवं सति शून्यवादापत्तिरिति कथं तं प्रत्येवोच्यते । प्रपञ्चमिथ्यात्वे योगाचारमतप्रवेशापत्तिरिति भवन्तं प्रति यदि केनचिदुच्येत तादृगिदं भवति ।

एतदुक्तं भवति । सन् असन् व्यावहारिकं प्रातिभासिकमित्येषां मिथो वैलक्षण्यं तावदिष्यते । तत्र सदसद्व्यतिरिक्तद्वयवृत्ति दृश्यत्वादि भवता व्यावहारिकवस्तुमिथ्यात्वे हेतूक्रियते । एवमेव असद्भिन्न-त्रितयवृत्ति व्यवहारविषयत्वं असद्विलक्षणत्वं च हेतूकृत्य ब्रह्मणोऽपि मिथ्यात्वानुमानं कुतो न भवितुमर्हति । द्वितयवर्तिनो वैलक्षण्यस्य यदि मिथ्यात्वप्रयोजकत्वं भवति, तन् त्रितयवर्तिनः कुतो न भवेत् । एवं सति शून्यवादप्रसङ्ग इति चेन् हेतुबलादापतन् शून्यवादोऽपि प्रामाणिकत्वाद्भीकार्य एव । न हि घटपटादिवस्तुसत्ताङ्गीकारे गौरव-मिति प्रत्यक्षं तन्न प्रमापयतीति वक्तुं शक्यम् । तस्मात् शून्यवाद-प्रसङ्गरूपः प्रतिकूलतर्कोऽत्र न प्रत्यनुमानदूषणम् शून्यवादप्रसङ्गरूपा-निष्ठप्रसञ्जनतात्पर्येणैव तत्प्रयोगान् । किन्तु अप्रयोजकत्वमेव । व्यव-हारविषयत्वमसद्विलक्षणत्वं चास्तु, मिथ्यात्वं मा भूदित्युक्ते हि न किञ्चित् सदुत्तरं वक्तुं शक्यम् । अप्रयोजकत्वस्य पारमार्थिकत्वात् । तथैवोभयविलक्षणत्वस्याप्यप्रयोजकत्वं पारमार्थिकम् । प्रपञ्चस्य ब्रह्म-

तुच्छोभयवैलक्षण्यमस्तु, मिथ्यात्वं मा भूदित्युक्ते प्रतिवचनस्याशक्यत्वात् । एवं वस्तुतत्त्वे स्थिते प्रत्यनुमानस्य यथाऽऽभासत्वं तथैव भवदनुमानस्यापि । तत्र यथा भवन्तं प्रति योगाचारमतप्रवेशापत्तिरिति प्रतिकूलतर्काद्भावनमनुचितम् । इष्टत्वात् । तथैव शून्यवादापत्तिरिति प्रतिवादिनं प्रत्युद्भावनमप्यनुचितम् । तत्प्रसङ्गनाभिप्रायेणैव तेन प्रत्यनुमानप्रयोगादिति ।

यच्च “ब्रह्मणि मिथ्यात्वे साध्ये सोपाधिके सिद्धसाधनम् । निरुपाधिके व्यवहारविषयत्वरूपो हेतुरसिद्धः । वेदान्तजन्यवृत्तिविषयत्वाभ्युपगमेऽप्यप्रयोजकः ।” इति तदप्यसुन्दरम् । सिद्धसाधनत्वे ब्रह्म मिथ्येति निरावाधव्यवहाराभ्युपगमप्रसङ्गान् । ननु सोपाधिकस्य हि मिथ्यात्वमिष्यते, न निरुपाधिकस्य । निर्विशेषणं तु ब्रह्मपदमिह प्रयुक्तम् । तत् कथमयं व्यवहारो घटेतेति चेन्न । सच्चिदानन्दं ब्रह्म, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यपि व्यवहारस्यानुपपत्तिप्रसङ्गान् । निरुपाधिकस्यैव एवम्भूतत्वात् । तस्य च विशेषणस्यात्रानुपादानात् । ‘निरुपाधिके’ इति भवतैव व्यवहियमाणत्वेन हेतोस्तत्र सिद्धत्वाच्च । न च षक्रोऽर्थः कश्चिदिह वर्गनीयः । तं विनैव षक्रतृश्रोत्रोरर्थसम्प्रतिपत्तेः । न चाप्रयोजकत्वम् । यदि ब्रह्मणो मिथ्यात्वं विनैव व्यवहारविषयत्वं स्यात् तर्हि प्रपञ्चस्यापि तथैव स्यादित्यापत्तेः सत्त्वान् । यच्च ब्रह्म मिथ्या असद्विलक्षणत्वात्, इत्यस्य दूषणाय यत्किञ्चिदुच्यते तत् बालव्यामोहनमात्रम् ।

वस्तुतो ब्रह्मणः प्रपञ्चस्य शुक्तिरूप्यादेश्च असद्विलक्षणत्वमस्ति न वा । आद्ये साधिष्ठमेवेदमनुमानम् । न च ब्रह्मव्यावृत्तमसद्विलक्षणत्वं शिष्यमाणां युज्यते । ब्रह्म असद्विलक्षणं न भवतीति व्यवहारस्य सामञ्जस्यप्रसङ्गान् । सोपाख्यत्वप्रतीत्यर्हत्वादिरूपं हि तदत्र निर्वा-

च्यम् । अन्त्ये शून्यमेव तत्त्वमिति पर्यवस्यति । तदिह आभास-  
साम्यान् सर्वथा न मुक्तिरिति ध्येयम् ।

(१५) प्रत्यक्षवाधः ॥

दृश्यत्वादिहेतूनां बाधश्च दुरुद्धरः । घटोऽस्ति पटोऽस्तीति घट-  
पटादिसत्त्वस्य सर्वलोकप्रत्यक्षसिद्धत्वात् । यत्तु चक्षुराद्यध्यक्षयोग्यं  
मिथ्यात्वविरोधि सत्त्वं न निर्वक्तुं शक्यमिति, तन् प्रतारणमात्रम् ।  
निर्वचनाशक्त्या विषयानपायान् । “इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्य-  
स्यान्तरं महन् । तथाऽपि न तदाख्यातुं सरस्वत्याऽपि शक्यते ।”  
इति स्थितेः । अन्यथा बह्विरनुष्णः पदार्थत्वान्, इत्यत्रापि वाधो  
न स्यात्. उष्णत्वस्य दुर्निरूपत्वेन तद्विषयाध्यक्षासम्भवान् ।  
तद्धि न जानिः । अनभ्युपगमात् । नापि शीतान्यत्वम् ।  
शीतत्वानिरुक्तेः । तस्योष्णान्यत्वेऽन्योन्याश्रयापत्तेश्चेति । यदि च  
प्रत्यक्षायोग्यं सत्त्वं कथं नाम घटोऽस्तीति सर्वजनसाधारणो व्यव-  
हारः । न चायं भ्रमः । मानाभावान् । न च सद्रूपत्रह्णविषयः तस्य  
प्रत्यक्षबुद्धयगोचरत्वान् । अस्तित्वस्य घटादिधर्मत्वेन निर्वाधं प्रतीतेश्च ।  
इह घटो नास्तीति बुद्धिभ्रतिवन्धकतावच्छेदकविलक्षणधर्मरूपस्य सत्य-  
स्यावश्यमभ्युपगन्तव्यत्वाच्च । स च धर्मः तदधिकरणवृत्त्यन्ताभावा-  
प्रतियोगित्वं वा तदधिकरणनिरूपिताधेयत्वं वा तत्तद्वस्तुसम्बन्धित्वं  
वेति भवताऽपि वाच्यम् । अन्यथा सार्वत्रिकनिरावाधव्यवहारानुपपत्तेः ।  
न चेदं सर्वमननुगतम् । अननुगतेनाप्यनुगतप्रतीतौ जातिमात्रोच्छेद-  
प्रसङ्ग इति शङ्क्यम् । गोत्वादिजात्यनभ्युपगमस्य स्वयमेव भवता  
पूर्वमुक्तत्वान् । अननुगतत्वेऽपि प्रतियोगित्वविषयत्वेदन्त्वादेरेकरूप-  
व्यवहारदर्शान् । कथञ्चिदनुगतस्य सर्वत्र शक्यत्वात् । प्रामाणिकस्य  
गौरवस्यादोषत्वान् । अन्यथा सर्वशून्यवादप्रसङ्गान्, सद्रूपत्रह्णानुगत-  
प्रतीतेरुपपादयितुं सर्वथाऽशक्यत्वाच्च । तथा हि । इदं रूप्यमितिवत्



सन् घट इत्यत्रापि सदित्यधिष्ठानभूतं ब्रह्मैव प्रतीयत इति यदुक्तं, तन्न चोदक्षमम् । नीलो घट इत्यत्र नीलरूपस्यैव सन् घट इत्यत्र सत्तायाः प्रकारतयैव भानेन इदमित्यस्यैव सन्नित्यस्य धर्मित्वाभावान् । योऽयं सन् पदार्थः स घट इत्येवमाकारत्वेऽपि प्रत्ययस्य सन् घटो दृश्येत, असन् घटो न दृश्यते, इति व्यवहारवशेनाविद्यमानत्वप्रतियोगिविद्यमानत्वमेव पदार्थविशेषणभूतेन सन्नित्यनेनाभित्त्प्यत इति निस्सन्दिग्धमवगमेव ब्रह्मविपयत्वस्य तत्र दुर्वचत्वाच्च । अत एव सद्रूपस्यानुवृत्तिरपि परास्ता । असन् घट इत्यापि प्रत्ययान् । नीलरूपस्य ब्रह्मणः प्रत्यक्षा गोचरत्वान्न न ब्रह्मविपयत्वं प्रत्यक्षस्य । न च कालवन् तदपि प्रत्यक्षयोग्यमिति वाच्यम् । अद्यात्र घटो वर्तन इत्यत्राधिनानन्यथा सिद्धसाधकिक प्रत्यक्षानुभवत्रणेन कालस्य तद्योग्यत्वाभ्युपगमात् । ब्रह्मणस्तत्कल्पने मानाभावान् । प्रत्युत "न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य, न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्", "न तत्र चक्षुर्गच्छति" इत्यादिभिस्तदयोग्यत्वस्यैवावधारणान् । किञ्च सन् घट इत्यत्र सन्निति किं ब्रह्मस्वरूपमात्रमभिप्रेतम् अथवा सत्तामात्रम्, अथवा सत्ता-विशिष्टम् । नाद्यः । इदं रूप्यमिति चन् अयं घट इत्येव प्रत्ययरूपस्य वाच्यत्वेन सन् घट इत्यभिलाषानुपपत्तेः । न द्वितीयः इयं सत्ता घट इत्येव प्रतीतिप्रसङ्गान् वक्ष्यमाणदोषाच्च । न तृतीयः । तथाहि । केयं सत्ता नाम । न तावज्जातिः । अनभ्युपगमान् । एकव्यक्तिविश्रान्ततया जातिलक्षणाभावाच्च । नापि त्रैकालिकावाध्यत्वम् । अस्य प्रत्यक्षायोग्यत्वान् । नापि स्वरूपसत्त्वम् । किमिह स्वरूपमेव सत्त्वं न ततोऽतिरिक्तं किमपीति विवक्षितम् । अथवा स्वरूपेण सत्त्वं विद्यमानत्वमिति । आद्ये इदं स्वप्रकाशाद्वितीयचैतन्यं घटः इत्येव प्रतीतिः स्यात्, न तु सन् घट इति । तद्रूपातिरिक्तस्य सत्त्वस्याभावान् । न च तद्रूपत्वस्यैव सत्त्वमित्यपरं नामधेयम् । तेन सन्नित्यपि व्यवहार इति

वाच्यम् । तथापि कदाचिन् स्वप्रकाशाद्वितीयचैतन्यं घट इति व्यवहारस्यापि प्रसङ्गात् । अयं घट इत्यस्य स्थाने 'अयं कलशः' इतिवत् । न च यदा कदाचिदपि तथा व्यवहारो भवति । वस्तुतस्तु सत्त्वमिति न क्वचित् स्वप्रकाशाद्वितीयचैतन्याभिधानं दृष्टम् । अतः कालसम्बन्धित्वादिक्रमेव सत्त्वमितिवाच्यम् । तच्च ब्रह्मण इव घटादेरप्यव्याहृतमिति तत्त्वस्थितिविध्या । अन्त्ये इदानीमत्र वर्तमानो घट इत्येव प्रतीतिरिष्टा भवति । तथा वर्तमानत्वस्य च घटे साक्षादुपपन्नतया नीलो घट इत्यादिवन् अव्याहृतं सामानाधिकरण्यं मिति न कुकल्पनायाः कस्याश्चिद्वकाशो वर्तते इति तदेवं घटास्तित्वप्रत्यक्षस्य घटमिथ्यात्वविरोधिसत्त्वावगाहित्वमन्तरा कथमपि प्रकारान्तरेणोपपादयितुमशक्यवान् तेन प्रबलेन वाधान् मिथ्यात्वानुमानं नालमुदेतुमिति सिद्धम् ।

यत्तु—“निश्चितप्रामाण्यमेव प्रत्यक्षमितरवाधकं भवेत् । न चात्र प्रामाण्यं निश्चितम् । आगमविरोधान्, अनुमानविरोधान्, भाविवाधाभावानिर्णयाच्च”—इति, तद्व्युक्तम् । घटादिप्रत्यक्षप्रामाण्यस्य सुनिश्चितत्वान् । न ह्यात्र कारणदोषः कश्चिदन्विव्यमाणोऽप्युपलभ्येत, उत्तरकालिको बाधो वा ! एत्रं सति तत्प्रामाण्यं प्रति किमपरं निश्चयेमस्ति । 'यस्य च दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एवासमीचीनः प्रत्ययो नेतरः' इति च शास्त्रतात्पर्यविदामुद्घोषः । भाविवाधाभावानिर्णयाच्चेति यदुक्तं तत् अत्यन्तदुर्घटस्वसिद्धान्तस्थापनभरपीडितेन अहृदयमेवोक्तमिति प्रतीमः । प्रवृत्तिसामर्थ्येन सुप्रतिष्ठितत्वान् प्रामाण्यस्य निर्णीत एव हि भाविवाधाभावत्र तत्र कथमनिर्णय उच्यते । अन्यथा उदकाहरणार्थिनो घटदर्शनानन्तरं तदुपादाने प्रवृत्तिर्न स्यात् । वाधाभावानिर्णयान् । न हि सम्भावनामात्रेण तत्र प्रवृत्तिरिति अनुभवमनपङ्खुवादेन वक्तुं शक्यम् । अनुमानमात्रं च

एवं सत्युच्छिद्येत । भाविबाधाभावानिर्णयेन व्याप्त्यनिश्चयान् । अर्थ क्रियासंवादेन प्रत्यक्षप्रावलयमाश्रित्य बह्वयौष्यप्रत्यक्षस्य शैत्यानुमान-  
बाधकत्वं भवतैवोच्यते । तत्कथं युज्येत यदि भाविबाधाभावानिर्णयेन  
प्रत्यक्षं दुर्बलं स्यात् । ननु शुक्तिरूप्यादौ यादृशो बाधः तादृशबाधा-  
भावो घटादिप्रत्यक्षे निर्णीत एव । न तत्रास्माकंविप्रतिपत्तिः ।  
वेदान्तवाक्यजन्यचरमसाक्षात्कारेण तु यो बाधः तद्भावानिर्णय  
इहोक्त इति चेत् उपहास्यमिदम् । अदुष्टकारणजन्यं अबाधितं च  
घटादिप्रत्यक्षं स्वविषयसत्तां निश्चाययन् तन्मिथ्यात्वानुमानं निरुन्ध  
इत्यातिष्ठामहे । तत्रेदं मिथ्यात्वं यदि ब्रह्मज्ञानवाध्यत्वरूपं विशिष्य  
गृह्यते तर्हि दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम् । यदि तु सामान्यतो ज्ञानवाध्य-  
त्वरूपं तन् तर्हि तद्विरोधिसत्त्वप्रादिप्रत्यक्षबाधो दुर्निवारः । अथो-  
च्यते—प्रत्यक्षावगतं सत्त्वं सप्रकारकज्ञानदाध्यत्वात्मकशुक्तिरूप्यादि-  
तुल्यमिथ्यात्वविरोधि ईदृशमिथ्यात्वविषयमनुमानं बाधेत । प्रकृते  
तु निष्प्रकारक चरमसाक्षात्कारनिवर्त्यत्वरूपमिथ्यात्वस्य पर्यवसित-  
गत्या साध्यत्वान् प्रत्यक्षावगतसत्त्वस्य चैतद्विरोधित्वान्न बाधप्रसङ्ग  
इति, तदत्ययुक्तम् । चरमसाक्षात्कारस्य कालान्तरे जायमानत्वेऽपि  
तदधीनमिथ्यात्वस्य काललयसम्बन्धित्वान् सुदृढप्रत्यक्षावगतघटादि-  
सत्त्वविरुद्धतया तदवगाहिनोनुमानस्यासम्भवान् । भवदभिमत  
निष्प्रकारकचरमसाक्षात्कारस्याप्रसिद्धतया तद्वाध्यत्वरूपे मिथ्यात्वे  
पर्यवसानासम्भवाच्च । तस्मान् भाविबाधाभावानिर्णयेन प्रत्यक्षस्य  
दौर्बल्याभिधानं निरूपकाणां न शोभते । सम्भावितसर्वकारणदोषा-  
भावनिश्चये प्रवृत्तिसंवादे च सम्पन्ने यत्र काप्यदृष्टः सर्वलोकविलक्षणः  
कश्चन बाधो भावीतीदं किं कस्यचिन् बुद्धिमाधिरोहेत्, यस्याभाव-  
निर्णयः स्वप्रामाण्याय प्रत्यक्षेणापेक्षणीयः स्यात् । दुस्सिद्धान्तविष-  
यस्य अपरोऽयं पल्लवोद्भेद इति तु विपश्चितो निश्चिन्वन्ति ।

यच्च आगमविरोधान् प्रत्यक्षप्रामाण्यं न निश्चितमिति, तन्न । प्रत्यक्षाविषय एव आगमप्रवृत्तेः । तथा च शास्त्रतात्पर्यविदामग्रणी-  
 र्महर्षिर्जैमिनिः श्रौतपत्तिकसूत्रे—“तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽ-  
 नुपलब्धे” इति । विवृतं चेदं पार्थसारथिमिश्रेण—“न च साक्षाद्  
 बाधकमस्तीत्यव्यतिरेकशब्देनोच्यते । अनुपलब्धार्थत्वाच्च नानुवाद-  
 लक्षणमप्रामाण्यमस्तीति “अर्थेऽनुपलब्धे इत्यनेनोक्तम् ।—” इति ।  
 अनेन, “यल्लोके प्रत्यक्षादिना अस्तीति वा नास्तीति वा निश्चितं  
 न तत्र शास्त्रं प्रवर्तते । अस्तीति निश्चितेऽर्थे प्रवृत्तौ अनुवादतयाऽ-  
 प्रामाण्यापत्तेः । नास्तीति निश्चितेऽर्थे प्रवृत्तौ बाधितविषयत्वेना-  
 प्रामाण्यापत्तेः” ; इति हि स्पष्टं प्रदर्शितं भवति । “शास्त्रं शब्दविज्ञा-  
 नादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्” इति शाबरेण भाष्येण ‘असन्निकृष्ट-  
 वाचा च द्वयमत्र जिहासितम् । ताद्रूप्येण परिच्छित्तिस्तद्विपर्य-  
 यतोऽपि वा ॥’ इति तद्विचरणपरेण कौमारिलेन वार्तिकेन च तद्  
 विशदीकृतम् । तस्मान् प्रत्यक्षनिश्चितार्थविरुद्धमर्थं शास्त्रं बोधयती-  
 त्येतन् शास्त्रकृतामसम्मतम् । प्रत्यक्षादिना प्राप्तमर्थं तथैव कृत्वा  
 तत्राविदितमंशं पूरयति शास्त्रमिति तु स्थितिः । एतदाहुराचार्य-  
 चरणाः—

विदितमनुवदन्तो विश्वमेतद्यथावद्

विदधति निगमान्ताः केवलं यन्मयत्वम् ।

अविदितबहुभूमा नित्यमन्तविधत्ताम्

ह्यवरवदनोऽसौ सन्निधिः सन्निधिं नः ॥

इति । एवं प्रत्यक्षविषयपरिहारेणैव आगमस्य प्रवृत्तेः एतद्विरोधेन  
 तस्य प्रामाण्यमनिश्चितमित्येतन्न युज्यते । यत्तु चन्द्रतारकादिपरि-  
 माणप्रत्यक्षे अनुमानागमविरोधेनाप्रामाण्यं दृश्यत इति, तन्न । महदपि  
 वस्तु दूरत्वदोषेण अल्पमिव दृश्यत इति हि शतशः प्रत्यक्षावगतमेतत् ।

तेन दृविष्टं चन्द्रतारकादि अल्पतया दृश्यमानमपि वस्तुतो महदेवेति स्वयमेव प्रतीतिर्भवति । तत्र क्रियन्त्परिमाणं भवेदिति जिज्ञासायां अनुमानं वा शास्त्रं वा प्रवर्तत इति न प्रत्यक्षस्य ताभ्यां विरोधः ।

एतेन देहात्मैक्यप्रत्यक्षमपि व्याख्यातम् । तत्र हि ममेदं शरीर-मित्यप्यनुभवान् जातस्य शिशोः स्तन्यपानप्रवृत्त्या पूर्वजन्मवास-नायाः कलानीयतया तदनुगुणशरीरतिरिक्तात्मश्रित्तिपरामर्शाच्च, देहात्मैक्यप्रत्यक्षं स्वार्थतथात्वनिश्चयेऽसमर्थं भवति । प्रत्युत जपा-संसर्गान् स्फटिकस्य रक्तत्वे देहसंसर्गान् आत्मनस्तद्रूपता किं भातीति विमर्शाय अवकाशं ददाति । तत्र निर्णयस्य वैशद्यस्य वाऽपेक्षायां अनुमानागमयोः प्रवृत्तिरिति नास्ति विरोधो वा बाध्यबाधको वा । तदेवं निश्चितप्रामाण्यं यत्प्रयत्नं तद्विषयाविरोधेनैव आगमानुमानयोः प्रवर्तितुं समर्थत्वान् तत्र च विरोधप्रसक्त्यभावान् विरोधं सन्तमिव कृत्वा बलाबलचिन्तनं सर्वं निष्फलम् ।

एतेनेदं निरस्तं वेदितव्यं यदुक्तम्—“तात्पर्यलिङ्गेरूपक्रमादिभिः द्वैतनिषेधपरत्वेऽवधृते अद्वैतश्रुतेरपि निरवकाशत्वात्” इति । श्रुतेः प्रत्यक्षसिद्धद्वैतनिषेधे तात्पर्यासम्भवान् । अन्यथा “आदित्यो यूष” इति श्रुतेरपि तदैक्यतत्परत्वप्रसङ्गान् ।

प्रत्यक्षस्योपजीव्यत्वाद्पि नानुमानागमौ तद्विरुद्धार्थप्रत्यायने प्रवर्तेते । यत्तु नात्रोपजीव्यविरोधः प्रत्यक्षस्वरूपमात्रस्योपजीवनात् । तस्य चानुपमर्दाद् । यत् तस्य तात्त्विकत्वं तदुपमृश्यते । न च तदुप-जीव्यते । तात्त्विकप्रत्यक्षगोचरेणैव धर्मिणा भवितव्यमित्यनभ्यु-पगमात्, इति; तन्न । प्रकृतानुमानपक्षभूतधर्मिसमर्पकत्वमात्रेणा-स्माभिः प्रत्यक्षस्योपजीव्यत्वानभिधानात् । आगमादि हि स्वप्ना-माख्याय प्रात्यक्षप्रामाण्यमपेक्षते । तस्योपजीव्यत्वमिति । अत्राह-एवं-रूपं चेदुपजीव्यत्वं विवक्षितं तर्हि ज्यासिद्धियोपि नानुमित्युपजीव्यत्वं

स्यात् । लिङ्गाभासादपि वह्निमति वह्निप्रमादर्शनात्—इति तदयुक्तम् । अनुमितेः सर्वत्र स्वप्रामाण्याय व्याप्तिधीप्रामाण्यापेक्षित्वनियमात् । लिङ्गाभासाद्वह्निमति वह्निज्ञानस्य प्रमात्वं यादृच्छिकम् । अनुमितित्वेन तु तद् ज्ञानमप्रमाणमेव । तदुक्तमाचार्यचरणैः—

बाष्पारोपितधूमेन यादृच्छिकाग्निसिद्धिस्तु न भ्रमसामर्थ्याधीना । अन्यथा सर्वत्र तद्भ्रमे तत्सिद्धिप्रसङ्गात् । अत एव हि तत्र प्रामाण्यमपि नाङ्गीक्रियते इति । यदपि “परीक्षा हि प्रवृत्तिसंवादविसंवादाभावदोषाभावादिरूपा । तथा च स्वसमानदेशकालीनं विषयावाध्यत्वं प्रामाण्यस्य व्यवस्थाप्यते, धूमेन स्वसमानदेशकालीनवह्निरिव । तथा च व्यवहारदशामात्रावाध्यत्वं देहात्मैक्यसाधारणं व्यवस्थितमिति कथमत्यन्तावाध्यत्वाभावग्राहकागमानुमानयोः प्रवृत्तिर्न स्यात्” इति, तदपि दत्तोत्तरम् । यस्मिन् देशे यस्मिन् काले यो विषयो यथा गृहीतः तस्मिन् देशे तस्मिन् काले तस्य तथाविधस्यात्यन्तावाध्यत्वं हि परीक्षया व्यवस्थाप्यते । भवद्भिर्मती त्रिकालवाध्यत्वविषयो अत एव तस्मिन् देशे तस्मिन् काले तस्य तथाविधस्य विषयस्य वाध्यत्वमप्यवगाहमानो अनुमानागमौ कथं प्रवर्तयताम् । यद्यपि बाधकस्य देशकालौ भिद्येते तथाऽपि तत्फलस्य बाधस्य सर्वदेशकालवतिसर्ववस्तुविषयत्वात् अद्यतनपरीक्षितप्रत्यक्षग्राह्यार्थविषयत्वमपि भवतीति तदवगाहिनोरनुमानागमयोः प्रवृत्तिर्नैव सम्भवति । ‘परीक्षया व्यवहारदशामात्रावाध्यत्वं व्यवस्थाप्यते । तेन परमार्थदशावाध्यत्वं न विरुध्यते’ इति न शक्यं वक्तुम् । न हि व्यवहारदशाऽतिरिक्ता परमार्थदशा काचिदद्यापि सिद्धा । यदि परमार्थदशावाध्यत्वं विशिष्य साध्येत तर्हि तस्य दृष्टान्ते न सद्भावः । यदि तु सामान्यतः त्रिकालवाध्यत्वं साध्यते तर्हि उक्तीत्या बाधो दुरुद्धरः । इदमपि पूर्वमेवोक्तम् । घटादिप्रत्यक्षप्रामाण्यं न देहात्मैक्यप्रत्य-

क्षसाधारणमिति च उक्तप्रायम् । एतदुक्तं भवति । अनुमेयं चरमसाक्षात्कारवाध्यत्वरूपं मिथ्यात्वं इदानीन्तनप्रत्यक्षप्रमित-  
घटादिसत्त्वस्यापि भवति न वा । आद्ये प्रत्यक्षवाधान्नानुमानमु-  
देतुमलम् । अन्ये घटादिसत्त्वं पारमार्थिकमित्यद्वैतसिद्धिरिति ।

एवं परीक्षितत्वेन उपजीव्यत्वेन च प्रावल्यान् प्रत्यक्षस्य तद्विरुद्धं  
मिथ्यात्वानुमानमिदं आभासरूपमेवेति स्थितम् । एतद्वैपरोत्येन  
मिथ्यात्वानुमानमेव प्रत्यक्षवाधकमिति निरूपणे प्रवृत्तः तत्र प्रतिपक्षि-  
भिरुक्तमनूद्य प्रतिक्षिपन्निदमाह —

नन्वेवं पशुत्वेन शृङ्गानुमानमपि स्यात्, 'लाघवान् पशुत्वमेव  
शृङ्गवत्वे तन्त्रम् न तु तद्विशेषगोत्वादिक्म् । अननुगतत्वेन गौरवान्'  
इत्येत-त्तर्कसध्रीचीनत्वेन प्रत्यक्षापेक्षया प्रावल्यात् । अनुकूलतर्कसाचि  
व्यमेव हि अनुमाने बलम्, एवं च येनकेनचित् सामान्यधर्मेण सर्वत्र  
यत्किञ्चिदनुमेयम्, लाघवतर्कसाचिव्यस्य सत्त्वात् । तावतैव प्रत्यक्ष-  
बाधकत्वात्, इति व्यावहारिक्यपि व्यवस्था न स्यात्, न ह्यत्र  
प्रत्यक्षबाधादन्यो दोषोऽस्तीति चेन्न,

अयोन्यशृङ्गादिसाधने प्रत्यक्षवाधस्यासम्भवेन तत्र व्याप्तिग्रा-  
हकतर्केष्वभासत्वस्य त्वयाऽपि वक्तव्यत्वेन व्यवस्थाया उभयसमा-  
धेयत्वात्, न हि तर्काभाससध्रीचीनमनुमानं प्रमाणमिति केनाप्यभ्यु-  
पेयते । अत उपपन्नं सत्तर्कसचिवमनुमानं प्रत्यक्षस्य वाधकमिति ।  
इति । अत्र ब्रूमः । दृश्यत्वादिना जगन्मिथ्यात्वानुमानं पशुत्वेन  
शृङ्गित्वानुमानं च समानयोगक्षेममेवेति सुग्रहं सर्वेषाम् । तत्र मिथ्या-  
त्वानुभावेन सत्वग्राहि प्रत्यक्षं यथा बाध्यते तथा शशे शृङ्गित्वानुमानेन  
अशृङ्गित्वग्राहि प्रत्यक्षं बाध्यत इति वा, प्रत्यक्षबाधितत्वात् शृङ्गित्वा-  
नुमानमिव मिथ्यात्वानुमानमप्याभास इति वा वक्तव्यम् । अत्र प्रथमे

कल्पे दृष्टविरोधः । द्वितीये स्वसिद्धान्तहानिः । अत ऋजु उत्तरं किमपि वक्तुमशक्नुवन् अन्यन् किमप्याह, अथापि निरूपकैर्विमर्शनीयम्, शशे शृङ्गित्वानुमाने प्रत्यक्षबाधो भवति न वा । भवति चेत् तथैव मिथ्यात्वानुमानेऽपि भवेत् । न चेत् कुतो न । अन्यथा हि बहौ शैत्यानुमानेऽपि न स्यात् । न चानयोर्विशेषः कश्चिदस्ति । नन्वयोग्यशृङ्गसाधने प्रत्यक्षबाधो न सम्भवतीति चेत् तत्र कामं मा सम्भूत् । योग्यशृङ्गसाधने का वार्ता । तत्र हि बाध एव दोषो वाच्यः । ननु तत्र व्याप्तिग्राहकस्य तर्कस्य आभासत्वं दोष इति चेत्, स कथं ज्ञायते, किं बाधेनैव उतान्येन केनचिन्, अन्येनेति चेन्न । तददर्शनात् । बाधेनेति चेन् सुष्ठूक्तम् । तथा च समीचीनत्वेन गृहीतेनापि तर्केण सहितमनुमानं बाधित्वा तर्कस्याप्याभासत्वमापादयति प्रबलं प्रत्यक्षमिति सिद्धम् । एवमेव जगन्मिथ्यात्वानुमानेऽपीति द्रष्टव्यम् ।

यत्तु “अयोग्य शृङ्गादिसाधने प्रत्यक्षबाधस्यासम्भवेन तत्र व्याप्तिग्राहकतर्केष्वभासत्वं त्वयाऽपि वक्तव्यम्” इति, तद्युक्तम् । प्रत्यक्षबाधासम्भवेऽप्यनुमानस्याभासत्वं वक्तव्यमिति निर्वन्धाभावेन भवत्पक्षे प्रत्यक्षसिद्धसत्त्वाविरोधिमिथ्यात्वसिद्धेरिव प्रत्यक्षसिद्धयोग्यशृङ्गराहित्याविरोध्ययोग्यशृङ्गवत्त्वसिद्धेरिष्टुं युक्तत्वात्, अस्मत्पक्षे तु योग्यशृङ्गसाधने बाधेनैवाभासत्वस्य सुवचत्वात्, अयोग्यशृंगसाधने दृष्टान्ते साध्यवैकल्प्यस्य स्फुटत्वात् । असमीचीनदर्शनविषयत्वेन शुक्तिरूप्यस्य मिथ्यात्वे स्थिते हठादेव सामान्यतो दृश्यत्वस्य मिथ्यात्वप्रयोजकत्वं वदतो हि भवतः प्रतियोगिनायोपहासाय च केवलं अनुमानाभासोऽयमनुमानवत्प्रयुक्तः । अश्वादावदर्शनेन पशुत्वस्य शृङ्गित्वव्याप्यत्वस्यैवासिद्धः । तत्रोभाभ्यां वक्तव्यं किमस्ति । यदि दृश्यत्वेन जगतो बाध्यत्वं भवेत् तर्हि तद्वदेव पशुत्वेन शशस्यायोग्यशृङ्गवत्त्वं भवेत् । यदि त्वस्याभासत्वं तर्हि तद्वदेव दृश्यत्वानुमानस्याप्याभासत्वं



दुष्परिहरमिति भवत इयं सङ्कटा स्थितिः, न त्वस्माकमिह किमपि सङ्कटं वर्तते ।

यच्च 'परीक्षितप्रमाणभावशब्दवाध्यमपि प्रत्यक्षम्' इत्युपक्रम्य—  
वाक्यशेषप्रमाणान्तरसंवादार्थक्रियादिपरीक्षापरीक्षितस्य प्रत्यक्षस्य प्राबल्येन, व्यवहारदशायामेव एतद्विरुद्धार्थग्राहिणः “धूम एवाग्नेर्दिवा दृश्ये.” “अदि निर्वीः.” “यजमानः प्रस्तरः,” इत्यादेः तद्विरोधेनामुख्यार्थत्वेऽप्यद्वैतागमस्य परिक्षितप्रमाणविरोधाभावेन मुख्यार्थत्वोपपत्तेः । प्रत्यक्षादेर्हि परीक्षया व्यावहारिकप्रामाण्यमात्रं सिद्धम्, तच्च नाद्वैतागमेन बाध्यते । बाध्यते तु तात्त्विकं प्रामाण्यम् । तच्च परीक्षया न सिद्धमेव, अतो न विरोधः । धूम एवाग्नेरित्यादेस्तु मुख्यार्थत्वे प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यं व्याहन्ते । अतो विरोधान् तत्रामुख्यार्थत्वमिति त्रिवेकः ।

इत्याह । अत्र शब्दवाध्यमपि प्रत्यक्षमित्युपक्रमेण 'अतो न विरोधः' इत्यविरोधोपपादनस्य क्वं सङ्कतिरित्यास्तामेतन् । यत्तु अत्र वक्तव्यं तन् प्रागेवाक्तप्रायम् । प्रत्यक्षस्य या यावती परीक्षा सम्भवति सा सर्वा वृत्तेव । तेन तन् स्वार्थं निष्कम्पं निश्चाययत्येव । एवं स्थिते धूम एवाग्नेरित्यादिवन् अद्वैतागमोऽपि प्रत्यक्षनिश्चितार्थाविरोधेनेव मुख्यं वाऽमुख्यं ना स्वार्थं प्रत्याययतीति नीतिविद्धिरास्थेयम् । तत्र प्रत्यक्षविरुद्धं अद्वैतागमस्य प्रपञ्चमिथ्यात्वपरत्वं न सम्भवतीत्युक्तम् । यस्तु विषयविभागः क्रियते, प्रत्यक्षस्य परीक्षासिद्धं प्रामाण्यं व्यावहारिकम्, तदागमेन न बाध्यते । यत्तु आगमेन बाध्यते तन् तात्त्विकं प्रामाण्यम् । तच्च प्रत्यक्षस्य परीक्षया न सिद्धमिति, सोऽनुपपन्न इत्यप्युक्तप्रायमेव । प्रत्यक्षस्य परीक्षया सिद्धं प्रामाण्यं न तात्त्विकम् । तत्तु अन्यदस्तीति कथं ज्ञायते । न हि प्रामाण्यग्राहिका परीक्षा तदपि ग्राहयति ।

ननु प्राह्यत्येव सा तदपि । उक्तं हि पूर्वं 'तथा च स्वसमानदेश-  
कालीनविषयावाध्यत्वं प्रामाण्यस्य व्यवस्थाप्यते धूमेन स्वसमानदेश-  
कालीनवह्निरिव इतीति चेन्नैवम् । क्षित्यङ्कुरादिना कार्यणेश्वरानुमाने  
तद्देशकालीनेश्वरमात्रसिद्धिरिति प्रसङ्गान्, तत्तद्वस्तुभेदेन हि तत्तत्स्व-  
भावनिर्धारणं भवति । न हि नदीप्रवाहेण तद्देशकालीनैव वृष्टिरनु-  
मीयते । तेन प्रत्यक्षावगतं एतद्वस्तु कदापि न वाधिष्यत इत्येव परी-  
क्षया निश्चयो भवति । अन्यथा अद्यात्र सत्त्वेन निश्चितोऽपि घटः  
पुनः कदाचिदस्मिन्नेव कालेऽस्मिन्नेव देशेऽसत्त्वेन निश्चयितेति शङ्का  
परीक्षानन्तरमुत्पद्येत । न चैवं कस्यचिन् कदाचिद्भवति । ज्ञानेन च  
सिद्धयन् घटः तद्देशकालीन एव सिद्ध्यन् । तथा च जितं क्षणिकवादेन ।

किञ्च तद्देशकालीनतयाऽपि सिद्धयन् घटस्तात्त्विक एव हि  
सिद्धयति । न चाद्वैतागमेन प्रपञ्चस्य तात्त्विकाभाव इति विलक्षणः  
कश्चिद् बोध्यते येन प्रत्यक्षावगतं तत्सत्त्वं न तात्त्विकमिति निर्धार्येत ।  
शुक्तिरूप्यं मिथ्या तद्विलक्षणतया घटादिकं सत्यमिति परीक्षयाऽव-  
धृतत्वान् । सत्यत्वस्यैव तात्त्विकत्वरूपत्वान् । तदतिरिक्तरूपत्वस्या-  
ग्रहणान् । तथा च यादृशं सत्त्वं प्रपञ्चस्य प्रत्यक्षादिनाऽवगतं तादृश-  
स्यैव सत्वस्याभावोऽद्वैतागमेन बोधनीय इति विरोधे दुष्परिहारे धूम  
एवाग्नेरित्यादेरिवास्याप्यर्थान्तरपरत्वमवर्जनीयम् ।

अथोच्यते—“ब्रह्मैतागमः “ब्रह्मैकमेवास्ति, तदन्यन् किमपि  
नास्ति”, इति बोधयति । अनेन यथा ब्रह्मास्ति तथा प्रपञ्चो नास्तीति  
गम्यते । एवं ब्रह्मसत्त्वं यादृशं तादृशसत्त्वाभाव एव प्रपञ्चस्य तात्त्विक-  
सत्ताभावः । इत्यमागमेनावगते प्रत्यक्षावगतं प्रपञ्चसत्त्वं व्यवहारो-  
पयोगितया तावन्मात्ररूपं न पारमार्थिकमिति व्यवतिष्ठते” इति तन्न ।  
कीदृशं ब्रह्म सत्वमभिप्रेत्येदमुच्यते । यदि कालत्रयावाध्यत्वं तदपि  
निवेदनीयम् । किं कालत्रयेऽपि सत्त्वं सत् । अथवा यदाकदाचिद्

पि बाधकप्रत्ययशून्यत्वम् ; यद्वा स्वप्रकाशाद्वितीयचैतन्यरूपत्व-  
मिति । आद्ये ब्रह्म नित्यम् . प्रपञ्चोऽनित्य इति फलति । तदिष्टमेव ।  
द्वितीये ब्रह्मणो यथा बाधकप्रत्ययो नास्ति तथैव प्रत्यक्षावगतघटादे-  
रपीति उभयोः सत्त्वस्य समानत्वान् तदभावो नागमेन बोधयितुं-  
शक्य इत्यपरिहार्यमर्थान्तरपरत्वम् । तृतीये जडत्वं बोधितं भवतीति न  
पारमार्थिकसत्त्वबाधः ।

एतेन 'अपच्छेदन्यायेनाध्यागमस्य प्राबल्यम्' इत्येतदपि निरस्तं  
वेदितव्यम् । एकैकापच्छेदमात्रवति प्रयोगे सावकाशयोः द्वयोः  
शास्त्रयोः क्रमिकापच्छेदद्वयवति प्रयोगे प्राप्तयोः पूर्वनिमित्तकशास्त्रा-  
पेक्षया उत्तरनिमित्तकशास्त्रस्य प्राबल्यमपच्छेदाधिकरणे निर्णयितम्  
'पूर्वाबाधेन नोत्पत्तिरुत्तरस्य हि विद्यते'—इति । प्रकृते तु प्रत्यक्षप्रा-  
माण्यस्य निरवकाशत्वान्न तस्य आगमेन बाधो भवितुमर्हति । यत्त  
व्यावहारिकप्रामाण्ये तत्सावकाशमिति तन्नेति प्रागेव सुनिरूपितम् ।  
व्यावहारिकमिति तात्त्विकमिति चैकार्थोक्तेः अर्थान्तराभावान् ।  
किञ्च यत्र परस्परनैरपेक्ष्यं तत्रैवापच्छेदन्यायः । यत्र तु सापेक्षता  
तत्र असञ्जातविरोधित्वेन पूर्वप्राबल्यमेव । तदुक्तम्—

पूर्वात्परवर्तीयस्त्वं तत्र नाम प्रतीयताम् । अन्योन्यनिरपेक्षाणां  
यत्र जन्म धियां भवेन् ॥ इति । स्वस्वरूपस्वप्रामाण्यादिहेतोः प्रत्यक्षो-  
पजीवी चागमः । तेन तस्य पूर्वत्वनियमान् उपक्रमाधिकरणन्याय-  
स्यैवात्र प्रवृत्तेः तद्विरोधेनेव स्वार्थोऽनेन प्रतिपादनीयः । यत्व-  
त्रोक्तम्—

एकवाक्यस्थपरस्परसापेक्षपदत्वेनोभयोः साम्ये सति उपक्रम-  
स्थवेदपदानुरोधेन उपसंहारस्थऋगादिपदानां मन्त्रमात्रवाचिनां  
कृत्स्नवेदपरत्वे निर्णीतेऽपि न प्रकृते तन्न्यायः सम्भवति । उभयोः  
साम्याभावान् । गृहीतप्रमाणभावश्रत्यपेक्षया भ्रमविलक्षणत्वेनानि-

श्चित्तस्य प्रत्यक्षस्य न्यूनबलत्वान् । अन्यथा इदं रजतमिति भ्रमोऽपि इयं - पुक्तिरित्याप्रापदेशःपेक्षया प्रबलं स्यात् ।

इति, तदुपहास्यम् । यदि प्रत्यक्षं भ्रमविलक्षणत्वेनानिश्चितं कथं तत्रभवताऽत्रापच्छेदन्यायः सञ्चार्यते ! किन्नामापच्छेदाधिकरणे निश्चयानिश्चितप्रमाणयोः अत एव विषमयोर्द्वयोः पौर्वापर्यं पूर्व-दावन्त्यं व्यवस्थापितम् । तथा चेत् प्रमानन्तरभ्रमस्थापि परत्वमात्रेण प्रावृत्त्यं स्यात् । कथं च प्रत्यक्षस्य भ्रमविलक्षणत्वानिश्चयः । कारण-दोषाभावावधारणेन बाधकप्रत्ययात्यन्त-भावेन च सुप्रतिष्ठितं हि तस्य भ्रमविलक्षणत्वमिति ।

इदमत्रावधेयम् । अपच्छेदनिमित्तकर्तृमत्तिकविशेषविधायके शास्त्रे द्वे अपि स्वार्थबोधने परस्परनिरपेक्षे । अत एव एकैकापच्छेदमात्र-वति प्रयोगे तच्छास्त्रमात्रप्रवृत्तिः । तदिदं तयोः परस्परनैरपेक्ष्यं तयोः कर्तव्योपनिमित्तमे पर्यवस्यति । यस्मिन् प्रयोगे प्रथममुद्गातुरपच्छेदः पश्चा-त्प्रतिहर्तुः तत्रैतत्क्रमानुराधेनोद्गात्रपच्छेदशास्त्रस्य पूर्वत्वम् । अन्यस्य परत्वम् । यस्मिन् प्रयोगे प्रथमं प्रतिहर्तुरपच्छेदः पश्चादन्यस्य च निमित्तक्रमवैपरीत्यात् शास्त्रयोरापि पूर्वत्वापरत्वयोर्वैपरीत्यं भवति । तस्मादनियतपौर्वापर्यस्थलेऽपच्छेदन्यायः प्रवर्तत इत्याहुः । एकस्मि-न्प्रयोगे यत्पूर्वत्वाद् बाध्यं तदेव प्रयोगान्तरे परत्वाद् बाधकं भवति । अत्र परत्वाद् बाधकं तदेव पूर्वत्वाद् बाध्यं च । तदेवं अपच्छेदशास्त्रयो-रुभयापच्छेदवांत प्रयोगविशेषे अनियतबाध्यबाधकभावे सत्यपि एका-पेक्षयेतरस्य प्रामाण्ये न कश्चिद्विशेषः ।

इदृशोऽत्रमपच्छेदन्यायः प्रकृते प्रत्यक्षाद्वैतागमप्रावृत्त्यदौर्बल्य-विषये नैव प्रवर्तितुमीष्टे । प्रथमं प्रत्यक्षम् । पश्चादागम इति क्रमां हि नियतः ! प्रत्यक्षावगतं प्रपञ्चमनूय योऽयं प्रपञ्चः स नास्ति इति ज्ञानेन बोधनीयम् । अतोऽत्र क्रमान्तरस्य नैव प्रसक्तिः । एवं क्रमनैयत्ये

सति असञ्जातविरोधित्वात् पूर्वं प्रवृत्तं प्रबलं पश्चात्प्रवृत्तं दुर्बलं च भवति वेदोपक्रमाधिकरणन्यायेन । अद्वैतागमप्रवृत्तेः पूर्वं निश्चित-  
प्रामाण्येन प्रत्यक्षेणावगतस्य प्रपञ्चस्यानुवादस्तावत् तदवधिवाधक-  
शङ्काया अप्यनुदयान् 'योऽयं प्रत्यक्षप्रमितः प्रपञ्चः' इत्येव कर्तव्यः ।  
तादृशे प्रपञ्चे यथाश्रुतस्य नास्तीत्यस्यानन्वयान् अत्रह्यात्मको नास्तो-  
त्यर्थान्तरमभिधेयम् । तदिहोपक्रमाधिकरणन्याय एव सङ्गतो न  
त्वपच्छेदन्यायः ।

न चात्र सिद्धान्तलेशसङ्ग्रहोक्तरीत्या अद्वैतश्रुतेः प्रत्यक्षेण एक-  
वाक्यत्वाभावात् "नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाताति" षोडशप्रतिषेध-  
वाक्यभ्येवाद्वैतागमस्य पूर्ववृत्तमविगण्य स्वार्थबोधकत्वाविवातात्  
अपच्छेदन्यायप्रवृत्तिरप्रतिहेति शङ्क्यम् । एकवाक्यतायास्तत्र क्रमनै-  
यत्यमात्रोपयोगित्वात् । असञ्जातविरोधित्वस्यैव न्यायस्वरूपत्वात् ।  
अन्यथा मुख्यं वा स्यात् पूर्वचोदनाल्लोकवत् ( १२-२-२४ ) इत्यादौ-  
कर्मणामपि प्राथम्येन स्वदङ्गवत्त्वनिर्णयः क्रियमाणोऽनुपपन्नः स्यात् ।  
न हि तत्रैकवाक्यताप्रसङ्गोऽस्ति । अत एव षोडशप्रतिषेधवाक्यनिदर्शन-  
मप्यनुपपन्नम् । एकवाक्यताविरहेऽपि प्रतिषेध्यप्राप्त्यर्थं ग्रहणविधि-  
वाक्यस्य नियमेन पूर्वमपेक्षणीयत्वात् । अपच्छेदवाक्य इव नैरपेक्ष्यस्य  
दुर्बलत्वात् । तदत्र पौर्वापर्यं नियतम् । तत्र पूर्वस्य विधिवाक्यस्य  
अनुपजातविरोधित्वेन प्राबल्यात् तदनुरोधेन निषेधवाक्ये नानुयाजे-  
ष्विति वत् पर्युदासाश्रयणं वा 'न सोमे' इतिवदर्थवादात्त्वकल्पनं वा  
प्राप्तम् । सोमनाथोक्तरीत्या तदुभयासम्भवेन तु तत्र विकल्प आश्रीयते-  
प्रकृते तु नियमेन पश्चात्तनस्यात् एव दुर्बलस्य नास्तीत्यस्य अत्रह्यात्व-  
कत्वनिषेधपरत्वं न्यायानामश्रीधनाः नानुपपन्नम् । प्रत्युत रमणी-  
यम् । अन्यथा हि न परं प्रत्यक्षस्य स्वात्मनोऽपि प्रामाण्यहानौ शास्त्रं  
पर्यवस्येत् ।

तथा हि । प्रत्यक्षदृष्ट वस्तु किमपि परमाद्यंतो नास्तीति बोधयन्ती खल्वद्वैतश्रुतिः प्रत्यक्षगम्यः स्वात्माऽपि नास्तीति बोधयतीति वक्तव्यम् । अतः स्वात्मनोऽपि बाधः । न चैवं परमपच्छेदशास्त्रं स्वात्मनोऽपि बाधं गमयति । अनेनापि हेतुनाऽत्रापच्छेदन्यायप्रवृत्तिरनुपपन्ना । अपन्याय एव केवलः परैरत्राश्रितः । न त्वपच्छेदन्यायः । ननु दृष्टान्तस्थं सर्वं नोपादेयम् । न हि मुखं चन्द्र इवेत्युक्ते चन्द्रवदाकाशस्थत्वं नास्तीति प्रत्यवस्थानं युज्यत इति चेन्न । विशेषसद्भावात् । अपच्छेदशास्त्रं हि स्वप्रामाण्यानुपघातकत्वान् परत्वनिमित्तं स्वप्राबल्यं प्राप्तमङ्गीकरोति । प्रपञ्चनिषेधशास्त्रं तु तद्वत् स्वप्राबल्ये सति प्रपञ्चान्तर्गतस्य स्वस्याप्यसत्त्वप्रसङ्गात् प्रमान्यतपूर्ववृत्तित्वरूपप्रमाणत्वभङ्गिन्या तन्नाङ्गीकरोति । तदाह पूर्वतन्त्रपारदृशवा पार्थसारथिमिः शास्त्रदोषकायां प्रत्यक्षसूत्रे—

सत्यापि प्रत्यक्षविरोधे तदुपमर्देन प्रवर्तमानस्तद्बाधेनैवागमोऽद्वैतमवगमयतीति चेन्न । प्रवृत्त्यसम्भवात् । प्रत्यक्षं हि निश्पेक्षं शीघ्रं जायमानं स्वविरुद्धस्यागमिकज्ञानस्य पदपदार्थसन्निध्यपेक्षायोग्यत्वन्यायालोचनसापेक्षतया विलम्बितप्रवृत्तेः प्रवृत्तमेव निरुणाद्ध । किञ्चाशक्यमेव श्रुत्या प्रपञ्चस्यासत्यत्वं बाद्धुम् । बुध्यमाने हि श्रुतिरपि प्रपञ्चान्तर्गतत्वादसती बोद्धव्या स्यात् । कथं च श्रुत्यैव श्रुतेरसत्त्वं बुध्येत । असत्त्वेन हि प्रतीयमाना न प्रामाण्यं स्यात् । प्रमाणत्वे त्वर्वास्थिते सत्तया प्रतीयमानायाः श्रुतेर्न मिथ्यात्वं शक्यं वक्तुम् । न ह्येकस्यैव वस्तुतो युगपदेव सत्त्वमसत्त्वं च समुच्चित्य बोद्धुं शक्यम् । अन्यतरोपमर्देनैव ह्यन्यतरद् बुद्धमारोहति । ततश्च श्रुतिरस्तीति चेत् न प्रपञ्चस्याभावः सम्भवति । श्रुतेरपि प्रपञ्चत्वात् । नास्ति चेच्छ्रुतिः प्रामाणाभावादेव न प्रपञ्चापज्ञापः सम्भवति ।

इति । ननु प्रपञ्चाभावमुखेनैव श्रुतेरभावो वाच्यः । अतः श्रुत्य-  
 भावपक्षे प्रपञ्चाभावः सिद्ध एवात नास्ति चेच्छ्रुतिः प्रमाणः भावादेव न  
 प्रपञ्चापलापः सम्भवतीति कथमुच्यत इति चेदयमत्राभिप्रायः । प्रप-  
 ञ्चासत्त्वं बोधयन्ती श्रुतिः प्रपञ्चान्तर्गतत्वान् स्वस्य स्वाभावमपि  
 बोधयतीति वाच्यम् । न चायं बोधः प्रतीतिरिति । असतः स्वस्या-  
 प्रमाणतया स्वजनिता प्रतीतिर्यथार्थेति बुद्धेरनुपदमुदयावश्यम्भावान् ।  
 अतश्च भ्रमाविषयः प्रपञ्चाभाव इति प्रतीतिमतां प्रपञ्चो नास्तीति  
 साधने प्रवृत्तिरसम्भावनीति । अद्यतनः कश्चित्, नियतपूर्वापर्यन्त-  
 ऽवच्छेदस्याय इति मीमांसान्धेषु कापि नोक्तमित्याह । तद्वेदेषु  
 क्वापि उत्पत्त्यपूर्वं परमापूर्वं वा नोक्तमिति मीमांसकान् प्रति क्रियमाणं  
 दूषणमिदं बोधायम् । उपक्रमोपसंहारपदप्रयोगेणैव हि पूर्वापर्यन्त-  
 ख्याप्यते । तद्वैतज्ञानान् केवलपूर्वापर्योक्त्या अनियमः ख्याप्यते ।

एतेनैव जगन्मिथ्यात्वानुमानस्य बह्वनुष्णत्वशैत्याद्यनुमानतुल्यत्वा-  
 भावप्रतिपादनप्रयासोऽपि व्यर्थ इति ज्ञापितम् । प्रत्यक्षसिद्धघटादि-  
 सत्त्वविषयान्तर्गतत्वसिद्धेः अनुमानस्य तदभावावगाहित्वा-  
 सम्भवेनाविरोधोपपादनस्याशक्यत्वात् । सप्रकारकज्ञानवाध्यत्वरूपमेव  
 मिथ्यात्वं शुक्तिरूपे सिद्धम् । एतदभावात् घटादेः सत्यत्वम् ।  
 एवं च निष्प्रकारकज्ञानवाध्यत्वादिरूपमिथ्यात्वस्याप्रसिद्धत्वात् दृष्टा-  
 न्तेऽगृहीतत्वाच्च न तदवगाहित्वं सम्भवतीति अनुमानस्य लोक-  
 प्रसिद्धमिथ्यात्वविषयत्वेऽवश्यम्भाविनि बहिःशैत्यानुमानवदेव प्रत्यक्ष-  
 बाध्यत्वमिति । यत्तु अनुमित्यादिविषयस्य तात्पर्यकत्वं साधयतोक्तम्  
 —“परीक्षा च प्रवृत्तिसंवादादिरूपा व्यवहारदृशायामवाध्यत्वं विना-  
 ऽनुपपन्ना तदशःवधमादिणं बाधते, नाद्वैतश्रुत्यनुमानादिकमित्युक्त-  
 मेव,” इति । तेन आक्षेपस्य कः परिहार उक्तो भवति । प्रत्यक्षस्य  
 यादृशो विषयः तादृश एवानुमित्यादेः । तयोश्च विरोधे प्रबलं प्रत्यक्ष-

स्वावपयबाधग्राहित्वाऽदनुमानमागमं च बाधते । अविरोधावर्हावल-  
क्षणावाधग्राहित्वमनुमानस्य नास्तीति हि आक्षेपः । तत्र 'नाद्वैत-  
श्रुत्यनुमानादिक' मिति प्रतिज्ञामात्रेण कथं समाधानं स्यात् । पूर्वमपि  
भवना एतावदेवाक्तम् । नत्वनेन हेतुना अनुमानागमयोर्विलक्षण-  
ताऽतिवर्कविषयत्वं सिद्धयतीत्युक्तम् । प्रत्युत भवन्निरूपणानुसारेण प्रत्यक्ष-  
वदनुमानागमयोरपि परीक्षितयोरपि व्यवहारदशायामेव प्रमाणत्वान्  
तद्वदेव एतदशागतमेव विरुद्धाथग्राहित्वं भवतीति विलक्षणार्थग्राहित्व-  
प्रत्याशार्साप न पुज्यते । तेन

पारमाथिकमद्वैतं प्रविश्य शरणं श्रुतिः ।

विरोधादुपजीव्येन न विभेति कदाचन ॥

इति वदन्तं खण्डनकारं प्रति तच्छ्राययैव

पारमाथिकमद्वैतं दुर्लभं शरणं श्रुतेः ।

विरोधादुपजीव्येन सा विभेति ततः सदा ॥

इत्युत्तरं पठनीयम् । नन्वेवं सत्यद्वैतश्रुतेः का गतिः । या धूम एवाग्ने-  
रित्वादेः सैव । अविशेषान् । उक्तं च महार्मीमांसकेन पार्थसारथि-  
मिश्रेण—“तस्माद् ब्रह्मणः प्रशंसार्थैरस्थायित्वेन प्रपञ्चस्यासत्त्वमुप-  
चरद्विरौपनिषदैर्वादैः” इति । ब्रह्मणः प्रशंसार्थैर्वादैरित्यनेन दिवा-  
चिरदर्शनप्रस्तरयजमानयूपादित्यादिवादापेक्षया अद्वैतवादस्य यद्वैषम्यं  
वक्तुमिष्यते तत्रास्तीति दर्शिनम् । नाऽपर्यङ्क्तिः अद्वैतश्रुतीनां  
स्वार्थनिष्ठत्वावगमात् सन्नहितविधिवाक्यशेषभूतवाक्यान्तरवत्  
अमुख्यार्थान्तरकल्पना न युज्यत इति हि मन्यन्ते । तन्न तथा ।  
तासामपि मोक्षार्थब्रह्मविद्याविधिशेषत्वात् । 'परमात्मनि यो रक्तो  
विगक्तोऽपरमात्मनि' इत्युक्तीत्या ब्रह्मनृष्णाजननौपयिकतया प्रापञ्चिक-  
वस्तुपु वैराग्यं जनयितुं प्रवृत्ता इमाः श्रुतयोऽर्वावादा एव । ततश्च  
प्रत्यक्षप्राप्तार्थाविरोधेन औपचारिकमर्थमुक्त्वा ततो ब्रह्मप्राशस्त्यं



लक्षणाया प्रत्येकदयन्तीति कल्पनीयमिति । सेयं केवलमीमांसकमर्यादानुसारिणी योजना । आचार्यास्तु प्रपञ्चसत्यत्वाविरोधेन मुख्यां वृत्तिमाश्रित्यैव अद्वैतश्रुतोर्निर्वहन्तीति विदन्त्येव विद्वांसः ।

यदि च ईदृशो न्याय्यः कश्चन पन्था नाश्रीयते - तर्हि—“नन्वेवमन्यनौषण्यं तात्त्विकमिति तदनुमितिरपि न बाधेत व्यावहारिकौषण्य-ग्राहिणा प्रत्यक्षेण । एवं च 'आदित्यो यूयः इत्यादावपि 'तात्त्विकादित्यतां यूयस्याश्रित्य शरणं श्रुतिः । विराधादुपजोष्येन न बिभेति कदाचन ॥' इत्याद्यपि स्यात्' इतीदं चाद्यं दुःसमाधानमेव स्यात् । यदुच्यते—'अनौषण्यं तात्त्विकं स्यादिति कांर्थः ? यदि तत्त्वत औषण्यं नास्तीति, तदाऽद्वैते पर्यवसानादिष्टापत्तिरेव,' इति तदयुक्तम् । बह्वे-रनुष्णत्वेन ग्रहणप्रसङ्गात् । व्यावहारिकेणौष्णत्वेन तात्त्विकस्यानुष्णत्वस्य विरोधेन, द्विपदावाधान् । तात्त्विकस्य विषयस्य व्यावहारिकं ग्रहणं न भवतीति चेन्न । सद्रूपब्रह्मग्रहणस्याभ्युपगतत्वात् । व्यावहारिकस्यापि औषण्यस्य ग्रहणं तात्त्विकत्वेनाधिरुद्धस्यापि अनौषण्यस्य ग्रहणं प्रतिबध्नातीति चेत् तर्हि व्यावहारिकग्रहणमतिबन्ध्यग्रहणविषयो न तात्त्विक इत्येव स्यात् । अतात्त्विकस्य बह्वेस्तात्त्विकानुष्णत्वाधारत्वं च कथं भवेत् । तथा च इष्टापत्तिः कृनाऽनुपपन्ना । तेन चानेष्टव्यतात्त्विकानौषण्यसाधकानुमानतुल्यतया जगन्मिथ्यात्वानुमानमाभासरूपमेवेत्येतत् वञ्चलेपायते । एवमेव शैत्यानुमानमपि निदर्शनीयम् । एवं यूपस्यादित्यताऽपि पारमार्थिकी श्रुत्यभिप्रेतेति स्यादेव । अन्यत्रत्वेऽपि मुख्याथसम्भवे लक्षणाया अन्याय्यत्वात्, बाधकप्रत्यक्षस्य दुर्बलत्वान्, व्यावहारिकभेदविषयत्वाच्चेति । अनन्यपरत्वेऽपि सति हेतौ लक्षणाया न्याय्यत्वेन प्रत्यक्षाविरोधाय अद्वैतश्रुतेरयोन्तरपरत्वाङ्गीकारो युक्त एव । न चिदौ परः शब्दाथ इत्यस्य सम्भवस्थलपरत्वात् अर्धमन्तर्वेदीत्यादौ विधेयसमर्पकेष्वेव पदेषु लक्षणाश्रयणात् । गोभिः

श्रीणीतेति निदर्शनपुरस्सरं एवं भवतैवोत्तरत्रोक्तत्वाच्च ।

प्रत्यक्षदौर्बल्यापादनव्यसानतया पुनरपि वृथैव बह्नाह । तत्र तावत् नायं सर्प इत्याप्तोपदेशस्य प्रत्यक्षमूलत्वनिश्चये सत्येव रज्जुसर्प-प्रत्यक्षबाधकत्वं, नान्यथा । तथा चिरनिश्चेष्टत्वप्राप्यन्तरास्कन्द-नादिप्रत्यक्षमूलत्वादेव वायं सर्प इत्यनुमानस्यापि तद्बाधकत्वम् । युक्तिरजतप्रत्यक्षबाधकानुमानस्थलेऽप्येवं द्रष्टव्यम् । पीतशङ्खप्रत्यक्षं अप्रमाणतया गृह्यमाणमेवात्पद्यते । शङ्खश्वेतिसन्तः पूर्वंप्रत्यक्षतः सुनि-श्चितत्वात् । आजन्मसिद्धकामलस्य तु पुरुषस्य प्रत्यक्षमूलत्वेन गृहीता-देव आप्तोपदेशात् स्वप्रत्यक्षबाधः । नीलं नभः इति अस्मन्मते प्रमेव । नान्येन तद्बाधः । तन्नरीरूपत्ववादिनां तु सन्निकर्षे नीरूपत्वग्रहणात् दूरे नीलत्वधीर्जायमाना सन्दिग्धप्रामाण्यैव जायत इति तत्र युक्ति-रवकाशं लभते । अहमिहैवास्मि सद्ने जानान इत्यपि जीवाणुत्ववादि-नामस्माकं प्रमेव । न च तद्गणत्वे युगपत् पादशिरोऽवच्छेदेन सुख-दुःखानुभवाचरोधः । धर्मभूतज्ञानेन कृत्स्नशरीरव्याप्तेः । मम शरीरमित्यणुभवस्य सूत्रान् गौरोहमिति शरीराभेदनिश्चयात्मकः प्रत्ययो न भवतीत्युक्तम् । यत्तु गौरोहमिति शरीराभेदप्रत्यक्षे जाग्रति मम शरीरमिति प्रत्यक्षोत्पत्तेर्नास्त्यवकाश इति । तत्र विपरिवर्तः किं न स्यात् । तथा च जपासंसर्गिस्फटिकारुणिमवाद्दं गौरत्वमिति निश्चयः प्रत्यक्षान्तरमूल इति किमनुपपन्नम् ।

ज्वालैक्यप्रत्यक्षेऽपि आश्रयाशस्य आश्रयनाशकत्वं आश्रयनाशा-नन्तरं स्वनाशश्च दृढप्रत्यक्षगृहीतमिति वर्तिनाशस्नेहक्षयप्रत्यक्षानन्तरं नन्मूलकानुनानोदयात् अन्ततः प्रत्यक्षमेव बाधकत्वंनावतिष्ठत इति विभाव्यम् । यच्च चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षं ब्रह्मास्त्रोयति, तदपि व्यामोहमात्रमिति, प्रागेव व्यञ्जितम् । दूरत्वदोषेणेदमलत्वत्वभानं भवितुमर्हतीति धियः सद्यः एव जातत्वेन तस्य प्रत्यक्षस्य स्वगृहीत-

परिमाणनिश्चायकत्वाभावात् ।

यत्त्वत्र “न हि चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षेऽपि प्रागेव दुष्टकरणत्व-  
निश्चयः । नैकत्रयस्यापि क्वचिद्दोषत्वेन सर्वत्र परिमाणज्ञानविश्वास्-  
प्रसङ्गान् । किन्तु आगमादिना बाधानन्तरमेव” इत्युच्यते तत् प्रलापमात्रं  
परिदेवितं वा । नैकत्रयमपि यदि क्वचिद्दोषः, कामं भवतु । कुत्र दोषः  
कुत्र न दोष इति परीक्षया निश्चेतव्यम् । तावता दूरत्वस्य दोषत्वं  
दृष्टं कथमपह्नोतुं शक्यम् । भूमिष्ठान् महतः प्रासादान् गोपुराणि च  
किल सन्निहितपर्वतशृङ्गाग्रान् अस्यल्पानि पश्यामः । लोकानुभवमिमं  
महाकारिणसकृन्निरवधनाति—“दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वीं तभालताली-  
वनगान्निर्भ्रंशः । आभाति वेलाः प्रयत्नः शोभाः शिखरेषु कलङ्करेखा”  
इति, “सरिद् विदूरान्तरभावतन्वी” इति, “एतन्मुनेर्मानिनि शातकणैः  
पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि । आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरा-  
लक्ष्याभवेन्दुविम्बम्” इति च । भामतीकारश्च—“उच्चतरगिरिशिखर-  
वर्तिषु महातरुषु भूमिष्ठस्य दूर्वाप्रवालनिर्भासप्रत्ययवत्” इति ।  
ये आगमगन्धानाभिज्ञा बाह्याः तेऽपि हि सूत्रेचन्द्रादिग्रहाणां भूम्यपेक्षया  
महत्तरत्वमवधारयन्ति । तस्मादत्र प्रत्यक्षस्य प्रागेव दुष्टकरणत्व-  
निश्चयः । न त्वागमादिना बाधानन्तरमिति ध्येयम् ।

यच्च “युक्तिरेवैषा । यद् यद्दूरस्थाल्पपरिमाणज्ञानं तत्तद्दूरदोष-  
निबन्धनमग्रमा । शैलाग्रस्थविटप्यल्पपरिमाणज्ञानवत् । इदमपि  
तथेति । तथा च एवंप्रकारा युक्त्यैव चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षस्य बाधं  
बद्धं ‘युक्त्या न प्रत्यक्षस्य बाधः’ इत्यनेनाजैपीः परं मन्दबुद्धे  
मन्दाक्षं न तु परम् ।” इति तदप्यस्थाने अविनयप्रदर्शनम् । शैलाग्रस्थ-  
विटप्यल्पपरिमाणप्रत्यक्षाप्रामाण्यस्य शैलाग्रमारुह्य विटपिसमापं गत्वा  
लब्धमहापरिमाणप्रत्यक्षाधीनत्वात् । दूरस्य दोषत्वनिश्चयो हि अन्ततः  
प्रत्यक्षाधीन एव । एतन्निश्चयवतां च जायमानं दूरवस्तुप्रत्यक्षां न तत्परि-

माणानिश्चायकं भवतीति न तत्र बाधकान्तरापेक्षाऽस्ति । न हि वह्नि-  
रनुष्ण इति प्रतिज्ञाभासश्रवणसमनन्तरं 'यो यो वह्निः स स उष्णः  
यथा महानसः । अयमपि तथा' इति युक्त्यैव तद्बाध इति वृद्धिमान्  
कश्चिद् वक्तुमर्हति । तदनेनाप्युदाहरणेन प्रत्यक्षस्य अनुमानबाध्यत्वं  
वा आगमबाध्यत्वं वा दुस्साधमिति स्थितम् ।

सर्वदोषविनिर्मुक्तस्याप्यनुमानस्याविश्वसनःयत्वं, प्राचर्नैरुक्तं  
“यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः” इति शास्त्रकाराणां श्लोकं भामत्युदाहृतं  
पठन् तत्र भवान् जानात्येव । तथा सति किं वक्तव्यं सर्वदोषपदुष्टस्य  
जगन्मिश्रयात्वानुमानस्याविश्वसनीयत्वं प्रति । अनेनैव परीक्षितप्रत्यक्ष-  
बाधं साधयितुं प्रवृत्तेन तु नूनं भूतावशेषाविष्टेन भाव्यम् । कृत्स्नस्यैव  
सुपरीक्षितस्यापि प्रत्यक्षस्य भ्रमाविलक्षणत्वं अत एवाविश्वसनीयत्वं  
श्लोपयता “सर्वत्र परिमाणज्ञानाविश्वासप्रसङ्गा” दित्यापादनं विनोदाय  
कल्पते । ब्रह्महत्याशीलस्य पिपीलिकाकारुण्याद्भ्रैचित्तत्वं ह्येतत् । “यत्र  
पुनः विचारपदवीमुपारूढयोर्ज्ञानयोर्वेलाबलचिन्तया बाधनिश्चयः तत्र  
नानुमानादिना प्रत्यक्षस्य मिश्रयात्वसिद्धिः ।” इति विवरणग्रन्थो भव-  
त्पक्षविरुद्ध एव । अद्य हि प्रपञ्चसत्यत्वप्राहिणः प्रत्यक्षस्य तन्मिश्रयात्व-  
प्रतिषेधोऽनुमानानुभावात् बलाबलचिन्तया बाधो निश्चेतव्यो भवति ।  
तत्र प्रत्यक्षस्य नियमेन प्रबलत्वान् न तस्य मिश्रयात्वम् । अत्र यदुच्यते—  
“तदपि गृहीतप्रामाण्यकशब्दतदुपजीव्यनुमानातिरिक्तयुक्तिविषयम्”  
इति तत् कामं तथा भवतु । तेन किं प्रकृतस्य । अद्वैतश्रुतिर्हि प्रपञ्च-  
मिश्रयात्वं अगृहीतप्रामाण्यक एव शब्दः । अत एव मिश्रयात्वानुमानं च  
गृहीतप्रामाण्यकशब्दानुजीव्येव । तथा हि । अप्रामाण्यप्रापकं शास्त्रम् ।  
तथा चाहुः—‘अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्’ इति । प्राप्तिश्च तत्त्वेन वा अतत्त्वेन  
वा । तत्र तत्त्वेन प्राप्तार्थबोधने अनुवादमात्ररूपत्वापत्तेः शास्त्रस्यार्थ-  
वत्त्वं हीयते । अतत्त्वेन प्राप्तार्थबोधने तु वाधितार्थत्वान् । तेन ‘अग्निर्हि-

मस्य भेषजम्” इत्यस्य यथा न स्वार्थे गृहीतप्रामाण्यकत्वं, लाकृत एव तथात्वेन प्राप्तवान्, तथा 'नेह नानाऽस्ति' इत्यादेरपि प्रपञ्चासत्त्वरूपार्थे न गृहीतप्रामाण्यकत्वम्, प्रपञ्चस्यासत्त्वविवर्त्येण, सत्त्वेन प्राप्तवान् । “प्रपञ्चसत्त्वस्य प्रत्यक्षेण प्राप्तवान् तदप्रान्तासत्त्वे श्रुतेस्तात्पर्यम् । अप्राप्तत्वरूपापूर्वत्वलिङ्गान्”, इति अनिरूपकाणां भ्रान्तानामयं वादः । 'प्रपञ्चासत्त्वं नास्ति' इति असत्त्वमपि हि नास्तित्वेन प्रत्यक्षतः प्राप्तम् प्रस्तरे यजमानाभेदाभाव इव । तस्मान् व्यतिरेकेण निश्चितत्वान् प्रपञ्चासत्त्वमपि प्राप्तमेवेति तद्विषयमपूर्वतालिङ्गं नास्ति । तदभावे च लिङ्गान्तराणि सर्वाणि असत्कल्पान्येवेति प्रत्यक्षबाधनक्षमां गृहात-प्रामाण्यकः शब्दो वा तदुपजीवो तर्को वा न कश्चन सम्भवतीति ।

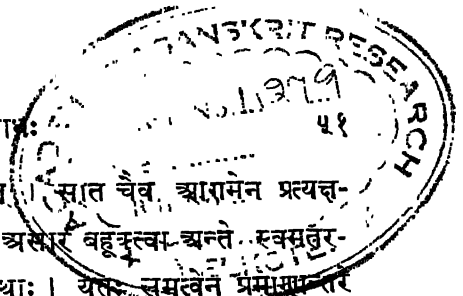
अथ प्रत्यक्षस्य भाविबाधमुपपादयन् इदमाह—

एवं च “भाविबाधनिश्चयाच्च” इति यदुक्तं तदप्युपपन्नमेव । प्रकारान्तरेणाबाधितस्य चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षस्य यथा आगमेन बाधः, तथा प्रकारान्तरेणाबाधितस्य 'सन् घटः' इत्यादिप्रत्यक्षस्य भिद्यतात्वबोधकेनागमेन बाध इति निर्णयान् ।...वस्तुतस्तु बाधशङ्कामादायापि प्रत्यक्षस्य बाधकतोद्भागः समीचीन एव । प्रत्यक्षशब्द-योर्वलावलविचारान् प्राक् क्रिमयं शब्द उपचरितार्थः आहोस्विन् प्रत्यक्षमप्रमाणम् ? इति शङ्कायामुभयारबोधकत्वप्राप्तौ तात्पर्यालिङ्गः श्रृयमाणार्थपरतया निश्चितस्यागमस्य उपचरितार्थत्वशङ्काव्युदासेन लब्धावकाशत्वसम्भवात् ।

इति । पूर्वं 'भाविबाधाभावानिर्णयाच्च' इति स्थितः पाठः । अत्र तु भाविबाधनिश्चयाच्चेति यदुक्तम् इत्यनुवादो दृश्यते । कथमिदमिति विमर्शनीयम् । अत्रोक्तं सर्वं पूर्वमेव समाहितमिति पुनरिदानीं वक्तव्यं न किञ्चिदस्ति । 'क्रिमयं शब्द उपचरितार्थः आहोस्विन् प्रत्यक्षमप्रमाणम्' मिति संशयोत्थानस्य वैदिकानां कुले नास्ति सम्भवः ।

परिच्छेदः

अनुमानबाधः



प्रत्यक्षाविरुद्धार्थ एव वेदप्रामाण्यात् । सात चैव, आपामेन प्रत्यक्ष-  
बाधः सुतरामसम्भवदुक्तिकः । अत्र अस्मात् बहुकृत्व-अन्ते स्वसुतर-  
इस्यं प्रकाशयन् इदमाह—“मैवं मंस्थाः । यत् स्वसुतरे प्रमाणान्तर-  
उपास्थित एवं निश्चिन्तेऽपि सत्त्वादौ शङ्का भवतीति ब्रूमः । न तु  
निश्चितमाने शङ्का भवतीति । तथा च यदुक्तं बौद्धं प्रति भट्टवार्तिके  
“दुष्टज्ञानगृहीतार्थप्रतिषेधोऽपि युज्यते । गृहीतमात्रबाधे तु स्वप-  
क्षोऽपि न सिद्धयति ॥” इति, तदापि न विरुद्धयते । गृहीतमात्रबाधस्य  
तच्छङ्कायाश्चानुक्तेः ।” इति, “आगमादिप्रामाण्यमूलकशङ्काया एव  
स्वीकारात्” इति च । प्रत्यक्षेण प्रश्नसत्त्वे निश्चिते, प्रकारान्तरेण तत्र  
शङ्कायाः कथमप्यसम्भवे स्थिते स्वाभिमतार्थाद्वैतश्रुतबलादेव शङ्का  
भवतीत्याह । प्रत्यक्षाविरुद्धमप्यर्थं बाधयितुं प्रभवत् वेद इत्येतत् यदि  
सिद्धं स्यात् तदा एवमापि वक्तुं कर्त्तव्यं युज्यते । न च तत्सिद्धम् ।

“प्रवृत्ता हि श्रुतिरनपेक्षतया स्वतः प्रमाणत्वेन न प्रमाणान्तर-  
मपेक्षते । प्रवर्तमाना पुनः स्फुटतरप्रतिष्ठितप्रामाण्यतर्कविरोधेन  
मुख्यार्थान् प्रख्याप्य जघन्यवृत्तित्तां नीयते । यथा मन्त्रार्थ-  
वादावत्यर्थः ।”

इति भोक्त्रापत्त्यधिकरणभक्त्या यदुक्तं स एव सर्वत्र वैदिकानां  
सिद्धान्तो भवितुमर्हतीत्यवगन्तव्यम् । तदेवं प्रश्नसत्ताप्राहिप्रत्यक्ष-  
प्रामाण्यं प्रति शङ्कायाः कथमप्ययोगान् तेन मिथ्यात्वानुमानस्य बाधो  
दुरुद्धर एव ।

## १६. अनुमानबाधः

अथ विमतं सन् परमार्थसद्वा प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सति  
असद्विलक्षणत्वात्, ब्रह्मवत्, व्यतिरेकेण शशःशृङ्गवद्वा, इति मिथ्यात्वानु-  
मानबाधकं विश्वसत्यत्वानुमानं यद् दृष्यते तदपि न युज्यते । तथाहि ।  
यदुच्यते ‘त्वन्मते प्रातिभासिकस्याप्यसत्त्वेन व्यर्थविशेषणतया

व्याप्यत्वासिद्धेः इति; तन्न । व्यर्थविशेषणत्वेऽपि व्याप्टेरनपायान् ।  
तदुक्तं न्यायपरिशुद्धावाचार्यचरणैः—

व्यर्थविशेषणप्रयोगेऽपि विशेष्यमात्रव्याप्टेरनपक्रमाद् विशिष्ट-  
स्यापि व्याभिचाराभावेन व्याप्तिसिद्धेः । न हि कार्यत्वमन्तित्यत्वं  
न व्यभिचरति, प्रयत्नकार्यत्वं तु व्यभिचरतीति सम्भवति । न च  
धूमवत्वालोक्तवत्त्वे प्रत्येक पावकाविनाभूते । धूमवत्त्वे सत्वालोक्त  
वत्त्वादिति प्रयोगे तु अधिनाभावं त्यजत इति युक्तिमत् । अतो  
व्यर्थविशेषणत्वेऽपि न व्याप्तप्रसङ्गः । पक्षादिविशेषणाद्वैयर्थ्येषु तु  
न व्याप्यत्वासिद्धिप्रसङ्गोऽपि ।

इति । वस्तुतस्तु न प्रकृते विशेषणस्य वैयर्थ्यम् । असद्विलक्षणत्वा-  
दित्यत्र आत्यन्तिकसत्त्वविवक्षणात् । प्रातिभासिकस्य अत्यन्ता-  
सत्त्वाभावान् । भ्रमस्थले हि भ्रमविषयस्य धर्मिव्यतिरिक्ते क्वचित्तं  
सत्त्वमस्त्येव, न तु यत्रकाप्यसत्त्वं शशशृङ्गादेरिव । अत एक विधा-  
सत्त्वोक्तौ इतरासत्त्वानुक्तेः उभयोश्च मितलयोः साध्यप्रयोजकत्वात्  
क विशेषणस्य वैयर्थ्यम् । यच्च 'अस्मन्मत्तमाश्रित्य हेतूकरणे च  
देहात्मैक्ये ब्रह्मज्ञानेतराबाध्ये व्याभिचारान्' इति तर्दान् । तस्य  
प्रातिभासिकत्वेन तदनधिकरणत्वाभावात् । न च ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व-  
मेव प्रातिभासिकत्वम् । देहात्मैक्यस्य च तन्नास्ति । यावत्संसारं  
तत्प्रतीत्यनुवृत्तेः । तदत्र साध्याभावेऽपि हेतोः सत्त्वान् दुर्निवारो व्यभि-  
चार इति शङ्कथम् । ब्रह्मज्ञानेतराण मम देह इति प्रत्यक्षेण, स्तन्यपाना-  
दिदर्शनमूलेनानुमानेन च आत्मनो देहव्यतिरेकस्य निश्चिततया  
देहात्मैक्यप्रातिभासिकत्वस्यासन्देहगन्धमवधृतत्वात् । देहसंसर्गोपाधेर-  
नुवर्तमानतया आत्मनस्तदैक्यप्रतीत्यनुवृत्तावपि तन्मिध्यात्वावधारणस्य  
निविघातत्वात् । प्रातिभासमात्रनिष्पन्नशरीरत्वस्यैव प्रातिभासिकपदार्थ-  
त्वात् । अधिष्ठानवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपमिध्यात्वप्रतीतेरेव बाध-





भ्युपगतत्वात् । तस्य च तदुभयव्यावृत्तिप्रयोजकत्वस्य सतः सिद्धत्वादिति ।

अथ यदुक्तम्—‘नित्यत्वमुपाधिः । तुच्छप्रतिभासिकयोः नित्यत्वव्यतिरेके साध्यव्यतिरेकदर्शनान्’ इति, तत्र वदामः । नित्यत्वस्योपाधित्वं न सम्भवति, अप्रयोजकत्वात् । न हि ब्रह्म नित्यत्वान् असत्प्रातिभासिकाभ्यां व्यावृत्तम् । अनित्यान् व्यावृत्तं हि नित्यत्वम् । परमार्थसत्त्वादेव तु तत् ताभ्यां व्यावृत्तम् । स्पष्टं चेदं नित्यत्वव्यतिरेकेण साध्यव्यतिरेकसाधने । विमतं परमार्थसन्न भवति नित्यत्वाभावादिद्यत्र हि प्रातिभासिकसत्तातिरिक्तसत्ताविरहः अवाध्यत्वानविहरणत्वं वा उपाधिर्भवति । तदेवं साध्यव्यतिरेकसाधने सोपाधिकत्वात् नित्यत्वमप्रयोजकमिति न तस्योपाधित्वमिति । तदस्मिन् विश्वसत्यत्वानुमाने

एकस्य हेतोरिति दूषणानि

दत्तानि सर्वाणि समाहितानि ।

स एव हेत्वन्तरदूषणानां

पन्था निरासेऽश्वत्थलम्बनीयः ॥

किन्तु—प्रमाणराजत्वपदेऽभिपत्तं

प्रत्यक्षरूपं यदिदं प्रमाणम् ।

विश्वस्य तेन प्रमितस्य सिद्धिं

लज्जामहे लिङ्गबलेन कर्तुम् ॥

विश्वापलापनिरतस्य तु किञ्चिदस्ति

हित्वाऽनुमानमपरं शरणं न लोके ।

तेनानुमानसरणौ बहुचापलोऽसौ

तत्क्षेपणेषु सुधियो बहु सम्भ्रमाश्च ॥

## १७. विशेषानुमानानि

तदिदानीं विश्वमिथ्यात्वे तदीयानि विशेषतोऽनुमानान्येव विमृ-  
शामः । प्रायोऽत्र शब्दावन्यासभेद एव न तु प्रमेयभेद इत्यवगन्त-  
व्यम् । १. ब्रह्मज्ञानेतरावाध्यं यन् ब्रह्मान्यत् तन्निष्ठं स्वसत्त्वानधि-  
करणत्वं पारमार्थिकसत्त्वाधिकरणवृत्ति ब्रह्मावृत्तित्वान् शुक्तिरूप्यत्ववत्  
परमार्थसद्भेदवच्च ।” इत्यत्र ब्रह्मज्ञानेतरबाधितवृत्तित्वमुपाधिः ।  
उक्तासत्त्वानधिकरणत्वं पारमार्थिकसत्त्वाधिकरणवृत्ति प्रातिभासिक-  
सत्त्वानधिकरणवृत्तित्वान् ब्रह्मत्ववत् इति सत्प्रतिपन्नता च । २. विमतं  
मिथ्या ब्रह्मान्यत्वान् शुक्तिरूप्यत्वन्, इत्यत्र हेतुव्याप्यत्वासिद्धः । न  
हि ब्रह्मान्यत्वे तत्र व्याप्तिर्गृहीता । अपि तु मिथ्याप्रत्ययविषयत्वे । व्याव-  
हारिकेतरत्वं प्रातिभासिकत्वं वा उपाधिश्च । विमतं न मिथ्या प्राति-  
भासिकेतरसत्त्ववत्त्वात् ब्रह्मवदिति सप्रतिज्ञासाधनत्वं च । ३. परमार्थ-  
सत्त्वं स्वसमानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोग्यवृत्ति, सदितरावृत्ति-  
त्वान् ब्रह्मत्ववत्, इत्यत्र एकव्यक्तिवृत्तित्वमुपाधिः । परमार्थसत्त्वं  
स्वसमानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोगिवृत्ति, सत्त्वत्वान् घटत्वादि-  
समानाधिकरणव्यावहारिकसत्त्ववत् इति सत्प्रतिपन्नश्च । ४. ब्रह्मत्वमे-  
कत्वं वा सत्त्वव्यापकं सत्त्वसमानाधिकरणत्वान्, असद्वैलक्षण्यवत्,  
इत्यत्र हेतुरप्रयोजकः । न हि सामानाधिकरण्यमात्रं व्यापकत्वे प्रयोज-  
कम् । घटपटयोः सामानाधिकरण्येऽपि एकस्येतरं प्रति व्यापकत्वा-  
भावान् । असद्वैलक्षण्यस्य सत्त्वव्यापकत्वं च यावत्सत्त्वाधिकरण-  
वृत्तित्वात्, न तु सामानाधिकरण्यमात्रान् । ब्रह्मत्वमेकत्वं वा न सत्त्व-  
व्यापकम्, सत्त्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्, घटत्ववत्  
तदेकत्ववद्वेति सत्प्रतिपन्नश्च । ५. व्याप्यवृत्तिघटादिः जन्याभावाति-  
रिक्तस्वसमानाधिकरणभावमात्रप्रतियोगी अभावप्रतियोगित्वात्,  
अभिधेयत्ववत् इत्यत्र केवलान्वयित्वमुपाधिः । घटादिः उक्तविधाभाव

मात्रप्रतियोगी न भवति, अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वान्, व्यतिरेकेणा-  
 भिधेयत्ववदिति सत्प्रतिपन्नता । ६. अत्यन्ताभावः प्रतियोग्यवच्छिन्न-  
 वृत्तिः नित्याभावत्वान् अन्योन्याभाववन्, इत्यत्र हेतुरप्रयोजकः ।  
 अत्यन्ताभावः प्रतियोग्यवच्छिन्नवृत्तिर्न भवति, प्रतियोगिविरुद्धत्वान्  
 तन्तत्प्रतियोगिविरुद्धतत्तद्गुणजात्यादिर्वादिति सत्प्रतिपन्नश्च । अत्य-  
 न्ताभावः प्रतियोगिकालावच्छिन्नप्रतियोग्यधिकरणवृत्तिर्न भवति  
 अन्योन्याभावभिन्नाभावत्वान् प्रागभाववन् प्रध्वंसाभाववद्वेति च ।  
 ७. एवमेव एतदनन्तरोक्तं अत्यन्ताभावत्वपक्षकमप्यनुमानं प्रत्या-  
 ख्येयम् । ८. घटात्यन्ताभावत्वं प्रतियोगिजनकाभावसमानाधिकरण-  
 वृत्तिः, एतत्कपालसमानकालीनैतद्धटप्रतियोगिकाभावावृत्तित्वात् प्रमेयत्व-  
 वत् इत्यत्र केवलान्वयित्वमुपाधिः । घटात्यन्ताभावत्वं प्रतिया-  
 गिजनकाभावसमानाधिकरणवृत्ति न, एतत्कपालसमानकालीनैतद्धट-  
 प्रतियोगिकानित्याभावावृत्तित्वात्, जलत्ववत्, इति प्रतिसाधनं च ।  
 ९. एतत्कपालमेतद्धटात्यन्ताभावाधिकरणं आधारत्वान् पटादिवत्,  
 इत्यत्र एतद्धटानधिकरणत्वमुपाधिः । एतत्कपालमेतद्धटात्यन्ताभावा-  
 धिकरणं न, एतद्धटाधिकरणत्वान् । यन् येन सम्बन्धेन यदधिकरणं तत्  
 तेन सम्बन्धेन तदत्यन्ताभावस्याधिकरणं न भवति, यथा घटवद्भूतलं  
 घटात्यन्ताभावस्य, ब्रह्म वा ब्रह्मत्वात्यन्ताभावस्य इति प्रतिसाधनं च ।  
 १०. ब्रह्मत्वं न परमार्थसन्निष्टान्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकम्, ब्रह्म-  
 वृत्तित्वान्, असद्वैलक्षण्यवत्, इत्यत्र न परमार्थसन्निष्टत्वमुपाधिः । असद्वै-  
 लक्षण्यं हि सर्वेषु सत्सु वर्तते न परमार्थसत्येव । तेन तस्य सर्वसद-  
 वृत्तित्वमेव परमार्थसन्निष्टान्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वाभावे हेतुः  
 न तु ब्रह्मवृत्तित्वमेव । ब्रह्मत्व परमार्थसन्निष्टान्योन्याभावप्रतियोगिता-  
 वच्छेदकम्, सत्त्वव्याप्यधर्मत्वान् आकाशत्ववदिति प्रतिसाधनं च ।  
 परमार्थसत्प्रतियोगिको भेदः न परमार्थसन्निष्टः परमार्थसत्प्रतियोगित्वान्,

परमार्थसत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिकाभाववत्, इत्यत्र यावद्व्यक्तिप्रतियोगित्व-  
मुपाधिः । परमार्थसत्प्रतियोगिको भेदः सजातीयसन्निष्ठः । सत्प्रतियो-  
गिकभेदत्वान् घटादिसङ्घेदवदिति प्रतिसाधनम् । १२. भेदत्वावच्छिन्नं  
सद्विलक्षणप्रतियोग्यधिकरणान्यतरवत्, अभावत्वात् शुक्तिरूप्यप्रतियो-  
गिकाभाववत्, इत्यत्र बाधितप्रतियोगिकत्वमुपाधिः । ब्रह्मज्ञानेतराबाध्य-  
प्रतियोग्यधिकरणभेदसामान्यसत्त्वेन सजातीयप्रतियोग्यधिकरणकम्,  
अबाधितप्रतियोग्यधिकरणकाभावत्वात्, घटवृत्तिपटत्वाभाववदिति  
प्रतिसाधनम् । १३. परमार्थसन्निष्ठो भेदो न परमार्थसत्प्रतियोगिकः  
परमार्थसदधिकरणत्वात्, शुक्तिरूप्यप्रतियोगिकभेदवत् इत्यत्रापि बाधि-  
तप्रतियोगिकत्वमुपाधिः । घटनिष्ठो भेदो न घटप्रतियोगिकः घटाधि-  
करणत्वात् शुक्तिरूप्यप्रतियोगिकभेदवदित्याभासतुल्यता च । १४.  
मिथ्यात्वं ब्रह्मनुच्छेदोभयातिरिक्तत्वव्यापकम्, सकलमिथ्यावृत्तित्वात्  
मिथ्यात्वसमानाधिकरणत्वेन्ताभावाप्रतियोगित्वाद्वा दृश्यत्ववत्, इत्यत्र  
हेनोरप्रयोजकत्वम् । मिथ्यात्वं उक्तोभयातिरिक्तव्यापकं न भवति, बाधि-  
तमात्रवृत्तित्वात्, शुक्तिरूप्यत्ववदिति सप्रतिसाधनत्वं च । यथा कश्चिद्  
वृथान्-भ्रमत्वं अज्ञानातिरिक्तत्वव्यापकम् सकलभ्रमवृत्तित्वात् भ्रमत्व-  
समानाधिकरणत्वेन्ताभावाप्रतियोगित्वाद्वा ज्ञानत्ववत् इति, द्रव्यत्वं  
तुच्छातिरिक्तत्वव्यापकम्, सकलद्रव्यवृत्तित्वात् द्रव्यत्वसमानाधिकरणा-  
त्ताभावाप्रतियोगित्वाद्वा अभिधेयत्ववत् इति च, तादृगिदं भवती-  
त्याभासतुल्यता च । १५. दृश्यत्वं परमार्थसद्वृत्ति अभिधेयमात्रवृत्ति-  
त्वात्, शुक्तिरूप्यत्ववत्, इत्यत्र बाधितवृत्तित्वमुपाधिः । दृश्यत्वं पर-  
मार्थसद्वृत्ति प्रातिभासिकेतरवृत्तित्वात् ब्रह्मत्ववत् इति प्रत्यनुमानं च ।  
दृश्यत्वं परमार्थसद्भिन्नत्वव्याप्यम्, दृश्येतरावृत्तिधर्मत्वात्, प्रातिभासि-  
कत्ववत्, इत्यत्र पूर्ववदेवोपाधिर्वाच्यः । दृश्यत्वं परमार्थसद्भिन्नत्व-  
व्याप्यं न, प्रातिभासिकेतरवृत्तित्वात् ब्रह्मत्ववत्, इति प्रतिसाधनं च ।

१७. उभयसिद्धमलक्षणं मिथ्यात्वासमानाधिकरणधर्मानधिकरणम् आधारत्वान् शुक्तिरूप्यवदित्यत्र बाधितत्वमुपाधिः । उभयसिद्धं असद्विलक्षणं मिथ्यात्वासमानाधिकरणधर्मानधिकरणत्वाभाववत् आधारत्वान् ब्रह्मवदिति प्रत्यनुमानं च । न च दृष्टान्तस्य हेतुविकलता । काल्पनिकस्याधारत्वस्य सत्वान् । अकाल्पनिकस्य भवन्मते कुत्राप्यभावात् । १८ प्रतियोग्यवच्छिन्नो देशः अत्यन्ताभावश्रयः आधारत्वान् कालवन् , इत्यत्र सर्वाधारत्वमुपाधिः । प्रतियोग्यवच्छिन्नो देशः अत्यन्ताभावाश्रयो न, प्रतियोग्यधिकरणत्वान् परमार्थसत्त्वाश्रयवत् , इति प्रत्यनुमानं च । १९. आत्मत्वावच्छिन्नं परमार्थसत्त्वाधिकरणप्रतियोगिकभेदत्वावच्छिन्नरहितम् , परमार्थसत्वान् , परमार्थसत्त्वावच्छिन्नवन् , इत्यत्र हेतुरप्रयोजकः । आकशत्वावच्छिन्नं गुणाश्रयत्वाधिकरणप्रतियोगिकभेदत्वावच्छिन्नरहितम् , गुणाश्रयत्वान् गुणाश्रयत्वावच्छिन्नवन् , इत्येतदाभाससाम्यं च । २०. “शुक्तिरूप्यं मिथ्यात्वे प्रपञ्चान्न भिद्यते, व्यवहारविषयत्वान् ब्रह्मवन् । साध्यसत्त्वमत्र त्रेधास्वस्यामिथ्यात्वेन उभयोर्मिथ्यात्वेन उभयोरमिथ्यात्वेन वा । तत्रान्तिमपक्षस्यासम्भवान् पक्षे साध्यसिद्धिपर्यवसानं मध्यमपक्षेण दृष्टान्ते तु प्रथमपक्षेणेति त्रिवेकः ।” इत्यत्र हेतुत्रिवेचनीयः । यदि व्यवहारविषयत्वं नाम हानोपादानविषयत्वं न तत् पक्षे दृष्टान्ते वा वर्तते । यद्यभिधेयत्वं तन्न दृष्टान्ते । ब्रह्मणोऽनभिधेयत्वाङ्गीकारात् । व्याख्याता तु व्यवहारैत्यविवक्षितमित्याह । तदपि विषयत्वं नाम पक्षदृष्टान्तसाधारणं किमिति न जानामिः । किञ्च दृष्टान्ते ब्रह्मणि मिथ्यात्वहेत्तुप्रपञ्चभेदवत्त्वाभावः तस्यामिथ्यात्वप्रयुक्तः । पक्षे तु उभयमिथ्यात्वप्रयुक्तः । ताविमौ भिन्नरूपौ द्वौ धर्मौ श्लेषभङ्गया एकधा उपादाय मिथ्याभूतस्य पक्षस्य परमार्थसद्ब्रह्म दृष्टान्तीकुर्वन् उक्तित्रैचित्रीकौशलं दर्शयति । काव्येषु किलेयं शोभते न तत्त्वाभिनिवेश-गहनगम्भीरेषु शास्त्र-

ग्रन्थेषु । सेयं महती तार्किकविडम्बना । वृत्तोऽयं दिव्यस्थानम्, हरिवि-  
हरणाधिकरणत्वात् वैकुण्ठवत् इति यथा । विपर्ययस्य चेदनुमानं पठितुं  
शक्यम्—ब्रह्म अमिथ्यात्वेन प्रपञ्चान्न भिद्यते, व्यवहारविषयत्वात्,  
शुक्तिरूप्यवत् । साध्यसत्त्वमत्र त्रेधा-स्वस्य मिथ्यात्वेन उभयोरमिथ्यात्वेन  
उभयोर्मिथ्यात्वेन वा । तत्रान्तिमपक्षस्यासम्भवात् पक्षे साध्यसिद्धिपर्यव-  
सानं मध्यमपक्षेण । दृष्टान्ते तु प्रथमपक्षेणेति विवेक इति । २१. विमतं  
मिथ्या मोक्षहेतुज्ञानाविषयत्वे सति असदन्यत्वान् शुक्तिरूप्यवत्,  
इत्यत्र हेतुप्रयोजकः । बाधितत्वाद्धि तत्र मिथ्यात्वं न तु मोक्षहेतु-  
ज्ञानाविषयत्वादिना । विमतं न मिथ्या अयथार्थज्ञानाविषयत्वात् ब्रह्म-  
वदिति प्रतिसाधनम् । २२. मोक्षहेतुज्ञानविषयत्वं परमार्थसत्त्वव्यापकम्  
परमार्थसत्त्वसमानाधिकरणत्वात् पारमार्थिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्व-  
म् । इत्यत्र हेतुप्रयोजकः । सर्वपरमार्थसद्भूतित्वमुपाधिः । पृथिवीत्वं  
द्रव्यत्वव्यापकम् द्रव्यत्वहेतुज्ञानविषयत्वं परमार्थसत्त्वव्यापकं न ज्ञान-  
विषयत्वात् घटत्वाद्यवच्छिन्नज्ञानविषयत्ववत्, इति प्रतिसाधनञ्च ।  
२३. एतत्पटात्यन्ताभावः एतत्तन्तुनिष्ठः एतत्पटानाद्यभावत्वात् एतत्प-  
टान्योन्याभाववत् इत्यत्र पूर्ववद्प्रयोजकत्वं स्थितम् । अविरोद्धप्रतियो-  
गिकत्वमुपाधिः । एतत्पटात्यन्ताभावः एतत्तन्तुनिष्ठो न, एतत्पटानधि-  
करणवृत्तित्वात् पटान्तराधिकरणत्ववत्, इति प्रत्यनुमानं च । २४. यद्वा-  
समवायसम्बन्धावच्छिन्नोऽयमेतत्पटात्यन्ताभावः एतत्तन्तुनिष्ठः एत-  
त्पटप्रतियोगिकात्यन्ताभावत्वात् सम्बन्धान्तरावच्छिन्नैतत्पटात्यन्ता-  
भावावत् इत्यस्मिन्ननुमानान्तरेऽपि पूर्ववत् अप्रयोजकत्वोपाधिप्रत्यनुमा-  
नानि द्रष्टव्यानि । सम्बन्धविशेषावच्छिन्नोऽयं ब्रह्मत्वात्यन्ताभावः ब्रह्म-  
निष्ठः ब्रह्मत्वप्रतियोगिकात्यन्ताभावत्वात्, सम्बन्धान्तरावच्छिन्नब्रह्म-  
त्वाभाववत् इत्याभाससाम्यं च दुष्परिहरम् । २५. अव्याप्यवृत्तित्वानधि-  
करणत्वे सति उक्तपक्षतावच्छेदकवत् स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रति-

योगि अनात्मत्वान् संयोगवन् इत्यत्र अव्याप्यवृत्तित्वमुपाधिः स्फुटः ।  
 अप्रयोजकता च स्थितैव । उक्तः पक्ष उक्तसाध्यवान्न प्रातिभासिकव्यति-  
 रिक्तत्वे सति व्याप्यवृत्तित्वान् आत्मत्ववदिति प्रत्यनुमानं प्रदर्शनीयम्  
 २६. नित्यद्रव्यान्यन् अव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणमुक्तपक्षतावच्छेकवन्  
 केवलान्वयत्यन्ताभावप्रतियोगिपदार्थत्वान् नित्यद्रव्यवन्, शुक्तिरूप्यवद्वा  
 इत्यत्र अप्रयोजकत्वं स्थितम् । अवृत्तिनिश्चयन्यनरप्रतियोगित्वमुपाधिः ।  
 उक्तः पक्षः केवलान्वयत्यन्ताभावप्रतियोगी न स्वव्यविकरणाभावप्रति-  
 योगित्वान् ब्रह्मत्ववन् परमार्थसत्त्ववद्वा इति प्रतिसाधनं च । ब्रह्मत्वं पर-  
 मार्थसत्त्वं वा केवलान्वयत्यन्ताभावप्रतियोगि पदार्थत्वान् शुक्तिरूप्यव-  
 दित्येतत्समं च । २७. आत्मत्ववच्छिन्नधर्मिको भेदः न परमार्थसत्प्रति-  
 योगिकः आत्मप्रतियोगित्वान् शुक्तिरूप्यप्रतियोगिकभेदवत्, इत्यत्र  
 हेतुरप्रयोजकः व द्विनप्रतियोगिकत्वमुपाधिः । आत्मत्वावच्छिन्नधर्मिकं  
 भेदः न न परमार्थसत्प्रतियोगिकः तुच्छप्रतिभासिकान्यप्रतियोगिकत्वात्,  
 आत्मत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकभेदवन्, इति प्रत्यनुमानं च ।

नैकोऽपि हेतुः सुवदाऽऽनदाऽपः

प्रपञ्चमिथ्यात्वमनर्थनार्हः ।

परिस्फुरन्तं दिवि भानुमन्तं

निह्नांतुर्माष्टे निपुणोऽपि सन् कः ॥

मिथ्यनुमानशनमप्यनलं क्लिष्टहृद्

मिथ्येति साधयितुनेऽनुमं प्रपञ्चम् ।

पन्थानमागमनिदक्षितमप्युदार-

साश्रित्व बौद्धमनुगच्छति यः स शोच्यः ॥

१८. आगमवाधः ।

आगमबाधोऽपि प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानस्य दुरुद्धरः । स हि पूर्वोत्तर-  
 भागयोर्द्वयोरपि विविधभेदावलम्बनेनैव उच्चावचानर्थान् विदधाति ।

पञ्चसत्यत्वं च कथं तद्माह । न क्वाचिन् व्यङ्ग्यमर्यादयाऽपि मिथ्या-  
त्वम् । 'श्वोऽभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्' इति प्रापञ्चिकानां वस्तुना-  
मनित्यत्वमाह । सृष्टिप्रलयप्रदर्शनेन प्रपञ्चस्य ! तस्मादनित्यत्वेऽपि  
प्रपञ्चस्य परमार्थसत्त्वानपायात् एतत्प्रतिपादकेनागमेन बाधितमेव  
मिथ्यात्वानुमानम् । यत्तु विश्वसत्त्वप्रतिपादनमागमिकं अन्यपरत्वान्न  
स्वार्थतरस्मितं, तेन किमुक्तं भवतीति विवेचनीयम् । वायुर्वै क्षेपिष्ठा  
देवतेत्यस्य हि अन्यपरत्वेऽपि बाधार्थलक्षणं प्रामाण्यं नापैति । अत्रशं  
चान्यपराणामपि वाक्यानामबाधितार्थत्वाय अर्थवस्तुप्रतिपादकत्वं  
यतनीयम् । तत्र आदित्यो यूष इत्यादौ गुणवाद्भाश्रित्य बाधार्थं  
कल्प्यते । वायुर्वै क्षेपिष्ठेत्वादौ यथाश्रुतार्थस्यैव यथार्थत्वात् स तथैव  
गृह्यते, न तु किञ्चिन् कल्प्यते । वज्रहस्तः पुरन्दरः इत्यत्राप्येवमेव ।  
वायुर्क्षेपिष्ठत्वं प्रत्यक्षावगतम् । पुरन्दरवज्रहस्तत्वं तु अनेनैव वेदवाक्ये-  
नावगम्यत इति विशेषः । न चानेनैव वाक्येतास्य स्वार्थस्य विवेक-  
प्रशंसारूपस्य अर्थान्तरस्य चाभिधाने वाक्यभेद इति शङ्कान् । वज्र-  
हस्तत्वान् प्रशस्तः पुरन्दर इति विशिष्टाभिधानस्य शाब्दत्वात् ।  
पुरन्दरवज्रहस्तत्वस्य अर्थत आक्षेपान् । 'एकोक्त्यवसितानां तु  
नार्थाक्षेपो विरुद्धयते' इति न्यायेन वाक्यभेदाभावान् । अन्यथा प्रशंसा-  
रूपतः तर्पणविपर्ययासिद्धेः । न हि वज्रहस्तत्वं वस्तुतः पुरन्दरस्य  
नास्तीति प्रतीयतः तस्मिन् भाशस्यवृत्तिरुद्देश्यमलम् । आहुश्च 'कथ-  
मसता गुणेन काथतेन नुतिर्भवति' इति । तस्मादन्यपरतयाऽपि वेदोक्तं  
विश्वसत्त्वं पारमार्थिकमेवेति । एतद्विरुद्धसाध्यसाधकतया निर्दिष्टो हेतुः  
कालात्ययापदिष्ट एव ।

ननु प्रवलयोऽद्वैतश्रुत्या विश्वसत्त्वबोधकश्रुतिबाध्यत इति चेन्न ।  
बाधासम्भवान् । श्रुतिश्च बाध्यते चेति विप्रतिषेधान् । ननु तार्तीयां  
बाधः दाशमिको बाध इति प्रसिद्ध एव वेदवाक्यसम्बन्धी बाधो वैदि-



कानां कुल इति चेन्न । विषयव्यवस्थामात्रे तत्र बाधशब्दोपचारात् । अयथाशक्तिभिः प्रायगन्धस्याप्यभावात् । ननु न वयमत्यन्तमयगार्थत्वं विश्वसत्त्वाभिधायिनः शब्दस्य ब्रूमः व्यावहारिकसत्त्वाभ्युपगमादिति चेन्न । नाममात्रभेदात् । व्यवहारकालेऽपि हि वस्तूनामसत्त्वं भवन्त साधयन्ति । शुक्तिरूप्यवदेव च त्रैलोक्यनिषेधप्रतियोगित्वं तेषामिष्यते । व्यवहारस्य सर्वस्य स्वाप्नव्यवहारतुल्यत्वाभिधानात् । एवं च प्रपञ्चस्य सार्वज्ञिकसत्त्वस्य भवद्भिरिष्यमाणत्वात् विश्वसत्त्ववादिनां श्रुतिवाक्यानां व्यवहारिकसत्त्वमुखेन मिथ्यार्थत्वादित्वमेवाभ्युपगतं भवति । न च स्वाप्राध्ययान्दितुल्यता । स्वाप्नाः पदार्थाः सत्या इति तत्रानभिधानात् । यादृशाः स्वप्ना लोके प्रसिद्धाः तान् तथैव कृत्वाऽनूद्य तत्सम्बन्धिरुलादिविशेषमात्रप्रतिपादनात् । प्रकृते तु स्वांक्त्या विश्वसत्यत्वाक्तेः । तस्याश्चान्यतरत्वेऽपि अन्यथासिद्धिविरहेण निरवकाशत्वात् ।

ननु वैदिकं विश्वसत्त्ववचनं लोकसिद्धानुवादमात्रम् । लोकत एव तस्य ज्ञातत्वान् । अतः यादृशं सत्त्वं लोकतोऽवगतं तादृशमेवात्रानूद्यत इति वक्तव्यम् । लोकतः सिद्धिश्च प्रत्यक्षादिना । इदं च प्रवक्तव्याऽद्वैतश्रुत्या विरोधान् व्यावहारिकसत्त्वविषयमिति तत् तादृशमेव श्रुत्याऽनूद्यत इति नात्र काचिदनुपपत्तिरिति चेन्न । प्रत्यक्षेण तत्त्वेनातत्त्वेन वा विनिश्चितो योऽर्थः तद्व्यतिरिक्त एवार्थे श्रुतिः प्रवर्तत इत्यस्यार्थस्य पूर्वमेवापपादितत्वात् । विरोधे प्रत्यक्षापेक्षया श्रुतिप्राबल्यस्य शङ्कितुमप्यशक्यत्वात् । चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षाप्रामाण्यस्य आगमप्रवृत्तेः पूर्वं लोकत एवावधारितत्वस्य निरूपितत्वान् ।

नन्वेवं सति अद्वैतश्रुतेः का गतिरिति चेन् यदि प्रपञ्चमिथ्यात्वपरा अद्वैतश्रुतिरिष्यते तर्हि अधोगतिरेव । ननु पड्विधतात्पर्यलिङ्गोपष्टब्धाऽद्वैतश्रुतिः कथमप्रमाणं स्यदिति चेन् तन्नास्तोक्तमेव । प्रपञ्चमित्यात्वस्यापूर्वत्वाभावात् । नास्तीति निश्चितपूर्वत्वात् । मिथ्यात्वे व्यवहारानुप-

पत्तिप्रसङ्गेन उपपत्तिरूपतात्पर्यलिङ्गविरहाच्च । इह किञ्चन आकाशादिकं नास्ति त्रैकालिकाभावप्रतियोगि, इत्यर्थविवक्षायां 'वह्निरनुष्णः' 'अङ्गुल्यग्रे करिवरशतम्' इत्यादिष्विव शाब्दबोधस्यैव नुदयान् । उदयेऽपि वा बाधितत्वेनैवोदयान् ।

एतेनान्यशेषत्वनिरवकाशत्वतात्पर्यवत्त्वादिभिरद्वैतश्रुतेः विश्वसत्ता-  
बोधकश्रुत्यपेक्षया प्राबल्यसाधनप्रत्याशा दूरोत्सारिता । शाब्दबोधजनन  
एवज्ञमत्वान् । अर्थबोधे सम्पन्ने हि इयं श्रुतिरितरापेक्षया प्रबला दुर्बला  
वेति विचारस्यावसरो भवेत्, अनन्यशेषत्वादिना निर्णयश्च । तदेव तु  
नास्ति । निश्चितप्रामाण्यप्रत्यक्षबाधितत्वात् तस्यार्थस्य । यथा यूपे  
अदित्याभेदस्य ।

अथोच्यत—शाब्दश्रवणसमनन्तरं सर्वत्र प्राणाणान्तरबाधाबाध-  
द्विर्गर्शं विना भर्त्सित बोधो भवति । तदनन्तरं मानान्तरविरोधाविरोध-  
विमर्शः, न्यायेन निर्णयश्च भवतः । एवं सति अद्वैतश्रुत्या प्रपञ्चमिथ्यात्व-  
बोधे जाने, ततः तत्सत्त्वबोधकश्रुत्या विरोधे उपस्थिते, अनन्यपरत्वान्  
पूर्वस्याः स्वार्थनिष्ठत्वं परस्या उपचरितार्थत्वं च निश्चीयते । उपचरि-  
तार्थः व्यावहारिकसत्त्वम् । प्रत्यक्षावगतमपि सत्वमीदृशमेव । अन्यथाऽ-  
द्वैतश्रुत्यनुपपत्तेः ।—इति । तद्युक्तम् । सुचिरोपयुक्तसुदृढप्रमाणावसि-  
तार्थविरुद्धार्थप्रतिपादकान् वाक्यान् विरोधप्रतीतिं विनैव शाब्दबोधोदय-  
स्यात्यन्तमसम्भावितत्वात् । अन्यथा वह्निरनुष्णः आपः कठिना इत्या-  
दिभ्योऽपि कदाचिन् तथा बोधोदयप्रसङ्गान् । व्यावहारिकसत्त्वमित्यनेन  
मिथ्यात्वातिरिक्तं न किञ्चिदुक्तं भवतीति च पूर्वमेवोक्तम् । शुक्तिरूप्या-  
दिकमल्पकालप्रतिभासम् । घटादिकं तु दीर्घकालप्रतिभासं, स्वप्नवन्  
व्यवहारप्रतिभासयुक्तं चेत्येतावानेव हि विशेषः, न तु मिथ्यात्वे कश्चि-  
दिति । तस्मादद्वैतश्रुत्यनुरोधे प्रत्यक्षस्य तत्समानविषयाणां वेदवाक्यानां  
च अत्यन्तमेवोपरोधान् तत्परिहारयासञ्जातविरोधिन्यायेन शास्त्रदीपि-

कोक्तरीत्या अद्वैतश्रुतेरेवोपचरितार्थत्वं युक्तम् । नियतपौर्वापर्यपरस्परसा-  
पेक्षत्वाभ्यां उच्चैर्ऋचा क्रियन् इत्यनार्थवादविध्योः प्रकृते प्रत्यक्षाद्यद्वैत-  
श्रुत्योश्च समानत्वान् तस्य न्यायस्यात्र प्रवृत्तिनिर्विघातेति विभाव्यम् ।

यश्चान्यपरत्वानन्यपरत्वाभ्यां ऋश्चन विशेषोऽभिमतः सोऽपि नास्ति ।  
अद्वैतश्रुतेरपि ब्रह्मप्रतिपत्तिशेषत्वात् । ब्रह्मज्ञानं 'हं भो नृसंभन, न केवलं  
प्रपञ्चमिथ्यात्वज्ञानमात्रम् । नापि ब्रह्मस्वरूपमात्रम् । 'अथाभिदाप्रोभि  
परम्' 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतेः ! तद् ब्रह्म कश्चम्भूतमिति  
जिज्ञासायां 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि प्रवृत्ते । तस्मादिदमन्य-  
न्यपरमेवेति ।

ननु नास्यान्यपरत्वमर्थवादत्वेन यूमादित्यादिवाक्यवत् । अपि तु  
अपेक्षितविशेषसमर्पकत्वेन, दध्ना जुहोतीत्याद्यङ्गविधिवान्वयत् । तस्मान्  
न द्विधौ परः शब्दार्थ इति न्यायेन गुणकल्पनऽत्र न युज्यत इति चेन्  
सत्यम् । तथापि अस्य स्वार्थपरत्वे प्रत्यक्षस्य विश्वसत्त्ववादिश्रुतिवाक्या-  
न्तराणां च अत्यन्तपीडापत्तेः तदपेक्षयाऽत्र गुणकल्पनैव श्रेयसी । नह्येवं  
सति यस्य कस्याप्यग्रामाण्यप्रसङ्गोऽस्ति । यदि चाद्वैतश्रुतिः स्वार्थपरा-  
भवेत् तर्हि कृत्स्ना वेदः तदन्तर्गतमिदं वाक्यं च स्वयं मिथ्या भवेत् ।  
तथा च कस्येदानीं मिथ्यात्वं केन प्रमाणेन सिद्धयेत् । तदिदं प्राचीनैरे-  
वोक्तं दूषणं अद्याप्यपरिहार्यमेव वर्तते ; न चाऽतत्यादपि सत्यसिद्धि-  
र्भवतीति कदाचित् बुद्धिमद्भिरङ्गीक्रियेत अन्यत्र अगतिकेभ्योऽभि-  
निविष्टेभ्यः ।

सर्वमिदं आपाततो वा प्रपञ्चमिथ्यात्वाभिधायिनी श्रुतिरस्तीत्यभ्यु-  
पेत्योयुक्तम् । न तु सा काचित् वस्तुतोऽस्ति । प्रकृतमेव नेह नानेत  
वाक्यमत्रोदाहरामः । इदं व्याचक्षाणैरस्मदुपनिषद्वाप्यकारैः बृहदा-  
रण्यके एवमभाषि—

इह द्रष्टव्ये ब्रह्मणि । नानाशब्दो भावप्रधानः । नानात्वमित्यर्थः ।

यस्मिन् पञ्च पञ्चजना इति मन्त्रनिर्दिष्ट आत्मनि किञ्चन नानात्वं नास्ति । भेदलेशोऽपि नास्तीत्यर्थः । “मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति” । इव शब्दोऽल्पार्थः । इह निश्चलप्रपञ्चाधारभूते आत्मनि अल्पमपि नानात्वं यः पश्यति सः मृत्योर्भृत्युमाप्नोति संसारान् संसारमाप्नोति । अत्यन्तं संसारमाप्नोतीत्यर्थः । अस्य वाक्यस्य परैरप्येवमेव व्याख्यातत्वान्, नात्र वाक्ये प्रपञ्चमिथ्यात्वप्रतिपादनप्रत्याशा कार्या ।

इति । विभुनो ब्रह्मस्वरूपस्य कृत्स्नस्य एकरूपत्वप्रतिपादनपरत्वेनास्य वाक्यस्य प्राचीनैरद्वैतिभिरपि व्याख्यातत्वान् प्रपञ्चमिथ्यात्वे नन्दं प्रमाणमित्युक्तं भवति । नदीनास्तु कूटस्थव्याख्यानमनाहृत्य इह ब्रह्मणि नाना नानाभूतं किञ्चन आकाशादिकं किमपि नान्त वस्तुतो न वर्तते । कल्पितमिथ्येति यावादिति विद्वृण्वन्ति । तदयुक्तम् । यदि तावत् काठकप्रकरणस्य एवायं मन्त्र इति गृह्यते तर्हि ‘यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह’ इति पूर्वमन्त्रे अन्वयमुखेनोक्तस्यैव ब्रह्मस्वरूपैक्यस्य व्यतिरेकेण अर्थवादाभ्यासशिरस्कनुच्यमानः चान् अर्थान्तरकथनं नोपपद्यते । यदि तु काठकप्रकरणमत्र नन्दन्यतिथ्याः नान्ये तदा इह प्रपञ्चे नाना ब्रह्मणः पृथग्भूतं ब्रह्मान्तर्गमिकतया तत्प्रकारत्वरहितं किञ्चन किमपि वस्तु नास्तीत्यर्थो न्याय्यः । इहेति प्रत्यक्षदृष्टप्रपञ्चपरत्वस्वारस्यात् । कुतो नानेति जिज्ञासायां ब्रह्मण इति प्रकरणेन लाभान् । ‘सर्वत्राख्यातसम्बन्धे श्रूयमाणे पदान्तरे । विधिशक्त्युपसङ्क्रान्तेः स्याद्घातोरनुवादता ।’ इति वार्तिकोक्तन्यायेन निषेधस्य नानात्वावपगतया सत्त्वविषयवाभावान् । ‘ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्’ इत्यन्वयेनोक्तस्यार्थस्य व्यतिरेकेणोह प्रतिपादनमिति स्वरसतः प्रतीयमानत्वान् । ‘किमपि नास्ति सर्वं मिथ्या’ इत्येतत्परत्वे इह नानेति पदद्वयवैयर्थ्याच्च । ‘यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशाश्च प्रतिष्ठितः’ इति केषाञ्चित् तत्र प्रतिष्ठि-

तत्त्वे उक्ते न परं त एव, इह विद्यमानं सर्वं तत्रैव प्रतिष्ठितम् अतत्प्र-  
तिष्ठं किमपि नास्तीति प्रतिपादनाय मन्त्रस्य प्रवृत्तत्वान्, इह ब्रह्मणि  
नास्तीत्युक्ते अन्यत्रास्तीति विरुद्धार्थप्रतीतेश्च । इह यन् कल्पितं तत्रा-  
स्तीति विववक्षायामध्याहारापत्तेः । नास्तीत्यस्य कल्पितमित्यर्थाङ्गीकारे  
लक्षणापत्तेः । तद्विद्यं श्रुतिः न प्रपञ्चमिध्यात्वपरा । अन्या अप्येवमेवेति  
ज्ञेयम् । तथा च लौकिकप्रमाणनिश्चितं प्रपञ्चं तथैव कृत्वा तत्सृष्ट्व-  
रचकत्वस्वामित्वेश्वरत्वादिभिर्ब्रह्मणोऽपारं महिमानं तात्पर्येण प्रतिपाद-  
यताऽऽगमेन दुरुद्धरी बाधः प्रपञ्चमिध्यात्वानुमानस्येति सिद्धम् ।

नाभाव उपलब्धेः, वैधर्म्याच्च न स्वप्रादिवत्, इति स्वप्राथम्यविलक्षण-  
बाह्यार्थसत्त्वसाधनपरसूत्रविरुद्धश्चेदं प्रपञ्चमिध्यात्वसाधनम् । यत्तु 'सतां  
ब्रह्मणो नाभावः न शून्यत्वं, उपलब्धेः सत्त्वेन प्रमाणात्प्रतीतेः' इति स्वत-  
न्त्रसूत्रार्थवर्णनं तन् पराभ्युगतार्थदूषणपरेऽस्मिन् पादे सङ्गत्यभावात् अह-  
दयमपत्र्याख्यानमित्येतन् सर्वसुगमम् । यच्च अर्थान्तरमुक्तं नाभावः  
ज्ञानातिरिक्तस्यार्थस्य नासत्त्वम् । किन्तु "व्ययहारदशाऽबाध्यार्थक्रिया-  
कारित्वरूपं सत्त्वमेव । उपलब्धेः ज्ञानातिरेकेण प्रमाणैरुपलब्धेः" इति  
तत्र नासत्त्वमिति पूर्वपक्षप्रतिपक्षतया 'किन्तु सत्त्वमेव' इत्येतावदेव  
वक्तव्यम् । तत्र व्ययहारदशेत्यादि विशेषणदानं तु अप्रामाणिकं स्वद-  
र्शनश्रद्धामात्रविजृम्भितम् । 'स्वप्रवैधर्म्योक्तिर्बाध्यत्वाद्युपाधिप्रदर्शनाय'  
इति यदुक्तं तन् भवदुक्तमिध्यात्वानुमानेऽपि तुल्यम् । यदि हि श्रुत्याध्य-  
त्वान् बाह्यार्थाः सन्ति न तु स्वप्राथम्यवन्न सन्ति, तर्हि तथैव ते परमार्थ-  
सन्तः न तु शुक्तिरूप्यवन्मिथ्येति कुतो न भवति ।

### १६. असतः साधकत्वम् ।

सर्वमिध्यात्ववादिनां तात्त्विकप्रमाणाभावान् स्वाभिमतार्थसिद्धिः  
कथमिति च वक्तव्यम् । दृश्यत्वादिहेतवो हि न वस्तुसन्तः । तैः कथं  
साध्यप्रमितिः । यत्तु धूलीपटले धूमभ्रमादपि बह्वचनमिति प्रमा दृश्यते

इति, तन् कामं तथा । ततः किम् । भ्रमत्वग्रहणे हि उत्पन्नाऽनुमिति-  
प्रमेति बुद्धिर्भवति । तथा प्रकृतेऽपि दृश्यत्वं वस्तुतो नास्तीति ग्रहणसम-  
नन्तरं अनुमित्यप्रामाण्यग्रहमवश्यंभावि । यादृच्छकं तत्र प्रमात्वं सञ्जि-  
हितैः प्रत्यक्षात्, अन्यैः आप्तवचनाच्च गम्यते । हेतुबलान्तु अप्रमात्वमेव ।  
प्रकृते तु प्रत्यक्षस्य वाऽऽप्रयचनस्य वाऽऽभावान् मिथ्याहेतुजन्याऽनुमितिः  
यादृच्छकस्यापि प्रमात्वस्य प्रसङ्गविरहेण क्वलमप्रमैव भवति ।

ननु दृश्यत्वं न शुक्तिरूप्यादिवन्मिथ्या । व्यावहारिकसत्त्वाभ्युप-  
गमात्, इति चेन्न । अविशेषस्याक्तत्वान् । शुक्तिरूप्यदृष्टान्तेन तादृश-  
मेव हि मिथ्यात्वं सर्वेषां वस्तूनां भवद्भिः साध्यते । ज्ञानबाध्यत्वे सर्वथा  
दुर्वचं च शुक्तिरूप्यैलक्ष्यम् । अर्थक्रियाकारित्वं हि विशेषो दृश्यत  
इति चेन्न । स्वाप्रानामाप्यथानां तस्यामवस्थायामर्थक्रियाकारित्वदर्श-  
नान् । न हि तेन तेषां कश्चन विशेषो भवति । ननु ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वं  
विशेष इति चेन्न । अधिष्ठानज्ञानेतराबाध्यत्वस्य मिथ्यावस्तुषु सर्वेषु  
विद्यमानत्वेन तस्य विशेषानापादकत्वान् । अन्यथा शुक्तिज्ञानेतराबाध्य-  
त्वेन शुक्तिरूप्येऽपि कस्यचन विशेषस्यापत्तेः । अतः शुक्तिरूप्यवन्मि-  
थ्यात्वं वा, अनित्यत्वेऽपि ब्रह्मवत् सत्त्वं वा प्रपञ्चस्याग्युपगन्तव्यम् । न  
तु तृतीयः कश्चन प्रकारः सम्भवति, यो व्यावहारिकसत्त्वमिति पृथक्  
समाख्यायेतेति विभावयन्तु भवन्तः ।

अथ असताऽप्यर्थेन अर्थान्तरसिद्धिर्भवत्येव, यथा प्रतिबिम्बेन  
बिम्बसिद्धिरिति चेत् । न । प्रतिबिम्बस्य असत्त्वाभावात् । दोषवशान्  
स्वच्छद्रव्यान्तर्गततया गृह्यमाणो बिम्ब एव हि प्रतिबिम्बः । स सन्न एव ।  
स्वच्छद्रव्यान्तर्गतत्वं तस्य नास्ति । तथा च तेन रूपेण गृह्यमाणः प्रति-  
बिम्बोऽसन्नेवेति चेत् अस्तु । तथाऽपि सतो धर्मिणः असता धर्मिणाव-  
च्छिन्नस्य अन्वयव्यतिरेकबलान् साधकत्वं अभ्युपगम्यते । न हि दृष्टेऽनु-  
पपन्नं नाम । द्विचन्द्रदर्शनवतो हि तेन हेतुना नेत्रदोषोऽनुमीयते । अत्र

चन्द्रः सन्नेव । द्वित्वं तु असन् । असताऽपि द्वित्वेन स्वप्रकारकधी-  
विषयतासम्बन्धेनःवन्निच्छन्नस्यैव चन्द्रस्य दृश्यमानस्य नेत्रदोषेण व्याप्ति-  
ग्रहणात् तेनःस्यानुमितिरुपपन्ना, एवमेव स्वच्छद्रव्यान्तर्वर्तितया गृह्य-  
माणस्य बिम्बस्य देशान्तरवर्तिना तेनैव व्याप्तेर्गृहीतत्वात् तेनास्यानु-  
मितिनानुपपन्ना । दृश्यत्वं तु स्वरूपेणैव नास्तीति कथं तस्य साधकत्वम् ।  
न ह्यसतो धूमस्य वह्निसाधकत्वम् । नन्वसत्यपि धूमे धूमभ्रगाद्गुणिनि-  
र्जायत एवेति चेत् प्रकृतेऽपि दृश्यत्वभ्रमवतामनुमितिर्जायतां नाम यदि  
जायते । भवांस्तु तस्य मिथ्यात्वं सुवेद । तस्य कथमनुमितिः । न हि  
धूलीपटलोऽयं, न धूम इति तत्त्वं जानतः वह्नयनुमितिः सम्भाव्यते ।

यत्तु कश्चित् 'असत्यादापि तात्त्विकार्थसिद्धिर्वाक्ये आरोपितेन  
धूमेन तात्त्विकवह्निः सिद्धयं दिति शङ्कां समादधन् साधकतावच्छेदक-  
रूपवत्त्वं साधकतायां प्रयोजकम् । नास्त्यनुमित्यन्तर्गतत्वं वा । धूमा-  
भासे साधकतावच्छेदकव्याप्तेरभावान्न साधकत्वम् न त्वसत्त्वान्'  
इत्याह. तत्रासामञ्जस्यं बहु । तथा हि ! आरोपितेन धूमेन तात्त्विक-  
वह्निसिद्धिशङ्का न परिहारः कृतः । धूमरोपाधि ठानेन तात्त्विकवह्नि-  
सिद्धिशङ्का न कृता । तस्याः परिहारः क्रियते । तत्र व्याप्त्यभावान्न साध-  
कत्वमिति । व्याप्तिमत्त्वं साधकत्वे प्रयोजकम् । तदभावान्न धूमाभासस्य  
साधकत्वमित्यनेन व्याप्तेः सत्त्वं प्रयोजकं असत्त्वे नास्त्यनुमितिरिति  
स्मृतमेधाङ्गीकृतम् । एवं च साधकस्य सत्त्वमन्पेक्षितं प्रतिज्ञाय साध-  
कतावच्छेदकसत्त्वस्य प्रयोजकत्वं द्रुवता साधु असत्त्वान् सत्यसिद्धिः  
प्रतिष्ठापिता ।

ननु प्रतिबिम्बस्य वस्तुतः स्वच्छद्रव्यान्तर्वर्तित्वं नास्ति ! अथापि  
तस्यानुमितिः प्रथमं साधकं भवतीति निराबाधमसतः साधकत्वमिति चेन्न ।  
तन्मात्रस्याप्रयोजकत्वान् । परमार्थसद्वह्नयान्तरवर्तितसामग्र्यन्तर्गत-  
तयैव प्रयोजकत्वम् । स्वच्छद्रव्यान्तर्गतत्वरूपस्य धर्मस्य बिम्बावर्तित्वे

ऽपि अन्यत्र क्वापि वर्तमानत्वेन स्वरूपतां निश्चयित्वाभावाच्च । तस्य तस्य अनुभितिप्रयोजकतावच्छेदकत्वेऽपि प्रयाजकत्वाभावाच्च । एतेन स्वाप्रार्थादीनां भाविगुभाशुभमूवकत्वादि व्याख्यातम् । सर्वेषामेव तेषां क्वचित् काले क्वचिद्देशे वर्तमानत्वेन सत्त्वत्वात् । दृग्दत्वस्य कारणतावच्छेदकत्वेऽपि कारणत्वाभावाच्च तेषां सूचकतावच्छेदकत्वेऽपि सूचकत्वाभावाच्च ।

रेखावर्णविषये यदाह “त्रिवेके सत्त्वमिदृङ्तरसंस्कारवशान् नारोम-  
निवृत्तिः । अत्र एव ककारं पठति लिखति चेति सार्वज्ञाक्रिको व्यवहारः”  
इति, तत्र लिखतीति रेखाविषयः, पठतीति तु रेखानुमितवर्णविषय एव  
व्यवहार इति युक्तं मन्यमहे । यथा रेखावर्णविषयत्वस्वार-  
म्यान् । वर्णानित्यत्ववादिनामस्माकं ह्रस्वत्वदीर्घत्वादयस्तदीया एव  
धर्मा इति नात्र सङ्कटं किञ्चिन् । श्रवणस्थले वर्णानामर्थबोधकत्वस्य  
ह्रस्वत्वान् पठन्स्वरेऽपि अनुमितवर्णानामेव तद्युक्तम् । न त्वारोपत-  
वर्णत्ववर्तनां रेखाणांमिति च ज्ञेयम् ।

यच्च ‘प्रोक्तविशेषादिज्ञानानां जनकत्वे च विशेषणतया प्रतिबिम्बा-  
दीनामपि जनकत्वे बाधाभवान् नोपलक्षणत्वपक्षो युज्यते’ इति तत्र ।  
प्रतिबिम्बस्य सत्यत्वे तस्य जनकत्वेऽपि असतोऽपि साधकत्वमिति भवत्व-  
क्षासिद्धेः । असत्यत्वेऽसत्तस्य कारणत्वमुपपत्तेः । कार्यनियतपूर्ववृत्ति  
हि कारणम् । असच्च कारणं चेति हि विप्रक्षिपिद्धम् । अत्राह ‘स्वव्यापा-  
रजन्ये व्यापारिणोऽसतो जनकत्ववन् स्वज्ञानजन्येऽप्यसतो जनकत्वसम्भ-  
वान् । अतोतानागतावस्यस्य असत्त्ववर्माश्रयत्वेनैव भ्युपगमान्’ इति ।  
इदमयुक्तम् । दृष्टान्ते हि आगमेन वा अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वा कारण-  
त्वेऽवधारिते पश्चान् सद्धारुमेव तन् कारणत्वमिति ज्ञातेऽपि, व्यापारेण  
व्यापारिणो नान्यथासिद्धिरिति स्थितेः, व्यापारो व्यापारं जनयित्वा  
विरमति, व्यापार एव साक्षान् कार्यं जनयतीत्यस्यीयते । तत्र व्यापारः



कार्यस्याव्यवहितपूर्ववर्ती । व्यापारी च व्यापारस्याव्यवहितपूर्ववर्तीति उभयोः कारणत्वोपपत्तेः असतः कारणत्वं नैवाभ्युपगम्यते । कार्योत्पत्तिकाले व्यापारिणोऽसत्त्वात् असतः कारणत्वं भवतीति चेन्न । तत्कालावच्छेदेन तस्य कारणत्वाभावान् । व्यापारजनकत्वेनैव कारणत्वात् । नियतपूर्ववृत्तित्वस्यैव कारणलक्षणत्वान् अव्यवहितत्वस्य व्यापारिकारणे अनपेक्षितत्वात् ।

अतीतानागतावस्थस्य असत्त्वधर्माश्रयत्वेन अभ्युपगमां भवतु यदि भवितुमर्हति । तस्य कारणत्वं तु दुर्वचम् । असत्त्वात् । अन्यथा असत्यपि दण्डे घटोत्पत्त्यापत्तेः । अत एव घटेच्छात्रन्ये घटोत्पादनयत्ने इच्छाया एव कारणत्वं न तद्विषयस्य घटस्य । अन्यथा हि स्वस्यैव स्वकारणत्वं स्यात् । एवं बाधकसत्त्वादेव विषयस्य ज्ञाने न विशेषणत्वम् । उपलक्षणत्वेऽपि उपलक्षणज्ञानजननोपयुक्तत्वात् प्रयोजकत्वमस्त्येवेति चेन्न । स्वरूपेणासतः प्रयोजकत्वासम्भवात् । न हि भवति पुष्पं नास्ति तदीयं सौरभं तु अस्तीति । नन्वेतन्मतीतानागतयोः प्रतियोगित्वविषयत्वाद्यपि न स्यात् । न । दर्शनबलान् तदभ्युपगमात् । कारणत्वं तु असतो न भवति । अदर्शानात् । असत्यपि कारणे न दर्शनवन्नेऽयम् ।

यदुक्तम्—“स्वप्ने जागरे च उत्कृष्टकलतद्योतदर्शानात् उत्कृष्टं सुखम् । उत्कृष्टसर्पादिदर्शनाच्च उत्कृष्टं भयादि दृश्यते । विषयस्याकारणत्वे तदुत्कर्षानुविधानं कार्ये न स्यात्”—इति; तत्र वदामः । जागरे विषयस्य सत्त्वात्, तदवगाहिनो ज्ञानस्येव ज्ञायमानस्य विषयस्यापि विनिगमनाविरहेण आपाततः कारणत्वस्याभ्युपगमे बाधकाभावाच्च युज्यत एव तस्य कारणत्वम् । स्वप्ने भ्रमे च पुनः असतो विषयस्य कारणत्वायोगात् तदुपलक्षितस्य ज्ञानस्यैव कारणत्वम् । उत्कृष्टकलद्योतावगाहिनो ज्ञानस्य उत्कृष्टसुखकारणत्वम् । उत्कृष्टसर्पावगाहिन उत्कृष्टभयकारणत्वमिति ।

यत्तु विषयस्योपलक्षणत्वे तेन ज्ञानगतधर्मविशेषोपस्थापनप्रसङ्ग-  
भीतेन विशेषणत्ववदुपलक्षणत्वमपि नाभ्युपगम्यते । किन्तुपाधित्वमि-  
त्युक्तं, तन्न विचारसदृशम् । सर्पज्ञानं भयजनकम् । तत्र स्वरूपतः सन्तं  
आरोपितं वा सर्पं विषयीकुर्वद् ज्ञानं सर्पज्ञानमित्युच्यते । तत्र सर्प-  
स्यापि सत्त्वेन भयजनकत्वे विवक्षिते विशेषणत्वम् । असत्त्वेन अवि-  
वक्षिते उपलक्षणत्वम् । तत्र कस्तृतीयः प्रकारः । पङ्कजादिपदप्रयोगस्थ-  
लेषु च निदर्शितेषु शब्दानुपात्तस्यैव पङ्कत्वादेर्धर्मस्योपाधित्वं दृश्यते ।  
न हि तथा प्रकृते ज्ञानं भयकारणमित्युक्ते स्वयं सर्पो व्यावर्तको भवतीति  
सुवचम् । तद्ज्ञान एव ज्ञानशब्दस्य प्राचीनप्रयोगाभावेन तस्य स्वय-  
मुपस्थितेरसम्भवात् । शब्दोपात्ते च तस्मिन् विशेषणत्वोपलक्षणत्वाति-  
रिक्तस्य उपाधित्वाख्यस्याकारस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात् । उपाधित्वसम्भ-  
वेऽपि तेनापि रूपेणासतो जनकत्वं नास्तीति तु न विस्मृतं व्ययम् । वस्तु-  
तस्तु स्वरूपतो यत्र वैशिष्ट्यं तत्रैव विशेषणत्वोपलक्षणत्वविकल्पः ।  
यत्र तु विषयतया, तत्र तत्प्रसङ्ग एव नास्तीति बोध्यम् ।

यच्च 'ज्ञानस्य भयादिजनकत्वे सर्पाद्यवच्छिन्नत्वमेव कारणतावच्छे-  
दकमास्थेयम् । ज्ञानत्वेन जनकत्वेऽतिप्रसङ्गान् । तथा मिथ्यावस्त्ववच्छि-  
न्नत्वाकारेण ज्ञानस्य मिथ्यात्वान् भ्रमस्थले ज्ञानमात्रस्य जनकत्वेऽपि  
मिथ्याभूतस्य जनकत्वमागतमेव ।' इति, तदपि न । सत्यमिथ्यासाधा-  
रण्येन सर्पावगाहित्वमात्रस्य कारणतावच्छेदकत्वात् । भ्रमस्थलेऽपि  
विषयमिथ्यात्वं हि तदानीं न गृह्यते । तद्ब्रह्मणे भयोत्पत्त्यनुपपत्तेः । न च  
वस्तुतो मिथ्याभूतसर्पविषयत्वात् ज्ञानस्वरूपस्य मिथ्यात्वम्, मा भूत्  
मिथ्यारजताधिष्ठानत्वेन शुक्तिस्वरूपस्य मिथ्यात्वम् । प्रपञ्चानुबन्धि-  
त्वेन च ब्रह्मणः । ज्ञानस्यामिथ्यात्वे विषयस्य कथं मिथ्यात्वमिति चेत्  
काऽत्रानुपपत्तिः । नेदं रजतमिति बाधात् विषयो मिथ्या । रजतज्ञानं मे  
नोत्पन्नमित्येवंरूपस्य बाधस्य विरहान् ज्ञानं न मिथ्या ।

यत्तु कश्चिदाह—भ्रमज्ञानं स्वरूपतोऽपि मिथ्यैव; अविद्यावृत्तिरूप-  
त्वात् । तदुक्तं—‘स्वरूपतो वाधाभावे विपर्ययोऽप्यवाधप्रसङ्गान्’ इति-इति ।  
तदिदमसम्बद्धाभिधानम् । अद्वैते सिद्धे प्रमाज्ञानमपि स्वरूपतो मिथ्यैव ।  
अविद्यावृत्तित्वविशेषान् । तथा च सताधूमेन यत्र प्रमात्मकवह्नयनुभातः  
तत्राविद्यापरिणामत्वात् स्वरूपतो मिथ्याभूतेनैव धूमेन तज्ज्ञानेन च  
तादृशत्वैव यद्भेः सिद्धिरिति नानिःशङ्कानभिधानम् । असत्यात् सत्यसिद्धि-  
रुपापनप्रकरणे कथमिदं प्रमासाधारणस्य भ्रमज्ञानमिथ्यात्वरुपाभिधानं  
सङ्गतमिति न पट्यो न वेद । ‘स्वरूपतो वाधाभावे’ इत्येतद्व्याप्यवचनं तर्हि  
स्वरूपतो वाधः प्रमात्वरुपात् इति व्याख्येयम् ।

एतेन ‘भयजनकतावच्छेदकसिंहावच्छिन्नस्वरूपेण मिथ्याभूतस्य  
सिंहज्ञानस्य स्वरूपतः सत्त्वमसत्त्वात्नातिरिच्यते । अनुपयोगात्’ इत्येत-  
दपि प्रत्युक्तम् । सिंहस्य भयजनकतावच्छेदकत्वं हि भयजनकज्ञानविशेष-  
णत्वात् । एवं ज्ञानस्य स्वरूपसतो भयजनकत्वं वदतैव यदनुपयोगाभिधानं  
तद्विदुषां विस्मयावहम् । ननु ज्ञानस्यानुपयोगा नोक्तः किन्तु तत्सत्त्व-  
त्वेन चेन्न । ज्ञानस्योपयोगेऽङ्गीकृते तत्सन्नोपयोगस्यापि अङ्गीकृतत्वात् ।  
अन्यथा असत्यमि ज्ञाने भयात्प्रसङ्गान् । किञ्च अन्यां विषयः सिंहः ।  
अन्यद्विषयिज्ञानम् । विषयमिथ्यात्वेन कथं विषयिणो मिथ्यात्वम् । न  
च वस्तुसतो मिथ्यात्वोपचारः वाद्गोष्ठ्यां शोभते ।

अत्रेदं ब्रूयम् । सिंहावच्छिन्नस्वरूपेण सर्पज्ञानस्य मिथ्यात्व-  
मयमाह । अविद्येकनिबन्धनमेतन् । विप्रलिंगसावितसितं वा । अविद्य-  
मानस्य वस्तुनः स्वरूपतोऽवच्छेदकत्वे हि अवच्छिन्नस्य मिथ्यात्वं भवेत् ।  
यथा घटत्वावच्छिन्नस्य पटस्य । घटत्वेन पटो नास्तीति प्रतीतेः सम्प्र-  
तिपन्नत्वात् । विषयाणां तु ज्ञानावच्छेदकत्वं न स्वरूपतः । अपि तु  
विषयत्वेन । घटज्ञानं पटज्ञानमित्युक्ते घटविषयकं ज्ञानं, पटविषयकं  
ज्ञानमित्वेव प्रतीतेः । विषयत्वेन ज्ञानावच्छेदकत्वं च विश्रमानस्येव

अविद्यमानस्याप्यस्ति । यथा धूमोऽग्निप्रयोगेऽज्ञाने । अतः सर्पस्य सिंहस्य वा तत्राविद्यमानत्वेन मिथ्यात्वेऽपि विषयतया तदवच्छिन्नत्वस्य ज्ञाने अत्राधातु न ज्ञानस्य मिथ्यात्वं कथमपि भवति । न हि मिथ्यासर्प-विषयकं ज्ञानं नास्तीति यस्यकस्यचिदपि यदाकदाचिदपि प्रतीतिः भवतीति ।

यच्च 'दण्डत्वादिकमेव सत्त्वासत्त्वोदासीनभवच्छेदकं वाच्यम् । तथा च जनकत्वानुसारेण न सत्त्वासत्त्वसिद्धिः' इति, तदप्ययुक्तम् । मृत् क्षेत्रे वर्तते दण्डश्चारण्ये । ताभ्यां कुलालगृहे घटः कुतो नोत्पद्यते । गृहे घटोत्पत्तेर्गृहे सतो मृत्कारणम् । दण्डश्च । तयस्तत्रासत्त्वाद् घटानुत्पत्तिरिति हि वाच्यम् । एवमारोपितमृत्त्ववता तादृशदण्डत्ववता च द्रव्येण सन्निरहितेन कुता न घटो जायत इति चेत् अनारोपितमृत्त्वदण्डत्ववती द्रव्ये कारणमिति हि वाच्यम् । तथा च हेतुतत्त्वान्तर्भूते एव सत्त्वासत्त्वे । तयस्तद्बहिर्भावं वदन् खण्डनकारा भ्रान्त एव । द्वेषाभिनिवेशदूषित-मनसत्त्वान् । स्वोचितसम्बन्धेन तद्देशकालवर्त्येव हि वस्तु कारणं भवति । अन्यथा धूमभ्रमावषयेण धूमीपटलेन बह्व्यनुमितिः प्रमा-स्यात् । भवत्येव कश्चिदात चेन्न । यादृच्छकां हि सा । सावत्रिकां तादृशहेतुबलात् स्यादात तु आपाद्यते । न च भवति । तत् कुतः । वस्तुसद्धूमत्वावच्छिन्नत्वाभावादत्येव वाच्यम् । तेन धूमत्वादिसत्त्वं हेतुतत्त्वान्तगतमेवेति स्फुटमेतत् ।

यच्च वितण्डारसिकेनाक्तम्—'अन्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तद-  
ज्ञत् ततः । नान्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत् ततः ॥' इति तत्र  
तयैव रीत्या 'अन्तर्भावितसत्त्वं चेदधिष्ठानमसत् ततः । नान्तर्भावित-  
सत्त्वं चेदधिष्ठानमसत् ततः ॥' इति प्रतिबन्दीदानं युक्तमेव ।  
यतु अत्रोक्तम्—ममाधिष्ठाने स्वरूपत एव सत्ताङ्गीकारः । तव तु  
कारणे स्वरूपातिरिक्तसत्ताङ्गीकार इति विशेषात् इति । तदयुक्तम् ।

यतः स्वरूपातिरिक्तसत्तानङ्गीकारे सत्ताशून्यत्वं असदेवाधिष्ठानं स्यात् । स्वरूपे स्वरूपाभावेन स्वरूपमादाय सत्तावत्त्वस्य दुर्वचत्वात् । अथ सत्ता नाम अत्राध्वत्वमभावात्मकम् । अभावस्य चाधिष्ठानेन भेदाभेदाभ्युपगमात् स्वरूपात्मकत्वं धर्मिधर्मभावश्चापपद्यत इति न काचिदनुपपत्तिरिति चेत् तर्हि कारणान्तगतसत्तायामपि तादृशसत्ताया अङ्गीकारेऽनुपपत्त्यभावात् नासतः कारणत्वं कारणस्य वाऽसत्त्वम् ।

वस्तुतस्तु सत्त्वाविशिष्टस्य कारणत्वात् अवच्छेदकस्य सत्त्वस्य स्वपरनिर्वाहकत्वात् सत्त्वान्तरापेक्षा नैवास्तीति 'अन्तर्भावतसत्त्वं चेत् कारणं तदसत् ततः' इत्यापादनमसङ्गतमेवेति वेदितव्यम् ।

किञ्च कार्यकारणयोः सामानाधिकरण्यावश्यकत्वात् कार्यता-वच्छेदकारणतावच्छेदकसम्बन्धानुसन्धानकाले कारणस्य सत्त्व-मन्तर्नीतमिति तस्य कारणतावच्छेदकत्वाभ्युपगमोऽनावश्यकः । अथवा किमियता प्रयासेन । कुलालो घटं करोतीत्युक्ते जीवन्निति स्वयं लभ्यते । आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणीति न्यायात् । तथा दण्डः कारणमित्युक्ते सन्निति स्वयं लभ्यत एवेत्यास्तां तावत् ।

तदेवमसतः कापि साधकत्वं नास्ति । भ्रमस्थले "प्रातीतिकस्य कुत्रापि कार्ये हेतुत्वास्वीकारात् तज्ज्ञानस्यैव हेतुत्वात्" इति लघुचन्द्रिकायामेव विषयस्याहेतुत्वोक्तेः । स्वस्यैव स्वकारणत्वापत्त्या कार्योत्पादनप्रवृत्तिजनकज्ञानविषयस्य कार्यस्य हेतुत्वासम्भवात् । रेखानुमितवर्णानामेवार्थबोधकत्वेन आरोपितवर्णत्वावच्छिन्नानां रेखाणां बोधकत्वाभावात् । बोधकत्वेऽपि वस्तुसतीनां रेखाणामेव बोधकत्वात् । आरोपितवर्णत्वावच्छिन्नानां रेखाणां वस्तुतः सत्त्वेनासत्त्वाभावात् । ह्रस्वदीर्घध्वन्यभिव्यक्ततत्तच्छब्दस्वरूपस्यैवार्थाभिधायित्वेन ध्वनिधर्मिणां तत्रारोपाभावात् । न च ध्वनिप्रतीत्यभावादारोपावश्यकत्वात् इति वाच्यम् । भाट्टित्येन वैशद्याभावेऽपि धूमाद् बह्वच्यनुमितौ व्याप्तिस्मरणा-

देरिव तत्प्रतीतेरप्यवर्जनीयत्वात् । प्रतिबिम्बस्थलेऽपि प्रतिहतनयनर  
रिमग्रहस्य बिम्बस्यैव प्रतिबिम्बत्वेन तस्य सत्यत्वात् । तेन साक्षाच्चतु-  
र्ग्राह्यबिम्बानुमाने कस्यचिदसतो हेतुत्वाभावाच्च ।

एवं सर्वत्र स्थितार्वापि क्वचिदसतोऽपि साधकत्वमस्तीति कृत्वाऽपि  
ब्रूमः । तेन को भवतां लाभः । दर्शनबलात् तत्र तथा कामं भवतु ।  
असतो लिङ्गस्य तु लिङ्गिप्रमाजनकत्वं न हि कुत्रचिदास्त । तेन दृश्यत्व-  
लिङ्गेन मिथ्याभूतं प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानं प्रमात्मकं नैव भवितुमर्हति ।  
भवदुदाहृतं “यथा सत्वत्वाविशेषेऽपि चक्षुषा रूपमेव ज्ञाप्यते न रसः  
तथैवासत्यत्वाविशेषेऽपि वर्णादेर्ध्यादिना सत्यं ज्ञाप्यते न तु धूमाभासा-  
दिना” इतीदं वाचस्पतिवचनमेवात्र प्रमाणम् । तदिह अरुतः साधकत्व-  
साधनप्रयासः सर्वो निष्फल इति ज्ञेयम् ।

यदत्र ‘कथमसतः सज्जायेतेतं श्रुत्या, नासतो दृष्टत्वादिति सूत्रेण, शश-  
विषणादिभ्यः सदुत्पत्त्यदर्शनादिति भाष्येण च विरोधः ।’ इत्याशङ्क्य  
“तेषां तुच्छे जनकत्वानिषेधपरत्वात् । अस्माभिश्च तुच्छे जनकत्वस्यानु-  
क्तत्वात् । तस्मात् सद्विचित्तत्वं साधनम्” इति समाधानमुक्तम् तदनुप-  
पन्नम् । तथा हि । कथमसतः सज्जायेतेत्यत्र सदसच्छब्दौ तावत्  
परस्परविरुद्धाथवाचिनौ । तत्रासच्छब्दो यदि ‘तुच्छवचनः’ तर्हि  
सच्छब्दस्तदन्यवचनः । जायमानस्य तेजोऽवन्नदिरूपस्य प्रपञ्चस्य  
ईदृशं सत्त्वं सम्प्रतिपन्नं कृत्वा प्रपञ्चस्य यत् कारणां तत् सदेव भवितुमर्हति  
सत्त्वं सत्त्वमुपदेशोऽत्र क्रियते । एवं कार्यप्रपञ्चगतसत्त्वानुरोधेन अव-  
धैर्यमाणां कारणगतं सत्त्वं प्रपञ्चस्य यादृशं तादृशमेव भवितुमर्हति ।  
कार्यकारणयोः सलक्षणनियमत् । न हि हेम्नो विकारः मृद्धो भवति  
मृद्धिकारो वा हेमघटः ! तथा च ब्रह्मप्रपञ्चयोरेकरूपस्यैव सत्त्वस्य  
प्रामाण्यकत्वात् सद्विचित्तत्वं साधनमित्येतन्न युज्यते तुच्छस्यैव सद्वि-  
चित्तत्वात् । तस्य च जनकत्वस्यानिष्टत्वात् ।

नासतोऽदृष्टत्वादिति सूत्रं न तुच्छकारणत्वनिषेधपरम् । वैभाषिक  
सौत्रान्तिः सिद्धान्तनिराकरणपरसमुदायाधिहरणस्थं हि इदं सूत्रम् ।  
तत्र चैवं भाष्यम्—“इतश्चानुपपन्नो वनाशिकसमयः, यतः स्थिरमनुयायि  
कारणमनभ्युपगच्छतामभावात् भावोत्पत्तिरित्येतदापद्यते ।...तस्माद्-  
भावप्रस्तेभ्यो बीजादिभ्योऽङ्कुरादीनामुत्पद्यमानत्वाद्भावाद् भावोत्प-  
त्तिरिति मन्यते । तत्रेदमुच्यते ‘नासतोऽदृष्टत्वात्’ इति । नाभावाद्  
भाव उत्पद्यते” इत्यादि । एवदुपपादकतया च अदृष्टत्वादिनि हेत्वंश-  
विवरणतात्पर्येण “शशविषाणादिभ्योऽप्यङ्कुराद्यो जायेरन्” “तस्माद्-  
सद्भवः शशविषाणादिभ्यः सदुत्पत्त्यदर्शनात्” इत्यादि भाषितं, अभाव-  
प्रस्तेभ्यो बीजादिभ्योऽङ्कुराद्युत्पत्तौ अनुपपात्तप्रदर्शनाथतया । न तु  
स्वार्थप्राधान्येन । तस्मात् श्रुतिसुद्वेषभाष्यविरुद्धमेवंदं असतः साधक-  
त्वाभिधानम् ।

एतेन प्रत्यक्षप्रामाण्यस्य मिथ्यात्वान् तत्समर्पिता श्रुतिरपि मिथ्येति,  
तदुत्पन्नानप्रामाण्यस्य मिथ्यात्वान् तदधिगम्यं अद्वैतमपि मिथ्येति च  
दर्शितं भवति । अत्राह—“न च तथापि वेदान्ततज्ज्ञानप्रामाण्यमिथ्यात्वे  
कथं तात्त्विकाद्वैतसिद्धिरिति वाच्यम् । शब्दतज्ज्ञानतात्त्विकत्वं हि न  
विषयतात्त्विकत्वे तन्त्रम् । इदं रजतमित्यनाप्तवाक्यस्य तज्जन्यभ्रमस्य  
च त्वन्मते तात्त्विकत्वेऽपि तद्विषयस्यातात्त्विकत्वात्”—इति । वञ्चक-  
वचनमात्रमेतत् । अग्न्यभावे धूमः कथं स्यादिति प्रश्ने ‘अग्निसत्त्वं  
हि धूमसत्त्वे न तन्त्रम् । अयोगोले तत्सत्त्वेऽपि तद्भावात्’ इति एतद्  
वचनं यादृशं तादृशं खल्विदम् । यत्र यत्र वचनतद्ज्ञानमिथ्यत्वं तत्र  
तत्र विषयस्य तात्त्विकत्वं नास्तीत्युच्यते । न तु यत्र यत्र तत्सत्यत्वं  
तत्र तत्र तद्विषयतात्त्विकत्वमिति । केवलं व्यामोहनमिदम् । पुनर-  
प्याह “प्रामाण्यमिथ्यात्वं हि न विषयमिथ्यात्वे प्रयोजकम् । भ्रमप्रमा-  
बहिर्भूते निर्वाकल्पके विषयबाधाभावात् । किन्तु तद्भाववात् तत्प्रकार-

कत्वादि रूपमप्रामाण्यमेव तथा । तच्च प्रकृते नास्त्येव ।” इति ।  
इदमपि पूर्वतुल्यमेव । यत्र प्रामाण्यं प्रसक्तं तत्र हि तस्य मिथ्यात्वं  
विषयमिथ्यात्वप्रयोजकमिति पर आह । तत्र प्रामाण्यः सात्करहितं  
निर्विकल्पकमादाय विषयमिथ्यात्वं नास्तीति कथमुच्यते ।

ननु प्रामाण्यमिथ्यात्वं नाम प्रामाण्याविरह एव पर्यवस्यति ।  
तस्मिन् वर्तमानेऽपि निर्विकल्पके विषयमिथ्यात्वं नास्तीति व्यभिचार-  
प्रदर्शनमत्र कृतामिति चेत् । इदं रजतामिति प्रत्यक्षभ्रमाव्यवहितपूर्वं  
निर्विकल्पके तदभाववति तत्प्रकारकत्वरूपामाण्यविरहेऽपि विषयबा-  
धान् भवत्यक्षेऽपि व्यभिचारस्य तुल्यत्वात् । नन्वस्तु नामैवम् । तथापि  
वेदान्तजन्यचरमज्ञानस्य निर्विकल्पकस्य विषयाबाधान् प्रामाण्यं निर्वि-  
धातम्, न च तस्य मिथ्यात्वमिति चेत् कुतो न बाधः । मिथ्याभूत-  
ब्रह्मजन्यत्वात् तद्विषयेण हि अवश्यं बाधितेन भवितव्यम् । तद्बाधक-  
प्रमाणासम्भवात्, तस्य सर्वबाधःवधित्वादिति चेत् । बाधःवश्यम्भावाभा-  
वात् । कारणदोषणं हि मिथ्यात्वमवगम्यते । अन्यथा शुक्तिरजत-  
भ्रमवति पुरुषे तदनन्तरं त्वरयाऽन्यत्र गते उत्तरत्र बाधाभावेन विषयस्य  
मिथ्यात्वं न स्यात् । नित्यकामलपुरुषभ्रमविषयस्य शङ्खपीतिमनश्च ।  
देहात्मैक्यस्य च । शून्यमेव तत्त्वमिति बाधम्य सत्वाच्च । दुष्टकारण-  
जन्यः स इति चेत् भवत्यक्षेऽपि तुल्यमिदमिति स्थितमेव । न च  
वेदान्तवाक्यान्निर्विकल्पकज्ञानसम्भव इति वद्यते ।

## २०. दृग्दृश्यसम्बन्धः

अथ “ननु मिथ्यात्वानुमानमप्रयोजकं, सत्यत्वेऽपि दृश्यत्वोपपत्तेरिति  
चेत् । दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्तेः,” इति यौ चोगपरिहारौ तौ विवेचनीयौ ।  
दृश्यत्वमस्तु मिथ्यात्वं मा भूत्, इत्यप्रयोजकत्वशङ्कायां कृतायां यदि सत्यपि  
दृश्यत्वे मिथ्यात्वं न स्यात् नहि प्रपञ्चस्य दृक्सम्बन्धो न स्यात् । अस्ति  
च सः । तस्मात् प्रपञ्चो मिथ्या, इत्ययमनुकूलतर्कोऽत्र विवक्षितो भवितु-



मर्हति । वह्निमान् धूमादित्यत्र यदि सत्यपि धूमे वह्निर्न स्यात् तर्हि धूमो वह्निजन्यो न स्यात् । वह्निजन्यश्च धूमः । तस्माद् वह्निमान् इति यथा तथा । तत्र धूमस्य वह्निजन्यत्वं यथा पद्मद्वये सम्प्रतिपन्नं तथा दृग्दृश्यसम्बन्धे सम्प्रतिपन्ने सत्येव अयं तर्क इहावकाशं लभेत । याऽयं सम्बन्धो वर्तने सोऽन्यथा नोपपद्येनेति सम्बन्धस्य सिद्धस्य हि अनुपपत्तिरापादनीया । भवता तु तत्रैव विप्रतिपत्तिं कृत्वा इह विचारः क्रियते स सम्बन्धस्यात्विक्तः अध्याससिद्धो वेति । तत्र च तात्त्विकस्यासम्भवात् आध्यासिक एवेति स्थापयितुमिष्यते । एवं सति स्वतन्त्रमिदं साधनान्तरं मिथ्यत्वे अवलम्बितं भवति, दृग्दृश्ययास्तात्त्विकसम्बन्धानुपपत्तिरपि प्रपञ्चमिथ्यात्वमापादयतीति । तत्र अनुकूलतर्कत्वाभिधानं नोपपद्यते ।

तथा हि । दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्तेरित्यत्र किं सामान्यतः सम्बन्धानुपपत्तिर्विवक्षिता, यद्वा तात्त्विकसम्बन्धानुपपत्तिः अथवा आध्यासिकसम्बन्धानुपपत्तिः । नाद्यः । कस्यचित्सम्बन्धस्य उपपन्नतया सर्वैरभ्युपगतत्वेन सामान्यतः सम्बन्धानुपपत्तेरापादयितुमशक्यत्वात् । न द्वितीयः । विरुद्धत्वात् । मिथ्यावे हि तात्त्विकसम्बन्धानुपपत्तिः । न तु तदभावे । न च तात्त्विकसम्बन्धो भवत इष्टः, येन तदनुपपत्तिरापाद्येत । न तृतीयः । आध्यासिकसम्बन्धानुपपत्तेः परस्येष्टत्वेन तं प्रति तदापादनासम्भवात् । किञ्च दृश्यत्वं नाम दृक्सम्बन्ध एव । तत्र लिङ्गं दृश्यत्वमस्तु साध्यं मिथ्यात्वं मा भूदित्यप्रयोजकत्ववादिनं प्रति साध्यस्य मिथ्यात्वस्याभावे लिङ्गं दृश्यत्वं नोपपद्यत इतीयमापत्तिः कथं भवेत् । साध्याभावेऽपि हेतुसत्त्वमुपपद्यत इत्येव हि परस्याभिप्रायः । तं प्रति नोपपद्यत इत्येतावन्मात्रकथनेन किं कृतं भवति । अनेनापि हेतुनाऽयं अतर्कः । न हि धूमलिङ्गस्थले 'धूमोऽस्तु वह्निर्मा भूत्' इति वादिनं प्रति यदि वह्निर्न स्यात् तर्हि धूमो न स्यात् इत्ययं तर्को भवति ।

किञ्च दृश्यत्वादिति भवत्प्रयुक्तं हेतुं शृण्वतः परस्य स्वमतानुरोधेन तात्त्विक एव दृक्सम्बन्धोऽभिप्रेत इति धीः स्वभावतो भवति । अथ तु आध्यासिक एव सः न तात्त्विक इति कथने परं प्रति हेतुरसिद्धो भवति । तात्त्विकस्यैव तस्य प्रपञ्चे तेनेध्यमाणात्वात् । आध्यासिकसम्बन्ध-विरहान् । दृष्टान्तेऽपि तेनास्यागृहीतत्वेन व्याप्त्यसिद्धिश्च । तद्यथा कश्चित् साधनं प्रयुञ्जीत धूमाभाववान् वह्ने रिति, तर्कं च धूमसत्त्वे वह्निसम्बन्धानुपपत्तिरिति । कथं वह्निसम्बन्धानुपपत्तिरिति पृष्टश्च विवृणुयात् न हि पक्षे वस्तुतः वह्निरस्ति किन्त्वध्यस्त एवेति, तादृगिदं भवति । अथ हेतु-तया निर्दिष्टं वृत्तिव्याप्यत्वादिरूपं दृश्यत्वमन्यत् । अन्य एवायं दृक्सम्बन्धः यस्यानुपपत्तिरिहोच्यत इति चेत् अस्त्वेवम् । किन्तु दृश्य-त्वहेतोरप्रयोजकत्वमपरिहृतं भवति । दृक्दृश्यसम्बन्धानुपपत्तेः । स्वात-न्त्र्येण मिथ्यात्वप्रयोजकत्वात् । हेतोः प्रयोजकत्वानुपपादकत्वात् ।

इदमपारमसामञ्जस्यमवदधाना एव प्राज्ञाः किमत्रार्थापत्त्या मिथ्या-त्वसाधनमभिप्रेतं स्यादिति कल्पान्तरमुत्प्रेक्ष्य विमृशन्ति । वृथैव तु तेभ्यः कुप्यत्यत्र भवान् 'अनुकूलतर्कस्यैव प्रक्रान्तत्वेनार्थापतिर्वेत्यादि-विकल्पानवकाशात्' इति वदन् । अर्थापत्तिरपीयं न भवति । तथा हि यदुच्यते--सत्त्वत्वे दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्तिः । मिथ्यात्वं च तदुपपादकम्, इति । तन्न । घटस्येदं ज्ञानं, इदं पटस्य, एतद्ज्ञानग्राह्यो घटः एत-द्ग्राह्यः पटः इति हि सार्वत्रिकौ प्रतीतिव्यवहारौ भवतः । तत्र काऽनु-पपत्तिः, यस्याः परिहाराय विषयमिथ्यात्वमपेक्षणीयं स्यात् । अनुपपत्ति-प्रतिसन्धानमत्र नैव भवति । कारणाभावान् । तथा च सामान्यतस्स-म्बन्धरूपस्य दृग्विषयत्वस्य आक्षेपकत्वं नास्ति । अत एव मिथ्यात्वस्यो-पपादकत्वमपि नास्ति । अनपेक्षितत्वात् । अथायं सम्बन्धः क इति विशेषनिरूपणे संयोगसमवाययोः प्रसिद्धयोः सम्बन्धयोर्व्यतिरेकाव-धारणात् न तदनुपपत्तिरिहार्थापत्तिः, नापि मिथ्यात्वं कल्पनीयम् । परि-

शेषाद्ध्यस्तत्वं सम्बन्ध इति सिद्धे, दृश्यसत्यत्वं सति एतदनुपपत्तेः कामं तन्मिथ्यात्वमाक्षिप्येत । न तु अध्यस्तत्वं दृग्दृश्यसम्बन्ध इति क्वचिद् दृष्टम् । न च तदुपस्थापकं किञ्चिदस्तीति तदा विशेषस्य नास्ति कथमपि सम्भवः । न च भवता अध्यस्तसम्बन्धेन आक्षेप इष्यते । “न हि अध्यस्तसम्बन्धत्वेनाक्षेपकता । किन्तु सम्बन्धत्वेन .” इति स्वयमुक्तत्वात् । तदेवं सामान्यतः सम्बन्धस्य नाक्षेपकता । यथा शान्तस्य पञ्चाशदाक्षेपकत्वं न तु सामान्यतः सङ्ख्यायाः तथा । अध्यस्तत्वरूपविशेषस्य तु अद्याप्यसिद्धत्वात् क्वापि संयोगादिवत् सम्बन्धत्वेन प्रसिद्धत्वाच्च नाक्षेपकता । सम्बन्धसामान्यस्य प्रतीतस्य अध्यस्तत्वरूपे विशेषे पर्यवसानमिति यदुच्यते तदप्ययुक्तम् । अध्यस्तत्वरूप सम्बन्धविशेषत्वायोगात् । न हि सपविशेषपरिगणने रञ्जुसर्पोऽपि गण्यते । न च ‘घटवद्द्रव्यम्’ इत्युक्ते संयोगेन घटवद्भूतलम्, समवायेन घटवत् कपालम्, अध्यस्तत्वसम्बन्धेन घटवत् कुड्यमिति विशेषग्रहणं भवति । तदेवमथापत्तिकथाऽप्यत्र नास्तीति वेदितव्यम् ।

किञ्चाध्यासः सम्बन्ध इत्यत्र किं प्रमाणम् । परिशेष एव । न हि संयोगः समवायां वा स भवितुमर्हति । न चान्यः कश्चन तात्त्विकः सम्बन्धः सुवचः । व्यापकानुपलब्ध्या बाधान् । तथा हि । तात्त्विकसम्बन्धस्य व्यापको देशकालविप्रकर्षाभावः । स चातीतादिविषयकज्ञानादीनां नास्त्येवेति कथं तात्त्विकस्तेषां सम्बन्धः । एवं तात्त्विकसम्बन्धबाधात् आध्यासिकसम्बन्धसिद्धिरिति चेन्न । देशकालविप्रकर्षेऽपि ध्वंसनिरूपितप्रतियोगित्वस्य इच्छाविषयत्वस्य एवमन्यस्यापि तात्त्विकसम्बन्धस्य विद्यमानत्वेन देशकालविप्रकर्षाभावस्य तात्त्विकसम्बन्धव्यापकत्वाभावात् । ननु स सम्बन्धः सर्वो मिथ्या, न तात्त्विक इति चेत् संयोगसमवायादिरपि तव मिथ्यैव । अत्र कां विशेषः । तथाऽपि विप्रकर्षे कथं सम्बन्ध इति चेत् उच्यते । विप्रकर्षे सम्बन्धो न भवतीति कुतो

ज्ञायते । विन्ध्यहिमाचलयोरदर्शनादिति चेत् जलेऽदर्शनात् अग्नेरपि उष्णस्पर्शो न भवेत् । प्रत्यक्षसिद्धोऽयमिति चेन्न । तथैव ज्ञानज्ञेययोर्विप्रकृष्टयोरपि सम्बन्धसिद्धेः । अन्यदृष्टान्तसाम्यस्थाननुरोद्धव्यत्वात् ।

ननु बाह्यस्यार्थस्यासम्भवाद् बहिर्वदवभासत इत्यध्यवसितम् । नायं साधुरध्यवसायो यतः प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्तिपूर्वकौ सम्भवासम्भवाव-  
वधार्येते । न पुनः सम्भवासम्भववूर्वके, प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्ती ।

इत्यभावाधिकरणसूत्रभाष्योक्तन्याय इहात्यन्तमवधेयः । ननु कोऽयं सम्बन्ध इति चेन्न । विषयविषयिभाव इति सर्वप्रसिद्धत्वान् । ज्ञानस्य स्वनिरूपितं विषयत्वं ज्ञेयेन सम्बन्धः, ज्ञेयस्य स्वनिरूपितविषयित्वं ज्ञानेनेत्युक्तं भवति । संयोगादेरभावेऽपि ध्वंसादिप्रतियोगित्ववत् अभाव-  
पृथक्त्ववादिनां विशेषणत्वरूपतत्सम्बन्धवच्च प्रकृतेऽपि प्रमाणबलान् विषयत्वाख्यः सम्बन्धः दृशा दृश्यस्याभ्युपगन्तव्य इति नात्र निरसन-  
सम्भ्रमः प्रामाणिकानां युक्तः । प्रत्युत अध्यस्तत्वसम्बन्धोऽत्यन्तम-  
प्रामाणिकः । अध्यस्तत्वं हि न जातिरखण्डोपधिर्वा । पक्त्वादिवत्  
र्यागिकशब्दार्थत्वात् । अध्यासा नाम आरोपः । तथा चारोपविषयत्वमेव  
अध्यस्तत्वमित्यनेनोक्तं भवति । न तु तदतिरिक्तं किञ्चिन् । किञ्च दृग्दृश्य-  
सम्बन्धस्तावत् प्रतीयते । तत्र प्रतीतीनां स्वतः प्रामाण्यात् दृशमिव  
दृश्यमपि यथाप्रतिपन्नं सत्यं कृत्वा तयोः प्रतीयमानः सम्बन्धः किंरूप  
इति विचारे पूर्वप्रतिपन्नसत्यत्वाविरोधेन सम्बन्धस्वरूपं निश्चेतुं बुद्धिः  
प्रवर्तते । न तु तद्विरोधि । अतः स्वामिमतार्थसाधनौत्सुक्यातिरिक्तं न  
हिमपि अध्यस्तत्वसम्बन्धोपक्षेपकमस्तीति बुद्धिमद्धिर्भाव्यम् ।

यत्तु “ज्ञानज्ञेययोरपि प्रतियोग्यभावादिस्मकद्वय एव सम्बन्धा-  
ऽस्त्विति इममाक्षेपं समादधानेन परस्परार्थासात्मकसम्बन्धासम्भवेनैव  
सम्बन्धान्तरकल्पनात्, तत्सम्भवे तस्यैव सम्बन्धत्वात्” इत्युक्तं तत्  
अद्वैतश्रद्धाजडान् स्वशिष्यान् प्रति वक्तुमुचितम् । न तु प्रौढान् प्राज्ञान्

प्रतिवादिनः प्रति । साक्षाद् विपरीता हि वस्तुस्थितिः । यत्र तात्त्विक-  
सम्बन्धो न सम्भवति तत्र ह्यगत्याऽऽध्यासिकः सम्बन्धः कल्पनीयः ।  
अन्यथा कथं रजतभ्रान्तिमान् तदुपादानाय प्रवर्तेत । आध्यासिक-  
सम्बन्धस्यौत्सर्गिकत्वे तेनोपेक्षापरेणैव भाव्यम् । प्रतियोग्यभावादिस्थले  
च बिलक्षणसम्बन्धाभ्युपगमेऽवर्जनीये को न्यायवित् अपूर्वसम्बन्धान्तर-  
कल्पनं सहेत । यच्च विषयत्वं नामेदमिति निर्बन्धुमशक्यमिति तत् कामं  
तथा भवतु । निर्बचनाशक्यत्वा न प्रमेयमसद् भवेत् । “सच संयोगादिव-  
दतिरिक्तं वा, स्वरूपं वा, पराङ्गीकृतपदार्थान्तर्गतं वा, तदतिरिक्तो  
वेत्प्रस्थां काकदन्तपरीक्षायां न नो निर्बन्धः” इति प्रतियोगित्वादिनिर्ब-  
चने परमां विरक्तिं प्रदर्शयतः विषयत्वनिर्बचनानुयोगे का परमा श्रद्धा ।  
अद्वैतसिद्धेरिदमप्युपयुज्यत इति चापलं केवलमत्र हेतुः । हन्त यथा  
यथा अमार्गो गम्यते तथा तथा दर्शनस्य दौर्बल्यमेव ख्यापितं भवति,  
न तु सुस्थितत्वमिति विदाङ्कुर्वन्तु भवन्तः । प्रपञ्चमिध्यात्वसिद्धिः द-  
शानेनैव अत्रोक्तमन्यत् सर्वं निरस्तं भवतीति नेदानीं अधिकं ब्रूमः ।

इदं चात्र प्रष्टव्यम् । दृग्गिति किमत्र विवक्षितम्-शुद्धचैतन्यं वा  
वृत्तिर्वा । नाद्यः । शुद्धचैतन्यस्य विषयाग्राहकत्वेन तत्र सम्बन्धविशेष-  
विमर्शप्रसक्तिर्वरहात् । नान्त्यः । वृत्तौ विषयाणामध्यासाभावेन तत्राध्या-  
सिकसम्बन्धकल्पनानुपपत्तेः । वृत्त्या अन्यत्र अध्यासे, भूतले देवदत्तान  
दृष्टस्य घटस्य दर्शनं यज्ञदत्तस्य न स्यात् । तदध्याससिद्धस्य वस्तु-  
नोऽन्यदर्शनायोग्यत्वात् । यज्ञदत्तवृत्त्यध्याससिद्धोऽन्य एव घट इति  
चेत् किमिदं वेदान्तदर्शनं उत सौगतदर्शनमिति चिन्तनीयं  
तत्रभवद्भिः ।

## २१. प्रतिकर्मव्यवस्था ।

“विश्वस्याध्यासिकत्वे प्रातिभासिकस्थल इव विषयेन्द्रियसन्निकर्पा-

धोनायाः प्रतिकर्मव्यवस्थाया अनुपपत्तिरुष्परिहरैव । कर्म ज्ञानकर्म । विषय इत्यर्थः । विषये विषये व्यवस्था दृश्यते भ्रमेतरस्थले, यत्र नाध्यासोऽस्ति । घटः सर्वेषां सर्वदा सर्वत्र घटत्वेनैव भासते । न तु कस्यचित् कदाचित् कुत्रचित् कश्चित् मिश्रिद्रग्नुत्वेन । एवं पटादिः । इयं व्यवस्था नोपपद्यते घटादेराध्यासकत्वे । पुरुषकालदेशभेदेन अध्यासभेदात् । रज्जुर्हि कालदेशादिभेदेन सर्पतया वा भूदलनतया वा अम्बुधारात्वेन वा गृह्यते । न तत्र सर्पतयेवेति व्यवस्थाऽस्ति । तद्वन् घटादेरध्यस्तत्वे उक्तविद्याव्यवस्था नोपपद्यते ।

यत्तत्र “प्रतिकर्मव्यवस्थायाः कस्यचित् पुंसः कदाचिदेव कश्चिदेव विषयो ज्ञानकर्म, न सर्वस्य सर्वदा सर्वः, इति प्रतिनियतकर्मव्यवस्थायाः” इति ब्रह्मानन्दस्य विवरणं तन्न सम्यक् । दृष्टान्ताननुगुणत्वात् । रज्जुसर्पादिर्हि प्रातिभासिकः कस्यचिदेव कदाचिदेव कश्चिदेव ज्ञानकर्म भवति न तु सर्वस्य सर्वदा सर्वः । कथं तद्दृष्टान्तेन घटादि-विषये अव्यवस्थाऽभिधानं घटेत । समाधानाननुगुणत्वाच्च । उक्तमनुपपत्तिं परिहरता हि एवमुक्तम् - “वृत्तेः पूर्वमेव घटादीनां चैतन्येऽध्यासेन प्रातिभासिकस्यलापेक्षया चैतन्यम्” इति वृत्तेः पूर्वमेव अध्यस्तघट-सत्त्वाङ्गीकारेणात्र अःपादिनः अव्यवस्थायाः परिहार उच्यते इति स्पष्टम् । न च सर्वस्य सर्वदा सर्वो विषय इतीयमव्यवस्था अनेन परिहृता भवति । प्रत्युत उक्तव्या भवति, पूर्वमेव सत्त्वात् तथा विषयो भावतुमर्हतीति । सिद्धस्य वस्तुतः प्रतीतिविषयेयमन्या अव्यवस्था । इमामाशङ्क्य परिहारमुत्तरत्र वक्ष्यति - “यद्यपि प्रकाशकर्मधिष्ठानचैतन्यं सर्वगतं, जावचैतन्यं चान्तःकरणावच्छिन्नम्, तथापि चैतन्याभेदेनाभिव्यक्तत्वात् व्यवस्थापपत्तिः ।” इति । प्रकृता तु वस्तुनः सिद्धिहेतुर्योऽध्यासः तद्विषया अन्यैवाव्यवस्था । घटादिप्रत्यक्षात्मिका या वृत्तिः सैव घटादिकमध्यस्य गोचरयति । सा च कदाचित् घटस्थाने पटा-

दिकमप्यध्यस्य प्रकाशयेदित्यव्यवस्था परेणापादिता । विषयेन्द्रिय-  
सन्निकर्षाधीनप्रत्यक्षात्मकवृत्त्यैव न विषयाध्यासः, येनोक्ताऽव्यवस्था  
प्रसज्येत । किन्तु ततः पूर्वमेव अध्यासेन सिद्धा घटादिः । तस्य यथा-  
स्थितस्य इन्द्रियसन्निकर्षात्प्रत्यक्षं जायत इति क्वाव्यवस्थेति तत्परि-  
हार इति ।

अथेमं परिहार विमृशेम । वृत्ताः पूर्वभाष्यात्प्रभृत्प्रमाणभाष्येण आपा-  
दिताया अनुपपत्तौ नैव परिहारः कृतो भवति । पूर्वमपि अध्यास एव हि  
घटादेर्विषयस्य । आध्यासिकत्वे च विषयस्य अव्यवस्था प्रसज्यते  
प्रातिभासिकस्थल इव । तत्र वृत्तोः प्राक्तनेऽप्यध्यासे तुल्य एव प्रसङ्गः ।  
यत्र घटाध्यासः तत्रैव क्षणान्तरेषु पटाद्यध्यासः कुतो न भवति ? यथा  
रज्जा सर्पाध्यासः कदाचित्, ततः कदाचित् भूदरुनाध्यासः, ततः कदा-  
चित् अम्बुधाराध्यासः इति । पूर्वाध्याससिद्धौ विषयः स्थिर इति चेन्न  
आध्यासिकस्य स्वरूपमेव तावदसिद्धम् । तस्य स्थैर्यं कुतः । वणिग्वी-  
थीस्वरूप्यगुणैकस्वरूपयोः मानान्तरसंवादाविसंवादाभ्यां स्थैर्यास्थैर्ये अव-  
गम्येते इति चेत् अत एवानध्यस्तत्वाध्यस्तत्वे अपि सिद्धयतः । दृग्दृश्य-  
सम्बन्धनुपपत्त्यादिसहकृतानुमानान् कल्पितत्वे सिद्धे प्रत्यभिज्ञाबलात्  
स्थायित्वं भवतीति चेत् दृढप्रत्यभिज्ञानुरोधेन स्थायित्वे सिद्धे कल्पित-  
स्थायित्वस्य क्वचिदप्यदर्शनान् अकल्पितत्वनिश्चयेन मिथ्यात्वानुमान-  
मेव आभासीक्रियत इति पश्यतु भवान् । दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्तिश्च  
प्रागेव परिहृता । तथा च अद्वैताभिनिवेशेन तर्काङ्गुलीतप्रमाणप्रमितं  
सर्वमन्यथाकर्तुमुद्यमः क्रियते, न तु ऋजुमार्गावलम्बनेन स्वभूतं किमपि  
स्थापयितुं शक्यत इत्यत्र इदमपरं निदर्शनं भवतीत्यास्तामेतत् ।

सर्वस्य सर्वदा सर्वो विषयः स्यादिति प्रसङ्गोऽपि भवतो दुष्परिहर  
एव । अवच्छेदकान्तःकरणतद्गृह्यादिभेदेऽप्यवच्छेद्यस्य चैनन्यभ्यैक-  
त्वात् । यथा एकस्य पुंसः शिरःपाणिपादाद्यवयवभेदेऽपि तत्तदवच्छेदेन

जायमाना सर्वा वेदना अनुभाव्या भवति तथा । अत एव हि सूत्रम्—  
 “असन्ततेश्चाव्यतिकरः” इति । सन्ततौ व्यातकर एवेति हि तात्पर्यम् ।  
 ननु केवलस्यान्तःकरणस्य नानुभवः जडत्वात् । नापि केवलस्य चैत-  
 न्यस्य । निःसङ्गत्वात् । अपि तु अन्तःकरणोपरुढस्य चैतन्यस्य । तस्य  
 च विभिन्नत्वात् नास्त्यव्यवस्थेति चेन्न । उपाधिभेदेऽपि चैतन्यस्यैक-  
 त्वात् । न खलुपाध्यः चैतन्यं खण्डयित्वा भिन्नाभिन्नं खण्डमुपपदयति,  
 येन विषयानुभवो व्यवतिष्ठेत ।

## २२. प्रतिकूलतर्कः

प्रतिकूलतर्कपराहतं चेद् मिथ्यात्वानुमानम् । तथा हि । विश्वं यदि  
 ब्रह्मणि कल्पितं स्यात् तर्हि प्रतीयमानब्रह्मविष्ठानक स्यात् । न चैवम् ।  
 अयं घटः अयं पट इति इदमा देशकालविशेषवर्तिब्रह्मेतरवस्तुमात्र-  
 निर्देशात् । ब्रह्मणः सर्वथा प्रतीतिविरहात् । न च सन् घटः सन् पटः इति  
 बहुलं व्यग्रहारात् तत्र च सच्छब्देन ब्रह्मण एव निर्दिश्यमानत्वात् प्रती-  
 यत एवाधिष्ठानमिति वाच्यम् । अस्मिन् व्यवहारे ब्रह्मणः सच्छब्दा-  
 थत्वाभावात् । न हि ब्रह्मतात्मर्णेण एवं व्यवहरन्ति । सन्, न त्वसन्  
 इति घटाद्युद्देशेन विद्यमानस्वबोधनमात्रे तात्पर्यात् । अतांऽत्र सच्छ-  
 ब्दस्य ब्रह्मार्थकत्वाभावात् उद्देश्यत्वविरहेणाधिष्ठानपरत्वाभावाच्च  
 नायं व्यवहारः ब्रह्मात्मकाधिष्ठानप्रतीतौ प्रमाणम् । न च तादृशं व्यव-  
 हारान्तरमस्तीति अप्रतयमानब्रह्माधिष्ठानकमेव विश्वम् ।

किञ्च सविशेषाधिष्ठानं स्यात् । सामान्येन ज्ञातत्वे सति अज्ञात-  
 विशेषवत् एवाधिष्ठानत्वान् । यत्तु लाववात् विशेषवत्त्वेनाज्ञातत्वमेव  
 प्रयोजकम्, न त्वज्ञातविशेषवत्त्वमित्युक्तं तन्न ह्ययम् । शुक्तिरजतभ्रमे  
 शुक्तेः काठिन्यचाक्रचक्र्यादिरूपविशेषवत्त्वेन ज्ञाततया अज्ञातत्वाभावेना-  
 धिष्ठानत्वानुपपत्तिप्रसङ्गात् । भ्रमविरोधिनावच्छेदकविशेषवत्त्वेनाज्ञात-



त्वोक्तौ च गतं लाघवेन । तादृशो विशेषोऽस्ति न तु स ज्ञात इत्यभ्युपगतं च भवति ।

यदुक्तं “कल्पितसामान्यविशेषवत्त्वं ब्रह्मण्यपि सुलभमेव । अकल्पित-सामान्यविशेषवत्त्वं चाप्रसिद्धम् । सत्यत्वानन्दत्वादिकमेव कल्पित-व्यक्तिभेदेन सामान्यम् । परिपूर्णानन्दत्वादिश्च विशेषः ।” इति । अत्र ब्रूमः । अकल्पितसामान्यविशेषवत्त्वमप्रसिद्धमिति नेदानीं युक्तं वक्तुं भवतः । द्रव्यत्वादेः शुक्तित्वादेश्च सामान्यस्य विशेषस्य च कल्पितत्वा-सम्प्रतिपत्तेः । विश्वाध्यासोपपादकानां सामान्यविशेषधर्माणां कल्पितत्वं च न घटते । एषां कल्पनोपपत्तये पुनः सामान्यान्तरविशेषान्तरान्वेषण-प्रसङ्गान् । तदेभिर्धर्मैः सविशेषत्वमधिष्ठानभूतस्य ब्रह्मणो दुर्निवारम् । परिपूर्णानन्दत्वादेः कल्पितत्वे अज्ञातत्वं च न घटते । कल्पनं हि नाम ज्ञानगोचरीकरणमेव । अज्ञातत्वकल्पनमेव नास्तीति स्यात् ।

ननु परिपूर्णानन्दत्वं नाम स्वरूपमेव । न तदतिरिक्तं किञ्चिन् । तथा सत्यत्वादिकमपि । तस्मादेतैर्धर्मैर्न सविशेषत्वमिति चेन्न । ज्ञाता-ज्ञातयोरेकत्वायोगान् । स्वरूपज्ञाने सत्येव हि परिपूर्णानन्दत्वं न ज्ञायते । ज्ञायमानानतिरिक्तत्वं कथमज्ञायमानस्य स्यात् । स्याच्चेत् घटतद्रूपयोरपि स्यात् । तमसि स्पर्शनेन घटोपलम्भेऽपि अनुपलम्भेन हि घटातिरेको रूपस्याभ्युपगम्यते । तुल्यं तत् प्रकृतेऽपि ।

एवं सत्यत्वादेरपि प्रकारतया भानेन प्रकारिस्वरूपतो व्यतिरेकोऽव-श्यम्भावी । ज्ञायमानत्वेन अज्ञायमानं परिपूर्णानन्दत्वादिश्च । तेन “एकस्थैवानन्दाद्यात्मना तिरोहितस्य सदात्मना प्रकाशसम्भवान्” इति यदुच्यते तत् धर्माणां धर्मिस्वरूपात् परस्परं च व्यतिरेकानङ्गीकृत्यनिरभि-धीयमानं रिक्तं वच इति ज्ञेयम् । निर्विशेषमेकं वस्तु केनचिद्रूपेण भानि, केनचिद्रूपेण न भातीत्युक्तेर्व्याहृतत्वात् । धर्मत्वं कल्पितमिति चेत् दत्तो-त्तरमेतत् । धर्मत्वेन प्रकाशे सति हि कल्पितत्व वाच्यम् । अप्रकाशमा-

नस्य किं कल्पनेनेति । यदपि भ्रमविरोधिज्ञानाभाव एव तन्त्रं, न तु विशेषाज्ञानमिति, नदपि न युक्तम् । प्रतिबन्धकाभावमात्रस्य कार्यं प्रत्य-  
हेतुत्वान् । न हि शुक्तिमपश्यतां शुक्तित्वज्ञानाभावमात्रेण शुक्तिरूपभ्रमो  
भवति । तस्मात् भ्रमसामग्र्यां निरूप्यमाणायां अवश्यं विशेषाज्ञानं  
तदन्तर्गतं वाच्यमिति न सङ्कटान्मुक्तिः ।

किञ्च दोषमूलकाविद्याध्याससिद्धं स्यात् । यत्तु अनाद्यविद्याध्यासस्य  
दोषानपेक्षत्वमिति । तन्न । प्रतिज्ञामात्रेणार्थासिद्धेः । न हि लोके कश्चि-  
दध्यासो दोषाजन्यो दृष्टः येनात्र तथा सम्भावनाऽपि तावद् भवेत् ।  
शुक्तिरूप्यदृष्टान्तेन चात्र भवान् विश्वमिथ्यात्वं साधयति । तस्मात्  
तद्देवाध्यासेन भवितव्यम् । तदध्यासरूपेण दृढलिङ्गेन अनाद्यविद्याध्या-  
सस्य आपतद् दोषमूकत्वं केन प्रमाणेन बाध्यते । अद्वैतसिद्धयेति चेत्  
न हि सा अद्यापि निष्पन्ना । अभिलाषिताद्वैतरक्षाप्रत्याशया प्रमाणं विनैव  
धाष्टर्थादेव दोषानपेक्षत्वं प्रतिज्ञायत इति तु विदन्ति विद्वांसः । यच्च  
'शत्रुस्वामिना, यस्य च दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एवा-  
समीचीनः प्रत्ययः, नान्यः, इति वदता दुष्टकारणजन्यत्वमन्तरेणापि  
अर्थान्यथात्वप्रयोजकमप्रामाण्यमुक्तम्" इति, तन्न । अप्रामाण्यज्ञापक-  
मात्रस्य एवं विभागात् । दोषस्यैव सर्वत्र अप्रामाण्यजनकत्वस्येष्टत्वात् ।  
तथा च तदीयमेवेतः प्राक्तनं भाष्यम्—“यदा हि क्षुदादिभिरुपहतं मनो  
भ्रवति, इन्द्रियं वा तिमिरादिभिः, सौक्ष्म्यादिभिर्बाह्यो वा विषयः, ततो  
मिथ्याज्ञानम् । अनुपहतेषु हि सम्यग् ज्ञानम् । इन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षो  
हि सम्यग्ज्ञानस्य हेतुः । असति तस्मिन् मिथ्याज्ञानम् । तदुभयगतो  
दोषो मिथ्याज्ञानस्य हेतुः । दुष्टेषु हि ज्ञानं मिथ्या भवतीति” । इति ।

किञ्च अनर्थक्रियाकारि स्यात् । प्रापञ्चिकं हि वस्तु सर्वमर्थक्रियाकारि  
भवति । न च तदध्यस्तत्वे युज्यते । शुक्तिरूप्यस्य कार्यायोग्यत्वान् ।  
अत्राह । स्वाप्रमायादौ व्यभिचारात् अर्थक्रियाकारित्वं न पारमार्थिक-

सत्त्वप्रयोजकमिति । नैतदेवम् । स्वप्नादिपदार्थो वाऽत्र विवक्षितः तज्ज्ञानं वा । आद्ये असतस्तस्य अर्थक्रियाकारित्वाभावात् व्यभिचारः । अन्त्ये तस्य परमार्थसत्त्वान्न व्यभिचार इति । ननु स्वप्नेन असिना स्वाप्नस्य शत्रोः शिरश्छेद्यत इति चेत् कामं तथा । तथैव शुक्तिरजतमपि किञ्चिन् कार्यमुत्पाद्यतु पात्रं वा आभरणं वा अन्यद्वा । प्रातिभासिकं शुक्तिरजतं न कार्यकरणज्ञममिति चेत् स्वाप्नेऽसिः किं व्यावहारिकः, येन कार्यज्ञमो भवति । तस्य व्यावहारिकत्वं को दोषः ? इति चेत् शुक्तिरजतमपि व्यावहारिकमस्तु; को दोषः । ब्रह्मज्ञानव्यतिरिक्तशुक्तियाधार्म्यज्ञानवाध्यत्वान् तस्य न व्यावहारिकत्वमिति चेत् समं तत् स्वप्ने असावपि । प्रबोधे बाधान् । स कथमर्थक्रियाकारीति चेत् तन्निदर्शितवता भवता 'दुःखदनीयम् । नास्माभिः । अथवा ब्रूमः, श्रूयताम् । यथा असिः तथा शत्रुः तस्य शिरश्छेदः तत्र असेः करणभावः, इति सर्वमिथ्या । सर्वं केवलं प्रातिभासिकम् । न तत्र कार्यं वा तत्कारित्वं वा प्रातिभासिकस्यास्ति । बाधस्य समानत्वान् । अतः परव्यामोहनायापि भवता स्वाप्नो व्यवहारो न दृष्टान्तीकर्तव्यः । आध्यात्मिकस्य स्वप्ने वा जागरे वा अर्थक्रियाकारित्वं नास्तीत्येतत् तत्त्वं न शक्यमपह्नोतुम् । न तदपह्नवे चापलं कर्तव्यम् । तथा च विश्वस्याध्यात्मिकत्वे दृश्यमानस्य अर्थक्रियाकारित्वस्यानुपपत्तिदुर्परिहारा ।

किञ्च उत्पत्तिशून्यं स्यात् । लोके हि पदार्था उत्पद्यमाना दृश्यन्ते । यद्यनध्यस्तं कारणं कार्यं च तद्दि दृष्ट्वा उत्पत्तिरियं उपपद्यते । आपणस्थ-रजतान् खलु कुण्डलमन्यद्वा उत्पद्यमानं दृश्यते । न तु शुक्तिरजतान्, तेन उत्पद्यमानं वत्तु स्वकारणमनध्यस्तं निश्चाययति, स्वं च । नन्वध्यस्त-त्वाविरोधि व्यावहारिकसत्त्वमेवानेन निश्चीयते न तु पारमार्थिकसत्त्व-मिति चेन्न । व्यावहारिकान्तिरिक्तपारमार्थिकसत्त्वे मानाभावस्योक्तत्वात् । प्रातिभासिकान्तिरिक्तस्यैव प्रमितस्य पारमार्थिकत्वात् । अतः उत्पत्तिश्रव-

णात् अनध्यस्तमेव विश्वम् । ननु स्वाप्नप्रपञ्चस्याप्युत्पत्तिः श्रूयत इति चेन्न । विकल्पासहत्वात् । किं स्वाप्नप्रपञ्चो नास्ति । तथाप्युत्पद्यत इत्यभिप्रायः । अथवाऽस्ति उत्पन्नश्चेति । आद्ये विनाऽपि सामग्रीं घटाद्युत्पत्त्यापत्तिः । असत् उत्पत्त्यभ्युपगमात् । अन्त्ये इष्टापत्तिः । यदुत्पत्तिमत् तत् सदित्यव्यभिचारात् । “अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते” इत्यस्याः श्रुतेः कोऽर्थ इति चेत् कोऽत्र क्लेशः । एषामसत्त्वपक्षे सृजते प्रतिभासावषयान् करोतीत्यर्थः । सत्त्वपक्षे तु तत्कालमात्रानुभाव्यान् एतान् पदार्थान् सृजतीति यथाश्रुत एवार्थः । अयमेव च पक्षोऽस्मत्सम्मतः ।

किञ्च अनीश्वरसृष्टं स्यात् । ईश्वरसृष्टं हि जगदात्मनन्ति ‘इदं सर्वमसृजते’ इति । न चेदमध्यासे उपपद्यते ! कल्पितस्यापि व्यावहारिकसत्त्वमादायोपपद्यत इति चेन्न । व्याघातात् । कल्पितं च व्यावहारिकं चेति व्याहृतं ह्येतत् । व्यावहारिकमिति तात्त्विकस्यैवाभिधानात् । तदतिरिक्तस्य तात्त्विकस्याभावात् । तस्य च कल्पितत्वायोगात् । एतेन ईश्वराध्याससिद्धत्वात् तत्सृष्टत्वोक्तिरिति परास्तम् । आध्यासिकस्य व्यावहारिकत्वायोगात् । ‘अध्यस्तस्यापि सर्पस्य भयकम्पादिजनकत्ववत् वाय्वादीनां तेजआदिजनकत्वमप्युपपन्नम्’ इति यदुच्यते तदसत् । असतः सर्पस्य कारणत्वायोगेन तज्ज्ञानस्यैव भयादिजनकत्वस्योक्तत्वात् । अन्यथा दृष्टत्वस्यापि कदाचित् प्रसङ्गात् । वाय्वादीनां तु तेजआद्युपादानभूतानां स्वरूपेणैवोपयोगेन कल्पितत्वा-  
ऋषपत्तेः ।

यत्तु “मध्यन्दिने भूयिष्ठप्रकाशाद् बहिर्देशात् सालोक्यमपवरकं प्रविष्टस्य तमःप्रतीतिर्भवति, तत्रत्यानां घटादीनामप्रतीतिश्च । तत्र कल्पितस्य तमसो वस्त्वाच्छादकत्वं दृश्यते” इति तन्न । तत्र तमो-  
अमस्य यो हेतुः तत एव तत्रत्यवस्तुप्रतीतिविरहोपपत्तेस्तदाच्छादकत्व-

पेक्षणात् । भूयिष्ठो हि प्रकाशो नेत्ररश्मीनां प्रसरं मन्दीकरोति । तस्या-  
मवस्थायां अपवरकं प्रविष्टस्य नायनरश्मिप्रसरमान्द्यमेव क्षणकालं  
तमोभ्रमं वस्त्वग्रहणं च आपादयति । तत्र कः कल्पितस्य तमस  
उपयोगः ।

### २३. मिथ्यात्वश्रुतिः ।

प्रकृतानुमानस्य श्रुत्यनुग्रहं दर्शयितुं प्रवृत्तः, एकमेवाद्वितीयमित्येत-  
दद्वैतपरं कृत्वा, “तत्स्वरूपप्रामाण्ययोग्यतादीनां मिथ्यात्वेऽपि तज्जन्यस्य  
बोधस्य न मिथ्यार्थविषयत्वम् । मिथ्यात्वप्रयोजकरूपस्य तत्राभावात् ।  
यथा सदर्थबोधकस्वाप्नदेवतावाक्ये” इत्याह । तदयुक्तम् । मिथ्याप्रमा-  
णाजन्यबोधविषयत्वस्यैव मिथ्यात्वप्रयोजकत्वात् । अन्यथा लिङ्गभ्रमेणापि  
सर्वत्र लिङ्गप्रमित्यापत्तेः । न च सदर्थस्वाप्नदेवतावाक्ये व्यभिचारः ।  
प्रबोधकाले चर्मचक्षुषोर्गोचरत्वं पारहरन्त्याः स्वसङ्कल्पेन स्वयमेव स्वप्ने-  
प्रादुर्भवन्त्या देवतायाः स्वरूपस्य वा वाक्यस्य वा पारमार्थिकत्वेन मिथ्या-  
त्वकथागन्धस्यापि विरहात् । स्वप्नद्रष्टृपुरुषमतिविभ्रमकल्पितत्वाभावात् ।  
कथमिदमवगम्यत इति चेत् वाक्यस्य सदर्थत्वादेव । तस्माद् वेदस्व-  
रूपादेर्मिथ्यात्वेऽपि तत्प्रमेयमद्वैतं सत्यं भविष्यतीति प्रत्याशा अयुक्तैव ।  
उपजीव्यप्रत्यक्षविरोधात् अद्वैतं न श्रुत्यर्थं इति चोक्तम् । उपजीव्यं प्रत्य-  
क्षप्रामाण्यं व्यावहारिकम् । न तद्वाध्यम् । बाध्यं प्रामाण्यं तात्त्विकम् ।  
न तदुपजीव्यम् । इतीयं कल्पना निर्मूलेति चोपपादितम् । तात्त्विकस्य  
प्रामाण्यस्यानुपजीवने कस्यापि तात्त्विकस्यार्थस्यासिद्धेः । जगत इव  
ब्रह्मणोऽप्यतात्त्विकत्वापातात् । न हि भवति स्वप्नद्रष्टृमञ्जूषा मिथ्यात्व-  
तदन्तर्दृष्टं रत्नं तु सत्यमिति । तस्य सत्यत्वमुपदिश्यत इति चेत् जग-  
तोऽपि उदत्तिस्थित्यादिवादेन ‘कथमसतः सज्जायेते’ति सत्त्ववादेन च  
सत्यत्वमुपदिश्यत एव । अद्वैतश्रुत्याऽस्य मिथ्यात्वं इति चेत् तर्हि तथैव  
तदन्तर्गतवेदमिथ्यात्वद्वारा तत्प्रमेयस्य ब्रह्मणोऽपि मिथ्यात्वं बोध्यत

एव । तस्य श्रुतं सत्यत्वं कथं योज्यामिति चेत् जगतो यथा तथैव । द्वितीयत्वं मिथ्यात्वप्रयोजकम् । तद् ब्रह्मण नास्ति । तत्कथं तस्य मिथ्यात्वं भवेदिति चेदुक्तमेतन् । द्वितीयान्तगतस्य प्रमाणभूतस्य वेदस्य मिथ्यात्वे तदभेदस्य सतोऽपि मिथ्यात्वमापततीति । तथा च कल्पितसत्त्ववदेकमासंदिति श्रुत्यर्थो वाच्यः । सत्यत्वं ब्रह्मस्वरूपमेव । अतो न तस्य कल्पितत्वमिति चेत् तद्मिथ्यात्वं ब्रह्मेति स्यात् । न तु सत्यं ब्रह्मेति । धर्मत्वं कल्पितमिति चेत् तद्मिथ्यात्वं जगदपि ब्रह्मस्वरूपमेव । सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति श्रवणात् । अतो न तन् कल्पितम् । भेदमात्रं कल्पितम् । तदेव निर्वाच्यते इति स्यात् । तस्मात्

त्यज वा ब्रह्मसत्यत्वं भज वा विश्वसत्यताम् ।  
 ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येषा ते दुर्लभा स्थितिः ॥  
 अनुमन्येत मिथ्यात्वमात्मनोऽपि यदि श्रुतिः ।  
 परिशेषयितुं ब्रह्म शक्येत न कथञ्चन ॥

### २४. अद्वैतश्रुतिः -

परीक्षितप्रतिष्ठितप्रामाण्यस्य घटपटादिद्वैतप्रत्यक्षस्य सम्भवदप्रामाण्यचन्द्रादेशिकत्वप्रत्यक्षतुल्यत्वं न भवतीति, तेन तस्याद्वैतश्रुतिविरोधित्वं भवतीति च पूर्वमेवोक्तम् । विरोधे प्रत्यक्षं प्रबलम् । अतः तदविरोधेनैव श्रुत्यर्थो वाच्य इति च । अन्यथा वेदमिथ्यात्वात् तद्वैद्यब्रह्ममिथ्यात्वमप्यापतेदिति च ब्रह्मणो वा तत्सत्यत्वस्य वा जगद्देव हि अध्यस्तत्वं हि विहायमापतति । न हि वक्तुर्वाक्यमन्यथा गृहीनवतः श्रोतुः मिथ्याभूततद्वाक्यबोधस्यार्थस्य प्रमाणान्तरेण संवादो भवति । यदि कदाचिद् भवति स यादृच्छकः, प्रमाणान्तरावसेयः । औत्सर्गिकस्तु विसंवाद एव । न च ब्रह्मणः सत्यत्वे संवादि प्रमाणान्तरं सुवचम् । अतो मिथ्यावाक्यजन्यमिथ्याज्ञानविषयत्वात् मिथ्यात्वं दुर्वारम् ।

अथ यदुच्यते “प्रत्यक्षं नियतविषयं, श्रुतिः सर्वविषया । तथा च यत्र प्रत्यक्षेण भेदो न गृहीतः तत्रैवाभेदश्चानुत्पत्तिः ।” इत्यादि खण्डनकारोक्तमनुवदता, तत् सर्वमत्यन्तमहद्यम् । तथाहि । यथा कञ्चिद्वदनवर्धितं विपक्षं प्रबला पार्श्विग्रहा संना काचित् ऋदित्यास्फुट्या वरुष्य तदीयां विभूतिं सर्वामात्मसात्कुर्वीत तथा अगृहीतस्वभेदा काचन धर्यदा भासते तदा लब्धावकाशा अद्वैतश्रुतिः प्रत्यक्षवाच्यत्वेनाभिमतयाः स्वात्मवाचा ऐक्यधियः तथा सह ऐक्यं बोधयित्वा निर्वाधा सती सर्वाभेदे पर्यवस्यतीत्युच्यते । तत्र वक्तव्यम् । यद्यपि काचन घटपटादिभ्यः स्वभेदाविषया तथापि अद्वैतश्रुतिः स्वात्मवाचा ऐक्यधियः तथा सहैक्यबोधनाय अवकाशं कथं लभेत । परस्परं विनयभेदात् । घटदिविषया ह्येका धीः । भेदाभावविषया चान्या । तत एव तयोरपि भेदात् । “अर्थेनैव विशेषा हि निराकारतया विद्याम् ।” तथा च भेदत्वेन स्वभेदविषयत्वाभावेऽपि स्वात्मवत्स्वभेदग्राह्येणैव सर्वा धीरिति धियोरभेदो न शक्यो बोद्धुम् ।

ननु अद्वैतश्रुतिः धियोरभेदं बोधयित्वा तद्विषययोरप्यैक्यं बोधयतीति चेत् विषयभेददाह्यात् तत्राभेदबोधनाशक्ता तत एव धियोरपि तद्बोधने अप्रभवता सा क्रुद्धा कृत्येव स्वात्मपक्षं अद्वैतमेव हन्तीति पश्यतु भवान् । अभेदवादेऽपि हि सुखदुःखबन्धमोक्षादेर्व्यावहारिको भेदोऽवर्जनीय भवति । न च प्रकृतिप्रत्ययभेदं, पदभेदं, तत्तदर्थभेदं, स्वयमुपदेष्टी सती उपदेष्टव्यपुरुषभेदं च सिद्धवत्कृत्य प्रवर्तमाना श्रुतिः सर्वभेदनिषेधे क्षमते । अतः परीक्षितप्रामाण्यत्वात् प्राथम्यात् अपरोक्षत्वात् । उपजीव्यतात् अत्यन्तं वाधितुमशक्यत्वाच्च प्रत्यक्षस्य तदविरोध्वैतार्थः श्रुतेर्वाच्यः । यत् ‘अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि’ । इति, तत्तथैव । ‘अङ्गुल्यग्रे करिवरशतम्’ इत्यादेरपि बोधकत्वात् । यत्पुनः ‘अवाधात्तु प्रामात्र स्वतः प्रामाण्यनिश्चलाम्’ इति तत्रास्ति । प्रबल-

प्रत्यक्षबाधसत्त्वात् । अतो भवदभिमतादन्य एवार्थोऽद्वैतश्रुनेर्वाक्तव्यः ।

## २५. एकमेवाद्वितीयम् ।

नन्वेकमेवाद्वितीयमिति पदत्रयेण सकलभेदनिषेधः स्फुटमव-  
गम्यते । यथाहुः—

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः ।

वृक्षान्तर्गतसजातीयो विजानीयः शिलादितः ॥

तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते ।

एकावधारणाद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात् ॥

इति । अयमर्थः । वृक्षस्य पत्रपुष्पफलादिसत्त्वप्रयुक्ता स्ववृत्तिस्व-  
व्यतिरिक्तवस्तुमत्ता, वृक्षान्तरसत्त्वप्रयुक्ता स्वसजातीयस्वव्यतिरिक्त-  
वस्तुमत्ता, शिलादिसत्त्वप्रयुक्ता स्वविजानीयस्वव्यतिरिक्तवस्तुमत्ता च  
दृश्यते । ईदृशस्वव्यतिरिक्तत्रिविधवस्तुमत्ता पदत्रयेण ब्रह्मणा व्यव-  
च्छिद्यते इति एतेनात्र “भेदशब्दः अन्योन्याभावपरो वा भिन्नवस्तु-  
परो वा । आद्ये फलादिभिरिति तृतीयानुपपत्तिः । पञ्चमी ह्यपेक्ष्यते ।  
स्वगत इत्यव्यावर्तकं च । त्रयाणामप्यन्योन्याभावानां वृक्षान्तर्त्वात् ।  
अन्त्ये वृक्षान्तरादिति पञ्चम्यनुपपत्तिः । वृक्षान्तरं सजातीयो भेद  
इति हि वाच्यम् । तद्यमनन्वितः श्लोकः” इति दूषणं निरवकाशमिति  
बोध्यम् । तत्कथमन्योऽर्थोऽभिधानुं शक्य इति चेन्न । समञ्जसस्यार्था-  
न्तरस्य आचार्यैरभिहितत्वात् ।

“सर्वज्ञं सर्वशक्तिं ब्रह्मैव सर्वकारणमित्युपदिशन् स होवाच—  
सदेव सोम्येदमग्र आसादेकमेवाद्वितीयम्—इति । अत्र इदमिति  
जगन्निर्दिष्टम् । अग्र इति च पूर्वकालः । तस्मिन् काले जगतः  
सदात्मकतां सदेवेति प्रतिपाद्य, तत् सृष्टिकालेऽर्थावशिष्टमिति  
कृत्वा, एकमेवेति सदापन्नस्य जगतस्तदानीमविभक्तनामरूपतां





जीवनेति इदमा निर्देशपूर्वकं जीवात्मोक्तेः तेजोऽसृजत अपोऽसृजत  
अन्नमसृजन्तेति तेज आदिसृष्टिवचनाच्च सजातीयविजातीयनिवारण-  
परत्वमप्यसम्भवीति । किञ्च नेदं ब्रह्मलक्षणपरं वाक्यं सत्यं ज्ञान-  
मनन्तमिति वन्, येनैवमतिक्रिष्टार्थवर्णनप्रयासः सोढव्यः । ब्रह्म वा  
इदमग्र आसीन्, आत्मा वा इदमग्र आसीदित्यादिवन् जगतः सृष्टि-  
प्रकारः प्रथमः प्रकृत्या निर्दिष्टत्वात् । अग्रे आसीदिति कालविशेषग्रह-  
णात् । न हि तदानीमेव त्रिविधभेदशून्यं ब्रह्मेष्यते ।

किञ्च समस्तकल्याणगुणाकरेण सता तदात्मकपारमार्थिकजगत्सृष्टि-  
प्रतिपादकतया कृत्स्नप्रकरणसामञ्जस्ये सति प्रथमं सकलभेदशून्यब्रह्म-  
परतया किञ्चिद्वाक्यं व्याख्याय उपरि प्रतिपाद्यमानस्यापूर्वस्य अर्थ-  
जातस्य कृत्स्नस्य मिथ्यात्वाभिधानं कथं युज्येतेति ।

## २६. ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्तिः

तरति शोकमात्मवित्, तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः, भिद्यते हृदय-  
ग्रन्थिरिद्धयन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे  
परावरे ॥ इत्यादिश्रुतिस्मृतबोधितज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्तिरपि बन्ध-  
मिथ्यात्वे प्रमाणम् । सत्यत्वे ब्रह्मवदनिवर्त्यत्वापत्तेः इति यदुक्तं तदपि न ।  
यथा प्रत्यङ्गविरोधात् श्रुतेर्भवद्भिमतमद्वैतं नार्थः तथैव तत एव हेतोः  
बन्धनिवर्तकतया भवद्भिमतं ज्ञानं न श्रुतिस्मृतप्रतिपाद्योऽर्थ इति  
स्थितेः । “ओमित्वात्मानं ध्यायथ” “स्मृतितलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्र-  
मोक्षः,” “आत्मेत्येवोपासीत” इत्यादिभिरन्यादृशमेव हि ज्ञानं बन्ध-  
निवर्तकतयापदिश्यते, न तु भवद्भिमतविकल्पकवृत्तिरूपमिथ्या-  
ज्ञानम् । ननु आत्मवित् ब्रह्मविदिति केवलं वेदानं श्रूयते । सत्यम् ।  
छागो वा मन्त्रवर्णादिति न्यायेन तस्योपासनरूपे विशेषे पर्यवसान

भवति । उक्तं च वाक्यकारेण 'वेदनमुपासनं स्यात् तद्विषये श्रवणात्' इति ।

इदमत्र बोध्यम् । श्रुतिस्मृतिबोधितत्वं कथं ज्ञाननिवर्त्यत्वस्य । अविधेयज्ञानवादिनो हि भवन्तः । प्रतीतिबाधाभ्यां प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वे सिद्धे अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारनिवर्त्यत्वं अन्वयव्यतिरेकाभ्यां लोक्तः प्राप्तम् । पुरुषपरतन्त्रत्वाभावाच्च ज्ञानं न विधेयमिति वदन्ति । अतो लोक्तः प्राप्तस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वस्यानुवादमात्रं श्रुतिस्मृतिवचनेषु, इति स्थिते प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धयधीनसिद्धिकस्यानुवाच्यस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वस्यानुपपत्त्या तन्मिथ्यात्वं सिद्धयतीति विपरीतनिरूपणे प्रवृत्तिः न युज्यत इति ।

### २७. दृष्टिसृष्ट्यनुपपत्तिः

आतन्त्रसाक्षात्कारं जगत्प्रयायि । स साक्षात्कारः कदाचिद् भविष्यति । तदा रज्जुसर्पादिवत् जगद् बाधितं भविष्यतीत्येतादृशेन जगन्मिथ्यात्वेनावृण्वन् "यत् किमपि वस्तु यदा ज्ञायते तदाऽस्ति यदा न ज्ञायते तदा नास्तीति इमं दृष्टिसृष्टिवादमवताये समर्थयितुमीहते । न च शक्यः समर्थयितुम् । अतिदौस्थ्यम् । जीवेशादीनामपि घटपटादिवदेव दृष्टिसृष्टित्वापत्तेः 'षडस्माक्रमनादयः' इत्यनेन विरोधात् । न च तदितरविषय एव दृष्टिसृष्टिः स्वोक्रियत इति वाच्यम् । भवत्स्वीकारास्वीकारयोरतन्त्रत्वान् । यदि घटादिषु सा उपपन्ना कुतो न जीवेशादिषु । किञ्च घटादिशून्ये देशे अस्मद्दृष्टिप्रसरे सति घटादिकं कुतो नोत्पद्यते ? घटमपेक्षमाणः पुमान् अन्यं नियुज्य तेनानीतं आस्वदृष्टिमात्रेण खण्डं शक्तः किमिति अन्यं प्रेरयति ? कुलालकुर्वन्दादिदृष्ट्यैव घटपटाद्युत्पत्तौ तेषां मृत्तन्त्वाद्यार्जनप्रयासः किमर्थः ? प्रत्यभिज्ञानेन विश्वस्य स्थायित्वप्रतिपादकसूत्रभाष्यविवरणादिग्रन्थविरोधश्च दुष्परिहारः । यत्तु, कारणात्मना स्थायित्वं स्वोक्रियते । तावतैव बौद्धाभिमतक्षणिकत्वनिराकरणत्वोपपत्तेर्नाकरणविरोध इति, तदयुक्तम् । कार्यस्य

घटस्य उत्पात्तिक्षणदारभ्य विनाशक्षणपर्यन्तं स्थैर्यं हि बौद्धसम्मत-  
णिक्त्वनिराकरणेन सिद्धान्तिभिः स्थाप्यते । कारणभूताविद्यात्मना  
क्षणिकत्वं तैर्नेष्यते । नापि सिद्धान्तिभिर्निराक्रियते । अत इदमसङ्गतम् ।

यच्चात्र “प्रतीतिमात्रशरीरत्वेन नियतकारणाजन्यत्वे स्वर्गावर्थाव्यो-  
तिष्टोष्मादिविधिप्रभृत्तीनामनुपपत्तिः” इत्याक्षेपस्य “स्वाप्नकार्यकारणा-  
भावश्लेषकत्वमव्यवदुपपत्तिः” इति समाधानमुक्तं तेन अद्वैतनिष्ठा नास्ति-  
क्यफलेति स्वयमेव स्फुटं प्रकाशितम् । स्वाप्नवाक्यं, कारणत्वेन कार्य-  
त्वेन च तद्बोधे वस्तुनी, तयोः कार्यकारणभावः, इति हि सर्वमिदं  
मिथ्या । यदि तत्तुल्यमेव वेदतदर्थकार्यकारणभावादि सर्वं तर्हि आस्त-  
क्यकारणं किमन्यदवशिष्यते । वेदान्तवाक्यतन्मीमांसादिकमस्तीति  
चेन्न । तस्यापि स्वाप्नाविशेषात् । बाधाबाधाभ्यां विशेष इति चेन्न ।  
स्वाप्नबाधाबाधयोर्वस्तुतत्त्वनिर्णयाहेतुत्वान् । न हि भूतले सन् घटः  
स्वप्ने तन्नित्युत्था निवर्तते । मृतस्य पुरुषस्य वा स्वाप्नसद्भावेन सद्भावो  
भवति । यत्तु दोषप्रयुक्तत्वाज्ञानेनाबाधःपपत्तिरिति व्याख्यायामुक्तं तत्  
जागरे घटादिप्रत्ययानामपि तुल्यम् । एषां दोषप्रयुक्तत्वज्ञानसम्भवे  
वेदान्तवाक्यजन्यब्रह्मप्रत्ययस्यापि तथैव सम्भवति । अतो न कथमपि  
विशेषः सुवचः ।

एवमेव “तृप्त्यर्थं भोजने परप्रत्यायनार्थं शब्दादौ च प्रवृत्तोरयोगेन  
स्वक्रियाव्याघातः” इत्याक्षेपस्य “स्वाप्नव्यवहारवदुपपत्तिः” इतीदं न  
समाधानम् । स्वपतः पुरुषस्य यच्छरीरं यानि च चक्षुःपाणिप्रभृतीनि  
ज्ञानकर्मन्द्रियाणि तानि निर्व्यापाराणि तिष्ठन्ति । तन्निरपेक्ष एव स्वाप्नो  
व्यवहारः सर्वः प्रवर्तते । तत्र स्वक्रियाव्याघातमापादयतामगमभिप्रायः  
—यथा स्वप्ने सर्वं प्रतीतिमात्रशरीरं तथैव चेत् जागरेऽपि तर्हि स्वप्न-  
वदेवात्रापि सर्वप्रत्यक्षशरीरेन्द्रियनिरपेक्ष एव भोजनादिव्यवहारः प्रवर्त-  
ताम् । इति । अत्र समाधातुरयमभिप्रायः—स्वाप्नभोजनादिकमपि शरी-

रेन्द्रियव्यापारपूर्वकमेव । तानि तु शरीरेन्द्रियाणि प्रतीतिमात्रशरीराणीति सम्प्रतिपन्नम् । एवमेव तदानीं निर्व्यापाराण्यपि जागरावस्थायां व्यापारवन्ति शरीरेन्द्रियाणि दृष्टिसृष्टित्वान् प्रतीतिमात्रसाराण्येव । तथा च जागरव्यवहारोऽपि सर्वः स्वाप्नव्यवहारतुल्य एवेति ।

अत्रेदं वाच्यम् । स्वाप्नवस्तूनां मिथ्यात्वं सिद्धवत्कृत्य तद्दृष्टान्तेन अन्येषामपि मिथ्यात्वं भवान् साधधितुमिच्छति । विपरिवर्तः कुतो न भवति । शायितं शरीरं सत्यम् । तथैव स्वाप्नमपि शरीरं सत्यमिति । सत्यत्वे किं प्रमाणमिति चेत् प्रतीतिरेव । यत्प्रतीयते तदस्ति । आत्मवत् । प्रतीतस्यपि उत्तरकालबाधे न सत्यत्वमिति चेत् तर्हि बाधनिबन्धनमसत्यत्वमित्यास्थेयम् । बाधितत्वान् स्वाप्नं शरीरादि असत्यमिति । एवं सति स्वापकाले शयानस्य अन्यदा चेष्टमानस्य च शरीरस्य अबाधितस्य कथं स्वाप्रतुल्यत्वं स्यात् । एतदुक्तं भवति । बाधितं स्वाप्नं भोजनं वस्तुतो नास्ति । अतस्तस्य वास्तवशरीराद्यपेक्षा न भवति । जागरकालिकभोजनमपि यदि स्वाप्नवत् वस्तुतो न स्यात् तर्हि स्वाप्नभोजनवदेव वास्तवबाह्यशरीरादिव्यापारापेक्षं न स्यात् । एतत्सापेक्षं तु भवति । अतो न स्वाप्नव्यवहारतुल्यत्वमिति । स्वाप्नजागरव्यवहारयोः बाधाबाधाभ्यां वैलक्षण्ये स्थिते वास्तवबाह्यशरीरादिनिरपेक्षत्वसापेक्षत्वाभ्यामपि वैलक्षण्यं दुर्वारम् । अतो जाग्रद्भोजनादिव्यवहारस्य स्वाप्नव्यवहारतुल्यत्वे तद्देव स्वप्नदशिमनोमात्रकल्पितानन्यदृश्यतत्कालमात्रभाविशरीरेन्द्रियप्रवृत्तिसाध्यत्वेन मातापितृप्रसूतसर्वदृश्यशरीरादिप्रवृत्त्यनपेक्षत्वान् स्वक्रियाव्याघातो दुष्परिहार एवेति ।

प्रति कर्मव्यवस्थाविरुद्धायां दृष्टिसृष्टिवादाः । यत्तु मन्दाधिकारि-  
वपया सेति, तदयुक्तम् । तदनङ्गीकारे प्रसज्यमानाया अव्यवस्थाया  
अमन्दाधिकारिभट्टसृष्टिवादिभिरपरिहारात् । यदि हि दृष्टयैव

वस्तु सृज्यते पूर्वदृष्टो घटः कालान्तरे कथं घट एव दृश्यते न गर्दभः । दृश्यत एव हि स्वप्ने एकमेव वस्तु अन्यथा अन्यथा परिणममानम् । उक्तं च मायामात्रसूत्रमाष्ये—“रथोऽयमिति हि कदाचित् स्वप्ने निर्धारितः क्षणेन मनुष्यः सम्पद्यते । मनुष्योऽयमिति निर्धारितः क्षणेन वृक्षः” इति । एकस्मिन् वस्तुनि भ्रमश्च बहुधा । यथा रज्जौ सर्पः भूदलनमम्बुधारोति । एतेन “पुरुषान्तरप्रतीतेन सह एककालावच्छेदेनापि घटादौ प्रत्यभिज्ञानं भ्रम एव । प्रतिभासस्य भेदात् । यथा एकस्यामेव मन्दान्धकारवर्तिन्यां दशानां युगपत् सर्पभ्रमेण पलायमानानां परस्परसंवादेन एक एव सर्पः सर्वैरनुभूयत इति प्रत्यभिज्ञा भ्रमः । अन्यभ्रमसिद्धस्यान्येन ज्ञानुमशक्यत्वात्” इति यदुक्तं तन्निरस्तम् । तथा हि । बहुभ्रमस्यले सर्वे एकधैव भ्रमन्तीति नियमो नास्ति । रज्जौ हि कदाचित् क्वाश्चत् सर्प इति भ्राम्यति । अन्यः भूभेद इति । अपरः अम्बुधारोति । नैवं प्रमःस्थले अनियमो भवति । अभ्रान्ताः सर्वेऽपि घटं घटमेव पश्यन्ति, न तु यः कश्चिदपि अघटम् । दृष्टिसृष्टौ अयं नियमो नोपपद्यते । यद्यप्येकः रज्जुं रज्जुत्वेनेव घटं घटत्वेन पश्येत् तथाप्यन्ये रज्जुं सर्पत्वादिनेव घटं घटाभ्रान्ताश्चिद्वस्तुत्वेनापि पश्येयुः, यदि रज्जुसर्पवत् दृष्टिसृष्टिमात्रात्मा घटः स्यात् । दृष्टान्ते दशपुरुषभ्रमसिद्धा दशसर्पाः सन्ति । तेषामैक्यं भ्रान्तिसिद्धमित्येतदनुपपन्नम् । भ्रमात्मकप्रतीतिमात्रस्य तत्र सत्त्वात् । बहिः सर्पात्मकावषयसिद्धौ मानाभावात् । ज्ञानस्य हि सवत्र सविषयत्वं दृष्टम् । न तु क्वचिदपि स्वविषयोत्पादकत्वम् । अतः सोऽयं घट इति कालान्तरे यत्प्रत्यभिज्ञानं, दशानां युगपद्दर्शने च संवादेन यदैक्यज्ञानं तदुभयं प्रतीतिनिरपेक्षस्वकारणसिद्धवर्हिर्वस्तुसत्ता बोधयत् दृष्टिसृष्टिवादस्य दुष्टदृष्टिमूलतां स्पष्टदृष्टियांग्यामापादयतीति ज्ञेयम् । प्रवसन् दृष्टिसृष्टिवादी स्वगृहजनान् असतो मन्यमानः किं तदुचितं सर्वमाचरतीति च विमृश्यम् ।

किञ्च अन्धकारावृत्ते गृहे एको घटोऽस्तीति आनवचनश्रवणानन्तरं तद्ग्रहणाय प्रदत्तयोः हस्तौ प्रसार्य प्रसार्य तदुपलम्भाय यतमानयोर्द्वयोरेवस्तमुपलभ्य गृह्णाति, अपरो न । कस्तत्र हेतुः ? कीदृशस्य रात्रौ दधित्वपरिणामः भूम्यन्तर्निहितस्य बजस्याङ्कुरप्रादुर्भावानुगुणपरिणामश्च कस्य दृष्ट्या सृज्यते ? भवद्ग्रहस्थस्य वस्तुनः अन्धेन दृष्टस्य तद्दृष्टसृष्टित्वेन तत्स्वामिकत्वापत्तेः कः परिहारः ?

यत्तु नेह नानाऽस्ति किञ्चनेत्यादिश्रुतिभिः प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वेऽवधुने रज्जुसर्पादवत् प्रतिभासमात्रशरीरत्वमेव प्रतिभासकालार्तारक्तकालसत्त्वं बाधकम् । अतो भिन्नकालानां प्रत्याभिज्ञा भ्रान्तिरिति कृत्वा प्रातर्दृष्टस्य घटस्य सायं जायमाना प्रत्याभिज्ञा भ्रान्तिरित्युच्यते, ताद्वपरीतं द्रष्टव्यम् । दृढप्रत्याभिज्ञावलेन वाक्यन्यायैश्च नेह नानेति श्रुतिः प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं न बोधयतीत्यवधारणम् । 'एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि ( सर्व एत आत्मानो ) व्युच्चरन्ति' इति श्रुतिर्न दृष्टसृष्टौ प्रमाणम् । अस्या ह्ययमर्थः । सर्वे प्राणाः जीवाः, लोकाः, ज्ञानानि, देवाः, इन्द्रियाणि, सर्वाणि भूतानि, देवमनुष्यादिरूपाणि अस्मान् 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इति पूर्वं निर्दिष्टात् आत्मनः परमात्मनः व्युच्चरन्ति सुषुप्तवस्थां विहायोद्गच्छन्तीति । 'कैष तदाऽभूत्, कुत एतदागात्, इति द्वौ प्रश्नौ पूर्वं पृष्टौ, तत्र आदस्योत्तरं 'एवमेवैष एतच्छेने' इत्यन्तेनोक्तम् । अथ द्वितीयस्योत्तराभिधानप्रकरणे इदमास्नायते । जीवस्य सुषुप्तौ परमात्मनि शयनम् । तत एवागच्छति प्रबुध्यमान इति प्रश्नयोः समाधने उक्ते । अत्र दृष्टसृष्टिकथायाः कोऽवकाशः । यत्तु 'न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्प्रश्येत्' इत्यादिना सुषुप्तौ सकलकार्यप्रपञ्चलयश्रवणान् पुनः प्राणादिसृष्टिरुच्यते इति तन्न । अस्याः श्रुतेः स्वातिरिक्तज्ञेयाभावेन स्वातिरिक्तज्ञेयविषयकज्ञानसामान्याविरहप्रतिपादनपरत्वात् । दृष्टेरविनाशित्वेन तदानीमपि

परिच्छेदः

सद्भावमुक्ता द्रष्टव्यविषयाभावेन दर्शनाभावो ह्यत्र विवक्षितः । “यद्वैतन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति । न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विरलिताया विद्यतेऽविनाशित्वात्” इति पूर्ववाक्यश्रवणात् । ननु ज्ञेयाभावां ज्ञेयतयादेवेति चेन्न । ज्ञेयस्य स्वरूपताऽभावाऽनुक्तेः । इन्द्रियाणामुपरमात् ग्रहणयोग्यं किमपि नास्ति । अतो न तद्ग्रहणमिति तात्पर्यात् । ततः प्राज्ञात् अथवा द्रष्टुर्जावात् यद्वा दृष्टेः अन्यत् विभक्तं पृथग्भूतं द्वितीयं योग्यं किमपि नास्ति यत्पश्येत् द्रष्टा, इति श्रुत्यर्थात् । अत्र पिता अमिता भवतीत्यादिना जागरावस्थायां पितृत्वादिधर्मैः गृह्यमाणानां सुषुप्तौ तथा ग्रहणाभावतात्पर्येण हि अपितृत्वादकमुच्यते । न तु पिता नास्ति माता नास्तीति स्वरूपतस्तेषामभावमभिप्रेत्य । सर्वकार्यप्रयत्नवत्ये ‘तद्भावा नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च’ इति नाडीपुरीतद्वृत्तज्ञां प्रासादखट्वापर्यङ्कन्यायेन समुच्चयसिद्धान्तविरोधात् । सुषुप्तशरीरस्य तदुच्छ्वासनश्वाससयोश्च प्रत्यक्षत्वेन सकलकार्यलयस्य बाधितत्वाच्च । “तौ ह पुरुषं सुप्रमाजग्मतुः” इति श्रुत्यैव तत्सत्त्वज्ञापनाच्च । यदत्र परिभाषायामुक्तं—“न च सुषुप्तावन्तःकरणस्य विनाशेन तदधोनप्राणादिक्रियानुपपत्तिः । वस्तुतः श्वासाद्यभावेऽपि तदुपलब्धेः पुरुषान्तरविभ्रममात्रत्वात् । सुषुप्तशरीरोपलम्भवत्” इति तत्र प्रत्यक्षापह्वेन प्रमाणतिरस्कारित्वं स्पष्टम् । नूनमत एवानुशयवान् स पुनराह—“यद्धान्तःकरणस्य द्वे शक्ती ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिश्चेति । तत्र ज्ञानशक्तिविशिष्टान्तःकरणस्य सुषुप्तौ विनाशः न क्रियाशक्तिविशिष्टस्येति प्राणायवस्थानमविहृदम् ।” इति । अत्र कोऽभिप्रायः अंशद्वयारब्धमन्तःकरणम् । तयोरेकः ज्ञानशक्तिविशिष्टः । अन्यः क्रियाशक्तिविशिष्टः । अनयोराद्यः सुषुप्तौ नश्यति, न द्वितीय इति वा ? अखण्डमन्तःकरणम् । तस्य ज्ञानशक्तिर्नश्यति क्रिया शक्तिविशिष्टं तु तदस्तीति वा ? आद्ये एकस्य अन्तःकरणांशस्य सत्त्वात् अन्त्ये कृत्स्नस्य तस्य सत्त्वाच्च अन्तःकरणलयो नास्तीत्यभ्युपगतं



भवति । एवं चान्तःकरणवदेव अन्यदपि सर्वमस्तीति वक्तुं शक्यत्वात् सुषुप्तौ सर्वलयोक्तिरप्रामाणिका । तेन उक्तितस्य दृष्टिसृष्टिप्रसङ्ग एव नास्तीति ज्ञेयम् । एतेन 'अस्मादात्मनः' इति जीवस्य परामशः । तेन तत्कर्तृका सृष्टिरत्रोच्यत इति निरस्तम् । एष जीवः कुत एतदागादिति प्रश्नोत्तरतया प्रवृत्ते सन्दर्भे अपादानतया निर्दिश्यमानस्य य एषोऽन्त-हृदय आकाशस्तस्मिञ्चेत इति पूर्वं सुपुत्रिकालीनशयनस्थानतया निर्दिष्टपरमात्वत्वावश्यम्भावात् । अत एव प्राणा इति जीवाभिधानम् । देवा इतीन्द्रियोक्तिः व्युच्चरन्तीति च उद्गमनार्थकम् । नोत्पत्त्यर्थकम् । अस्वरसत्वात् । पूर्वं 'प्राणान् गृहीत्वा' इति ग्रहणमात्रोक्तेश्च । यत्र यदा एव प्रकृतो जावः सुप्तोऽभूत् तदा एष क्वाभूदिति प्रश्नस्य य एषोऽन्त-हृदय आकाशः तस्मिन्नभूत् इत्युत्तरमिहोक्तम् । कुत आगादिति प्रश्नस्य च यस्मिन्नभूत् तस्मादेव पःस्मादात्मन इत्युत्तरम् । तथा च श्रुतिः सत आगम्येति । सूत्रं च 'अतः प्रबोधोऽस्मात्' इति । तदिह दृष्टिसृष्टि प्रतिपादनप्रयासः क्षीरसागरे लवणोपलम्भप्रयासमनुगच्छतीति ज्ञेयम् ।

### २८. एकजीववादः

“स च द्रष्टा एक एव । तन्नानात्वे मानाभावात्” इत्येक-जीववादं प्रस्तुत्य निस्तङ्कोचं निर्भयं निर्लज्जं च लिखति—“अविद्या-वशाद् ब्रह्मैवैकं संसरति । स एव जीवः । तस्यैव प्रतिशरीरमहमित्यादि बुद्धिः” इति । उपरि च शङ्कापरिहारौ—“अथ ब्रह्मण एव जीवत्वेन तस्यैव बन्धमोक्षाविति तस्य नित्यमुक्तत्वादिश्रुतिविरोधः । न । मुक्तेः स्वस्वरूपत्वेन बन्धस्य चाविद्यकत्वेन तद्विरोधः । न हि मृगतृष्णिका-कल्पितादकेन स्वभावशुष्का भरुभूमिरार्द्रा भवति ।” इति । तत्र सुख-दुःखव्यवस्था जीवनानात्वे प्रमाणमिति सर्वविदितम् । 'सेयं देवतैश्चत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाण' इति अर्हामत्यस्मदा निर्दिष्टाद् ब्रह्मणः अनेन जीवेनेति

इदमा निर्दिष्टस्य जीवस्य व्यतिरिक्तत्वं, 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतना-  
नामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' इति. तन्नानात्वं च श्रुतिसिद्ध-  
मपि । एवं प्रमाणसिद्धं परित्यज्य अप्रामाणिकं प्रमाणविरुद्धं चेद-  
मुच्यते—अविद्यावशाद् ब्रह्मैव संसरति, स एव जीव इति । न हि  
जीवब्रह्मणोरैक्यपरं किमपि श्रुतिवचनमस्ति । 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् ।  
तत्सत्यम् । स आत्मा' इति सर्वस्य आत्मा ब्रह्मेत्युक्त्वा स तवाप्यात्मे-  
त्यावेदनपरत्वेन तत्त्वमसीति वाक्यस्य ऐक्यपरत्वाभावात् । न हि  
सर्वस्यात्मा ब्रह्मेति लोकतः प्राप्तिरस्ति, येन तत्र श्रुतेस्तात्पर्यं न स्यात् ।  
न चास्मिन् प्रमाणान्तराबाधके प्रमाणान्तराबाध्ये प्रमाणान्तराप्राप्ते चार्थे  
स्थिते लांक्रवेदसर्वप्रमाणक्षोभकारि अर्थान्तरं स्वीकर्तुं युक्तम् । नेह नाना-  
स्तीत्यापि ब्रह्मस्वरूपं कतस्त्र्येन ज्ञानानन्दात्मकमेव, न तु क्वचिदपि तस्मिन्  
अन्यथात्वमस्तीति वा अब्रह्मात्मकं किमपि वस्तु नास्तीति वा बोधय-  
तीति नाद्वैतपरम् । एवमन्यदपि । अतो ब्रह्मणो जीवत्वमप्रामाणिकम् ।  
अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः विशोको विजिघत्सो विपिपासः, अनश्न-  
न्नन्यो ऽभिचाकशांति, निरवद्यं निरञ्जनम्, भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च  
मत्वा, इत्यादिप्रमाणशतविरुद्धं च । यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसार-  
बन्धनाद् विमुक्तिरिष्यते तस्यैव संसारित्वाभिधानं वैदिकानामतिमात्र-  
सुदुःसहम् । न च मृगतृष्णिकोदकमरुभूमिदृष्टान्त इह सङ्गतः । न हि  
मरुभूमिरुदकेन सिक्ताऽस्मीति परितप्यते । पुनः शुष्कीभवनाय वा त्वरते ।  
तदुप.यं वा ऽन्वेषयति । उपदिश्यते वा केनचित् सः । भवांस्तु ब्रह्मैवा-  
विद्यावशात्संसरति स एव जीव इत्यादिष्ठते । तेन बन्धमोक्षौ तस्यैवांक्षौ  
भवतः । आविद्यत्वेऽपि बन्धस्य अपुरुषार्थत्वमस्ति न वा । आद्ये  
तद्वतो ब्रह्मणो नित्यमुक्तत्वविरोधः । अन्त्ये मुक्त्युपायोपदेशवैयर्थ्यम् ।  
तदेवम्

हीयेत ब्रह्मभावाद्वा जह्याद्वा ब्रह्म जीवताम् ।

नत्वस्ति योग उभयोस्तेजस्तिमिरयोरिव ॥

ब्रह्मैव संसरतीति शश एव शृङ्गवानिति वद् व्याइतभाषितम् ।  
जीवस्य ब्रह्मव्यतिरेके सिद्धे तन्नानात्वं मुखदुःखव्यवस्थादिभिः एकां  
बहूनामित्यादिश्रुतिभिश्च सिद्धयतीति न तत्साधने अद्य यत्नः क्रियते ।  
नित्यत्वचेतनत्वैकैवानि यथा ब्रह्मणः परमार्थतः सति तथा जीवस्य  
नित्यत्वचेतनत्वबहुत्वानि परमार्थतः सन्तीति सहपाठतात्पर्यम् । नित्यत्व-  
चेतनत्वयोरविशेषेऽपि असङ्ख्येयानां जीवानां सर्वेषां कामसम्पत्तिः तदनु-  
प्रहायतेति तन्महिमातिशयं व्यनक्ति मन्त्रः ।

ख्यातान् मुक्ततया प्रमाणवचनैर्देवानृषीन्मानवान्

निरुद्धः कथयन्ति मुक्तिरहितान्मुक्तान् तथा जीवतः ।

दीप्तार्थं प्रसभं नयन्ति वचसां गुभ्भं प्रशंसापरं

दुर्व्याख्यातवचःकणाश्रयमहावाक्यत्वधीदुःस्थिताः ॥

### २६. अज्ञाने प्रत्यक्षम्

जगतो मिथ्यात्वसाधनोपयुक्तमुक्त्वा तदुपादानभूताज्ञाननिरूपणमार-  
भमाणः प्रथमं तस्य लक्षणमाह अनादिभावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वं  
वा ज्ञानत्वेन सत्त्वात् तन्निवर्त्यत्वं वा भ्रमोपादानत्वं वा तरलक्षणम्,  
इति । अज्ञानमिति अविद्येति च पर्यायौ । अज्ञानमित्यस्य ज्ञानाभाव  
इति मुख्योऽर्थः । अत एवाहुः—

अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वाज्ञानसंशयैः ।

इति । अद्वैतसिद्धये तु जगतो मिथ्यात्वं ज्ञाननिवर्त्यत्वं च आश्चर्यं भवति ।  
त्रिगुणात्मिकायाः परमार्थसत्याः प्रकृतेर्जगदुपादानत्वे तदयोगात् अज्ञान-  
मुपादानमिति कल्पयन्ति । अस्य प्रसिद्धयनुरोधेन अभावरूपत्वे  
भावरूपजगदुत्पत्त्यनुपपत्तेः भावरूपमिदमज्ञानमित्याचक्षते । ईदृशे  
अज्ञाने प्रमाणतः सिद्धे काममिमानि वा अन्यानि वा लक्षणानि भवेयुः ।  
न खलु तद्विमर्शेन किमपि प्रयोजनमस्माकमास्त । अतस्तमुपेक्ष्य  
तस्याप्रामाणिकत्वमेव प्रदर्शयामः ।

तथा हि । यदुच्यते 'अहमज्ञो मामन्यं च न जानामि' इति प्रत्यक्षं प्रमाणम् इति, तत्र । गच्छति गमनाश्रयः, न गच्छति गमनाभावाश्रयः, करोति कृत्याश्रयः, न करोति कृत्यभावाश्रयः, इति यथा तथा, जानाति ज्ञानाश्रयः, न जानाति ज्ञानाभावाश्रयः, इति व्युत्पत्तिसिद्धेऽर्थे स्थिते अपूर्वार्थकल्पनाया अनवकाशान् । 'अहमज्ञः' इत्यभिलपनीयस्य प्रत्यक्षस्यान्यस्य वा ज्ञानस्य ज्ञानान्तराभावमात्रविषयत्वात् । नन्वभावज्ञाने प्रतियोग्यनुयोगिज्ञानं कारणम् । तदास्त चेत् न जानामीति प्रत्ययो न घटते । तज्ज्ञानाश्रयत्वात् । नास्ति चेत् तदाऽपि न घटते । कारणभूतज्ञानाभावात् । तथा चानुभवसिद्धस्य प्रत्ययस्य ज्ञानाभावविषयकत्वानुपपत्त्या विलक्षणं विषयान्तरं सिद्धयतीति चेन्न । विलक्षणविषयत्वेऽपि व्याघातस्य तुल्यत्वत् । अहं घटं न जानामीति प्रतीतिर्हि घटाज्ञानविषया । तत्र घटज्ञानमास्त न वा । आद्ये कथं तदज्ञानम् । अन्त्ये कथं घटविषयकाज्ञानवानहमिति प्रत्ययो भवेत् । एवमहमर्थज्ञानाज्ञानाभ्यामपि व्याघातां द्रष्टव्यः । ज्ञाने मां न जानामीति प्रतीत्ययोगात् । अज्ञाने अहं न जानामिति प्रतीत्ययोगात् ।

अथाहमर्थतयाऽभिप्रेतं सात्त्विकैतन्यं भावरूपज्ञानं साक्षाद् विषयीकरोति । तद्द्वारा तदवच्छेदकं घटादिरूपं विषयं च । तेन विशिष्टप्रतीतिरूपत्वात् । न च कश्चन व्याघात इति । न । घटज्ञानविरहकाले सर्वदा घटमहं न जानामीति प्रतीत्यनुवृत्त्यापत्तेः । अपेक्षणीयान्तराभावात् । न हि तस्य तस्य वस्तुनः ज्ञानं वा तदभावो वेत्येतद् विना इदमहं न जानामि इदमहं न जानामीत्यज्ञाततया तत्तद्वस्तुनः तत्तद्वस्तुज्ञानस्य वा पृथगनुभवो दृश्यते । किं नाम त्वमिदं जानामीति प्रश्नोत्तरतया तु कदाचित् इदमहं न जानामीति व्यवहारो भवति । तत्र इदमर्थस्य सामान्यतो ज्ञानसत्त्वेऽपि न जानामीति विशेषज्ञानप्रतिषेधात् नास्ति व्याघातः । घटमहं न जानामीति च घटशब्दवाच्योऽर्थः

ईदृशस्वरूपस्वभाव इति न जानामीत्येतदर्थकम् । “अथ धर्मः प्रतिपन्नो वा स्यात् अप्रतिपन्नो वे”त्यादि धर्मजिज्ञासाविकरणाभाष्यासहानुसन्धेयम् ।

नन्वेवं ज्ञानविशेषप्रतिषेधस्थले उपपत्तावपि मयि ज्ञानं नास्तीति ज्ञानसामान्यनिषेधस्थले किं वक्तव्यमिति चेत्, कदाऽयं निषेधः ? किं जागरे अथ वा सुषुप्तौ ? आद्ये यत्किञ्चिज्ज्ञानावश्यम्भावान् नायं निषेधः सम्भवी । अन्त्ये नतराम् । प्रतीतिसामान्यस्य नदानीमुपरमेऽपि निषेधप्रत्ययासम्भवान् । कथं तर्हि मयि ज्ञानं नास्तीति प्रतीतिरुपपादनीयेति चेत् यदीयं ज्ञानसामान्यविषया तर्हि भ्रान्तानामेव । विवेकिनां तु यथोचितं तत्तद्विषयज्ञानविशेषावलम्बिनीति । एतेन त्वदुक्तमर्थं न जानामीति विशेषप्रत्यक्षमपि व्याख्यातम् । वक्तुं वाक्यप्रयोगात् स कञ्चिदर्थं वदतीति, स्वमुद्दिश्य प्रयोगात् स्वस्य तज्ज्ञानजननं तेनोद्दिष्टमिति च जानन् श्रोता, वक्तृदोषाद्वा वाक्यदोषाद्वा स्वयुद्धिमान्याद्वा तमर्थमजानन् तं प्रति ‘त्वदुक्तमर्थं न जानामि’ इति ब्रवीति । अत्र को व्याघातो नाम ? अज्ञानवादस्त्वत्रानुपपन्नः । तथा हि । एवंवादिनः त्वदुक्तवाक्श्रवणापेक्षा अस्ति न वा । आद्येऽपि दृष्टविधया वा अदृष्टविधया वा । न तावद्दृष्टविधया । प्रमाणाभावात् । यदि दृष्टविधया तन् किमर्थज्ञानजननार्थं अन्यथा वा । आद्ये अर्थज्ञानस्य जातत्वेन तदज्ञानविनाशात् न जानामीति तदनुभवो दुर्वचः । अन्त्ये कथमिति वाच्यम् । तत्तु दुर्वचम् । अपेक्षा नास्तीति द्वितीयपक्षे यो दूरस्थः कश्चित् यो वा सन्निहितोऽन्वबधिरः तस्याभि त्वदुक्तमर्थं न जानामीति प्रतीतिः स्यादिति ।

अथ “एतावन्तं कालं न किञ्चिद्वेदिपरमिति परामर्शसिद्धं सौषुप्तं प्रत्यक्षमपि भावरूपाज्ञानविषयमेव” इति यदुच्यते तदापि न युक्तम् । यो हि प्रातर्गर्जनं न दृष्टवान् सः ‘किं प्रातर्गर्जमद्राक्षीः’ इति पृष्टः नाहं दृष्टवानिति प्रत्येति वदति च । अयमस्य सायङ्कालीनः प्रत्ययः प्रातरदर्शन-

मात्रं साधयति, न तु अदर्शनप्रत्यक्षम् । न हि सः प्रातःकाले गजादर्शनं मेऽस्तीति प्रतीतवान् । एवमेव प्रकृते न किञ्चिद्वेदिषामिति सुषुप्तिकालीनमवेदनं प्रबुद्धोऽनुसन्धत्ते । न तु ततोऽधिकं किमपि । अतः अनेन परामर्शेन सौषुप्ते प्रत्यक्ष एवासिद्धे कुतस्तस्य भावरूपाज्ञानविषयत्वम् । ननु सुषुप्तेऽपि अहमर्थतया विवक्षितं अज्ञानवृत्तिप्रतिबिम्बितं चैतन्यं स्वानुभवशीलं भवति । तदेव स्वावच्छेदकाज्ञानप्रत्यक्षम् । तस्य च अहमिति परामृश्यमानत्वान् सौषुप्तं प्रत्यक्षं परामर्शसिद्धमेवेति चेन्न । अहमर्थो यः कोऽपि भवतु । तदनुभवोऽपि यः कश्चिदास्ताम् । परामर्शे 'न किञ्चिद्वेदिष' मित्ययमंशः किंरूप इति विचारः सम्प्रति क्रियते । अवेदनमात्रमिह विषयः नत्ववेदनप्रत्यक्षमित्येतत् स्पष्टमेव । न च धर्मैव अवेदनप्रत्यक्षं भवतीति वाच्यम् । भवतु वा मा वा । अत्यन्तमश्रसक्तविचारान्तरमेतत् । अहमवेदिषमित्युक्ते अहमर्थस्य वेदनाश्रयत्वं प्रतीयते । नञ्वा योगे तत्प्रतिषेधः प्रत्ययते । न किञ्चिदिति विषयनिर्देशाच्च प्रबोधकाले यद्वेदनं भवति तस्य व्यतिरेकानुसन्धानमात्रे तात्पर्यमिति गम्यते । तेनानेन परामर्शेन सुषुप्तिकाले अवेदनप्रत्यक्षसिद्धयभिधानमनुपपन्नम् । परामृश्यमानमवेदनं च वेदनाभावरूपमेव न भावरूपं निश्चितम् । कृप्तेनैव प्रतीत्युपपत्तौ अपूर्वस्य कस्यचित् कल्पनायोगात् । अभावो हि भवताऽप्यङ्गीक्रियते । ज्ञानमभूदिति प्रध्वंसाभावः । नास्तीत्यत्यन्ताभावः । भविष्यतीति प्रागभाव इति । न चात्र "उत्पत्तिभविष्यत्ता-  
~~स्त~~मुच्यते । न प्रागभावः । अन्यथा दिनान्तरोत्पत्त्यमानघटे एतद्दिन-  
वृत्तेप्रागभावप्रतियोगित्वेन, अत्र घटो भविष्यतीति धीप्रसङ्गः" इति वाच्यम् । किमत्र घटोऽस्तीति प्रश्ने अत्र नास्तीति तत्पर्येणैव भविष्यतीत्युत्तरदानेन तस्याभावविषयकत्वावश्यम्भवान् । अस्य चाभावस्य घटोत्पादकसामग्रीसमवधानव्यङ्ग्यत्वान् कालान्तरोत्पत्त्यमानघटप्रागभावस्याद्य विद्यमानत्वेऽपि अद्य घटो भविष्यतीति न व्यवहार इति न

किञ्चिदेतत् । किमिदानीमत्र घटं पश्यसीति पृष्टः न पश्यामीत्याह । किमत्र पन्निरुतं शृणोषीति पृष्टः न शृणोमीत्याह । दर्शनस्य श्रवणस्य चाभाव एव ह्यत्राभिप्रेतः । न तु भावरूपमदर्शनं वा अश्रवणं वा । प्रतीत्यनुरूपत्वात् । एवमेव प्रकृतेऽपि । सौषुप्तस्य अहमर्थानुभवस्य तन्मात्रावषयत्वमेव । न तु प्रकारतया विषयान्तरग्राहकत्वं सम्भवतीति च ज्ञेयम् । अत्र एव 'एतावन्तं कालं न किञ्चिद्वेदिदपम्' इतोदं न स्मरन्म् । अवेदनस्य पूर्वमननुभूतत्वात् । अपि तु अर्थापत्त्या अनुमानेन वा ज्ञातः परोक्षानुभवः । ज्ञानं जातमभविष्यच्चेत् अथ अस्मरिष्यत । न च स्मर्यते । तस्मान्नासीदिति ।

अत्राह । "नैवमनुमानं सम्भवति । नियमेनास्मर्यमाणत्वहेतुना पूर्वकालिकज्ञानाभावसाधने तदा उपेक्षणीयज्ञानाभावसिद्धेः । न चायमभावो न सिषाधयिषित इति वाच्यम् । तथा सति तस्मिन् अस्मर्यमाणत्वरूपहेतोः सत्त्वेन पूर्वकाले अभावरूपसाध्यस्यासत्त्वेन च हेतोः सव्यभिचारत्वपत्तेः । अतो न किञ्चिद्वेदिषमिति भावरूपाज्ञानपरामर्श एवेत्यभ्युपगम्य तेनैव ज्ञानाभावानुमानं वाच्यम् । सर्वत्रःज्ञानस्य ज्ञानाभावव्याप्यत्वा"—दिति । तदिदं न युक्तम् । उपेक्षणीयज्ञानाभावस्य अनेनैव परामर्शेन साधनीयत्वे निर्बन्धविग्रहान् । 'अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद' 'विनाशमेवापीतो भवति' इत्यादिभिस्तद्वचगमान् । अवश्यं स्मर्तव्यस्य नियमेनास्मर्यमाणत्वमेव हेतुरिति तस्य उपेक्षणीयज्ञाने विरहाद् व्यभिचाराऽपि नास्ति । यत्तु इदमनुमानं प्रदूषु भावरूपाज्ञानेन ज्ञानाभावानुमानमास्वीयते तत् सारसक्रेङ्कारादिभिर्दृक्कानुमानं प्रतिषिध्य मृगवृष्णकोदकेन उदकान्तरानुमानप्रयासतुल्यम् । सर्व्याभचारश्चाज्ञानहेतुः । ज्ञातविस्मृते ह्यज्ञानं भवत्येव । न च तेन पूर्वकाले ज्ञानाभावः सिद्धयति । तदेवं भावरूपाज्ञाने प्रत्यक्षं तावन्नास्ति ।

## ३०. अज्ञानानुमानम्

नाप्यनुमानम् । तथा हि । विवादपदं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यति-  
रिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम् , अप्रकाशितार्थ-  
प्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावत्, इति विवरणोक्ते  
अनुमाने तावत् एतज्जन्यानुमितिर्यदि स्वविषयभूतवस्त्वन्तरावरणस्व-  
निवर्त्यवस्त्वन्तरपूर्विका तर्हि अज्ञानान्तरसिद्धत्वा अर्थान्तरम् । यदि न,  
तर्हि तत्र साध्याभावेऽपि हेतोः सत्त्वान् व्यभिचारः । प्रकाशप्रतिबन्धक-  
निवारकत्वमुपाधिश्च । प्रदीपप्रभा हि घटादिप्रकाशप्रतिबन्धकतमोनि-  
वारिका । तेन तत्र साध्यव्यापकत्वम् । पक्षान्तर्भावेन च साधनाव्याप-  
कत्वमिति । अत एव विवादास्पदं प्रमाणज्ञानं उक्तसाध्यवन्न, ज्ञानत्वात्,  
यन्नैवं तन्नैवम्, यथा अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभेति प्रत्यनुमानं च ।  
न-चाप्रयोजकत्वम् । पदार्थान्तराकल्पनत् घवतर्कोपष्टव्यत्वात् ।

एतेन अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वरूपो हेतुः पक्षसपक्षसाधारणो दुर्वच  
इत्यपि ज्ञापितम् । प्रकाशकत्वं हि ज्ञानस्यैव मुख्यम् । प्रदीपप्रभाया अन्ध-  
कारनिरसनमात्रे उपयोगात् । यदि तु यथाकथञ्चिन् प्रकाशकत्वमिष्यते  
तर्हि इन्द्रियसन्निकर्षादावतिप्रसङ्गः । यत्तु प्रकाशकपदवाच्यत्वं ज्ञाना-  
लोक्योः साधारणमिति, तदुपहास्यम् । पृथिव्याः शृङ्गित्वसाधकतया  
प्रयुक्तगोपदवाच्यत्वात्मकहेतुतुल्यत्वात् । अनुकूलतर्कसत्त्वासत्त्वे उभयत्र  
तुल्ये इति न ततः कश्चिद्विशेषः सुवचः । नन्वप्रकाशविरोधित्वमुभयसा-  
धारणम् । ज्ञानमालोकश्च उभयं विषयप्रकाशकम् । तत्र ज्ञानं अज्ञान-  
विरोधि सत् प्रकाशकम् । आलोकस्तु तमोविरोधी सन् । एवं ज्ञानालो-  
क्योः अज्ञानविरोधित्वतमोविरोधित्वाभ्यां भेदेऽपि विषयस्योभयप्रकाश्य-  
त्वात् उभयोरप्रकाशविरोधित्वं समानम् । तत्रात्र हेतु-याऽभिमतमिति  
चेन्न । इन्द्रियसन्निकर्षादेरपि अप्रकाशविरोधित्वात् । न च साक्षादप्रका-  
शविरोधित्वविवक्षया निस्तारः । ज्ञानद्वारकत्वस्य प्रदीपप्रभायामपि



तुल्यत्वान् । तदितराद्वारकत्वस्य इन्द्रियसन्निकर्षेऽपि सत्त्वात् । तमोनि-  
रसनद्वारकत्वेन प्रदोषप्रभायां असिद्धेश्च । तस्मादिदमनुमानं नालं भाव-  
रूपाङ्गानसाधनाय । नापि तत्त्वप्रदीपिकोक्तमनुमानम् ।

तथा हि । “चैत्रप्रमा चैत्रगतप्रमाप्रागभावातिरिक्तानादिनिवर्तिका,  
प्रमात्वान्, मैत्रप्रमावत्” इत्यस्मिन् तावद् विदुषामत्यन्तमुपहास्ये  
प्रयोगे चैत्रगतप्रमाप्रागभावातिरिक्तप्रागभावनिवर्तकत्वमुपाधिः । मैत्रप्र-  
मायां चैत्रमुखादौ च तत्तत्प्रागभावनिवर्तकत्वात् साध्यव्यापकत्वमविह-  
तम् । पक्षे च तत्प्रागभावातिरिक्तप्रागभावनिवर्तकत्वाभावात् साधनाव्या-  
पकत्वम् । चैत्रप्रमा स्वप्रागभावातिरिक्तानादिनिवर्तिका न, प्रमात्वात्  
मैत्रप्रमावन्, इति सत्प्रतिपक्षश्च । न चात्र प्रतियोग्यप्रसिद्धादिदोषाव-  
काशः । न च चैत्रगतप्रमाप्रागभावातिरिक्तस्य स्वजन्यव्यवहारप्रागभा-  
वस्य निवर्तकतया पक्षे साधनव्यापकत्वमेवास्तीति वाच्यम् । सिद्धसाध्य-  
नस्यैव तदानुमानदूषणत्वान् । व्यवहारप्रागभावस्य व्यवहार एव निव-  
र्तकः न प्रमेति कृत्वा अव्यापकत्वनिधानात् । विमतः कूपः स्वगतज-  
लार्तिरिक्तं अनुष्णाशीतेतरस्पर्शवच्च यद् द्रव्यं तद्वान्, कूपत्वात्, कूपा-  
न्तरवत् इति कूपे बह्वचनुमानतुल्यं चेदमनुमानम् । कूपस्य महिमाति-  
शयसिद्ध्यादि च विपक्षे बाधकमत्रापि सुवचम् । “विगीतो विभ्रमः  
एतज्जनकावाध्यातिरिक्तोपादानकः, विभ्रमत्वात् सम्मतवत्,” इतीदं  
द्वितीयमप्यनुमानं पूर्ववदेव दुष्टम् । स्ववैयधिकरण्यस्यापाधित्वान् ।  
विगीतो विभ्रमः स्वजनकावाध्यातिरिक्तोपादानको न, विभ्रमत्वात् सम्म-  
तवत्, इति सत्प्रतिपक्षश्चेति । साध्याभाववतैव दृष्टान्तेन साध्यसाध्य-  
व्यतैन्नमःत्मनः प्रयोगकौशले वा श्रोतॄणां मौढ्ये वा दृढप्रत्ययभूयते ।

एवं दुर्विनियोगेन शास्त्रज्ञानस्य लभ्यते ।

प्राज्ञोपहास्यतापात्रीभवनं केवलं फलम् ॥

अथ यानि तादृशान्येव नशानःमनुमानानि तेषु ‘विमता प्रमा प्रमा-

भावातिरिक्तस्यानादेर्निवर्तिका, कार्यत्वात् घटवत्' इत्यत्र प्रमाभावातिरिक्ताभावप्रतियोगित्वमुपाधिः । 'अमानुत्तरप्रमा स्वभावातिरिक्तस्वविरोधिनिवर्तिका, प्रमात्वात्, प्रमोत्तरप्रभावत्' इत्यत्र विशेषगुणांतरोन्नतविशेषगुणत्वम् । ज्ञानत्वं स्वविषयावरणनिवर्तकनिष्ठम्, अप्रकाशितार्थप्रकाशकवृत्तित्वात्, आलोकत्ववत् इत्यत्र विषयप्रकाशप्रतिबन्धकतमोनिवारकवृत्तित्वम् । अनित्यज्ञानं अभावत्वानधिकरणस्वविरोधिसमानाधिकरणम् । प्रयत्नान्यत्वे सति सविषयत्वे सति अनित्यत्वात्, अनित्येच्छावत् । सा हि तादृग्वेषसमानाधिकरणा इत्यत्र अनुकूलज्ञानजन्यत्वम् । धेनाः पुच्छं क्षीरवत् शृङ्गादिभिन्नत्वे सति धेन्ववयवत्वात् स्तनवत् इत्येतत्तुल्यमिदम् । सर्वाणीमान्यनुमानान्यप्रयोजकानीति स्थितमेव । तर्कस्य दूषितत्वात् । यत्तु अपरमनुमानम्—“ज्ञानविरोधित्वं अनादिभावत्वसमानाधिकरणम्, सकलज्ञानविरोधिवृत्तित्वात्, दृश्यत्ववत्” इति तत्र दृश्यत्वं यदि मिथ्यात्वसाधकतया भवदुक्तं विवक्षितं तदस्माकमसम्प्रतिपन्नमिति दृष्टान्तासिद्धिः । यदि तु सम्प्रतिपन्नं ज्ञेयत्वं तत् तर्हि भगवद्ज्ञाननिवर्त्यकर्मवासनादिरूपानादिभावत्वसमानाधिकरणमादाय सिद्धसाधनं दोषः । एवमेव अनाद्यभावविलक्षणत्वं ज्ञानविरोधिवृत्ति, अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्तित्वात्, अभिधेयत्ववत् इत्यनुमानान्तरेऽपि अनाद्यभावविलक्षणत्वस्य उक्तज्ञाननाश्यानादिकर्मवासनादिवृत्तिवत्मादाय सिद्धसाधनं द्रष्टव्यम् । इदन्तु प्रयोगद्वयं प्रक्षिप्तं मन्यामहे । तत् सिद्धं अनुमानेनापि न भावरूपाज्ञानसिद्धिरिति ।

### ३१. अज्ञाने श्रुतिः

श्रुतिषु च भावरूपाज्ञानगन्धोऽपि नास्ति । 'तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजाः अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति, अनृतेन हि प्रत्यूढा' इति छान्दोग्यवाक्ये गूढं निहितात् हिरण्यनिधेः तदुपरि सञ्चरतामिव

ब्रह्मणः प्रजानां भेदं दिने दिने आसां ब्रह्मगमनं च प्रतिपाद्य तथापीमा ब्रह्म न विन्दन्तीत्युच्यते । तत्र च कारणमुच्यते 'अनृतेन हि प्रत्यूढा' इति । 'तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते' 'भोगेन त्वितरे क्षययित्वाऽथ सम्पद्यते' इत्यादिभिः कर्मसम्बन्ध एव बन्धः तन्नाश एव मोक्ष इति निश्चितम् । ततश्च बन्धदशायां प्रत्यहं ब्रह्म गच्छन्तानामपि प्रजानां ब्रह्मप्राप्तविरहे कारणतया निर्दिश्यमानं अनृतं बन्धकं कर्मैवेति स्वरसतः प्रतीयते । एवं सति अर्थान्तरस्यात्र कः प्रसङ्गः ? यत्तु 'उत्तरत्र अपहतपाप्मेत्यादिना आत्मनोऽपहतपाप्मत्वप्रतिपादनेन दुष्कर्मप्रत्यूढत्वविरोध इति तद् ब्रह्मणोऽज्ञत्वं साधनव्यसनिनाऽभिधीयमानं न शोभते । नित्यशुद्धमुक्त-स्याज्ञत्वं यदि भवति दुष्कर्मवत्त्वं कुतो न भवेत् । न च विरोधो भवति । मुक्तात्मस्वरूपस्य उत्तरत्र अपहतपाप्मत्वादिगुणगणाभिधानान् । इह तु बद्धावस्थायां अनृतप्रत्यूढत्वोक्तेः ।

'सुषुप्तौ सर्वकर्मनाशे दुष्कर्मणोऽप्यभावः' इत्यप्यसाधु । प्रलयेऽपि कर्म न नश्यतीति 'न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्' इति सूत्र-सिद्धान्ते स्थिते सुषुप्तौ कर्मनाशस्य का प्रसक्तिः । ननु न व्यमत्यन्तनाशं तदानीं कर्मणां ब्रूमः । कारणात्मनाऽवस्थानमातिष्ठामह एव । परं तु तत्कारणमज्ञानमेवेति वाच्यमिति चेन्न । 'कृतात्ययेऽनुशयवान्' इत्युक्त-रीत्या आत्मन एव कर्मवत्त्वात् । अत एव "कर्मण आवरणत्वानु-पपत्तोश्च । ब्रह्मवेदनप्रतिबन्धकतया ह्यनादिब्रह्मावारकं ज्ञाननिवर्त्यं वाच्यम् । तथा च कर्मैव प्रधानमपि नानृतपदाभिधेयम् । तयोर्ज्ञानानि-वर्त्यत्वात् ।" इति निरस्तम् । कर्मण एव ब्रह्मप्राप्तिप्रतिबन्धकत्वं प्रतिबन्धकत्वं चास्य स्वाश्रयधर्मभूतज्ञानसङ्कोचद्वारेति ब्रह्मावरणकल्पने नास्ति प्रमाणम् । उपासनात्मकज्ञाननिवर्त्यत्वं चास्य भवत्येव । 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' इति श्रवणान् ।

'नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं तम आसीत्' इत्यनेन पारमार्थिक-

तुच्छयोर्निषेधेन व्यवहारिकसत्त्वमुच्यते' इति यन् तन्न । प्रलयदशा-  
वर्णनं ह्येतन् । न च तदा व्यावहारिकं किञ्चिदस्ति । यद्यप्यस्ति,  
तदाऽपि सृष्टिकालेऽपि सत्त्वान् तदानीमासीदित्येतन्नःपपद्यते । एतेन  
अनिर्वचनीयमत्रोच्यते इत्यपि निरस्तं ज्ञेयम् । तस्यापि सृष्टिकालेऽपि  
सत्त्वान् । अतोऽत्र 'अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तत्रासदुच्यते' इत्यत्रेवार्था-  
न्तरमेव वक्तव्यम् । तन्नोक्तमाचार्यगदैः—“अचित्समष्टौ विद्विद्वच-  
ष्टिलयोऽत्रोच्यते”—इति ।

'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिन्श्चान्यो मायया सन्निरुद्धः'  
इत्यादिषु मायाशब्दोऽपि नाज्ञानवाची । अपि तु विचित्रार्थसृष्टिकर-  
वाची । एवम्भूता प्रकृतिरिति सैव माया । आह च भगवान् 'दैवीह्येषा  
गुणमयी मम माया दुरत्यया' इति । ऐन्द्रजालिकादावपि विचित्रार्थ-  
शनिभानोत्पादकत्वादेव मायाशब्दप्रयोगः । अज्ञानवाचित्वे सर्वेश्वरस्य  
मायिनः अज्ञत्वमनिवार्यम् । यत्तु उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वेन नेश्वरा-  
सार्वभ्युद्यापत्तिरिति, सेयमपरा दुष्कल्पनापरम्परा । न हि शुद्धचैतन्ये,  
भावरूपज्ञाने, तस्यःस्मिन् प्रतिबिम्बने, एतत्कृते जीवेश्वरभेदे, जगदु-  
त्पत्तौ वा प्रमाणलेशो वा उपपत्तिर्वा विद्यते । भावरूपमज्ञानं सर्वथा  
अप्रामाण्यमिति निरूपितं निरूप्यते च । उपपत्तिशून्यं च तत् । यदि  
भावरूपं, केवलज्ञानमात्रात्तस्य निवृत्तिर्न भवेत्, काऽप्यदर्शानात् । न हि  
घटपटादिकं वस्तु क्वचित् ज्ञानेन नश्यद् दृष्टम् । रज्जुसर्पादिकं दृष्टमिति  
चेन्न । न हि रज्जुसर्पो नाम कश्चन भावोऽस्ति, यो ज्ञानेन निवर्तते ।  
प्रमाणज्ञानेन पूर्वज्ञाने अप्रामाण्यमात्रज्ञापनात् । यदि च शुक्तिरूप्य-  
तुल्यमिदं भावरूपमज्ञानं तर्हि जगदुपादानं न स्यात् । यथा शुक्तिरूप्यं  
न द्रव्यान्तरोपादानं भवति । शुक्तिरूप्यादिवत् ज्ञाननिवर्त्यं च जगदु-  
पादानं चेति दुर्घटम् ।

शुद्धचैतन्यस्य अस्मिन् प्रतिबिम्बनं चानुपपन्नम् । नीरूपत्वात् । न

च नीरूपस्याकाशस्य प्रतिबिम्बो दृश्यत इति वाच्यम् । तत्र बिम्बेऽपि वस्तुतो वा भ्रान्त्या वा रूपदर्शनम् । नीलं नभ इति सर्वानुभवात् । वार्योहि न प्रतिबिम्बदर्शनं कचिदस्ति । अपि च प्रतिबिम्बद्रष्टा कः ? न तावत् शुद्धचेतन्यम् । तस्याद्रष्टृत्वात् । न च प्रतिबिम्बमेव । चेतनस्य बिम्बस्यैव दर्पणादौ सर्वत्र द्रष्टृत्वात् । प्रतिबिम्बस्य दर्शनकर्मत्वेन कर्तृत्वानुपपत्तेः । न चाज्ञानं द्रष्टृ । तस्य जडत्वात् । तदेवं सर्वमनुपपन्नमिति स्थितम् । अथापि कल्प्यमानस्याज्ञानस्य ब्रह्मण्येव कल्पनीयत्वान् तस्याज्ञत्वं दुर्बारम् । उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वेनोपाधिगतस्य मालिन्यस्य प्रतिबिम्ब एव प्रतिभानेऽपि अज्ञानाश्रयत्वस्य ब्रह्मण्यनिवारणात् । अत इदमङ्गीकुर्वन्नेवाह-सार्वज्ञ्याद्यैश्वर्यस्य मायानिबन्धनत्वाच्चेति । अस्मद्विद्यानिवृत्तये वेदान्तशास्त्रमिति कृत्वा तच्चिन्तायां प्रवृत्त्य परं ब्रह्मैव अविद्याप्रस्तं सिद्धान्तयद्भिः सुरजितस्तावत् वेदान्तसम्प्रदायः ।

यः सर्वज्ञः सर्ववित्, सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशो, प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः, इति वचनशतेन तस्य स्वाभाविकं सार्वकालिकं सार्वज्ञ्यं श्राव्यते । तदत्यन्तमसत् कृत्वा प्रत्युत श्रद्धत्वं यत् कल्प्यते तत्र किं ! माणलवलेशोऽपि वर्तते । इदं सम्यक् चिन्त्यमानमलं अद्वैतमशास्त्रार्थं इति प्रतिबोधं जनयितुम् । अथाऽपि यन्न प्रतिबुध्यन्ते तन्नूनं तथाविधान्महतो भगवन्निग्रहसङ्कल्पात् ।

“एवमेवैषा माया स्वव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावाभासीकरोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति ।” इति श्रुतिः प्रकृतं मार्येति अविद्येति च व्यवहारौचित्यं दर्शयति । यस्मादियं देवतिथेऽनुष्ठयस्थावरात्मकानि उच्चावचानि अत्याश्चर्याणि क्षेत्राणि उत्पाद्य दर्शयति तस्मात् मायेति तस्या व्यवहारो युक्तः । यस्मात् स्वर्क-

येन गाढसंसर्गेण स्वस्मिन्नेव आत्मबुद्धिमुत्पाद्य जीवविषयक्रमाशविषयकं च ज्ञानं आभासं अयथार्थं करोति तस्मात् अज्ञानहेतुत्वात् अविद्येति व्यवहारो युक्त इति । अविद्याहेतुत्वादविद्येत्युक्तं भवति । यथा गीतासु अमानित्वमदम्भित्वमित्यारभ्य गुणान् पठित्वा 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदनोऽन्यथा' इति ज्ञानहेतुत्वात् तेषु ज्ञानत्वोक्तिः अन्येषु अज्ञानत्वोक्तिश्च तथाऽत्र द्रष्टव्यम् । शरीरेन्द्रियादरूपेण प्रकृतिसंसर्गो ह्यस्माकं सर्वानर्थहेतुः । अतस्तद्विज्ञानाय तस्या अविद्याहेतुतयाऽविद्यात्वरूपणं क्रियते । न त्वज्ञानस्वरूपत्वमुच्यते इति विभावनीयम् । 'महाभूतान्यदङ्कारा बुद्धिरव्यक्तमेव च' इत्युपक्रम्य हि 'इति क्षेत्रं समासेन सावकारमुदाहृतम् ।' इति गीयते । अताऽत्र 'स्वाव्यतिरक्तानि क्षेत्राणि' इत्युक्त्या सैवाभ्यपेतेति स्पष्टम् । नीहारतमःशब्दावपि जीवस्वरूपतिरोधानहेतुत्वेन तत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकत्वात् यथाहं प्रकृतौ वा कर्मणि वा अन्यत्र वा औपचारिकौ द्रष्टव्यौ । न तु भावरूपाज्ञानवाचिनौ । लोके शास्त्रे वा व्युत्पत्त्यभावात् । कल्पने प्रमाणाभावाच्चेत्यलमधिकेन ।

### ३२. अज्ञाने अर्थापत्तिः

अथ यदर्थापत्तिं दर्शयता उक्तम् — "जीवस्थानावच्छिन्नब्रह्मानन्दाप्रकाशानुपपत्तिश्च तत्र मानम् ।" इति तदपि न ह्यद्यम् । कर्मतिरोहितस्वरूपत्वादेव तदप्रकाशात् । उपपादकान्तरानपेक्षणात् । कर्म हि सर्वाभ्युपगतम् । तेनैवानुपपत्तिपरिहारे अर्थान्तरकल्पनाया नास्त्यवकारः । अतः पुनः "भ्रमस्य सोपादानत्वान्यथानुपपत्तिरपि अविद्यायां प्रमाणम्" इत्यर्थोपपत्त्यन्तरमुक्तं तदुपहास्यम् । 'अद्वैतसिद्धान्तान्यथानुपपत्तिरपि तत्र प्रमाणम्' इति यावदुक्तं भवति, तावदेव ह्यनेनापि । परेषां हि आत्मा ज्ञाता । ज्ञानं तस्य धर्मः । तद् द्विविधं यथार्थं चायथार्थं च । तत्र यथार्थं प्रमेत्युच्यते, अयथार्थं भ्रम इति । उभयविधस्यापि ज्ञानत्वात्

न भ्रमस्य पृथगुपादानापेक्षा वर्तते इति । एवं च भ्रमस्य पृथगुपादान-  
गौरवप्रसङ्गादपि अद्वैतं न शास्त्रार्थ इति ज्ञेयम् ।

यच्च सत्यात्रगुणानुपस्थानेऽप्युपादानत्वदूषणम् “सावयवत्वे अना-  
दित्वभङ्गः । निरवयवत्वे परिणामित्वाद्येनां ब्रह्मवत् ।” इति तत्र  
‘श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वान्’ इति सूत्रकारेणैव समाधानमुक्तं वेदितव्यम् ।  
अजामिति हि तस्य अनादित्वमुच्यते । एकामित्येकत्वम् । बह्वीः प्रजा  
जनयन्तीमिति बहुत्पादकत्वं च । अतो धर्मिग्राहकमानसिद्धं प्रधानस्य  
सावयवत्वं च अनादित्वं च । अत एव सावयवत्व नानादिभङ्गकम् ।  
अपि तु कार्यत्वम् । यद्वा निरवयवस्यैव परिणामित्वं ब्रुत्यभिमतम् ।  
न च ब्रह्मणो निरवयवत्वादपरिणामित्वं ब्रूमः । अपि तु प्रमाणाभावात् ।  
निर्विकारमिति तत्प्रतिषेधाच्च । यद्येवं नेष्यते भवदभिमते अज्ञानेऽपि  
तुल्यं चाद्यम् । यत्तु तस्या काल्पनिकत्वात् पर्यनुयागायोगः । काल्पनि-  
कत्वं च युक्तिविरुद्धत्वव्याप्यं मिथ्यात्वमिति; तन् तत्त्वविदः परिह-  
सन्ति । मुक्तमप्याक्रामेदिदमज्ञानम् । युक्तिविरुद्धस्वभावत्वादिति ।

### ३३. अज्ञातप्रतीतिः

एवं जगतो मिथ्यात्वं वा तदुपादानतर्या भावरूपमज्ञानं वा न साध-  
यितुं शक्यमिति दर्शितम् । अथापि तदुभयं सिद्धं मन्यमानः प्रतीतस्यै-  
वाज्ञानस्थ जगदुपादानत्वान् तत्प्रतीतिं साधयन्नाह—“सा चाविद्या  
साक्षिवेद्या । न तु शुद्धचित्प्रकाश्या । साक्षी चाविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बित-  
चैतन्यम्—” इति । अत्र शुद्धचैतन्यात् प्रतिबिम्बितचैतन्यस्य को  
विशेषः येन तस्य अस्थितं वेदितृत्वमस्य भवति । न खलु उपाधि  
प्रतिबिम्बे कश्चन विकार आधीयते । उपाधिस्थं मालिन्यं स्वप्रतिबिम्ब-  
स्थतया बिम्बभूतश्चेतनः पश्यतीति हि दृष्टम् । अत्र तु बिम्बस्य  
शुद्धस्य वेदितृत्वं नास्तीति स्वयमाह । प्रतिबिम्बस्य तु उक्तरीत्या नोप-  
पद्यते । बिम्बे अस्थितस्य विशेषस्य प्रतिबिम्बे उत्पत्त्ययोगान् । तस्माद्-

ज्ञानस्य प्रतीतिदुर्घटैव । प्रतिबिम्बमभ्युपेत्येदमुक्तम् । तदसम्भवस्तु उक्तपूर्वः । वक्ष्यते च । अतः प्रतीत्यसम्भवेन कल्पनवैयर्थ्यादपि अज्ञान-कल्पनं न युक्तमिति ज्ञेयम् ।

काल्पनिकत्वे च अज्ञानस्य अनादित्वनिष्ठं भज्येत । कल्पनेत्युत्पा-  
दनाभिधानः । यत्तु 'कल्पितत्वमात्रं हि न दोषजन्यधीमात्रशरीरत्वे  
सादित्वे वा तन्त्रम् । किन्तु प्रतिभासकल्पकसमानकालीनकल्पकवत्त्वं  
सादि कल्पकवत्त्वं विद्याऽनिवृत्त्यप्रयुक्तनिवृत्तिप्रतियोगित्वं प्रागभावप्रति-  
य गित्वं वा तन्त्रम्', इति । तदनुपपन्नम् । कल्पितं च अनादि चेति  
व्याहृतार्थत्वात् । अनादि हि न कल्पनामपेक्षत । कल्पनासापेक्षं च कल्प-  
नातः पूर्वमसिद्धत्वात् अनादि न भवितुमर्हति । "कल्पनाऽनादिः । अतः  
तत्सिद्धं वस्त्वपि अनादि" इति चेत् सेयमनादिकल्पना किरूपेति  
ऋकव्यम् । अत्राह व्याख्याता—'अविद्यापहितचिद्रूपाऽविद्याकल्प-  
काऽनादिः' इति,.... "अविद्यायास्तु कल्पना स्वापहितचिदेव" इति  
च । एवं अविद्यापितचित्तं न कल्पितं इत्यतः अविद्यायाः तत्कृतस्य  
चिदुपधानस्य चानादित्वमुक्तं भवति । तत्र अविद्याया कल्पका वा  
कल्पना वा नापेक्ष्यते । अतः उपहितचित्तः कल्पकत्वं कल्पनात्वं वाऽभि-  
धीयमानं न युज्यते । अथ सा कल्पनासापेक्षा तर्हि तदुपहितचित्तः  
तदभिधीयमानं न युज्यते । कल्पनीयाया अविद्यायाः तत्कल्पनातः  
पूर्वमसिद्धत्वात् तया तदानीं चिदुपाधानासम्भवात् । तस्मात् कल्पितत्वे  
अनादित्वं न घटते । अनादित्वे कल्पितत्वं न घटत इति दुरुत्तरं  
व्यसनम् । पूर्वं पूर्वाविद्या उपधायिका, उत्तरोत्तरा कल्पितेति अविद्याभेद-  
मभ्युपगम्य प्रवाहानादित्वं सुवचम् । परं तु अजामेकामिति श्रुति-  
विरुद्धमिदम् ।

### ३४. चिन्मात्राश्रयत्वम् ।

यच्च 'अविद्याया आश्रयस्तु शुद्धं ब्रह्मैव' इति तदपि न । प्रमाणा-



भावान् । तथा हि । अहमज्ञ इति स्वानुभवस्य सर्ववस्त्वज्ञानविषयत्वा-  
सम्भवः पूर्वमेवोक्तः । तस्मान्मृत्तानाश्रयवधारणं अनेन प्रत्ययेन न  
शक्यम् । तद्विषयत्वं कृत्वाऽपि तु ब्रूमः । अहमर्थस्यात्र अज्ञानाश्रयत्वं  
प्रतीयते । न तु शुद्धचैतन्यस्य । यत्तु अहङ्कारस्याविद्यधीनत्वेन तदना-  
श्रयतया चित एवाज्ञानाश्रयत्वमिति, तत्रेदं वाच्यम् । किमयं अहमज्ञ  
इति प्रत्ययः अद्वैतप्रक्रियया विषयनिरूपणाय उक्तः अथवा अज्ञान-  
तदाश्रयसिद्धौ प्रमाणतया । आद्ये तस्य प्रमाणत्वोपन्यासविरोधः ।  
अन्त्ये अविद्याकल्पितत्वेनाज्ञानानाश्रयत्वाभिधानं न युक्तम् । यथाप्रतीति  
विषयस्य ग्राह्यत्वान् । अवाधितो ह्यहमर्थः प्रतीयते । अहमिदं जानामि,  
इदं न जानामीति । तस्यैव ज्ञानाज्ञाने उभे अप्यङ्गकार्ये । तमतिलङ्घ्य  
साक्षिग्रहणमपि न युज्यते । किमुत तदप्यतिलङ्घ्य शुद्धचैतन्य-  
ग्रहणम् । अतोऽविद्यायाः शुद्धचिदाश्रयत्वे अहमज्ञ इति प्रत्ययो न  
प्रमाणम् ।

नापि 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इतीयं श्रुतिः ।  
मायां प्रकृतिं त्रिगुणात्मकं प्रधानं जानीयात् । मायाशब्दवाच्या प्रकृति-  
रिति यावन् । मायिनं च महेश्वरं विद्यात् । स्वामितया नियन्त्रितया च  
तद्वन्तं सर्वकारणं सर्वेश्वरं जानीयात् । यो महार्नाश्वरः ईश्वरःणासपी-  
श्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तः सर्वाधिपतिः तदीया सा प्रकृतिः या मायाशब्द-  
वाच्येति ह्ययं मन्त्र आह । यो महेश्वरः तं मायिनं विद्यादिति महेश्व-  
रस्य सतः मायास्वामित्वमुच्यते । एवं सति शुद्धचैतन्यस्य मिथ्याभूत-  
भावरूपाज्ञानाश्रयत्वे सचेताः कोन्विदं प्रमाणयेत् । 'ज्ञाज्ञौ' इति सुस्प-  
ष्टार्थां श्रुतिमपवाख्यानेन कदर्थयन् कथं ग्राह्यवाग् भवेत् ।

एवं प्रमाणं तावन्नास्ति । न चोपपत्तिः । आश्रयपदार्थानिरूपणात् ।  
किं भूतलमिव घटस्य, घट इव तद्रूपस्य, वृक्ष इव फलस्य, सूर्यादिरिव  
प्रमाया चैतन्यमज्ञानस्याश्रयः । न कथमपि । निस्सङ्गत्वात् तस्य ।

सङ्गित्वे शुद्धत्वहानेः । ननु शुक्तिरिव शुक्तिरूप्यस्य शुद्धमविद्याया  
 आश्रय इति चेन्न । अध्यासासम्भवात् । न हि तदध्यस्यति । शुद्धत्वात् ।  
 न चाविद्या स्वात्मानं तस्मिन्नध्यस्यति । जडत्वात् । न चान्यः कश्चिदध्य-  
 सिताऽस्ति । ज्ञातृत्वाभावादपि न शुद्धज्ञानाश्रयत्वम् । ज्ञातुरेव ह्यज्ञानम् ।  
 न हि घटोऽज्ञ इति व्यवहरन्ति । नन्वविद्यावच्छिन्नचैतन्यस्य ज्ञातृत्व-  
 रत्त्वात् नोक्तानुपपत्तिरिति चेन्न । शुद्धस्य तदभावेन दोषतादवस्थ्यात् ।  
 यस्याज्ञानं तस्य हि ज्ञानं वाच्यम् । वैयधिकरण्यायोगात् । अविद्या-  
 श्रयत्वं शुद्धस्य, ज्ञानाश्रयत्वमवच्छिन्नस्येति । अवच्छिन्नस्यापि ज्ञातृत्वं  
 दुवचमिति पूर्वमेवोक्तम् । तत्र नीरूपस्य ब्रह्मणः प्रतिफलनं तावन्नास्ति ।  
 यत्तु रूपवत एव प्रतिबिम्ब इति व्याप्तेः रूपादौ व्यभिचाराद्ब्रह्म, इति,  
 तन्न । तादात्म्यसमवायान्यतरसम्बन्धेन रूपवत एव प्रतिबिम्ब इत्येवं-  
 रूपत्वात् व्याप्तेः । स्वाश्रयस्य चाल्लुषत्वं प्रतिफलनयोग्यत्वं च आपा-  
 दयतां रूपस्य स्वस्य तथात्वे इतरानपेक्षत्वात् । न चाकाशे व्यभिचारः ।  
 बिम्बे रूपग्रहणादेव तत्र प्रतिफलनप्रतीतेः । दूरस्थनीलनभस एव हि  
 प्रतिबिम्बदर्शनम् । न तु सन्निहितनीरूपनभसः । एवं लोहिततया  
 स्फटिकबिम्बदर्शनादेव तथाविवप्रतिबिम्बदर्शनमिति ज्ञेयम् । तस्माद्रूप-  
 वत एव चाल्लुषस्यैव, प्रतिबिम्ब इतीदं स्थितम् ।

प्रतिध्वनिरस्तीति चेत् काममस्ति । प्रतिब्रह्मापि तथा प्रतीतं चेदभ्यु-  
 पगम्येतैव । 'रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षगोचरः' इति तर्काप्रतिष्ठान-  
 सूत्रस्थं भवद्भाष्यं च भवताऽवधेयम् । न च श्रुतिवलाश्रिता प्रतिबिम्ब-  
 सैद्धिः । तद्बोधकश्रुत्यभावान् । 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इत्यस्य  
 स्वसृष्टं तत्तद्रूपं प्रविश्य तत्तदाकारो वर्तत इत्यर्थः । 'एकधा  
 बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' इति स्मृतिवाक्ये स्वयमेक एव सन्  
 तत्तद्वस्त्वात्मना बहुधा दृश्यते । तत्र तत्र स्थितोऽपि जलचन्द्रवत् दोष-  
 संसृष्टो दृश्यत इति विकारासम्बन्धे दृष्टान्ततया जलचन्द्रग्रहणात्

प्रतिबिम्बप्रसङ्गो नास्ति । एवं सर्वत्र द्रष्टव्यम् ।

अनुप्रवेशार्थापत्तिरपि नास्ति । स्वरूपत एव मुख्यतयाऽनुप्रवेशोक्ति-  
सम्भवः । “आकाशमेकं हि यथा वटादिषु पृथग्भवेत् । तथाऽऽत्मैको  
ह्यनेकस्यो जनाधारेऽधिवांशुमान् ” इति वस्तुसदाकाशदृष्टान्तानन्तरं  
जलसूर्यदृष्टान्तप्रदर्शनेन हि वस्तुतः तत्र तत्र स्थितस्यापि असत् इव  
दोषसंस्पर्शो नास्तीति ज्ञापने तात्पर्यं गम्यते । आह च सूत्रकारः ‘अरूप-  
वदेव हि तत्प्रधानत्वात्’ इति वस्तुतो रूपवदेव, अथाप्यरूपतुल्यमिति ।

प्रतिबिम्बाभ्युपगमेऽपि ज्ञातृत्वं नः सम्भवतीति च पूर्वमेवोक्तम् ।  
अविद्यावृत्तौ यदि शुद्धं प्रतिफलति तावता ज्ञानस्य वा ज्ञातृत्वस्य कथं  
निष्पत्तिः ? प्रतिफलितमपि हि चैतन्यं निर्विकारमेव । अविद्यावृत्तिर-  
विद्यायां वर्तते । तत्र का प्रतीतिः कस्य वा ? अवच्छिन्नं चैतन्यमेव  
प्रतीतिरिति चेत् प्रतीत्याश्रयः कः ? सोऽपि तदेव चैतन्यमिति चेत् कथं  
स्वस्य स्वाश्रयत्वम् ? कल्पितमिति चेत् कः कल्पकः ? चैतन्यमिति चेत्  
तस्य निर्विकारत्वं स्मर । अविद्येति चेत् तस्या जडत्वं स्मर । मिलित-  
मिति चेत् इदममिलितादतिरिक्तं वा न वा ? आद्ये चैतन्यं परिणामि  
स्यात् । अन्ये अनुपपत्तिरपरिहृता । तस्माद् ज्ञातृत्वं दुर्बलम् । एवं च  
ज्ञानुरभावादपि प्रतिफलनं नास्तीति सिद्धयति । दृष्टिसृष्टिमात्रं हि  
प्रतिफलनम् । द्रष्टुरभावे कुतस्तन् ।

तदेवं कथमपि चैतन्यस्य ज्ञातृत्वाभावात् अज्ञानाश्रयत्वं नापप-  
द्यते । अथापि पुनरप्यभ्युपगमवादेन ब्रूमः । ज्ञातृत्वाध्यासः कामं  
सिद्धयतु । तेन तु प्रकृताक्षेपसमाधानं न भवति । अविद्यापरिणाम एव  
हि कल्पितमिदं ज्ञातृत्वम् । ईदृशं चेदं अविद्याश्रयत्वान्तर्भूतमेव ।  
ज्ञानुरेव ज्ञानाश्रयत्वसम्भवान् अज्ञातुः शुद्धचैतन्यस्य तदाश्रयत्वमनुप-  
पन्नमिति प्रत्यवतिष्ठमानानां तु अविद्यानधो नमेव ज्ञातृत्वमभिसंहितम् ।  
तादृशस्य च तस्य दुर्बलत्वात् असमाधेयैव साऽनुपपत्तिरिति ।

एतेन नित्यमुक्तत्वसंसारित्वसर्वज्ञत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादिव्यवस्था ब्रह्मा-  
 ज्ञानवादे कथमपि न घटत इति च ज्ञापितम् । अध्यासाधीना हि विवि-  
 धभेदकल्पना । अध्यास एव न सम्भवतीति स्फुटं निरूपितम् । तस्मात्  
 शुद्धचैतन्यं अविद्यां च केवलां मूलकारणं कृत्वा जगदुत्पत्तिस्थितिलया-  
 दिकनुपपादयितुं न शक्यामित्यवगन्तव्यम् । अध्याससम्भवं कृत्वा  
 चिन्तायामपि अविद्यापरिणामानां अन्तःकरणादीनां भेदेऽपि अच्छेद्यस्य  
 अभेद्यस्य एकस्य चैतन्यस्य तैश्छेदनभेदेनासम्भवात् अध्यासकार्याणि  
 सर्वाणि तस्मिन्नेकस्मिन्नेव भवन्तीति नास्ति व्यवस्थायाः सम्भवः ।  
 यथा अस्मच्छरीरे प्रदेशभेदेन नानाप्रकारशीतोष्णदिविशेषेषु सत्स्वापि  
 तत्कार्याणि सर्वाणि तत्तच्छरीरावच्छिन्नम्य एकस्य आत्मनो भवन्ति, न  
 तु तस्मिन्नात्मनि तैः कश्चन भेदा भवति तथैव द्रष्टव्यम् । तेन संसा-  
 रित्वं यदि भवति तर्हि नित्यमुक्तत्वं नास्ति । यदि तु नित्यमुक्तत्वमस्ति  
 तर्हि संसारित्वं नास्ति, इत्यापतति । न तु नित्यमुक्तः कश्चित्, अपरः  
 संसारीति विशेषः सुवचः । एकत्वाच्चैतन्यस्य । उपाधीनां तत्तत्कार्योत्पत्ति-  
 प्रदेशव्यवस्थामात्रहेतुत्वात् । कार्यभाजश्चैतन्यस्य सत्र एकत्वेन तत्र  
 व्यवस्थां प्रति अहेतुत्वात् । उपाधीनां प्रतिबिम्बपक्षपातिवेऽपि उपहिते  
 वस्तुतो विशेषासम्भवात् । दपणस्य मुखस्थौल्यप्रदर्शकत्वेऽपि वस्तुतः  
 प्रतिमुखं स्थौल्याभावात् । अन्यथा परिमाणभेदेन तस्य मुखप्रतिबिम्बत्वा-  
 यागात् । न च स्वस्मिन्नविद्यमानमपि स्थौल्यं उपाधिवशात् प्रतिमुखं  
 दृश्यति । द्रष्टा पुरुषेणैव तद्दर्शनात् । प्रकृते च मुखपुरुषयोरिव शुद्ध-  
 चैतन्यप्रतिबिम्बचैतन्ययोर्भेदाभावेन संसारित्वं वा असंसारित्वं वा  
 एकमविशेषेण वाच्यम् । तत्र मरुमरीचिकोदकेन मरुभूमेरार्द्रत्वमिव  
 कर्तृत्वाद्यध्यासेन चैतन्यस्य संसारित्वं न भवतीति वा स्वप्न इवाध्यस्त-  
 ज्ञातृत्वभाक्त्वत्वादिरूपं तद्भवतीति वा ऐक्येण वाच्यम् । न तु  
 स्वच्छामात्रेण बिम्बप्रबिम्बयोर्भेदं कृत्वा संसारित्वासंसारित्वादि-

व्यवस्था भवतीति, अभेदं कृत्वा ज्ञातृत्वाज्ञत्वयोः सामानाधिकरण्य-  
मन्याहर्तमतीति च वक्तुमुचितम् । 'यथा उपाधिसम्बन्धो मुखमात्र  
एव । औपाधिकमालिन्यसम्बन्धस्तु उपाध्यवच्छिन्ने' इति व्यवस्था-  
प्रदर्शनमयुक्तम् । औपाधिकमालिन्यसम्बन्धस्य वस्तुतः उपाध्यवच्छि-  
न्नेऽप्यभावात् । उपाधिमालिन्यभङ्गने वा अमलिनोपाध्यन्तरोपयोगे वा  
तत्र मालिन्यादर्शनात् । अतः अवच्छिन्नस्याप्यसंसारित्वं युक्तम् ।  
यदि तु तथापि तस्य संसारित्वमुच्यते तर्हि तेनैक्यात् अनवच्छिन्न-  
मपि संसार्येव । ऐक्यं तु भवत्यैव साध्यते ।

वस्तुतस्तु असंसारि ब्रह्मैव नास्ति । अविद्याश्रयतया शुद्धत्वहा-  
नान् । आहुश्च "अविद्यास्तमयो मांक्षः सा च बन्ध उदाहृतः ।"  
इति । अविद्याया मिथ्यात्वेन शुद्धत्वानुवृत्तिः प्रतिबिम्बेऽपि तुल्या ।  
यत्तु "अतिशयेन कार्यकरत्वमेव तत्पक्षपातित्वम् । तथा च विच्छे-  
दादिरूपकार्यकरत्वसाम्येऽपि स्थौल्यावभासरूपकार्यकरत्वेन दर्पणदे-  
प्रतिबिम्बपक्षपातित्ववत् कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंसाररूपकार्यकरत्वना-  
विद्यायामपि प्रतिबिम्बपक्षपातित्वोपपत्तिः" इति तदयुक्तमित्युक्त-  
प्रायम् । वैषम्यस्य साग्यवेषेण प्रदर्शनात् । दर्पणस्य स्थौल्याव-  
भासरूपकार्यकरत्वम् । अविद्यायास्तु कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंसाररूप-  
कार्यकरत्वम् । इति हि विषममेतत् । संसारावभासरूपकार्यकरत्वमिति  
तु दृष्टान्तानुगुण्येन स्वसिद्धान्तानुगुण्येन च प्रतिबिम्बचैन्तन्त्य-  
मप्यसंसार्येव । "विच्छेदादिरूपकार्यकरत्वसाम्येऽपि" इति विच्छेदा-  
भ्युपगमश्चानुपपन्नः । न हि शिलाकाष्ठादेरिव ब्रह्मणो विच्छेदो  
भवति । अविच्छेद्यत्वात् तस्य । न चोपाधयः उपधेयं विच्छिन्नोपद-  
धति । अदर्शनात् । न हि आकाशस्य घटेन, मुखस्य वा दर्पणेन  
विच्छेदं पश्यामः । तदेवं शुद्धचित्तः अविद्याश्रयत्वं वा प्रतिफलनं वा  
अध्यासो वा संसारित्वं वा किमपि न वक्तुं शक्यमित्यास्तां तावत् ।

### ३५. असार्वज्ञ्यम् ।

अज्ञत्वाभिधानेन ब्रह्मस्तवानन्तरं असार्वज्ञ्याभिधानेन स्तुवन्नाह—  
 “शुद्धं ब्रह्म न सर्वज्ञम् । किन्तु विशिष्टमेव । तच्चाविद्यां विना न सम्भव-  
 तीति अविद्यासिद्धिः । तथा हि । सर्वज्ञो हि प्रमाणतः, स्वरूपज्ञप्त्या  
 वा । तत्र प्रमाणस्य भ्रान्तेश्चाविद्यामूलत्वान् । असङ्गस्वरूपज्ञप्तेश्च  
 अविद्यां विना विषयासङ्गतेः । तदुक्तम्—स्वरूपतः प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्वं  
 द्विधा स्थितम् । तन्नोभयं विनाऽविद्यासम्बन्धं नैव सिद्धयति ।” इति ।  
 अनेन अस्मदवलम्बिताद्वैतसिद्धान्तविरोधित्वान् सर्वेश्वरसार्वज्ञ्यमाप न  
 मृष्यामह इत्युक्तं भवति । प्रामाणिकास्तु “यः सर्वज्ञः सर्ववित्”,  
 “स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च”, “वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि  
 चार्जुन । भविष्याणि च भूतानि”, इति श्रुतिमृतिशतप्रतिपन्नं तदपह्नु-  
 वानाननुकम्पन्ते । श्रुतिमिदं सार्वज्ञ्यमाविद्यकमिति कुनः कल्पयते ? अद्वै-  
 तासिद्धेरिति चेत् अद्वैतं परित्यज्य यथाश्रुतं सार्वज्ञ्यं कुतो नेष्यते । तत्र-  
 मसीत्यैक्यश्रवणविरोधादिनि चेन्न, ऐतदात्म्यामिदं सर्वमित्युपक्रमानु-  
 रोधेन नीलो घट इतिवन् प्रकारप्रकाशभावमादायैव सामानाधिकरण्यो-  
 पपत्तौ लक्षणश्रवणप्रमाणान्तरबाधवाक्यान्तरशतबाधादीनानुगन्त्यान  
 ऐक्यश्रवणासिद्धेः । तथा च

स्वरूपतो न सर्वज्ञो न प्रमाणैरपीश्वरः ।

सर्वज्ञानाश्रयत्वेन सर्वज्ञं श्रुतिराह तम् ॥

अतः स्वभावसंसिद्धसार्वज्ञ्याद्भासिनः प्रभोः ।

अज्ञता दुर्घटाऽत्यन्तमर्कस्येवान्धकारिता ॥

### ३६. जीवाविद्या

अनतिकठिनहृदयो वाचस्पतिमिश्रः जगत्कारणे परतत्त्वे अविद्या-  
 कल्पनमनिच्छन् जीवाश्रयैवाविद्येत्याह । तथाऽपि निर्गुणस्यैव ब्रह्मणोऽङ्गी-

कारात् तदनिरिक्तजीवानङ्गीकारात् ज्ञाननिवर्त्यभावरूपाज्ञानोपादानक-  
मिथ्याजगद्वादाच्च पूर्वोक्ताः सर्वा अनुपपत्तयः तथैष स्थिता इति तत्र  
पृथग् वक्तव्यं हिमपि नास्ति । विद्येतरत्वेन अविद्येत्यभिहितं कर्म,  
अज्ञानविपरीतज्ञानरूपा अविद्या च जीवे वर्तते इत्येतत्तु अस्मा-  
भिरिष्यते ।

आस्मिन् वाचस्पतिमिश्रमते अन्योन्याश्रयदोषः प्राचीनैरुक्तः । तं  
परिहरन् उत्पत्तौ ज्ञातौ स्थितौ वा नास्त्यन्याोन्याश्रयणमित्याह । तत्र  
ज्ञानिं प्रति यदुक्तं 'अविद्यायाश्चिद्भास्यत्वेऽपि चित्तोऽविद्य'भास्यत्वाभावात्  
दोषः' इति तदसङ्गतम् । अविद्यायः ज'वाश्रयत्वविषयायामस्मदोयायां  
ज्ञप्तौ अन्योन्याश्रयसत्त्वान् । को जीव इति जिज्ञासायां अविद्याश्रयभूतं  
चैतन्यमिति वाच्यम् । एवं अविद्याश्रयः कः इत्यत्र जीव इति वाच्यम् ।  
तथा च जीवत्वज्ञानमविद्याश्रयत्वज्ञानाधीनम् । एतज्ज्ञानं च तज्ज्ञाना-  
धीनमिति । यथा शीतस्पर्शस्य उष्णोत्तरस्पर्शत्वेन उष्णस्पर्शस्य शीतेतर-  
स्पर्शत्वेन च लक्षणे पृथिव्या गन्धवत्त्वेन गन्धस्य पृथिव्यसाधारणगुण-  
त्वेन च लक्षणे परस्पराश्रयत्वं तद्वत्प्रकृतेऽपीति ज्ञेयम् । स्वज्ञानाधीनत-  
ज्ज्ञानाधिनस्वज्ञानकत्वमन्योन्याश्रय इति लक्षणात् । एवं स्थितावपि  
यद्यप्यविद्या जीवाश्रिता न तु जीवः अद्यियाश्रितः तथाप्यविद्यादुवृत्ति-  
जीवानुवृत्त्यर्धना । जीवाश्रितत्वादविद्यायाः । जीवानुवृत्तिश्चाविद्यानु-  
वृत्त्यधीना अविद्यानाशे जीवनाशावश्यम्भावात् । तदत्राप्यन्योन्याश्रय-  
णमपरिहार्यम् ।

एवमुत्तरत्तावपि सुवचम् । यद्यप्यविद्या तदवच्छिन्नचैतन्यरूपो-  
श्चानादी, तथापि जीवत्वस्योपाधिकृतत्वादुत्पत्तिरभ्युपगन्तव्यैव ।  
अन्यथा स्वभाविकं जीवत्वं स्यात् । तच्च कदापि न निवर्तेत । तत्र  
जीवस्वरूपमविद्याधीनम् । अविद्यास्वरूपमपि आश्रयजीवस्वरूपाधीन-  
मित्यस्त्येवेतरेतराश्रयत्वम् । अविद्याजीवयोरन्योन्याधीनत्वं हि भव-

द्विरिष्यत एव । “न चैवमन्योन्याधीनताकृतिः” इति तत्समर्थनात् । तच्चोत्पत्तिपर्यवसितमेव ।

उत्पत्तिव्यवहारस्यात्रानिष्टत्वेऽपि ऋधीनत्व एवापतन् अन्योन्याश्रयः कथं परिहार्यः । न चायमदोषः । प्रतीत्यनुपपत्तोस्तुल्यत्वात् । यत् समानकालिकयोरप्यवच्छेद्यावच्छेदकभावमात्रेण तदुपपत्तिः, घटतदवच्छिन्नाकाशयोरिवेति, तत्र विषमो दृष्टान्तः । अविद्यासिद्धौ तदवच्छिन्नचैतन्यरूपजीवसिद्धिः, एवंप्रतीत्यनुपपत्तिरित्येवमिति च तदाश्रिताविद्यासिद्धिरित्यन्योन्याश्रयदोषः प्रसज्यते । न ह्येवं घटावच्छिन्नाकाशसिद्धौ तदाश्रितघटसिद्धिरित्यापादनं सम्भवि । तदाश्रित एव घटाऽस्तीति केनाऽन्यनङ्गीकारात् । भवता तु जीवाश्रितैवाविद्येत्याश्रयते । तत्र जीवसिद्धौ कथं तदाश्रिताविद्यासिद्धयेदित्याश्रितनिर्वासात् । यदि त्वाकाशघटयोर्मिव समानकालिकयोः चैतन्याविद्ययोरवच्छेद्यावच्छेदकभावमात्रसम्बन्धिक्रियते । न त्वाश्रयाश्रयिभावः । तदा घटस्याकाशश्रयत्वमिव अविद्यायाश्चिदाश्रयत्वमेव नास्ति, कुतो जीवाश्रयत्वम् । सिद्धैव शुद्धचैतन्यसम्बन्धित्वमेवाविद्याया उक्तं स्यात् । जीवाश्रितत्वमप्यत्र परित्यक्तः । न च व्याख्यानां कर्त्याऽविद्यापांहतचैतन्याश्रितत्वापगमात्क्रान्तदोष इति वाच्यम् । शुद्धचैतन्याश्रितत्वपक्षाविशेषतादवस्थयात् । उपहितत्वोक्तिमात्रेण वस्तुन विशेषाभावात् । उपहितत्वार्थमविद्यापेक्षायामन्योन्याश्रयतादवस्थ्याच्च । आविद्यासिद्धौ तदुपहितजीवसिद्धिः । जीवसिद्धौ तदाश्रिताविद्यासिद्धिरिति ।

वाचस्पतिना अविद्यायाः प्रवाहानादित्वमभ्युपेत्यान्योन्याश्रयदोषः परिहृतः । तत्रेदं वाच्यम् । उत्तरोत्तराध्यासे सति 'पूर्वपूर्वमिभ्याज्ञानं निवर्तते न वा । आद्ये केवलचिदाश्रयत्वमेवाविद्यायाः । अन्त्ये एकस्मिन्नेव शरीरे प्रतिजन्म वा जीवभेदप्रसङ्गः, इति ।

कश्चिदाह—“अविद्याजीवयोरनादित्वादुत्पत्तावन्योन्याश्रयो न सम्भ-



वर्तीत्यद्वैतवादिभिर्निरुच्यते, न तु बीजाङ्कुरवदनादित्वमुच्यते” इति ।  
तेन “पूर्वपूर्वामभ्याज्ञानोपदर्शितस्य बुद्धीन्द्रियशरीरादेरुत्तरोत्तराध्यासो-  
पयोग इत्यनादित्वाद् बीजाङ्कुरवन्न परस्परश्रयत्वमित्यर्थः” इत्यध्यास-  
भासतीग्रन्थः प्रस्मृतोऽनवलोकितो वा ।

विवरणग्रन्थोऽपि—“आत्मनि कर्तृत्वभोक्तृत्वदोषसंयोग एवा-  
ध्यासः । तत्र भोक्तृत्वाध्यासः कर्तृत्वाध्यासमपेक्षते । अकर्तुर्नोगाभावात् ।  
कर्तृत्वं च रागद्वेषसंयोगाध्यासमपेक्षते । तद्राहितस्य कर्तृत्वाभावात् ।  
दोषसंयोगश्च भोक्तृत्वमपेक्षते । अनुपभुक्ते अतज्जातीये वा रागाद्यनुप-  
पत्तेः । एवं बीजाङ्कुरवन् हेतुपरम्परयाऽनादित्वादध्यासस्य नैसर्गिकत्व”  
मिति । नन्वत्र सर्वत्र अविद्याकार्याणामेव प्रवाहानादित्वमुक्तम् । न तु  
मूलाविद्यायाः । सा त्वेकाऽनादिरिति चेन्न । चिद्वदेवानादित्वे सत्यत्वा-  
पत्तेः । कल्पितत्वायोगादित्युपपादितमेतदधस्तात् ।

### ३७. अज्ञानविषयत्वम् ।

प्रमाणलेशधिरहाद् भावरूपमज्ञानं नाम किमपि नास्तीति तत्स्वरू-  
पस्यासिद्धिः सविस्तरमुक्ता । अध्यसितुरभावेन ब्रह्मणस्तदाश्रयत्वं न  
सम्भवतीति च निरूपितम् । तत एव तस्य तद्विषयत्वमपि नोपपन्नमिति  
वेदितव्यम् । किञ्च यदि तन् स्वाश्रयाज्ञानगोचरीभवति आत्मानमेव तन्न  
जानतीति स्यन् । न चेष्टार्पितः । अनुपपत्तेः । अविद्याभ्युपगमवैयर्थ्या-  
पत्तेरच । तथा हि । शुद्धचैतन्यस्य अहमिति स्वस्मिं प्रकाशो विद्यते, न वा ?  
अद्ये स्वतः सिद्धस्य तस्य स्वानुभवस्य अध्यस्तेनाज्ञानेन कथं निवृत्तिः  
स्यात्, येन आत्मानमहं न जानामीति प्रतीयान् । आत्मप्रकाशाप्रकाशाभ्यां  
व्याघातात् । एवं प्रतीतिरपि दुर्बला । अन्त्ये ब्रह्म जडं स्यात् । स्वं वा  
इतरद्रा किञ्चिद् विपर्याकुर्वत एव हि ज्ञानत्वम् । ब्रह्म च स्वेतरत्  
किमपि न विपर्याकरोति । निस्सङ्गत्वात् । तत्र स्वमपि न विषयीकरोति  
चेत् तस्य ज्ञानत्वे किं प्रमाणम् । जडाद्व्यावृत्तत्वात् ज्ञानत्वमिति चेत्

कृतो व्यावृत्तिः । यतो हि घटादि न स्वःस्मानं जानाति नापि परं किमपि, ततो जडमुच्यते । ब्रह्मापि तथा चेत् न ततो व्यावृत्तं तत् ।

स्फुरणान्न ज्ञानत्वमिति चेत् दीपोऽपि स्फुरति । न हि ततस्तस्य ज्ञानत्वम् । वस्तुतस्तु स्फुरणं नास्ति । ज्ञानगोचरीभवनं हि स्फुरणम् । न हि दीपस्येव चैतन्यस्य तदास्ति । प्रसरत्प्रभत्वं वा स्फुरणम् । एतदापि नास्त्येव । एवं जडत्वे च ब्रह्मणः पुनस्तस्य अज्ञानविषयत्वकल्पनेन को लाभः ? एतेन “प्रकाशस्वरूपं ब्रह्म । तदाश्रिताऽविद्या तेन प्रकाशयते च तदावृणोति च । यथा इन्दुमासी राहुस्तेनैव प्रकाशयते” इति निरस्तम् । वैषम्यात् । शीतरश्मिमालो हि चन्द्रमाः । तस्य भूयिष्ठाः किरणाः राहुणा द्वाद्यन्ते । कतिपये च प्रसृतास्तं प्रकाशयन्ति । न च ब्रह्म तथाविधम् । येन प्रकाशश्चावरणं चोभे उपपद्येयाताम् । तस्माद्यथाव-  
त्प्रकाशो वा सर्वथाऽप्रकाशो वा । न त्वान्तरालिकी दशा सुवचा । तत्र आद्यकल्पे आवरणस्याशक्यत्वान् अन्ये आवरणवैफल्याच्च ब्रह्मणो-  
ऽविद्याविषयत्वमयुक्तमिति ।

अत एव “चिन्मात्रमेवाविद्याविषयः । स्वप्रकाशत्वेन प्रसक्त-  
प्रकाशे तस्मिन् आवरणकृत्यसम्भवात्” इत्येतदपि निरस्तं भवति । स्वप्रकाशत्वेन स्वं प्रति प्रसक्तस्य प्रकाशस्य घटान्तर्वर्तिदीपप्रकाशस्य तं प्रतीव आवरितुमशक्यत्वान् । अन्यस्य च द्रष्टुरभावेन तं प्रत्याव-  
रणस्य दुर्वचत्वत् । न चास्त्येवान्यो द्रष्टा जीव इति वाच्यम् । ननु ततोऽस्यान्यत्वाभावात् । अन्यथाऽद्वैतभङ्गापत्तेः । कल्पनिकमेवान्य-  
त्वमिति चेन्न । कल्पनं न सम्भवतोऽयुक्तत्वान् । शुद्धचैतन्यं हि निस्सङ्गं न किञ्चित् कल्पयति । न च अविद्योपहितं सत् तत् कल्पयति । तस्मा-  
देव हेतोः । न हि अविद्यया शुद्धचैतन्ये कञ्चन विकार आधीयते, येन तत्कल्पकं भवेत् । नापि शुद्धचैतन्यं अविद्यायां तादृशं कञ्चन विशेषमा-  
धातुं शक्नोति, येन स्वयं जडाऽपीयं कल्पिका स्यात् । नापि जीवः कल्पकः ।

शुद्धचैतन्योपाधिविशेषव्यतिरिक्तस्य जीवमदार्थस्याभावात् । तत्र च चैतन्यांशस्य निविकारत्वेन उपाधेर्जडत्वेन च कल्पकत्वयोगात् ।

किञ्च जीवस्यान्यत्वे तं प्रति परस्य आत्मनः अयोग्यत्वादेव प्रकाश-प्रसक्तिर्नास्तीति आवरणकल्पनं व्यर्थमेव । न हि पर आत्मा परं प्रति प्रकाशेत । किञ्च यदि अविद्या स्वाश्रयस्य परं प्रत्यावारिका तहि सा अविद्या न स्यात् । न हि अन्यस्य अविद्या अन्यस्य 'नास्ति, न प्रकाशते' इति व्यवहाराय 'अस्ति, प्रकाशते' इति व्यवहाराभावाय वा कल्पते । यवनिका तु स्यात् । यत्तु अज्ञानं द्विविधम् । एकं शुक्त्यवच्छिन्न-चैतन्याश्रितम् । अपरं च प्रमातृत्वप्रयोजकोपाध्यवच्छिन्नचैतन्याश्रित-मिति अज्ञानद्वैविध्यमुच्यते, तत् केवलकुकल्पनामात्रम् । यत्र ज्ञानप्रसङ्गः तत्रैवाज्ञानस्थितेः । तस्य विषयगतत्वे मानाभावात् । तदेवं स्वरूपत आश्रयतो विषयतश्च दुर्निरूपाऽविद्येति स्थितम् ।

### ३८. अहमर्थः ।

अहमर्थस्य अविद्यापरिणामत्वभ्युत्थगमनिबन्धापातादपि अद्वैतं न पारमार्थिकमिति शक्यं ज्ञातुम् । तथा हि । अहं जानामि, अहमिच्छामि, अहं करोमि, अहं दुःखी, अहं सुखी भवित्स्यामि, इति तावद्विवेकिनामपि अबाधिता प्रतीतिर्वर्तते । तथा च शरीराद्यतिरिक्तः ज्ञानाद्याश्रयभूतः आत्मा अहमर्थ इति सिद्धयति । का नामात्रानुपपत्तिः यतोऽनात्मा कश्चिदहमर्थ इति कल्पयेम । कृशोऽहं स्थूलोऽहमस्यपि प्रतीतिरस्तीति चेत् काममस्ति । ततः किम् । न हि उष्णं जलं, शीतं शिलातलमित्यादिः प्रतीतिरस्तीत्यतो हेतोः अग्निरुष्णः जलं शीतमिति व्यवस्थाभङ्गमैद्यमः शोभते ।

ननु इच्छादिविशिष्ट एवाहमर्थो गृह्यते । सुषुप्तौ च नेच्छादय इति तदा कथमहमर्थानुभवः । न चेच्छादिविशिष्ट एवाहमर्थो गृह्यत इति नास्ति नियम इति वाच्यम् । गुणग्रहणस्य गुणग्रहणव्याप्तत्वात् ।

अन्यथा रूपादिहीनोऽपि घटः प्रथेत । न च रूपादिराहतानां तेषामसत्त्वं तत्र बीजमिति वाच्यम् । पूर्वरूपनाशाग्रिमरूपानुत्पत्तन्नणःद्यन्नणादौ तद्विनाऽपि सत्त्वान् । एवं च गुणाग्रहणे कथं गुणिग्रहणम् । तथा च निगुणे एवात्मा गृह्यत इति स्वीकर्तव्यम् । अनुभवाभावे च न तस्य जागरे परामर्शः । तथा चाज्ञानाश्रयत्वेन सुषुप्तावनुभूयमानादात्मनोऽहङ्कारो भिन्नः । एवमेवात्मान्यत्वे सिद्धे अम्बप्रकाशत्वसाधने नान्योन्याश्रयः । न च तर्हि अहमस्वाप्समित्यहमर्थस्य परामर्शानुप्रवेशानुपपत्तिः । तदंशे परामर्शत्वासिद्धेरिति चेत् । अत्र वदामः । पूर्वरूपनाशाग्रिमरूपानुत्पत्तन्नणाद्यन्नणादौ गुणिग्रहणमस्ति न वा ? आद्ये उक्तव्यःप्रिभङ्गः । अन्त्ये ग्रहणकाले सर्वदा गुणानां नियमेन तत्र सत्त्वमेव ग्रहणस्य तद्विषयकत्वे प्रयोजकमिति तदसत्त्वकाले गुणिमात्रग्रहणं नानुपपन्नम् । स्वयम्प्रकाशो ह्यहमर्थ आत्मा । अहं जानामीत्यादिप्रतीतिर्त्वापि स्वयम्प्रकाशत्वादेव स प्रकाशते, सुषुप्तौ तु गुणानामभावात् तेषां प्रकाशविरहेऽपि स्वयं स्वस्मै प्रकाशमानो वर्तत इति काऽत्रानुपपत्तिः ।

यदि च केनापि हेतुनाऽहमर्थः सुषुप्तौ न प्रकाशेन तर्हि तदप्रकाशमात्रमास्थेयम् । कुतस्तु खलु 'तथा च निर्गुण एवात्मा गृह्यत इति स्वीकर्तव्यम्' इत्युच्यते ? 'अहमस्वाप्समित्यादिज्ञानान्नान्य आत्मपरामर्शः' इति स्वयं भवानाह । अनेन अहमर्थतिरिक्तस्य सुषुप्तावनुभूयमानत्वे एतत्परामर्शातिरिक्तं किमपि प्रमाणं नास्तीत्येतत् सम्प्रतिबन्धम् । अनेन तु परामर्शेन अहमर्थतिरिक्तस्यानुभूयमानत्वं कथं सिद्धयति । अहमिति प्रबोधकालीनं स्वात्मानुसन्धानम् । अस्वाप्समिति वृत्तस्वापपरामर्शः । न किञ्चिद्वेदेषमिति विषयान्तराज्ञानपरामर्शः । न त्वज्ञानानुभवपरामर्शः । यथा चैतत् तथोपपादिनमधस्तात् । तथा चास्मिन् परामर्शे नास्ति यः कोऽप्यंशः, यः सुषुप्तौ अहमर्थतिरिक्तस्यानुभवं गमयति ।

ननु अहङ्कारस्य अविद्यापरिणामत्वान् तस्य अज्ञानाश्रयत्वं न घटते । तेनास्मिन् परामर्शे अहमिति उपहितचैतन्यमेव विवक्षणीयम् । तस्य च स्वयम्प्रकाशत्वान् सुषुप्तावप्यनुभवो वाच्य इति चेन्न । प्रकृतिपरिणामरूपस्य जडस्याहङ्कारस्य, अहमस्वाप्सामित्यादिप्रतीतिविषयस्याहमर्थस्य प्रत्यगात्मनश्चात्यन्तं भिन्नत्वान् । अस्य चाहमर्थस्य प्रत्यगात्मनोऽज्ञानाश्रयत्वोपपत्त्या तदातिरिक्तस्यात्मनोऽसद्वेः । ननु सुषुप्तौ अहमित्यनुभवो नोपलभ्यत इति चेत् चैतन्यानुभवः किमुपलभ्यते ? असम्भवी च अहमुल्लेखरहितश्चैतन्यस्य स्वानुभवः । सर्वो हि प्रत्ययः अहमिति वा इदमिति वा भवति । तत्र प्रत्येतुः स्वात्मावगार्ही प्रत्ययः अहमित्येव भवेन्नान्यथा । तेन सुषुप्तौ यद्यात्मनः स्वानुभवोऽस्ति तर्हि सः अहमित्येवंरूप एव । अन्यथा अनुभव एव नास्तीति स्यात् । न तु अहमुल्लेखशून्यः कश्चिदनुभवोऽस्तीति शक्यं साधयितुम् ।

एतेन 'नाह खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्तीति' इति सुषुप्तिविषया श्रुतिरपि तदानीन्तनाहमर्थाज्ञाने प्रमाणम् इत्येतन्निरस्तम् । आत्मानं न जानातीत्यात्मज्ञानस्यापि प्रतिषेधात् । यत्तु 'अहरहर्गच्छन्त्याः', 'सति सम्पद्य न विदुः' इत्यात्मवेदनबोधकश्रुतिविरोधेन विशेषाज्ञानपरत्वं युक्तं मितं तन्न । अनयोः श्रुत्योः जीवानां ब्रह्मसम्पत्तिपरत्वात् स्वात्मवेदनबोधकत्वाभावात् । सम्पत्तिपदवाच्यसम्बन्धविशेषमात्रपरत्वेन ब्रह्मवेदनबोधकत्वाभावाच्च । विशेषाज्ञानपरत्वेऽपि अहमुल्लेखातिरिक्तविशेषान्तराज्ञानपरत्वस्यैव वाच्यत्वाच्च । तथा इहः आत्मानं सम्प्रति सः यथा वर्तते, साक्षान् तथा, तद्रूपतया न जानातीति कथम् । अहं अयं अस्मिन् कुले जातः अस्मिन् आश्रमे वर्तमानः एतन्नामा अस्मिन् देशे काले अस्मीति एवं न जानातीति ह्यस्याः श्रुतेरर्थः । तत्र अहमर्थस्य आत्मनः स्वशरीरादिविशेषाज्ञानमुच्यते, नत्वहमर्थाज्ञानमिति स्पष्टम् ।

“अथातोऽङ्कारादेशः अथात आत्मादेशः” इति श्रुतिरिति पृथगुप-  
देशेन पार्थक्ये प्रमाणम्” इत्येतदपि नास्ति । निरतिशयसुखरूपतया  
भूमशब्दार्थमधेयस्य ब्रह्मणः बहुधा आसनं ह्यत्र विधीयते । तत्र ‘स  
एवाधस्तान्’ इति तेनैव रूपेण, ‘अहमेवाधस्तात्’ इति उपासितुरन्तयो-  
मित्वेन ‘आत्मैवाधस्तान्’ इति आत्मत्वेन च गृहीतस्य तस्य सर्ववस्तु-  
तादात्म्यचिन्तनमुपदिश्यते । तत्र उपासिता जीवात्मा उपास्यमानाद्  
भूमशब्दितात् आत्मशब्दिताच्च ब्रह्मणो भिन्न इति प्रतीयते । एवं सति  
जीवरयोरैक्यं कृत्वा तस्मादात्मनः पार्थक्यमहङ्कारस्य । जडवस्तुन इहाव-  
गं यत इति कथमेतत् ?

सम्बोध्यचेतने त्वंशब्दवत् वक्तृचेतने अहंशब्दः प्रयोगप्राचुर्यान्मु-  
ख्यवृत्तः । प्रकृतिपरिणामभूतान्महत्तत्त्वादुत्पन्ने अङ्कारतत्त्वे अहङ्कार-  
शब्दः देहे अहमभिमानप्रयोजकत्वं निर्मितीकृत्य प्रयुज्यते । ‘ईश्वरोऽह-  
महं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी’ इति भूयोभूय आत्मोत्कर्षप्रकाशनाय  
आत्मनिर्देशप्रवण्यजनकतया गर्वेऽप्यहङ्कारशब्दप्रयोगो भवति । एवं  
जडतत्त्वविशेषवाची गवेषाची चाहङ्कारशब्दोऽन्यः । वक्तृस्वात्मवाची  
अहंशब्दोऽन्य इति विविच्य बुद्धौ धार्यम् । यद्यपि क्वचित् गर्वरूपाहङ्का-  
रतात्पर्येण अहंशब्द एव प्रयुज्येत यथा “अहमस्य महान्” ‘अनहम इमे’  
इति तथाऽपि तत्रापि स्वात्कर्षाभिव्यञ्जकाहंशब्दात्तु डनहेतुत्वसम्बन्ध-  
रूपलणया गर्वस्तदर्थः इति ज्ञेयम् । इत्थं च साक्षाद्बाध्यत्वात् अहंशब्द-  
स्य आत्मा मुख्योऽर्थः । इममर्थं शब्दं वा द्वारीकृत्यैवार्थान्तरबोधने  
क्षति तदर्थान्तरं सर्वं लक्ष्यमिति न्यायविद्विरङ्गोक्तव्यम् । यत्तु ‘अह-  
मर्थः अनात्मा अहम्प्रत्ययविषयत्वात् शरीरवत् इत्यनुमानं तत्पूर्ववदेवोप-  
हास्यम् । चोरो न चेतनः स्थाणुप्रत्ययविषयत्वात् स्थाणुवत् । गङ्गा न  
नदी गङ्गाव्यवहारविषयत्वात् तीरवत्, इत्येवमादिभ्यः का विशेषोऽस्य  
प्रयोगस्येति विभावयतु भवान् ।

ईदृशैरनुमानैर्यन् साध्यमद्वैतमिष्यते ।

साङ्गितं ये च मन्यध्वे तस्मै तेभ्यश्च वां नमः ॥

अहमर्थो मांज्ञान्वयी तत्साधनकृत्याश्रयत्वात् इत्यस्मिन्ननुमाने सामान्यव्याप्तेः ऋत्विजि व्यभिचारप्रदर्शनं विप्रलिप्साविजृम्भितपी 'शस्त्रफलं प्रयान्तरि' इति सूत्र इव यजमानत्वात्मकाक्रीतकृत्याश्रयत्वस्यैव विवक्षितत्वात् । नानेध्व्यादिकर्तारि न व्यभिचारः । स्वगततत्फलसाधनकृत्याश्रयत्वस्यैव हेतुत्वात् । अहमर्थः अनर्थनिवृत्त्याश्रयः अनर्थाश्रयत्वादित्येनदूषणमप्ययुक्तम् । अनर्थो ह्यपुरुषार्थः । न चाज्ञानं शरीरस्यापुरुषार्थः । पुरुषार्थत्वतदितरत्वयश्चेतनं प्रत्येव व्यवस्थितत्वात् । किञ्च स्थूलऽइहमज्ञ इत्यत्रापि अहमज्ञ इत्यत्रेव अज्ञत्वस्य अहमर्थाश्रयत्वमेव वाच्यम् न तु शरीराश्रयत्वम् । ज्ञत्वसामानाधिकरण्यानियमः अज्ञत्वस्य । न च शरीरस्य ज्ञत्वमस्ति । तेनाज्ञत्वमपि नास्ति । तेन स्थूलोऽहमज्ञ इत्यपि स्थूलस्य शरीरे अज्ञत्वं आत्मानं चावगाहमानैव प्रतीतः अतः शरीरस्याप्यज्ञत्वमस्तीति कृत्वा व्यभिचारोद्भावनमयुक्तम् ।

“अनात्मत्वं नाहमर्थवृत्ति, अनात्ममात्रवृत्तित्वात्, घटत्ववत् ।” इत्यत्र कृत्याश्रयावृत्तिन्वयानुपाधिरित्येतदपि नोपपद्यते । अनात्मत्वं अहमर्थवृत्ति, कृत्याश्रयवृत्तित्वात्, इत्युपाध्यभावेन साध्याभावसाधने उपाध्यभावात्मकस्य कृत्याश्रयवृत्तित्वरूपस्य हेतोः साध्याविशिष्टत्वात् । न हि अनात्मत्वस्य कृत्याश्रयवृत्तित्वं सिद्धम् । अस्मन्मते आत्मन एव कृत्वाश्रयत्वात् । जडम्याहङ्कारस्य तदभावान् । अत एव स्वरूपासिद्धिरपि सुवचा । न च तर्हि अनात्ममात्रवृत्तित्वाद्दित्यर्थं हेतुरपि न सम्भवेत्साधनकृत्याश्रयत्वस्य । अस्मन्मते अहमर्थस्यानात्मत्वात् । अनात्मत्वस्यानात्ममात्रवृत्तित्वेऽपि अहमर्थवृत्तित्वोपपत्तेः इति वाच्यम् । तथापि गन्धो न घटवृत्तिः पृथिव्यामात्रवृत्तित्वात् पटत्ववत्, इत्यत्रेव हेतोरप्रयोजकत्वमन्यद्वा विरुद्धत्वादिकं किमपि दूषणं वाच्यम् न तूक्तापाध्युद्भावबन्धं

युक्तमिति । वस्तुतस्तु अनात्ममात्रवृत्तित्वादित्यत्र ज्ञानानाश्रयमात्रवृत्ति-  
त्वम्य विवक्षितत्वान्न कोऽपि दोषः । अहं जानामात्म्यबाधितप्रतीत्याऽ-  
हमर्थस्य ज्ञानाश्रयत्वं हि सम्प्रतिपन्नम् ।

तदेवं अहं जानामीति ज्ञानाश्रयतया प्रत्यक्षासद्वत्त्वात्, सुषुप्तावपि  
अहमर्थावयविधुरभिश्चिदनुभवस्य साधयितुमशक्यत्वात्, अनुमानाच्च  
अहमर्थं एवात्मा, स आत्मैवेति स्थितम् । श्रुतयश्चात्र भ्रमाणम् । “कस्मि-  
न्ब्रह्मुत्क्रान्ते उत्क्रान्ता भविष्यामि । स प्राणमस्मृजत ।” “हन्ताहमि-  
मास्तिस्रो देवताः” इत्यादौ प्राणमनःसृष्टेः पूर्वमहन्त्वाक्तेः । ‘तदात्मान-  
मेवावेत् अहं ब्रह्मास्मीति’ इत्वधारणेन शुद्धात्मनोऽहन्त्वं क्तेः । “अह-  
मित्येव यो वेद्यः स जीव इति कीर्तितः । स दुःखी स सुखी चैव स  
पात्रं बन्धमोक्षयोः” इत्यादौ मोक्षान्वयोक्तेश्च । अत्राह-अत्र सर्वत्र  
विशिष्टवाचकस्यैवाहम्पदस्य लक्षणाया निष्कृष्टाहङ्कारचैतन्ये प्रयोगः ।  
लक्षणाबीजभूतानुपपत्तिरुक्ता । एतेन ‘मामेव ये प्रपद्यन्ते’ इत्यादिस्मृतयो-  
ऽपि व्याख्याताः । अन एव ‘तद्योऽहं सोऽसौ’ इत्यादावपि लक्षणःऽऽश्रय-  
णीया । विशिष्टवाचकत्वेन क्लृप्तस्य विशेष्ये लक्षणाया आवश्यकत्वात्  
इति । ‘अस्मद्भिमतद्वैतप्रक्रियानुरोधेन श्रुतिस्मृतयो व्याख्यातव्याः ।  
न तु तदनुरोधेन तत्त्वनिर्णये वयमुत्सुकाः;’ इत्युक्तं भवति । न हि  
लक्षणा स्वार्थासकी । जघन्यवृत्तित्वात् । तस्मादाभिधेय एवार्थः उत्सर्गतो  
ग्राह्यः । अहमित्यस्य च उपपादितरीत्या आत्मैर्वाभिधेयोऽर्थः । जडा-  
हङ्कारतत्त्वविशिष्टेऽर्थे अहमित्यस्य लोकतो वा शास्त्रतो वा न व्युत्पत्ति-  
रस्तीति न तदस्याभिधेयम् । तस्माद् बह्वेषु श्रुतिस्मृतिवाक्येषु लक्षणाप्र-  
सञ्जकत्वादपि अहमर्थो नानात्मेति निश्चेतव्यम् । एवं सति प्रत्यहं  
अहङ्कारविनाशोत्पत्तिकल्पनगौरवं च परिहृतं भवति । बन्धमोक्षादिसाम-  
नाधिकरण्यं चाञ्जसा भवति । ‘स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः’ इति  
सूत्रोक्तं जीवैक्यं चाबाधितम् । इत्यादि विवेचनीयम् ।



अत्रेदं तत्त्वम् । आत्मानुभवः सर्वः अहमित्यकारक एव । अस्मिंश्च प्रादेशिकः संसार्यैव आत्मा प्रकाशते । यद्यन्वयं देहादिभ्यः पृथक् स्फुटं न प्रकाशते तथाऽपि ज्ञातृत्वादिभिर्धर्मैः देहेन्द्रियादिविलक्षणतया विवेकिभिर्निश्चीयत एव । अस्य सर्वानर्थहेतुभूतसंसारबन्धनिवृत्तये ज्ञेयतया शास्त्रेषूपदिश्यमानः परमात्मा अखिलहेऽप्रत्यनीककल्याणैकतानतया स्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षणः अत्यन्तं भिन्नः । सोऽपि स्वमात्मानं अहमित्येवःनुभवति । “हन्ताहमिमांस्तस्रो देवताः” इत्यादिषु यथा । एवं जीवपरमात्मनोरत्यन्तं भिन्नत्वेऽपि परस्य जीवान्तर्ध्यामितयाऽवस्थानान् विवेकिनामहमिति प्रत्ययः परमात्मपर्यन्तो भवितुमर्हति । अत एव मामुपास्वेत्ति प्रतदंनं प्रतीन्द्रियस्योपदेशः । एवं परमात्मनोऽप्यहम्प्रत्ययः स्वापृथक्सिद्धविशेषणगोचरो भवति । यथा “बहुस्यां प्रजायेये”ति । विशेषणद्वारा बहुभवनं ह्यत्र विवक्षितम् । स्वरूपस्याविक्रियत्वान् । सत्यं ज्ञानमनन्तम्, निर्विकारम्, इत्यादिश्रुतेः । एवं त्वमित्युक्तेऽपि त्वदन्तरात्मेत्यर्थो भवति । न च तत्त्वमसीत्यत्र सामानाधिकरण्यादभेदाऽर्थो वक्तव्यः, नान्य इति शङ्क्यम् । सर्वव्यापत्वप्रादेशिकत्वासंसारित्वसंसारित्वादिभिरत्यन्तविलक्षणयोरभेदस्य बोद्धुमशक्यत्वान् । न च लक्षणया तद्बोधः । लक्षणयां प्रमाणाभावान् । इयं गौः, नीलो घटः, देवोऽहं जातः इत्यादिष्विव मुख्यवृत्त्यैव समञ्जसार्थप्रतिपत्तेः ॥ सामानाधिकरण्यनिर्देशहेतोः शरीरात्मभावस्य “ऐतदात्म्यमिदं सर्वं स आत्मा”, इति स्पष्टमभिधानादभेदस्य बाधाश्च । न चाप्राप्तत्वात् अभेदे शास्त्रस्य तत्त्वपर्यम् । ब्रह्मात्मवत्त्वस्याप्यप्राप्तत्वेन तान्पर्यविषयत्वसम्भवात् । प्रमाणा न्तरप्राप्तार्थाबाधकत्वेन तस्यैव शास्त्रतात्पर्यविषयत्वस्य न्याय्यत्वाच्च । न ह्यबाधेनोपपत्तौ बाधाङ्गीकारो युज्यते । तदेवं सर्वसामञ्जस्ये सति सर्वासामञ्जस्यप्रसञ्जकाध्यामाणि काद्वैताभिनिवेशेन अहमर्थानुभवस्य पूर्तिकूरमाण्डीकरणोद्यमो न युज्यत इति ।

## ३६. कर्तृत्वाध्यासः

एतेन कर्तृत्वाध्यासवादोऽपि निरस्ता भवति । अहं जानामीत्यङ्गा-  
 वितप्रत्ययेन ज्ञातृत्वस्येव अहं करोमीत्यनेन कर्तृत्वस्यापि अहमर्थात्मधर्म-  
 तथा सिद्धेः । अनात्मनः कर्तृत्वानुपपत्तेश्च । यः प्रवृत्तिसमर्थः स हि  
 कर्ता । न च जडस्य प्रवृत्तिसामर्थ्यमस्ति । रथस्य स्वयं गमनाभावात् ।  
 अत एव हि रथां गच्छतीत्यत्र गमनाश्रयत्वमात्रं रथस्योच्यते, न तु  
 देवदत्तो गच्छतीत्यत्रेव गमनानुकूलकृत्याश्रयत्वम् । कृतेः चेतनैकसमवा-  
 यान् । ननु प्रकृतिः कर्त्रीति साङ्ख्या अभ्युपगच्छन्तीति चेत् सत्यम् ।  
 किन्तु तन्मतं “कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वा” दित्यादिभिः सूत्रैर्निरस्तमिति  
 वेदान्तिनामनिष्ठमेव तत् । एवमन्तःकरणस्य कर्तृत्वाभावात् तस्यान्य-  
 त्राध्यासो न सम्भवी । प्रत्ययवैरूप्याच्च । ‘अहं करोमि’ इति हि प्रत्ययः ।  
 अप्र अहमर्थस्य कृत्याश्रयत्वरूपकर्तृत्वं विषयः । तत्र नामार्थमुद्दिश्य  
 आख्यातार्थो विधीयते, आख्यातार्थमुद्दिश्य वा नामार्थो विधीयत इति  
 यथा तथा इदमस्तु । सर्वथा अहमर्थाख्यातार्थयोर्विभागः सम्प्रति-  
 पन्नः । एतदनुरूपो भवद्भ्युपगतोऽध्यासः । “कर्तृत्वविशिष्टान्तः-  
 करणस्य चैतन्यात्मनाऽध्यासेन न तथा (‘मनः कर्तृ’ इति वा ‘चैतन्यं  
 कर्तृ’ इति वा ) प्रतीतिः । कुसुमस्य तु स्फटिकात्मना नाध्यास इति  
 वैषम्यात् ।” इति हि भवानाह । एतदनुरूपेण प्रत्ययेन एकतः चैतन्य-  
 मात्रं अपरतः कर्तृत्वविशिष्टान्तःकरणधर्मिणं चावगाहमानेन भाव्यम् ।  
 ‘इदं कर्तृ’ इति । न त्वहं कर्तेति । चैतन्यमात्रस्याहमर्थत्वाभावात् ।  
 अन्तःकरणस्य कर्तृतया पृथग्भानात् । तदेवं प्रत्ययानुरूपत्वान्नाध्यासः ।  
 अध्यासासम्भवश्च स्थित एव । न तावच्चैतन्यमध्यस्यति । तस्याहमिति  
 स्वानुभवाभावात् । नाप्यन्तःकरणम् । जडत्वात् । प्रमाया इव भ्रमस्यापि  
 तस्मिन्नसम्भवात् । भवदुक्तरतीत्या तस्याध्यस्यमानत्वेन अध्यसितृत्वानु-  
 पपत्तेश्च । नापि मिलितमुभयम् । भवता चैतन्यस्याधिष्ठानत्वेन अन्तःकरण-

स्याध्यस्यमानत्वेन च पृथक्करणान्मेलनाभावात् । अध्यासातिरिक्तस्य  
मेलनस्यानिष्टत्वाच्चेति ।

ननु यद्यात्मनः कर्तृत्वं नाध्यासिकं तर्हि स्वाभाविकमिति स्यात् ।  
चेष्टापात्तः । 'यथा च तद्धोभयथा' इति तस्य और्पाधिकत्वसाधनादिति  
चेन्न । और्पाधिकत्वेऽप्याध्यासिकत्वासिद्धेः । न हि वास्यादिकमादाय  
कर्म कुर्वतः तदणः वस्तुनः कर्तृत्वं नास्ति । तद्वत् मनआदिद्वारा कर्म  
कुर्वतो जीवस्य वास्तवं कर्तृत्वं दुरपह्ववम् । यथा पुरुषस्यान्नभोक्तृत्वं  
स्वाभाविकम् । औषधभोक्तृत्वमौर्पाधिकम् । न त्वेतेन तदाध्यासिकम् ।  
तद्वत्प्रकृतेऽपि । वस्तुतस्तु अस्मिन् सूत्रे यथा वास्यादिसन्निधानेऽपि  
तद्वा इच्छायां सत्यां कर्म करोति, असत्यां न करोति च, तथा आत्मा  
कर्ताऽपि इच्छायां सत्यां वागादिभिः कर्म करोति, असत्यां न करोति  
चेत्युभयथाभाव उच्यते इति ज्ञेयम् ।

'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इति विज्ञानवाच्यस्यात्मनः कर्तृत्वं श्रूयते ।  
तच्च 'व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्नर्देशविर्ययः' इति सूत्रेण जीवस्य  
कर्तृत्वे प्रमाणतया निर्दिष्टम् । न चात्र विज्ञानमित्यतो मनो बुद्धिर्वा  
उच्यते इति वाच्यम् । मनोमयस्य पृथगुक्तत्वात् । ततः परं आनन्दम-  
यात्पूर्वं जीवस्यैव वक्तव्यत्वात् । वाजसनेयके 'य आत्मानं तिष्ठन्' इत्ये-  
कस्यां शाखायां पञ्चमाने शाखान्तरे तत्स्थाने 'यां विज्ञाने तिष्ठन्' इति  
पाठदर्शानात् विज्ञानशब्दस्य जीवात्मानं प्रासिद्धत्ववगमाच्च । 'तद्गुणसा-  
-रत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्' इति सूत्रेण जीवात्मानो विज्ञानशब्दवाच्यत्वे  
उपपत्तेर्दर्शितत्वाच्च । ध्यायतीव लेलायतीवेति इवशब्दः परतन्त्रप्रवर्त-  
प्रभुत्वंतिवन् परतन्त्रतामात्रपरः । यत्तु तद्वदत्र बाधक नास्त्येति तन्न ।  
अहं करोमीत्यर्थाधितप्रत्यक्षस्य, "विज्ञानं यज्ञं तनुते" इत्यादिश्रुतः  
सास्त्रार्थत्वादियुक्तेश्च बाधकत्वात् । किञ्च 'स समानः सन्नुभौ लोका-  
-न्नुसञ्चरतीत्युपक्रम्य 'स हि स्वप्नो भूत्वेभं लोकमतिक्रामति' इत्यतः

पूर्वमिदमाज्ञातं 'ध्यायतीव लेलायतीव' इति । जाग्रद्विषयसञ्चारस्य ज्ञातचरत्वान् स्वप्नलोकसञ्चारतात्पर्येणैव उभौ लोकावनुसञ्चरतीत्युक्तम् । तत् स्फुटं विव्रियते स्वप्नो भूत्वेत्यादिना । अतः मध्ये स्थितं ध्यायतीवेत्येतद् स्वप्नविषयमेव । न च तस्यामवस्थायां जाग्रदवस्थायामिव मुख्यं ध्यातृत्वाद वर्तते । अत इवशब्द इति ज्ञेयम् । 'प्रकृतेः क्रियमाणानि त्र्यादश्मृत्यर्थश्च श्रीमद्भाष्ये कर्त्राधिकरणे उक्तः—“यच्च प्रकृतेः क्रियमाणानि त्र्यादिना गुणानामेव कर्तृत्वं स्मर्येत इति, तत्सांसारिकप्रवृत्तित्वस्य कर्तृना सत्त्वरजस्तमांगुणसंसर्गकृता, न स्वरूपप्रयुक्तेति प्राप्तप्राप्तिविकेन गुणानामेव कर्तृतेत्युच्यते । तथा च तत्रैवाच्यते— कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु, इति । तथा तत्रैवात्मनश्च कर्तृत्वमभ्युपेत्याच्यते—

तत्रैव साति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।

पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥

इति । अग्निष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।

विवाधा च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥

इत्यग्निष्ठानादिदैवपयन्तसापेक्षे सत्यात्मनः कर्तृत्वे य आत्मानमेव केवलं कर्तारं मन्यते न स पश्यतीत्यर्थः” - इति ।

एवं सर्वप्रमाणासिद्धमात्मनः कर्तृत्वमपहृत्य सर्वप्रमाणाविरुद्धमन्तःकरणकर्तृत्वं यत् कल्पितं तदसम्भवीत प्रदर्शितम् । अथ सर्वप्रमाणसिद्धमन्तःकरणस्य नामनैव प्रख्याप्यमानं करणत्वमपहुवानेन यदुच्यते “मनाद्व्यतिरिक्तस्य सङ्कल्पानाश्रयत्वेन ‘मनसा वै’ इति श्रुतेरुपचरितार्थत्वान्” इति तत् आत्मनः सङ्कल्पाश्रयत्वात्, श्रुतेर्मुख्यार्थत्वे सम्भवति उपचारस्यान्वयित्वाच्चानुपपन्नम् ।

यच्च आत्मा मोक्षसाधनकृतिमान् तत्फलान्वयित्वात्, सम्प्रतवत् इत्यनुमाननूपपन्नम्—“आरोग्यपित्तानारोग्यसाधारणकृतिमत्त्वे साध्ये इष्टा-

पत्तिः । अनारोपितकृतिमत्त्वे साध्ये जातेष्टिपितृयज्ञादिजन्यफलान्वयिनि-  
व्यभिचारः” —इति, तदपि आरोपितस्य कार्यकरत्वासम्भवस्योपपादि-  
तत्वात्, कृतिसमानाधिकरणतया शास्त्रोपदिष्टतत्फलान्वयित्वस्यैव  
हेतुतया विवक्षितत्वेन व्यभिचाराप्रसक्तेऽनुपपन्नम् । यदि हि जाते-  
ष्ट्यादौ व्यभिचारेण कर्तृत्वभोक्तृत्वसामानाधिकरण्यनियमो न स्यात्,  
तर्हि अन्यस्य स्वर्गमोक्षाद्यर्थं अन्येन तत्साधनमनुष्ठीयेत । यजेत  
स्वर्गकाम इति सामानाधिकरण्यं श्रुतमिति चेत् ब्रह्मविदाप्रोति परमिति  
प्रकृतेऽपि श्रुतमेवेति कथं जातेष्ट्यादिक्रमादाय व्यभिचारः प्रदर्श्यते ।  
वञ्चनामात्रं ह्येतत् ।

अज्ञानं ज्ञानसमानाधिकरणं, ज्ञाननिवर्त्यत्वात् ज्ञानप्रागभाववत्,  
इतीदमनुमानान्तरं नास्माकमिष्टम् ! ज्ञानप्रागभावाद्यतिरिक्तस्य भाव-  
रूपाज्ञानस्यास्माभिरनभ्युपगमात् । अभ्युपगमवादे तु साध्वेवेदम् । न  
चानादिभावभिन्नत्वमुपाधिः । अज्ञानं ज्ञानसमानाधिकरणं न, अनादि-  
भावत्वादिति उपाधिष्यतिरेकेण साध्याभावसाधने ब्रह्मादेः दृष्टान्तस्ये-  
ष्टत्वे निराश्रयत्वस्योपाधित्वात् । अनिष्टत्वे दृष्टान्तस्याप्रसिद्ध्या  
हेतोरसाधारण्यात् । उत्तरज्ञाननिवर्त्यपूर्वज्ञानस्य दृष्टान्तत्वे उपाधिप्रसङ्ग-  
विरहाच्च ।

दुःखादिभोगः मोक्षसमानाधिकरणः, बन्धत्वात्, सम्मतवन् इतीदं  
तृतीयमप्यनुमानमदुष्टम् । तथा हि । स्वनिरूपिताधिकरणतावच्छेदका-  
वच्छिन्ना । या मोक्षनिरूपिताधिकरणता तद्वद्भूतित्वं साध्यं विवक्षितं ।  
अन्तःकरणातिरिक्तजीवात्माङ्गीकारे भोगाधिकरणताया मोक्षाधिकरण-  
तायाश्च आत्मत्वरूपैकधर्मावच्छिन्नत्वात् सामानाधिकरण्यमुपपद्यते ।  
अन्यथा तु अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यत्वं भोगाधिकरणतावच्छेदकम् ।  
शुद्धचैतन्यत्वं मोक्षाधिकरणतावच्छेदकमिति विवक्षितं सामानाधि-  
करण्यं न घटते । अत इदमनेनानुमानेन निरसितुमिष्यते । न चात्र

दोषः कश्चित्सुवचः । तस्मान्नाध्यासिकमात्मनः कर्तृत्वम् । अपि तु वास्त-  
वमेवेति सिद्धम् ।

यदत्र अन्ते उक्तम्—‘तस्मात् सिद्धं मनसः कर्तृत्वमात्मन्यध्यस्यत  
इति’ इति; तत् “आत्मनि कर्तृत्वान्तरस्यैवाध्यासात् । न च तर्हि  
कर्तृत्वद्वयस्य विविचय प्रतीतिः स्यात् । आत्मान्तःकरणयोरैक्याध्या-  
सात् ।” इत्यनेन प्राक्तनकर्तृत्वान्तराध्यासवचनेन विरुद्धम् । किञ्च  
एतेन अन्तःकरणे कर्तृत्वप्रतीतिर्नास्तीत्येवाभ्युपगतं भवति । कर्तृत्वद्व-  
यस्य विविचय प्रतीतिर्नास्तीति, आत्मनि कर्तृत्वान्तरमध्यस्यत इति  
चाभिधानात् । अहं करोमीति हि आत्मकर्तृत्वावगाही प्रत्ययः । कर्ताऽहं  
करोमीति अन्तःकरणगतस्य कर्तृत्वस्य पृथक् प्रत्ययविषयत्वं नेष्यते ।  
‘अन्तःकरणं कर्तृ’ इत्यपि प्रतीतिर्नास्तीति च स्वयं भवता उक्तम् ।  
तथा च अन्तःकरणकर्तृत्वमप्रतीतमसदित्येवायातम् । प्रतीतत्वात्  
आत्मन एव तत् । न च आध्यासिकम् । प्रतीतेर्भ्रान्तित्वे मानाभावात् ।  
अद्वैतसिद्धये कल्पनीयमिति चेत् एतद्विरोधादद्वैतं नेष्टव्यमिति पश्यतु  
भवान् ।

### ४०. देहात्मभ्रमः ।

अहं जानामीत्यबाधितात् प्रत्ययात् जडभूतदेहातिरिक्तः अहमर्थः  
ज्ञाता आत्मेत्यवगम्यते । अनुमानागमाभ्यां दृढीक्रियते चैतत् । परं तु अयं  
निरूपकाणां विवेकः । अन्ये देहमेवात्मानं मन्यन्ते । न तदातिरिक्तं सन्तं  
प्रतिपद्यन्ते । यद्यपि स्वयम्प्रकाशत्वात् अविवेकिनामप्यात्मा प्रकाशत  
एव । तथाऽपि शरीराद्देहकस्य नित्यत्वज्ञानत्वसूक्ष्मत्वादिरूपस्य तदीय-  
स्याकारस्याप्रकाशात् उष्णोदकसंसृष्टस्याग्नेरिव क्षीरमिश्रस्य नीरस्येव  
चात्मनः पृथग्ग्रहणं न भवति । तेन एषां ऐक्यभ्रमः । स्थूलोऽहं कुरोऽह-  
मिति । विवेकिनां तु अपृथक्सिद्धिसम्बन्धादेवं प्रतीतिरिति प्रमैव सा ।  
शुक्तो घट इति यथा शुक्लरूपस्य तद्विशिष्टे द्रव्ये पर्यवसानं, गौःस्तृष्-

तीति गोत्वजातेः तद्विशिष्टे पर्यवसानं, तथा स्थूलोऽहं कृशोऽहमिति स्थूलकृशशर रविशिष्टे पर्यवसानमिति अबाधितविषयत्वात् अस्याः प्रमात्वं नानुपपन्नम् ।

यत्तु देहात्मभेदस्य लोकसिद्धत्वे तद्बोधिकायाः श्रुतेरनुवादतापत्तिरिति, तत् 'अत्राभेदो व्यवहारकालीनेन परीक्षितप्रमाणभवेन नुमानादिना बाध्यते' इति वदतो भवनोऽपि समानम् । न ह्यनुमानेनावगते श्रुतेः प्रामाण्यं भवेत् । अवगतांशविशदी हरणपूर्वकं अनवगतानेकांशबोधनात् प्रामाण्यमित्यापि समानमेव । यच्च मम देह इत्यत्रानौपचारिकः अहं गौर इत्यौपचारिक इत्यत्र विनिगमकाभाव इति तदपि न । मम क्षेत्रं मम चक्षुः इत्यादिवत् उपचारनिमित्तस्य बाधस्य विरहादनौपचारिकत्वं मम देह इत्यस्य । अहं गौर इत्यत्र तु अहमर्थस्य ज्ञातृत्वेन, गौरत्वस्य प्रत्यक्षं देहधर्मत्वेनावगतस्य अहमर्थधर्मत्वायोगेन च प्रकारान्तरेणान्वयां वाच्य इति विनिगमकस्य सत्त्वात् । यदपि "नीला बलाका" इत्यत्र नीलाद् भेदकस्य बलाकात्वस्य ग्रहेऽपि नीलभेदसाक्षात्काराभावस्य तदभेदसाक्षात्कारस्य च दर्शनात् ।" इति, तत्र नीलपदस्य नीलरूपपरत्वे तेन सह धर्मिणो भेदसाक्षात्कार एव वर्तते, न तु तदभावः । तथा तदभेदसाक्षात्कारो न वर्तते, किन्तु तदभाव एव । नीलरूपत्वपरत्वे तदभेदस्यैव बलाकायां वतमानत्वात् "भेदकस्य बलाकात्वादे"रिति न युज्यते वक्तुम् । एवमावत्रेकिनां देहात्मैक्यभ्रमे सत्यपि इतरेषां कृशोऽहमित्यादिप्रतीतिः प्रमैव । न त्वेषामपि भ्रम इत्युपपादितम् ।

अथ यदुच्यते "एवं ब्राह्मणो यजेनेत्यादिश्रुतिरपि ब्राह्मणत्वाश्रयशरीरस्य जडत्वेनानियोज्यतया तदैक्याध्यासापन्नमात्मानं नियुञ्जाना तत्र प्रमाणम् ।" इति, तदपि स्वदर्शनानुरागमात्रविजृम्भितम् । ब्राह्मणत्वाश्रयशरीरमात्रस्य नियोगानर्हत्वात् तदर्हः शरोरातिरिक्तः कश्चित् श्रुतेरभिमत इति प्रतीयते । तस्य च बोद्धत्वावश्यकत्वात् स आत्मेति

निश्चीयते । तथा च ब्राह्मणशरीरविशिष्टो ब्राह्मण इति श्रुत्युक्त इति गम्यते । एवं सति देहैक्याध्यासपन्न आत्माऽत्राभिप्रेत इति कथमुच्यते ? अध्यासस्य कः प्रसङ्गः ? देहविशिष्ट इति कथमुच्यत इति चेन् शरीर-वाचिनां शब्दानां शरीरिपर्यन्ताभिधायित्वव्युत्पत्तेरिति गृह्याण । देवदत्तो जानार्ति, इति हि बहुलं व्यवहरन्ति । न चायमप्रामाणिकं व्यवहारः । न चौपचारिकः । स्त्रजन्तृत्वाभावः । न च देहात्मनोरध्यासातिरिक्तः कः सम्बन्ध इति वाच्यम् । देहात्मभावस्यैव सम्बन्धत्वात् । यद् द्रव्यं यस्य चेतनस्य अप्रयत्निसद्भावशेषणं तत् तस्य शरीरमिति लक्षणम् । अध्यासातिरिक्तो हि कश्चित् सम्बन्धो देहात्मनोरवश्यमङ्गीकार्यः । अन्यथा परदेहेन स्वात्मैक्याध्यासाभावे किं नियामकं भवेत् ।

एतेन विधिवाक्ये ब्राह्मणशब्दो लक्षणया देहविशेषैक्याध्यासवत्परः देहविशेषसम्बन्धपरो वा । सम्बन्धस्तु अन्यस्याभावादैक्याध्यास एवेति निरस्तम् । मुख्यवृत्तौ सम्भवन्त्यां लक्षणया अन्याय्यत्वान् । लक्षणापक्षेऽपि स्वावच्छिन्नभोगवत्त्वादिरूपे लोकप्रसिद्धे सम्बन्धे सति अध्यास-सम्बन्धग्रहणे विशेषहेत्वभावाच्च । गेहीतिवत् देहीति प्रययोऽध्यस्तीति भवानेवाह । न च तत्रैक्याध्यासः सम्बन्धः । गेहीत्यत्र तदभावान् । देहीत्यस्य च तत्तुल्यत्ववचनान् । तथा च तत्र यः सम्बन्धः स एव ब्राह्मणपदे लक्षणानिबन्धनं भवितुमर्हति, न त्वध्यासः । गङ्गायां घोष इत्यत्र हि तीरे गङ्गाऽभेदाध्यवसाया बहूनामस्त्येव । यथा सारोप-लक्षणावादिना-भालङ्कारिकाणाम् । न च तावता गङ्गापदेन तीरलक्षणायां संयोगसम्बन्धं विहाय अभेदाध्यसा निमित्तमाश्रीयते । कालान्तरदेशान्तरदेहान्तरानुभाव्यफलसाधनविधिनियोज्यस्य देहात्मभेदोपास्त्येतेरवश्यमभावित्वात् भेदघटितानाध्यासिकसम्बन्ध एव लक्षणार्थजतया पुनस्फूर्तिको भवति, न तत्रैक्याध्यास इति च विभाव्यम् ।

यत्त्वत्र ब्रह्मानन्देनोक्तम् — “वस्तुतो ब्राह्मणत्वादिविशिष्टे ब्राह्मणा-



दिपदस्य शक्तिः । ब्राह्मणत्वादिर्वैशिष्ट्यं च देह इव आत्मन्यपि व्यावहारिकत्वात् शक्यशरीरे प्रविष्टम् । आजानिकव्यवहारस्य शक्तिग्राहकस्योभयत्र तुल्यत्वात् । उभयोरेकत्वेन व्यवहारकाले निश्चयाच्च । तथा च कलङ्गणादोषः ?—इति तदिदमत्यन्तमसमञ्जसम् । ब्राह्मण्यं यथा समवायेन देहे वर्तते तथैव आत्मन्यपि वर्तते इति किमभिप्रायः, अथवा सम्बन्धसामान्येन ब्राह्मण्यवैशिष्ट्यं उभयत्र वर्तते इति । नाद्यः । आत्मानं जात्यभावात् । अन्यथा अस्मिन् जन्मानं ब्राह्मण्यादिमतो जन्मान्तरे क्षत्रियादिभावानुपपत्तेः । श्रुतं हि जन्मान्तरेषु विविधजात्यन्तरजन्म । न द्वितीयः । देहवत् शक्यत्वानुपपत्तेः । यत्र ब्राह्मणत्वं समवायेन वर्तते स एव हि ब्राह्मणपदशक्यार्थः । न त्वध्यासेन ब्राह्मणत्ववानपि । न हि सिंहो माणवक इत्यत्र सिंहपदं माणवके मुख्यवृत्तम् । आरोंपसम्बन्धेन सिंहत्वं हि माणवके वर्तते । न च तावता सिंहपदं मृगेन्द्र इव तत्रापि शक्तिमिति । मूलविरुद्धं चेदं आत्मानं ब्राह्मण्यादिवैशिष्ट्यः भिद्यमानम् । तत्र मनुष्यत्वादेरात्मावृत्तत्वस्योक्तेः । यदपि मूले विधिपदलक्षणायामुदाहरणतया मन्त्रवाक्यपठने अनुपपत्तिमुद्धाटितवना “पयसा श्रीर्णात” इत्यस्मिन् विधिवाक्ये पयःपदे गोपयोलक्षणायां प्रमाणं ‘गोभिः श्रीर्णात मत्सरम्’ इति मन्त्र इत्युक्तम्, तदपि चिन्त्यम् । पयसेति सामान्यतः पयःश्रवणात् किं गव्यमेव ग्राह्यं, उत अन्यदर्पाति संशये छागपशुन्यायेन मन्त्रपर्यालोचनया गव्यमेव ग्राह्यमिति निर्णयित इत्येतावन्मात्रमेव । न तु श्रुतेन पयसेति पदेन गोपयसां लक्षणाया प्रतिपादनमप्यावश्यकम् । न चार्वाहितं कथमङ्गं भवेदिति शङ्क्यम् । कल्पितेन विधिना विद्यानात् । तत्र च गोपयसेत्येव कल्पनादिति ।

‘प्रानावृत्वाद्यन्यथानुपपत्तिरपि अध्यासे मानम्’ इत्यपि पूर्ववदेवायुक्तम् । निस्सङ्गदुद्धचैतन्यात्मकाद्वैतस्य निष्कम्पप्रतिष्ठायां सिद्धायां तदनन्तरमेवमर्थापत्तिः शक्या वक्तुम् । तत्सिद्धयर्थं हि अद्य यतनः क्रियमाणो

वर्तते । अस्यामवस्थायां इयमर्थापत्तिरुच्यमाना हासायैव केवलं कल्पते । न हि स्वपक्षान्यथानुपपत्तिरूपाऽर्थापत्तिः वादिना सचेतसा परं प्रत्युपन्यस्येत । अस्माभिर्हि ज्ञातृत्वं प्रमातृत्वं कर्तृत्वमिति सर्वमात्मनोऽङ्गीक्रियते । अहं जानामि, वटं पश्यामि, इदं करोमीति निराबाधानुभवसिद्धं चेदं सर्वम् । एतद्व्यतिरिक्तञ्च परब्रह्मभूतः सर्वेश्वरः 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा', 'क्षरात्मनावोशते देव एकः', 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकरोति', इति श्रुतिशतप्रतिपन्नः । अखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानत्वं चास्य तथा । एवं च शुद्धचैतन्यात्मक आत्मा अप्रामाणिकः । तत्र का कथा तस्य प्रमातृत्वसिद्धये अध्यासकल्पनायाः । एवं अत्यन्तासमञ्जसबहुकल्पनाप्रसञ्जकत्वादद्वैतं विदुषामङ्गीकारानर्हमिति तु प्रतिपत्तव्यम् ।

### ४१. अनिर्वचनीयत्वम् ।

अद्वैतिनामभिमत आविद्या वा तन्निबन्धनाध्यासो वा न शक्यते साधयितुमिति न्यरूपयाम । अथ तस्या अनिर्वचनीयत्वं यदुच्यते तद्विमृशामः । पूर्वं विश्वस्य मिथ्यात्वमाह । अद्य तु तदुपादानभूताया अविद्यायास्तदेव मिथ्यात्वं अनिर्वचनीयत्ववाचोयुक्त्या प्रतिपादयाम । तत्र यत् सद्विलक्षणत्वे सति असद्विलक्षणत्वे सात सदसद्विलक्षणत्वं अनिर्वचनीयत्वमिति लक्षणं तत्र सच्छब्देन ब्रह्मणः, असच्छब्देन तुच्छस्य च ग्रहणे सदसच्छब्दवाच्यस्य कस्यचिदप्रसिद्धत्वात् असम्भवो लक्षणदोषः । अथ एवमर्थो मा ग्राहीत्यभिप्रायेणैव विवक्षितार्थान्तरघटितं लक्षणान्तरमुक्तम् । तच्च 'सत्त्वासत्त्वाभ्यां विचारासहत्वे सति सदसत्त्वेन विचारासहत्वं तदित्येवंरूपम् । सत्त्वासत्त्वाभ्यां विचारासहत्वं च तदुभयानाधिकरणत्वमिति । अत्रोच्यते । कथमेकत्र परस्परविरुद्धोभयानधिकरणत्वसम्भवः ? न हि घटत्वघटेतरत्वाभयानधिकरणं किञ्चिद् भवति । अतात्त्विक्तस्यैव निषेधसमुच्चयस्याङ्गीकारान्न विरोध इति चेत् तर्हि ब्रह्मण्यतिव्याप्तिः । वस्तुतो निर्धर्मकत्वेऽपि अतात्त्विक्तस्य तस्य तस्मिन्नपि

सम्भवान् । अव्याप्तिश्च । अविद्यायाः सत्त्वाधिकरणत्वेन तदनधिकरण-  
त्वाभावान् । घटादीनां सतामुपादानभूता ह्यविद्या सत्येव । अन्यथा  
ततो घटादीनामुत्पत्त्यसम्भवात् । कथमसतः सज्जायेतेति श्रुतेः । घटा-  
दीनां सत्त्वं नास्तीति चेत् ब्रह्मणोऽपि नास्त्येव । निर्विशेषत्वाङ्गीकारात् ।  
तथाऽपि सद्रूपत्वमङ्गीक्रियत एव । अन्यथा शून्यतापत्तेरिति चेन्न ।  
व्याघातात् । न ह्येवं कश्चन भाषेत “ब्रह्मावुष्णत्वं नास्ति । अथापि स  
उष्णः । अन्यथा अर्वाह्नितापत्तेः” इति । ब्रह्मणि सत्त्वं नेष्टं चेत् अस-  
दित्येवाङ्गीकार्यम् । इदं नेष्टं चेत् निर्विशेषत्वं दूरतः परित्यज्य सत्त्व-  
मेष्टव्यम् । निर्विशेषत्वाय सत्त्वं नेष्यते, शून्यत्वप्रहाणाय सद्रूपत्वमिष्यत  
इत्यनुमत्तः को ब्रूयात् । तथा न यदि ब्रह्म सत् तर्हि अन्यदापि सद्दिति  
सत्त्वानधिकरणत्वाभावादव्याप्तिः । यदि तु सत्त्वाभावान् प्रपञ्चादिकम-  
सत् तद्देव ब्रह्माप्यसद्दिति सत्त्वानधिकरणत्वादातव्याप्तिरिति दुरुत्तरं  
व्यसनम् ।

कालसम्बन्धित्वरूपं सत्त्वं यदि ब्रह्मण्यस्ति तर्हि अद्वैतभङ्गः । यदि  
नास्ति तुच्छत्वप्रसङ्गः । परमार्थतो नास्ति, कल्पितं तु अस्तीति चेत्  
किं तेन ? न हि शशशृङ्गस्य पारमार्थिकसत्त्वहीनस्य कल्पितेन सत्त्वेन  
सत्त्वं भवेत् । अबाध्यत्वरूपं सत्त्वमस्तीति चेत् कथम् । “ब्रह्मणि सत्त्व-  
वत् तदत्यन्ताभावस्याप्यभावात् । अन्यथा निर्विशेषत्वादिश्रुतिविरोधा-  
पत्तेः ।” इति हि अतिव्याप्तिपरिहाराय भवानाह । तथैव बाध्यत्ववत्  
तदत्यन्ताभावोऽपि ब्रह्मणि न भवितुमर्हात् । स्वरूपात्मकमबाध्यत्वमिति  
चेत् सत्त्वाभावोऽपि तथैव स्यात् । तथा चातिव्याप्तिस्तदवस्था । उभय  
रूपस्यापि सत्त्वस्य प्रपञ्चे तदुपादाने च सत्त्वादव्याप्तिश्च  
तदवस्था । कालसम्बन्धित्वं प्रपञ्चादौ कल्पितं, न तु वास्तवम् ।  
अबाध्यत्वं तु स्वरूपत एव नास्ति । ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वादिति चेन्न ।  
मानाभावात् । अद्वैतश्रुतिर्मानमिति चेत् प्रमाणान्तगविरोधान् द्वैतपर-

श्रुत्यन्तरविरोधाच्च भवद्भिमतनिर्विशेषाद्वैतपरश्रुतिरेव नास्तीति विभाव्यताम् । एवं च अविद्यादेरनिर्वचनीयत्वाङ्गीकारे वा एतल्लक्षणसाधुत्वाभ्युपगमे वा अद्वैताभिनिवेशातिरिक्तं किमपि नियामकं नास्तीति प्रस्फुटमेतत् । एतेन प्रतिश्लोपाद्यौ बाध्यत्वमनिर्वचनीयत्वमिति लक्षणान्तरासाधुत्वमपि व्याख्यातम् ।

### ४२ अनिर्वचनीयत्वे प्रमाणम्

अथानिर्वचनीयत्वे प्रमाणप्रदर्शनप्रवृत्तेन यदुक्तम्—‘प्रत्यक्षं तावत् मिथ्यैव रजतमभां दित्यादि ।’ इति तदयुक्तम् । अत्र मिथ्याशब्दस्य अविद्यमानत्वमात्रपरत्वान् । भवल्लक्षितानिर्वचनीयत्वपरत्वाभावात् । दूरात् रजतं विद्यमानं मन्यमानः जिघृक्ष्या समीपं गतः अविद्यमानं जानाति । तस्यायमभिलाषः मिथ्यैवाभां दिति । अत एव असदेवाभात्, अविद्यमानमेवाभात्, इत्यप्यभिलाषो भवति । तथा च विद्यमानत्वरूपसत्त्वाभावमात्रविषयेयं प्रतीतिः । न तु भवल्लक्षितानिर्वचनीयत्वविषया । एतेन ‘एतावन्तं कालं असदेव रजतमभां दित्ययमनुभवः अनिर्वचनीयत्वैकदेशसत्त्वव्यतिरेकविषयः’ इत्येतन्निरस्तम् । न हि असत्त्वान्त्याभावसदसत्त्वान्त्याभावयोः तत्प्रतीतिविषयत्वे किञ्चन प्रमाणमस्ति । विषयभूतः सत्त्वाभावोऽपि न सामान्यतः सत्त्वप्रतियोगिकः । अपि तु तत्र विद्यमानत्वरूपविशेषप्रतियोगिकः । तस्माद्स्मिन् प्रत्यये ऽनिर्वचनीयत्वस्याविषयत्वात् तत्र प्रमाणतया एतत्प्रदर्शनमयुक्तम् ।

‘विमतं सत्त्वरहितत्वे सति असत्त्वरहितत्वे सति सत्त्वासत्त्वगंहर्तम्, बाध्यत्वात् दोषप्रयुक्तभानत्वाद्वा, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा ब्रह्म,’ इत्यनुमानमप्यसमीचीनम् । हेतोरसिद्धेः । न ह्यस्माभिः प्रपञ्चतदुपादानयोर्बाध्यत्वं वा दोषप्रयुक्तभानत्वं वाऽभ्युपगम्यते । शुक्तिरूप्यमात्रस्य पक्षत्वे चाप्रसिद्धविशेषणः सः । रूप्यस्यान्यत्र सत्त्वात् । सत्त्वसामान्यशून्यत्वाभावात् । दृष्टान्तासिद्धेश्च । तथा हि । ब्रह्मणः अभावाधिकरणत्व-

मङ्गीक्रियते न वा ? आद्ये सत्त्वादिरहितत्वाद् व्यतिरेकदृष्टान्तत्वानुपपत्तिः । न च सद्रूपस्य तस्य सत्त्वरहित्यं नास्तीति वाच्यम् । सत्त्ववत्त्वे सर्वशेषत्वापत्तोः तदभावस्यावश्यं वाच्यत्वात् । एतद्विरोधेनैव सद्रूपताया भवता उपपादनीयत्वात् । अशक्यत्वे अद्वैतस्य परित्याज्यत्वात् । 'निर्धर्मके सत्त्वरूपधर्माभावाविषयकप्रतीतेरिष्टत्वात्' इति भवतैवोक्तत्वात् । अन्त्ये साध्याभावानधिकरणत्वेन दृष्टान्तत्वानुपपत्तिः ।

'विमतं रूप्यादि सञ्चेन्न बाध्येत, असञ्चेन्न प्रतीयेत । बाध्यते प्रतीयतेऽपि । तस्मात् सदसद्विलक्षणत्वादनिरवचनीयम् ।' इत्यर्थापत्तिरपि न प्रमाणम् । रूप्यं शुक्तिदेशे सञ्चेन् न बाध्येत । बाध्यते च । तस्मात् तत्र न सत् विद्यमानम्, इत्यसत्त्वमस्माकमिष्टमेव । असञ्चेत् न प्रतीयेत, इति तु बाधितम् । तत्र असत् एव रजतस्य प्रतीतेः । असत् कथं प्रतीयेतेति चेत् काऽत्रानुपपत्तिः । अन्यत्र विद्यमानं वस्तु अन्यत्राविद्यमानमपि विद्यमानमिव भाति । तथा दर्शनान् । न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । तथा च भ्रमेण तद्विषयस्य तत्र विद्यमानत्वरूपं सत्त्वं प्राप्तं बाधकज्ञानेन अपोद्यते । तेन अत्राविद्यमानत्वरूपमसत्त्वं विषयस्य निश्चीयते । एवं सति ख्यातिबाधान्यथानुपपत्त्याऽनिरवचनीयत्वं सिद्धयतीति कथमेतत् । उक्तीत्या तयोरन्यथैवोपपन्नत्वात् । विषयस्य सदसद्विलक्षणत्वरूपानिर्वाच्यत्वाभ्युपगमेन परिहार्याया अनुपपत्तेः सर्वथा विरहात् । तदेवमद्वैतानुरागमात्रकल्पतेयमर्थापत्तिः न प्रमाणभूतेति विभाव्यम् ।

एतेन बाध्यत्वं सति असति चानुपपन्नमिति अनिर्वाच्यमित्येतदपि प्रत्युक्तम् । नास्तीति निषेधप्रतियोगित्वरूपं बाध्यत्वं सति न सम्भवतीति तुच्छापरपर्याये असति च अस्तित्वप्रसक्त्यभावात् नास्तीति निषेधप्रतियोगित्वं कामं न सम्भवति । तावता निषेधप्रतियोगिनः शुक्तिरूप्यस्यानिरवचनीयत्वं नाम अपूर्वः कश्चन आकारः कथमास्थीयते ? ननु शुक्तिरूप्यस्य बाध्यत्वं तावदस्ति । तत् तस्य सद्विलक्षणत्वमसद्विलक्षण-

णत्वं च विना नोपपद्यते इति तदुभयं कल्पयति । तदेवानिर्वचनीयत्व-  
मिति चेत् इदमिष्टमेवास्माकम् । ब्रह्मसत्यरूप्याभ्यां भिन्नत्वात् तुच्छ-  
भिन्नत्वाच्च शुक्तिरूप्यस्य । ईदृशमप्यनिर्वचनीयत्वं सत्यरूप्यादेर्नास्ति ।  
कालसम्बन्धित्वाबाध्यत्वाद्द्विरूपस्य सत्त्वस्य तत्र सत्त्वेन सद्द्विलक्षणत्वा-  
भावात् । शुक्तिरूप्यवद् बाधाभावान् । ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वस्याद्याप्यसिद्धेः ।  
र्वाशेष्य ब्रह्मात्मकसद्भिन्नत्वनिवेशने इष्टापत्तेः । आस्त हि सत्येऽपि  
प्रापञ्चिके वस्तुनि ब्रह्मविलक्षणत्वं च तुच्छविलक्षणत्वं च । वस्तुतस्तु  
शुक्तिरूप्यस्य धर्मिण एवाभावान् तस्यानिर्वचनीयत्ववर्मः कथं सम्भवेत्,  
यस्य लक्षणमुच्येत । तस्मान्निषेधप्रतियोगित्वान्यथानुपपत्तिरूपाऽर्थाप-  
त्तिरनिर्वाच्यत्वे प्रमाणमित्येतन्नास्ति ।

आगमोऽपि नास्ति । 'नासदासीन्नो सदासीत् इदानाम्' इत्येतद्धि-  
सत्र प्रमाणमिष्यते । अत्र तदानीं प्रलयकाले असत् नासीत्, सदापि  
नासीत्, इत्युच्यते । एतेन अस्मिन् सृष्टिकाले असच्छब्दवाच्यं यत्  
किञ्चिदास्त तत् इतः प्राक्तने प्रलयकाले नासीत् । सच्छब्दवाच्यं च  
यत् किञ्चिदिदानामस्ति, तत् तदानीं नासीदित्युक्तं भवति । तत्र अपरि-  
णामितया, सर्वदा एकरूपतया, सत्त्वात् चेतनवस्तु सदित्युच्यते । एत-  
द्विपरीतत्वात् अचेतनवस्तु असादित्युच्यते । 'तदनुप्राविश्य, सच्च त्यच्चा-  
भवत्' इति सृष्ट्यनन्तरं ब्रह्मात्मकं चेतनाचेतनवस्तुजातं तावल्लोके  
ब्रह्मास्ति । ईदृशं किमपि प्रलयकाले नासीदित्यर्थः । पृथिव्यन्तरिक्षादि-  
रूपा लोका अपि नासन्नित्युपर्युच्यते । एवं समञ्जसोऽस्य मन्त्रस्यार्थः  
अस्मद्भाष्यकारैरभाषि । भवदभिमतस्यार्थस्य तु गन्धोऽप्यत्र नास्ति ।  
न हि सदसद्द्विलक्षणं अनिर्वचनीयं वस्तु आसीदित्यर्थोऽत्र सुवचः ।  
असत् नासत्, सत् नासीत् इति पृथगाख्यातश्रवणात् । सद्भिन्नमसद्भि-  
न्नामित्यर्थाङ्गीकारे लक्षणादोषाच्च । नासीद्रज इत्यादिना वैरूप्याच्च ।

अथ असत् निरुपाख्यं नासीत् । सत् सत्त्वेन निर्वाच्यमपि नासीत्,

इत्यन्तरार्थः । पर्यवसानगत्या तु सदसद्भिन्नमासीदिति लभ्यत इति चेत् सत्त्वेन निर्वाच्यस्य ब्रह्मणः सत्त्वात् सन्नासीदित्येतद् बाधितम् । निषेधप्रकरणे कस्यचित् सत्त्वप्रतिपादने तात्पर्याङ्गीकारश्चान्याय्यः । तदानामित्यस्यानन्वयश्च । न हि तदानीमेव निर्वाच्यसत्ता भवतामिष्टा । सृष्टानामपि पदार्थानामनवान्शब्दाङ्गीकारः । न चेष्ट एवानन्वय इति वाच्यम् । एकपदसत्त्वेनात्राप्यन्वयस्य स्वरसासद्स्य बाधावहत्वेन भवदभिमतार्थस्थान्यायत्वापादकत्वात् । यत्तु सदसच्छब्दौ पारमार्थिकापारमार्थिकवार्चनविरतः तन्न । व्याघातापत्तेः । न हि पारमार्थिकभिन्नस्य अत एव स्वयम्पारमार्थिकस्य अज्ञानस्य अपारमार्थिकभ्रष्टत्वं भवत् । अपारमार्थिकभिन्नस्य वा पारमार्थिकस्य परस्परिर्भ्रष्टत्वम् । ननु पारमार्थिकं ब्रह्म अपारमार्थिकं तुच्छम् । तदुभयभ्रष्टत्वमविद्याया इति चेत् दत्तोत्तरमेतत् । जगदुपादानभूतायाः सत्या एव प्रकृतेः तदुभयभिन्नत्वामिष्टम् । न च तेन भवदभिमतमानवचनीयत्वं सिद्धयतीति । एतेन अबाध्यत्वमेव पारमार्थिकत्वं सत्त्वं वा । कचिदपि सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वं तु अपारमार्थिकत्वं असत्त्वं वा । एतदुभयानधिकरणत्वमविद्याया अनिवचनीयत्वमिति प्रत्युक्तम् । प्रपञ्चोपादानभूताया अविद्याया बाध्यत्वे प्रमाणाभावेन अबाध्यत्वानधिकरणत्वासद्देः । अद्वैतश्रुत्या सिद्धयतीति चेत् प्रकृता श्रुतिरनिर्वचनीयत्वसाधनाय नालमिति तावदङ्गीकृतं भवति । तथा च अद्वैताभिमानातिरिक्तं किमपि अनिवचनीयत्वकल्पनामूलं नास्तीति वज्रलेपायितम् ।

### ४३. ख्यातिभेदः

अथ भ्रमस्थले अनिर्वचनीयख्यातिमच्छ्रुता यदसत्ख्यातिनिराकरणं चिकीर्ष्यते तदस्माकमनुकूलमेव । यत्तु अन्यथाख्यातिदूषणं तदसमीचीनम् । भ्रमं दूषयन्, आश्रितत्वाच्च । “पूर्वोत्पन्नाविनष्टशुक्त्यभिन्नतया ग्रहस्यैव तत्र प्रतिबन्धकत्वात्” इति ह्यनुपदं आविद्यकस्य

रूप्यस्य शुक्तिभिन्नस्य तदभिन्नतया प्रदृष्टमुच्यते । एवं अकर्तुः कर्तृत्वेन अनात्मन आत्मत्वेनतयाद् भूयिष्ठमुच्यते । तस्मादन्यथाख्यातिदुःस्थजा । तत्र किं अन्यत्र सदेव भासते उत भवद्वाभमतमनिवचनीयमिति तु विमर्शनीयमर्थाशङ्क्यते । तत्र आद्य एव पक्षा युक्त आश्रयितुं, न द्वितीय इत्यादिष्विष्टामहे । तथा हि । 'अत्यन्तासत इवान्यत्र सतः' इत्यपरोक्षप्रतीतिप्रयोजकसंज्ञा कर्षानुपपत्तौ स्तुल्यत्वात् अन्यथाख्यातिरयुक्त' इति भवनाह । शुक्तिरूप्यप्रतीनेरपरोक्षप्रतीनित्वमभ्युपेत्य वा इदमुच्यते अनभ्युपेत्य वा । आद्ये तदन्यथाऽनुपपत्त्या संस्कारादेर्भ्रमस्थले सन्निकर्षत्वमङ्गीकणीयम् । अन्त्ये रजतप्रताप्यंशे अपरोक्षानुपपत्त्वं निराकृत्य परोक्षानुपपत्त्वं, तस्याप्ययागे स्मृतित्वं वा साधनीयम् । अनिर्वचनीयविषयत्वस्य तु कः प्रसङ्गः । रजतं पश्यामीति प्रतीतिव्यवहारयोर्भ्रमनि औपचारिकत्वमेव चङ्कति । स्मृतिरूपत्वं च तस्मिन्नंशे । तावतोपपत्तौ अपूर्वस्य रूप्यस्यात्माति, विनाशं, उत्पत्तिविनाशप्रतीतिप्रतिबन्धं च न्ययविन् कः कल्पयेत् । कल्पयमानं वा को न्यायविन् सहेत । न हि अनिर्वचनीयं पश्यामीति कस्याचिदनुभवोऽस्ति । न चान्यत् किमपि प्रमाणमास्ति, येन भ्रमे अनिवचनीयं विषय इति ज्ञायते ।

एवमपूर्वरजतप्रतीतिविनाशतः प्रतीतिप्रतिबन्धकल्पनागारवान् प्रमाणभावश्च नानिर्वचनीयस्यातिरिक्त्युक्तम् । नेदं रजतमित्युत्तरकालीनबाधानुपपत्तेश्च न सा युक्तैति ज्ञेयम् । अयं हि बाधो नानिर्वचनीयविषयः । तस्य स्थितत्वेन बाधायांगान् नापि सत्यरजतविषय इति भवता शक्यं वस्तुम् । तस्य पूर्वप्रतीतिविषयत्वेनानिष्टत्वान् ।

किञ्च इदं रजतमिति प्रतीतिरेव आनिर्वचनस्य विषयत्वे असम्भविती । सत्यरजतत्वावगाहिनी ह्येता । अन्यथा तदुपादानार्थं प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । अनिवचनीयमेव सत्यरजतत्वेन भासति चेत् ननु कुतो रजतत्वेन भासति न घटत्वेन लाहृत्वेन वा । रजतं च तत्र वर्तत इति चेत् किं तत



पारमार्थिकम् उत प्रातिभासिकम् । नाद्यः । अपकृष्टसत्ताकस्य उत्कृष्ट-  
सत्ताकधर्माधिकरणत्वायोगात् । अन्यथा मिथ्याभूतस्यापि विश्वस्य पार-  
मार्थिकसत्त्वप्रसङ्गात् । न च तत्र अद्वैतश्रुतिर्बाधिकेति वाच्यम् । अत्रापि  
नात्र रजतमासीदिति बाधकप्रतीतेः सत्त्वात् । धर्मिण इव धर्मस्यापि  
ह्यसद्भावं एषा प्रतीतिर्गोचरयति । शुक्तित्वाश्रयोऽयम् । न रजतत्वाश्रयः  
इति हि बाधकप्रत्ययविषयविवरणं क्रियते । न द्वितीयः । तादृशरजतत्वो-  
त्पत्तौ नियामकाभावात् । लोहःत्वं वा सुवर्णःत्वं वा कुतो न भवति ।

ननु शुक्तेरौज्ज्वल्यरूपं यद्रजतसादृश्यं तदेव नियामकमिति चेन्न ।  
सम्बन्धाभावात् । शुक्तौ विद्यमानं रजतसादृश्यं तत्रोत्पद्यमानस्यानिर्वच-  
नीयस्य रजतत्वं कथमापादयेत् । न हि गोसदृशगवत्रशरीरोत्पन्नस्य  
क्रिमेर्गोत्वं भवेत् । ननु रजतसादृश्यात् रजतस्मरणे जाते तदभेदग्रहात्  
तत्तादात्म्यग्रहाद्वा इदं रजतं इति प्रतीतिर्जायत इति यूयं प्रतिपन्नाः  
इयं प्रतीतिरेवास्माकं उत्पन्नस्यानिर्वचनीयस्य रजतत्वं तत्त्वेन ख्यातेन  
नियामिकेति चेन्न । न हि पूर्वोत्पन्ने विषये दृक्तानियामकत्वं पश्चादुत्पद्यमा-  
नायाः प्रतीतेर्युज्यते । किञ्च ग्राहकत्वमात्रं हि प्रतीतेः । न तु विषये  
विशेषापादकत्वम् । एतेन सत्यमिथ्यारजतयोः साधारणं रजतत्वमिति  
प्रत्युक्तम् । मिथ्यावस्तुनो रजतत्वे हेत्वभावात् ।

उत्पादकाभावादपि अनिर्वचनीयं नोत्पद्यते न च ख्यायत इति द्रष्ट-  
व्यम् । शुक्त्यज्ञानं तदुत्पादकमिति चेन्न । शुक्त्यज्ञाने प्रमाणाभावात् ।  
ज्ञातुरेव हि अज्ञानम् । न तु ज्ञेयस्य जडस्य । ज्ञात्रज्ञानादतिरिक्तमिदं  
विषयगतमज्ञानमिति चेन्न । दत्तोत्तरत्वात् । विषयाज्ञाने प्रमाणाभाव-  
स्योक्तत्वात् । विषयावच्छिन्नचैतन्यस्येदमज्ञानमिति चेन्न । तस्य  
ज्ञातृत्वाभावेन अज्ञानाश्रयत्वायोगात् ।

४४. सत्तात्रैविध्यम् ।

अनिर्वचनीयस्यासिद्ध्या तस्य सत्ता दूरोत्सारिता । प्रतीतिमात्रं हि

विषयस्य भ्रमे, न तु वस्तु तदस्ति । तेन प्रातिभासिकसत्तोति  
 शशशृङ्गादिपर्याय एव । व्यावहारिकसत्ता पारमार्थिकसत्तोति विभागो-  
 ऽप्यनुपपन्नः । प्रपञ्चस्यापि परमार्थतः सत्त्वात् । नित्यसत्ता अनित्यसत्तोति  
 तु कामं विभागो भवेत् । ब्रह्मसत्तायाः सार्वकालिकत्वात् । प्रपञ्चसत्तायाश्च  
 सृष्टिकालमात्रभावित्वात् । स्वरूपतस्तु चेतनाचेतनयोरपि नित्यैव सत्ता ।  
 प्रलयेऽपि सूक्ष्मरूपेण सत्त्वात् । तदेवं पराभिमतज्ञानोपादानकत्वाभावात्  
 परमार्थसत्प्रकृत्युपादानकत्वाच्च सत्यमेव जगत्, न तु मिथ्येति सिद्धम् ।

दोषैरशेषैः प्रतिपन्नभङ्गं

दृश्यत्वलिङ्गं न कथञ्चिदीष्टे ।

प्रत्यक्षसिद्धस्थिरसत्त्वभावे

मिथ्यात्वमापादयितुं प्रपञ्चे ॥

श्रीमते श्रितभयद्रुशुष्मणे

कालमेवक्रमनीयवर्ष्मणे ।

विश्वसंहृतिविधानवर्तन-

क्रीडया नतिरियं रतिं यते ॥

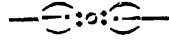
इति

विशिष्टाद्वैतसिद्धौ

विभूतिपारमार्थ्यं नाम

प्रथमः परिच्छेदः

## द्वितीयः परिच्छेदः



### १. अखण्डार्थवादः

अथ हेयबन्धनिरूपणानन्तरं उपादेयं ज्ञानं निरूपयाम इति प्रतिज्ञाय अखण्डार्थसाधनायोपक्रमते । तत्र अद्वैतानुसारेण प्रपञ्चसत्तैव नोपपद्यत इत्यवोचाम । शुद्धचैतन्यस्य हि निर्विकारत्वान् लोकसृष्टौ प्रवृत्तने भवति । नाप्यविद्यायाः । जडत्वान् । नाप्यविद्योपहितस्य ब्रह्मणः । उपधानस्यासम्भवान् । ब्रह्मणि अध्यस्ता हि अविद्या तदुपदधीत । ऋधु-मध्यासः ? शुद्धचैतन्यस्य निर्विकारस्य स्वतः अध्यासायोग्यत्वान् । अध्यासविरहे आविद्यास्वरूपस्यैवासिद्धेः । न च अनार्दित्वमत्र परिहारः । कदाऽध्यासारम्भ इति चोद्यं अनार्दित्वेन परिह्रियेत । न च तच्चोद्यमद्य क्रियते । किन्तु साङ्ख्यार्थभिमतप्रधानपुरुषयोरिव भवदर्भमताज्ञानब्रह्मणोरपि प्रपञ्चप्रादुर्भावहेतुत्वं नोपपद्यत इति । यथा 'शशे कथं शृङ्गसम्भवः ?' इति प्रश्नस्य 'अनार्दित्वेन' इति समधान न भवति । तथा प्रकृते द्रष्टव्यम् । ततश्च—“नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः” इत्यनेन भाष्येण अपरिहृत एवाक्षेपः । एवं च बन्वहेतोरन्यादृशस्यैव वक्तव्यत्वात् तत्परिहारोपायःऽपि अन्यादृश एव । न त्वखण्डार्थज्ञानरूप इत्येतत्सिद्धम् ।

अनुपपन्ना चेयमखण्डार्थता । तथा हि “अपर्यायशब्दानां संसर्गा-गोचरप्रभितिजनकत्वं” वा “तेषामेकप्रातिर्पादकार्यमात्रपर्यवसायित्वं” वा अखण्डार्थत्वमुच्यते । न च लौकिके वैदके वा र्यास्मिन् कस्मिन्नपि वाक्ये इदं सम्भवति । संसर्गस्यैव वाक्यार्थत्वान् । तद्बोधकत्वे वाक्यत्व-

यत्तु "प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यस्य चन्द्रस्वरूपमात्रपरत्वाद्खण्डार्थ-  
त्वम् । चन्द्रस्वरूपमात्रपरत्वं चास्य तन्मात्रबुभुत्साप्रयुक्तं "कश्चन्द्रः"  
इति प्रश्नानुसारान् । अन्यथा प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यपत्तेरिति, तत्र  
ब्रूमः । चन्द्रस्वरूपमात्रबुभुत्सया कश्चन्द्र इति पृच्छन् जिज्ञासुः वृद्धेन  
किं वक्तव्यमपेक्षते । अङ्गानानिर्देशेन बाधने तावत् वाग्व्यवहारा वर्ज-  
यितुं शक्यः । यदा तु वाचैवोत्तरं देयं भवति, तदा प्रष्टा वृद्धेन किं  
वक्तव्यमित्यपेक्षते इति विवेचनीयम् । चन्द्र इति वा चन्द्रश्चन्द्र इति  
वा केवलमुच्यमानं नोत्तरं भवति । बुभुत्सानिवर्तनाक्षमत्वात् । तेन  
चन्द्रगते यास्मिन् धर्मे उक्ते तद्दर्शनेन अयं चन्द्र इति स्वस्य बाधा  
जायेत स धर्मो वृद्धेन वक्तव्य इत्येव प्रष्टाऽपेक्षते । तत्र कश्चन्द्र इति  
प्रश्नवाच्यस्य चन्द्रस्वरूपं किमित्यर्थं हत्वे तस्य प्रहारान्तरेण बोधायतु-  
मशक्यत्वात् तद्बाधजनकतद्गत्तधर्मरूपं तल्लक्षणं किमित्यर्थात् पृष्टं  
भवात् । चन्द्रः कः । कीदृशः किंलक्षण इत्यथं हत्वे तु लक्षणबुभुत्सा  
कण्ठाक्ता, स्वरूपबुभुत्साऽर्थसिद्धा । उभयथाऽपि असधारण्यधर्मविषय  
एव प्रश्नः । तस्मादुत्तरमपि तद्विषयकम् । अन्यथा वैयधिकरण्यात् ।  
अत एव लक्षणवाक्यमिदमुच्यते । अन्यथा लक्ष्यभूतचन्द्रवाक्यं स्यात् ।  
उद्देशवाक्यमिति यावत् ।

लक्षणस्य च वाक्ये उद्देश्यतावच्छेदकत्वम् । 'यः प्रकृष्टप्रकाशः  
स चन्द्रः' इति । तस्य लक्ष्यवधारणान् पूर्वं ज्ञातत्वावश्यमभावाद्बुभुत्सा-  
कोटिप्रवेशः । यदा असंक्षार्यं चन्द्रस्वरूपज्ञानरहितः कश्चित् व्याम्नि  
विभ्राजमानं चन्द्रमन्यानि च ज्योतीषि सम्यग् विलांक्य ततः परं  
गृहान्तर्गत्वा तत्रत्यं वृद्धं कश्चन्द्र इति पृष्ट्वा प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः इति  
तदीयमुत्तरवाक्यं शृणाति तदा सद्य एव पूर्वं पृष्टप्रकृष्टप्रकाशज्याति-  
व्यक्तिरेव चन्द्र इत्यवधारयति । इदमवधारणं लक्षणवाक्यार्थज्ञानात्तर-  
कालभावि तत्फलभूतम् । यदा तु चन्द्रस्वरूपविवेकशून्यः अदृष्टज्याति-

मण्डलश्च कश्चित् गृह्णाभ्यन्तर एव स्थितः पूर्ववत् प्रश्नं कृत्वा तद्वदेवो-  
त्तरं लभते, तदा तस्य वाक्यार्थज्ञाने जातेऽपि इयं ज्योतिर्व्यक्तिः प्रकृष्ट-  
प्रकाशेति पूर्वमज्ञानान् सद्यश्चन्द्रस्वरूपनिर्धारणं न भवति । बहिर्गत्वा  
उदीक्ष्य ततः परमवधारयति । एवं पूर्वं ज्ञातो वा अज्ञातो वा असा-  
धारणधर्मः लक्षणवाक्ये उद्देश्यतावच्छेदकतया प्रतीतः वाक्यतात्पर्य-  
विषयो भवति । तस्मात् कश्चन्द्र इति प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति च  
प्रश्नोत्तरे केवलस्वरूपविषये इति, लक्षणवाक्येन लक्ष्यस्वरूपावधारणं  
भवतीति च केवलं भ्रमपरम्परेयम् । गन्धवती पृथिवीत्यतो हि पृथिव्या  
गन्धवत्त्वं लक्षणमित्येतावदवगम्यते । तेन पश्चात् गन्धवद्द्रव्यदर्शने इयं  
पृथिवीति तत्स्वरूपावधारणं भवति । तस्मात् लक्षणवाक्यजन्यशाब्दज्ञा-  
नातिरिक्तं तत्कालभूतं लक्ष्यस्वरूपावधारणमिति ज्ञेयम् ।

लक्षणवाक्यस्यैव उद्देश्यविधेयविपर्यासे लक्ष्यस्वरूपपरवाक्यत्वं  
भवति । 'ज्योतिर्मण्डले प्रकृष्टप्रकाशः कः' इति प्रश्ने 'चन्द्रः' इति यदुत्तरं  
भवति, तेन 'योऽयं चन्द्रः सः प्रकृष्टप्रकाशः' इति बोधस्य जननात् ।  
'प्रकृष्टप्रकाशत्वाश्रयः कः मम जिज्ञासाविषयः' इति हि प्रश्नस्यार्थः ।  
'यश्चन्द्रः स तदाश्रयः' इति तदनुगुणमुत्तरम् । ईदृशे एव प्रश्नोत्तरे  
"कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्" इति, "रामो  
नाम जनैः श्रुतः" इति च । अतः लक्षणपरं वाक्यमन्यत्, धर्मिस्वरूपपरं  
वाक्यमन्यदिति विवेक्तव्यम् । तत्र लक्षणवाक्यस्य धर्मपरत्वमेव नत्व-  
तरवद् धर्मिपरत्वमिति च ।

एवत्सर्वं बुद्धौ धारयतां, यदाह—“यद्यपि यश्चन्द्रः तत्र चन्द्रत्वं  
तमोन्त्रादिव्यावृत्तिश्चास्तीति मया ज्ञायत एव । तथापि चन्द्रस्वरूपं  
परं न ज्ञायत इत्यनुभवेन व्यावर्तकव्यावृत्तिविशिष्टस्याजिज्ञासितत्वेन  
जिज्ञासितं चन्द्रस्वरूपमेव विपर्ययविरोधिज्ञानविशेषं जनयता “प्रकृष्ट-  
प्रकाशश्चन्द्रः” इति वाक्येन बोध्यत इति किमनुपपन्नं”—इति, तत्सर्व-

मत्यन्तमनुपपन्नमिति सुगमम् । प्रथमं तावन् चन्द्रस्वरूपमात्रं जिज्ञास-  
मानेन अत एव कश्चन्द्र इति पृच्छता कीदृशमुत्तरं परमुखान् प्रतीक्ष्यन  
इति पूर्वोक्तरीत्या विमर्शनीयम् । न हि व्यावर्तकधर्मोपादानं विना  
चन्द्रस्वरूपज्ञापनं परेण शक्यं कर्तुमिति अयं प्रष्टा मन्यते । न हि  
येन केनापि लोके कस्यचिद् वस्तुनः स्वरूपं तदसाधारणधर्मनिर्देश-  
मन्तरेण परस्मै बोधगित्तं शक्यम् । इदं जानता प्रष्टा चन्द्रस्वरूपमात्रं  
मे जिज्ञासितं, न तु तत्र व्यावर्तकवैशिष्ट्यमिति नैव अभिसन्धिमता  
भवितुं शक्यम् । अजानता तु मौढ्यकाष्ठां गतेन भवितव्यम् । तथा च  
तस्मै नैवोत्तरं ददीत वृद्धः । ददानो वा “चन्द्र एव चन्द्रः” इति  
ददीत । ‘प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः’ इत्येतदुत्तरं ददानस्तु व्यावर्तकधर्म-  
बुभुत्सयैव प्रष्टा प्रश्नं करोतीति मन्यते । न चायं भ्रान्तः । प्रश्नस्या-  
भ्रान्तिरासम्भवस्योक्तत्वात् । न च तर्हि किंलक्षणकश्चन्द्र इत्येव प्रश्नेन  
भाव्यम् । स्वाधीने शब्दप्रयोगे निष्प्रयोजनलाक्षणाप्रयोगस्यान्याय्यत्वा-  
दिति वाच्यम् । उच्चारणलाघवस्य वाक्यसौन्दर्यादेश्च प्रयोजनस्य  
सत्त्वात् । स्वरूपपरत्वेऽपि लक्षणाया अपरिहार्यत्वात् । अग्रे तिष्ठन्तं  
इत्यपि हि बहुलं प्रश्नं कुर्वन्नि वस्त्वमिति । न हि तत्र स्वरूपजिज्ञासा ।  
न च स्वरूपं किंशब्दवाच्यान्तभूत, येन तत्र लक्षणा न स्यात् । बुभुत्स-  
तमात्राभिधायित्वात् । किंस्वरूप इत्यपि प्रयोगाच्च ।

अथ योऽयं प्रष्टुरनुभव उक्तः सोऽत्यन्तमसम्भावितः दृष्टान्तसिद्धये  
स्वीयं कल्पितः । न हि चन्द्रत्वं तमानक्षत्रादिव्यावृत्तिं च चन्द्रे जानतः  
कस्यचित् तत्स्वरूपज्ञानमात्रं नास्तीति अस्ति सम्भवः । इदं तावद्भवाना-  
चष्टाम्—प्रकृष्टप्रकाशकृता व्यावृत्तिः प्रष्टुर्विदिता न वा । आग्रे तस्या  
अजिज्ञासितत्वात् उत्तरवाक्ये तत्पदमनुपादेयमेव । अन्त्ये व्यावर्तक-  
व्यावृत्तिविशेषवैशिष्ट्यं तस्य जिज्ञासितमेवेत स्वरूपमात्रे तात्पर्या-  
सिद्ध्या नाखण्डार्थत्वम् ।

किञ्च चन्द्रस्वरूपमजानतः चन्द्रपदस्य वाच्योऽर्थः कश्चिदस्तीति सामान्यतो ज्ञानवत्त्वेऽपि अयं चन्द्रपदवाच्य इति ज्ञानं नास्तीत्येव वक्तव्यम् । तेन तदीयस्य प्रश्नस्य चन्द्रपदवाच्यः कः इत्येवार्थः । तदनुसारेणोत्तरस्यापि यः प्रकृष्टप्रकाशः स चन्द्रपदवाच्यः इत्येवार्थ इति स्वरूपलक्षणयाः ः प्रसङ्गः । किञ्च प्रकाशवत्त्वेन तन्मात्रादिव्यावृत्तिः । तत्र प्ररूपेण नक्षत्रादिव्यावृत्तिः । एतदुभयं च प्रागेव ज्ञातव्यतः प्रकृष्टप्रकाशत्वविशेषणार्थीना व्यावृत्तिरजिज्ञासितेति उत्तरे एताद्विशेषणग्रहणमनुपपन्नमेव ।

यत्तु रजनभिन्ना शुक्तिरिति निश्चयं सत्यपि यथा इदं रजनभिर्ना विपर्ययो भवति तथा चन्द्रस्वरूपे ज्ञातेऽपि विपर्ययो भवितुमर्हत्येव । तद्विराधिज्ञानानुस्यदशायां चन्द्र इति प्रश्नो युज्यते । तस्य स्वरूपमात्रविषयत्वत् उत्तरमपि तन्मात्राविषयम् । अत एवाखण्डाधेर्मित्ति तदसमञ्जसम् । परांक्षांश्चये सत्यपि दोषवशान् पीतशङ्खशुक्तिरजताद्यश्च परोक्षभ्रमो भवति । तथा किं प्रकृते अयं न तमोविलक्षणः, न प्रकृष्टप्रकाशः इति वा, इदं तम इति वा प्रत्यक्षभ्रमो भवतीत्याभिप्रायः । ओमिति चेत् शोच्यो भवान् । न खलु चन्द्रं साक्षात्प्रश्यतः कस्यचिदेवं विपर्ययो भवितुमर्हति । अथ परोक्षभ्रमोऽभिप्रेतः सोऽप्यतन्मर्वा । तन्मात्रादिविलक्षणत्वस्य निश्चितत्वात् । न हि शङ्खपातिमदर्शी वा शुक्तिरजतदर्शी वा कः शङ्ख इति वा का शुक्तिरिति वा पृच्छति । एवं च प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्युत्तरमप्यनवकाशम् । एवं तु भवेत् । बालपरीक्षाप्रवृत्तो वृद्धः कश्चित् तं पृच्छति—सौम्य, अस्मिन् ज्योतिर्मण्डले कश्चन्द्रः

एनेन प्रश्नाऽप्यनुपपन्न इति ज्ञापितम् । चन्द्रस्वरूपस्वभावप्रश्नेः सुज्ञातत्वात् । विषयेयस्य चासम्भावितत्वात् । विपर्ययसम्भवं कृत्वा चिन्तायामपि प्रश्नो न सम्भवति । न हि शङ्खपातिमदर्शी वा शुक्तिरजतदर्शी वा कः शङ्ख इति वा का शुक्तिरिति वा पृच्छति । एवं च प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्युत्तरमप्यनवकाशम् । एवं तु भवेत् । बालपरीक्षाप्रवृत्तो वृद्धः कश्चित् तं पृच्छति—सौम्य, अस्मिन् ज्योतिर्मण्डले कश्चन्द्रः

इति । बुद्धिसम्पन्नो बालः प्रतिवदति 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' इति । तत्र चोक्तगत्या व्यावर्तकधर्मवैशिष्ट्यविषये एव प्रश्नोत्तरे उभे अपीत्यास्तां तावत् ।

अथ यदिमे वाक्ये अखण्डार्थत्वसाधनसं स्मिन्ना कदर्थीक्रियेते दुर्वृत्तेनेव अन्यपरिणीता अप्रौढा, तत्रानुपपत्तिं दर्शयामः । "चन्द्रत्व-विशिष्टधर्माः, कः इतरव्यावृत्ततया, व्यावर्तकधर्मवत्तया, मम जिज्ञासितः" इति तावत् प्रश्नाथः । चन्द्रपदस्य गणपदादेरिव शक्यत वच्छेद-कविशिष्टधर्मवाचित्वान् । जिज्ञासायाः व्यावर्तकधर्मरहितकेवलस्वरूप-मात्रपरत्वे अङ्गलिनिर्देशेनैव ज्ञापनीयत्वापात्तेन उत्तरवाक्यप्रयोगानव-काशाच्च । यत्तु चन्द्रपदं स्वरूपमात्रवाचीति, तत् व्युत्पत्तिविरुद्धम् । जातिमात्रं वा व्यक्तिमात्रं वा न पदवाच्यम् । अपि तु जात्यवच्छिन्ना व्यक्तिः इति ह्यवधारितम् । लक्षणप्रयोगे मानाभावात् । एवं च फलतः व्यावर्तकधर्मस्यैव पृष्टत्वात् तदनुत्पत्तुत्तम— 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' इति । ज्यातिर्मण्डले यः प्रकृष्टप्रकाशः स चन्द्र इत्युक्तं भवति । अत्र प्रकृष्टप्रकाशत्वावच्छिन्नं धर्ममुद्दिश्य चन्द्रत्वावच्छिन्नधर्म्यभेदो विधीयते । फलतः प्रकृष्टप्रकाशत्वं चन्द्रस्येतरभ्यो व्यावर्तको धर्म इति सिध्यति ।

ननु प्रश्ने चन्द्रपदस्य चन्द्रत्वावच्छिन्नपरत्वे कश्चन्द्र इत्यत्र किंशब्दार्थस्य बुभुत्सन्त्वस्य तत्राप्यन्वय-सङ्गः । विशिष्टान्वये विशेषणा-न्वयस्यापरिहार्यत्वात् । घटो दृष्ट इत्यत्र घटत्वस्यापि दृष्टत्वप्रतीतेः । स च चन्द्रत्वमपि बुभुत्सितम् । व्यावर्तकधर्मस्य अद्वैतत्वेन उत्तरस्या-सङ्गतत्वापत्तेः । तथा च तत्र चन्द्रपदं तत्स्वरूपमात्रपरं वाच्यम् । तद-नुरोधाच्चोत्तरेऽपीति चेन्मैवम् । विशिष्टान्वयेऽपि विशेषान्वयस्याभावात् । तथा व्युत्पत्त्यभावान् । न हि दण्डो घटकरागमित्युक्ते दण्डत्व-स्यापि कारणत्वमुक्तं भवति । घटो दृष्ट इत्यत्रापि घटत्वस्य दृष्टत्वप्रत्ययो



न शाब्दः । अपि तु प्रनीतिविषयनावच्छेदकत्वमप्रतीतस्य न भवतीत्य-  
 र्थात् सिद्धः । सर्वत्र तु विधेयस्य उद्देश्यवाचकपदोपस्थापिते विशेष्य  
 एवान्वयः । तद्विशेषणस्य केवलमन्वयितावच्छेदकत्वमेवेत्यौत्सर्गिकम् ।  
 तदेवं बाधकभावात् प्रश्ने चन्द्रपदं व्युत्पत्तिसिद्धविशिष्टवाच्येव  
 तदनुरोधः शान्तरेऽपि ।

एवं व्युत्पत्तिन्यायसिद्धस्वार्थसमर्पकतया सर्वसामञ्जस्ये सति हठा-  
 देव यदखण्डार्थत्वमुच्यते तत् सर्वत्राऽनुपपन्नम् । तथा हि । चन्द्रपदं  
 तावत् विशिष्टवाचितया व्युत्पन्नत्वात् चन्द्रस्वरूपमात्रपरत्वे लाक्षणिकं  
 स्यात् । न च स्वरूपमात्रस्य जिज्ञासितत्वात् एतदनुरोधिन्युत्तरे लक्ष-  
 णाऽपि न्याय्येति वाच्यम् । स्वरूपमात्रजिज्ञासाया असम्भवस्यापपादि-  
 तत्वात् । स्वरूपमात्रस्य प्रतिपत्तुमशक्यत्वाच्च । सापेक्षपदार्थो ह्ययं स्वरूप-  
 मिति । अस्य स्वरूपं तस्य स्वरूपमिति प्रति सम्बन्धिना सहैव भानात् ।  
 तन्निरपेक्षतया स्वातन्त्र्येण भानस्य कदाप्यभावात् । तस्मान्चन्द्रत्वा-  
 वच्छिन्न एव चन्द्रपदवाच्य इति नास्याखण्डत्वम् । नापि प्रकृष्टप्रकाश-  
 पदार्थस्य । प्रकृष्टप्रकाशत्वाश्रयस्यैव तत्त्वात् । केवलस्याश्रयस्य स्वरूपाभि-  
 धानस्य प्रत्यनुमशक्यत्वात् । स्वरूपस्य द्विरभिधानवैयर्थ्याच्च । स्वरूपं  
 स्वरूपं इति द्विरभिधानेन किं नाम प्रयोजनं भवति । प्रश्नोत्तरयोरन्योर-  
 नुपपत्ताश्च । स्वरूपं किमिति प्रश्नः । स्वरूपं स्वरूपमिति परस्परानन्वित-  
 तया द्विरभिधानमुत्तरम् । न खल्व्वाभ्यां प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां श्रोत्रोः  
 कश्चन बाधो भवितुमर्हति । ननु स्वरूपमिति वस्तुतः चन्द्रत्वाश्रयः  
 प्रकृष्टप्रकाशत्वाश्रयश्चोच्यते इति चेत् किमतः । न हि प्रतीत्यविषये  
 विशेषणेन वस्तुनि विशेषोऽवगन्तुं शक्यते । एतेन चन्द्रसम्बन्धित्वं विना  
 केवलव्यक्तिमात्रं यदि चन्द्रपदेन श्रोता बुध्येत “स्वरूपं किमिति अयं  
 पृच्छति” इति, तर्हि प्रश्नमनुपपन्नमेव स मन्येत । निराकाङ्क्षबाधा-  
 जनकत्वात् ।

यत्तु गङ्गासम्बन्धित्वविशिष्टे तात्पर्याभावेऽपि वस्तुगत्या गङ्गा-  
सम्बन्धमेव तीरं लक्ष्यत इति, तत्र । गङ्गासम्बन्धित्वविशिष्ट एव  
तात्पर्यात् । अन्यथा शैत्यपावनत्वाद्यभानप्रसङ्गात् । अतो गङ्गातीर-  
एव लक्षणा । तीरत्वेन लक्षणायामपि तीरसामान्यस्थानन्वयात् विशेष-  
जिज्ञासायां शक्याथपर्यालोचनयाऽनुपदं गङ्गातीरत्वावधारणाच्च ।  
सर्वथा तत्र शाब्दबाधपर्यवसानात्पूर्वं गङ्गातीरप्रतिपत्तिरस्तीति विभा-  
व्यम् । गङ्गासम्बन्धित्वपरित्यागेऽपि तीरत्वेन तावन् तीरस्वरूपं लक्ष्यते ।  
न तु केवलं स्वरूपमिति च ।

यच्च ब्रीहीन् प्रोक्षतीत्यत्र ब्रीहिपदेनापूर्वसम्बन्धित्वलक्षणायां वस्तु-  
गत्या ब्रीहित्वाश्रयीभूता एव व्यक्तयो ब्रीहिपदेन लक्ष्यन्ते इति, तदपि  
भ्रान्तवचनम् । नहि तत्र ब्रीहित्वाश्रयीभूता एव व्यक्तयो लक्ष्यन्ते ।  
विकृतौ नीवारेषु प्रोक्षणानाम्भेः । प्रकृतावेव वैकल्पिकेषु यवेष्वनापत्तोश्च ।  
तस्मान्द्ववदभिमतार्थेऽयमदृष्टान्तः । विपरीतदृष्टान्तस्तु भवेत् । यथा  
ब्रीहिपदेन लक्षणया अपूर्वसाधनालक्षणात् ब्रीहिव्यातिरिक्तद्रव्येष्वपि  
प्रोक्षणं भवति तथा प्रकृते चन्द्रादिपदेन केवलं स्वरूपं लक्षितं चेत्  
चन्द्रातिरिक्तकिञ्चिद्वस्तुस्वरूपमपि वुमुत्सितं ज्ञापितं च स्यादिति ।

यत्तु प्रकृष्टप्रकाशाश्रयत्वस्योद्देश्यतावच्छेदकत्वे चन्द्रप्रातिपदिका-  
थत्वं दुर्वारमिति, तत् कथमिति वक्तव्यम् । न हि घटो नील इत्युक्ते  
उद्देश्यतावच्छेदकस्य घटत्वस्य नीलप्रातिपदिकार्थत्वं भवति । लक्षण-  
त्वाक्ये तदुक्तमिति चेत् कां विशेषः । उच्यते । अयं विशेषः । यः प्रकृष्ट-  
प्रकाशः सः चन्द्रः चन्द्रपदवाच्यः इत्यर्थः । तत्र चन्द्रपदवाच्यता  
प्रकृष्टप्रकाशत्वाविशिष्टे धर्मिणि प्रतीयते । तत्र विशेषणस्य विशेष्यनिष्-  
वाच्यतायामवच्छेदकत्वं भवति । तेन तद्विशेषणस्यापि तत्पदवाच्यत्व-  
मापत्तिति । पदवाच्यस्यैव धर्मस्य पदवाच्यावच्छेदकत्वादिति चेन्न ।  
धर्मिविशेषस्य पदविशेषवाच्यत्वमुच्यते । कः स धर्माति विशिष्य

ज्ञापनाय विशेषणं प्रयुज्यते । तत्र विधेये पदविशेषवाच्यत्वे उद्देश्यविशेष-  
णस्य अवच्छेदकत्वं कथं भवेत् । न हि कम्बुग्रीवादिमान् घट इत्युक्ते  
कम्बुग्रीवादेर्घटपदवाचतावच्छेदकत्वं भवति ।

यत्तु व्याख्याने घटा ज्ञात इत्यत्र घटत्वस्य ज्ञाततावच्छेदकत्वं यथा  
तथाऽत्राप्युक्तं तदयुक्तम् । शब्दतस्तदलाभान् । घटत्वाविशिष्टस्य ज्ञात-  
त्वबोधानन्तरं केन रूपेणेति जिज्ञासायां पदापात्तनया घटत्वेनेति पश्चान्  
अर्थत एव तदवच्छेदकत्वावगमात् । अत एव घटो द्रव्यत्वेन ज्ञात  
इत्युक्ते न तथाऽवगमः । तस्मादुद्देश्यविधेयभावस्थले उद्देश्यविशेषणस्य  
विधेयार्थावच्छेदकत्वापादनं अनिरूपककृत्यम् । या गन्धवती सा पृथिवी,  
पृथिवीशब्दवाच्यत्वात्, इत्युक्ते, गन्धवती द्रव्यस्य पृथिवीशब्दवाच्यत्व-  
मित्येतावद् बोधयित्वा वाक्यं पर्यवस्यति । एतच्छब्दवाच्यतावच्छेदकं  
किमिति तु मानः नरेण्यवधारणीयम् ।

यच्चापरमुक्तं व्याख्याने—“एवं सति लक्षणवाक्यस्यानुवादकत्वा-  
पत्तिः । तेजस्त्वाद्युर्पाहते चन्द्रपदवाच्यत्वस्य पूर्वं ज्ञातत्वात् । प्रकृष्ट-  
प्रकाशानुपलक्षितेऽपि चन्द्रपदवाच्यत्वस्य निवारणासम्भवाच्च” इति,  
तदप्यसत् । यदि चन्द्रपदवाच्यो ज्ञातः किमिति तर्हि अस्मिन् ज्योति-  
र्मण्डले कश्चन्द्र इति पृच्छति । तेजोविशेषश्चन्द्र इति जानन् कः स  
तेजोविशेष इति विशिष्य जिज्ञासमानो हि एवं पृच्छति । तं तेजोविशेषं  
प्रतिपादयतो वाक्यस्य कथमनुवादकतः । अत एव यो न प्रकृष्टप्रकाशः  
स न चन्द्र इत्यर्थान् सिद्धयति । न तु शब्दस्य तत्र व्यापारः । अष्टकृ-  
ष्टप्रकाशस्य चन्द्रत्वस्यापि चन्द्रपदवाच्यत्वादिदं बाधितं इति तु प्रनाश-  
णमात्रम् । वाच्यत्वमिति हि पदजन्योपस्थितिविशेष्यत्वमभिप्रेतम् ।

एतेन पृथिवीत्ववती पृथिवी, पृथिवीपदवाच्येत्यपि यथाश्रुतमेवोप-  
पन्नमिति ज्ञापितम् । यद्वाह - पृथिवीशब्दार्थत्वेन पृथिवीत्वजाति-  
विशिष्टमजानतः पृथिवीत्वपदेन जातेरुपस्थित्यभावात् अनन्वय एवेति,

तदनुक्तम् । पृथिवीत्वस्य विना वाच्यत्वमेव का पृथिवीति पृच्छन्तं प्रति पृथिवीत्ववती पृथिवीति तन्मन्त्राणामुच्यते । एतन्मन्त्रानुसन्तरे "पृथिवीत्वं नाम किञ्चिदस्ति । तद्यत्र वर्तते तन् पृथिवीशब्दवाच्यमित्ययं वदति," इति बुध्यमानः, पुनः किं पृथिवीत्वमिति पृश्ना द्रव्यत्वव्याप्यो जातिविशेषः सः, इति जानातीति किमनुपपन्नम् । "अनुमितिकरणमनुमानम् । परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः । व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः । साहचर्यनियमो व्याप्तिः ।" इति हि पूर्वपूर्वलक्षणवाक्यस्थपदार्थावगमाय उत्तरोत्तरलक्षणवाक्यानि प्रणीयन्ते । तादृशमिदं लक्षणवाक्यम् । अत्रापि पूर्ववत् पृथिवीत्वविशिष्टे पृथिवीपदवाच्यत्वेन शब्दात् ज्ञाने पृथिवीत्वस्य वाच्यतावच्छेदकत्वं पश्चात् ज्ञायते ।

तत्त्वमन्विच्छतामेतद् धीमतां न न सुप्रहम् ।

एते तु वादिनयने धूमिलेः प्रविन्दः ॥

तदेवं लक्षणवाक्यं क्वापि कस्यापि पदस्याखण्डार्थता नास्ति । असाधारणधर्मवाचिनः पदस्य तद्विशिष्टधनिवाचित्वान् । विधेयसमर्पकपदस्यापि तत्तत्पदवाच्यत्वविशिष्टस्य वा धर्मान्तरविशिष्टस्य वा धर्मिणो वचकत्वान् । प्रश्नग्रन्थपदस्यापि विशिष्टवाचित्वं प्रश्नोत्तरयोः समानविषयकत्वं च पूर्वमेवोपपादितम् । एतेन अन्वयानुपपत्तेर्वा तात्पर्यानुपपत्तेर्वा लक्षणार्थजस्य विरहान् प्रकृष्टप्रकाशादिपदस्य लक्षणया स्वरूपमात्रे तात्पर्यं इत्येतदप्रामाणिकमिति सुगमम् । तथा हि । नक्षत्राब्दिभ्यो व्यवृत्तं वा चन्द्रस्वरूपं प्रष्टुर्बुभुत्सितम्, अव्यावृत्तं वा । आद्ये धर्माविशेषेणैव व्यावृत्तिर्भवतीति व्यवतकंधर्माविशिष्टमेव स्वरूपं बुभुत्सितमित्युक्तं भवति । तत्र च प्रकृष्टेन प्रकाशेन विशिष्टं यत् तन् चन्द्रस्य चन्द्रपदवाच्यस्य वा स्वरूपमिति यथाश्रुतमुत्तरमुपपद्यते । न ह्यत्र अन्वयानुपपत्तेर्वा तात्पर्यानुपपत्तेर्वा अवकाशोऽस्ति, येन लक्षणया केवलस्वरूपमर्थं ब्रूयाम । अन्त्ये प्रकृष्टप्रकाश इत्युत्तरमसङ्गतं भवेत् ।

‘वस्तु’ इति वा ‘चन्द्र’ इति वा केवलं वक्तव्यं स्यात् ।

ननु स्वरूपमात्रजिज्ञासया प्रश्नः क्रियते । तद्बोधनप्रवृत्तेन तद्गुण-  
तया व्यावर्तकधर्मोऽभिधीयते । अथाप्यस्याजिज्ञासितत्वानु प्रतिपाद्यत्वानु-  
पत्त्या जिज्ञासितस्वरूपलक्षणाऽऽश्रीयत इति चेन्न । स्वरूपवाधापायतया  
वृद्धेन व्यावर्तकधर्मोऽभिधेय इति प्रष्टुरभिप्रायोऽस्ति न वा ? आद्ये  
साक्षात् स्वरूप इव तत्प्रतिपत्त्यर्थतया व्यावर्तकधर्मोऽपि बुभुत्सा तात्पर्यं  
च स्त एव । अन्त्ये प्रतिपत्त्युपायतयाऽपि न वक्तव्यं प्रष्टुरनभिप्रेत-  
त्वात् । अन्यथा प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यात् । अत एव लक्षणया स्वरूप-  
मात्रपरत्वमिति चेन्न । प्रक्षालनाद्धि पङ्क्त्येति न्यायेन स्वाधीने शब्दप्रयोगे  
विना प्रयोजनं लाक्षणिकप्रयोगायां गान् । गङ्गायां घोष इति लाक्षणिकवन्  
गङ्गातीरे घोष इति मुख्यप्रयोगोऽपि हि शक्यः कर्तुम् । तथा स्वरूप-  
विशेषश्चन्द्र इत्यपि मुख्यवृत्तमुत्तरं स्यात् । न चैवं कदाचिदपि  
भवति । नियमेन तु विशिष्टवाचकमेव पदमुत्तरवाक्ये प्रयुज्यते । तस्मान्  
विशिष्टमेव बुभुत्सितं बुबोधयिषितं चेति तत्त्वे स्थिते अखण्डार्थदुरनु-  
मानदृष्टान्तसम्पादनार्थमेव एवमेतद्वाक्यकदर्थनमिति हस्तामलक-  
मेतत् ।

इदं चात्र वक्तव्यम् । प्रकृष्टप्रकाशपदार्थस्य चन्द्रपदार्थस्य च पर-  
स्परमन्वयोऽस्ति न वा । आद्येऽखण्डार्थत्वमङ्गः । अन्त्ये वाक्यत्वहानिः ।  
परस्परान्वितार्थरूपदसमुदायस्यैव वाक्यत्वात् । गौरश्वो घटः पट इत्या-  
देरवाक्यत्वात् । नन्वस्त्येव प्रथमं विशिष्टार्थान्वयबोधः । तेन बुभुत्सि-  
तस्य चन्द्रप्रातिपदिकार्थस्य विपर्ययविरोधि ज्ञानमपि भवति । तेन  
वाक्यलक्षणं सुस्थम् । किन्तु तावति विश्रान्तिश्चेत् स्वरूपमात्रविषय-  
प्रश्नवैयाधिकरण्यापत्त्या तत्परिहाराय स्वरूपमात्रलक्षणोऽऽश्रीयत इति  
चेत् श्रूयताम् । स्वरूपविषयो यादृशो बोधः प्रष्टुरिष्टः सः वाक्येन  
विशिष्टान्वयबोधे जाते सम्पन्नो न वा । आद्ये तदतिरिक्तस्वरूपवाध-

स्यानपेक्षितत्वान्न लक्षणाया आवश्यकता । अन्त्ये प्रकृष्टप्रकाशपदो-  
पादानस्य प्रकृतोपयोगाभावात् निष्फलत्वम् । न च उपयोगे सत्यपि  
विशिष्टे तात्पर्याभावात् एतदनुपपत्त्या स्वरूपमात्रे लक्षणाश्रयणमिति  
वाच्यम् । उपयुक्ततयोपात्ते तात्पर्याभावानुपपत्तेः । न हि घटेन जलमाहरे-  
त्युक्ते घटस्वरूपस्यैव क्रियाकरणत्वयोग्यत्वेन तात्पर्यविषयत्वं, न तु  
घटत्वस्य । अतः घटस्वरूपे लक्षणोति युक्तम् ।

न च प्रष्टुस्तत्र तात्पर्याभावात् प्रतियक्तुरपि तदयागः । अनुपायस्य  
बोधनस्याशक्यत्वेन तत्र तत्तात्पर्यावश्यम्भावस्योक्तत्वात् । तत्तात्पर्याभा-  
वेपि प्रतियक्कृतः तात्पर्याविरोधाच्च । न च प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यम् ।  
ईदृशस्य वैयधिकरण्यस्य इष्टत्वात् । न हि आम्रान् पृष्टः कोविदार-  
नाचष्टेऽयम् । पृष्टं स्वरूपमेवाचष्टे । तेनैकविषयत्वं सिद्धम् । विशेषण-  
तुआर्थावकं व्यावर्तकधर्ममप्याचष्टे । बुभुत्सितस्वरूपख्यानोपयुक्तत्वात् ।  
यथा “कां न्वास्मिन् साम्प्रतं लोके” इति पुरुषमात्रप्रश्ने सति इक्ष्वाकुवं-  
शप्रभवां रामां नाम इति तमुक्त्वा ‘तमेवं गुणसंपन्नं रामं सत्यपराक्रमं’  
इत्यारभ्य तच्चरितवर्णनेन उत्तरस्य न प्रश्नवैयधिकरण्यम् । न वा तस्य  
तात्पर्याविषयत्वम् । बुभुत्सितपुरुषमहिमपर्यवसायित्वात् । यथा च अवरं  
भवतां जन्म इति जन्ममात्रविषये प्रश्ने सति तत्प्रयोजनादिकथनस्य  
न वैयधिकरण्यापादकत्वं तात्पर्याविषयत्वं च । यथा च ‘कस्मिन्नु भगवो  
विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ।’ इति ब्रह्मनात्रविषये प्रश्ने ‘द्वे विद्ये  
त्वेदितव्ये ।’ इति विश्वाह्वयपरस्योत्तरस्य न काचिदनुपपत्तिः ।

यथैवं ‘प्रकृष्टप्रकाशचन्द्रः’ इत्यस्य लौकिकलक्षणवाक्यस्य अख-  
ण्डार्थत्वं वा चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्रनिष्ठत्वं वा न भवति तथैव ‘सत्यं  
ज्ञानमनन्त ब्रह्मेति वैदिकलक्षणवाक्यस्यापि अखण्डार्थत्वं वा ब्रह्मप्राति-  
पदिकार्थमात्रनिष्ठत्वं वा न भवतीति ज्ञेयम् । तथा हि । ब्रह्माविदाप्रोक्त  
परमिति परमपुरुषार्थसाधनतया ब्रह्मवेदनं विहितम् । तत्र योगरूढिभ्यां

निरतिशयवृहत् ब्रह्मशब्दार्थः । तदिदं ब्रह्म लक्षणतः कीदृशमिति जिज्ञासायां सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति तल्लक्षणमुच्यते । यद्यपि यां वेदेत्युक्तवेदनकर्मकारकत्वात् द्वितीयान्तानि इमानि पदानि, तथाऽप्यर्थसिद्धं प्रथमान्तपदघाटनं वाक्यमेतदिति ज्ञेयम् । अत्र यन् सत्यं ज्ञानमनन्तं च तत् ब्रह्म निरतिशयवृहदिति वाक्यार्थः । सत्यत्वं एकरूपतया सर्वदा विद्यमानत्वम् । अनेन प्रकृतेरिव तस्य विक्रिया नास्तीति लभ्यते । ज्ञानत्वं नित्यासंकुचितज्ञानवत्त्वम् । अनेन बद्धमृक्तजीवधैलज्जयं ख्याप्यते । अनन्तत्वं त्रिविधपञ्चदशद्वितत्त्वम् । अनेन नित्या व्यावृत्तः । एवं च अनेन वाक्येन धर्मत्रयमिदं ब्रह्मलक्षणमिति ज्ञायते । एतल्लक्षणज्ञाने सम्पन्ने च प्रमाणवाक्येषु तत्र तत्र प्रतिपाद्यं वस्तु ब्रह्मेति वा नेति वा निश्चयां भवतीति लक्षणज्ञानफलमेतत् । एवं पदैर्वाक्येन च विशिष्टस्यैवार्थस्य प्रतिपादानात् नात्राखण्डार्थत्वगन्धोपि । एतेन सत्यादिवाक्यस्य खण्डार्थनिष्ठं, ब्रह्मप्रतिपादिकार्थनिष्ठं वा । लक्षणवाक्यत्वान् । तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वाद्वा । प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यादिवाक्यवदिति पदार्थविषयाखण्डार्थत्वानुमानमसमीचीनामिति ज्ञातुं शक्यम् । प्रथमहेतोरप्रयोजकत्वान् । द्वितीयस्यासिद्धः । दृष्टान्तस्य साधुविकलत्वान्, द्वितीयहेतुविकलत्वाच्च । साध्याप्रसिद्धिश्च सुवचाः । संसर्गागोचरप्रामितिजनकत्वरूपस्याखण्डार्थत्वस्य कदाप्यदशानान् । निर्विकल्पकस्याप्यस्मन्मते संसर्गावगाहित्वान् ।

यत्तु प्रमात्वसंसर्गागोचरवृत्तिः सकलप्रमावृत्तित्वान् अभिधेयत्ववदित्यनुमानं तत् आभासतुल्यं प्राक्तनानेकानुमानवदुपहास्यम् । शक्यं हि मनुष्यत्वं चतुष्पादवृत्तिः, सकलमनुष्यवृत्तित्वान् अभिधेयत्ववदित्यनुमानं प्रयोक्तम् । न चानुकूलनर्कभावः । अन्यथा चतुष्टयदमत्यन्तमपकर्षापत्तेस्तर्कस्य सत्वात् । भवदीयानुमानस्य तु स नास्ति । प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरणस्य परिहृतत्वात् । सत्यादिवाक्यं संसर्गावगाहिबोधजनकं

वाक्यत्वान्, नालो घट इत्यादिवत् । यन्नैवम् तन्नैवम् । यथा पदमिदं प्रबलं प्रत्यनुमानं च । न च लक्षणवाक्यभिरन्वयमुपाधिः । लक्षणवाक्यानामपि संसृष्टः शक्यत्वस्यापवादित्वेन साध्यव्यापनत्वाभावात् ।

एवं तत्त्वमत्यादिव क्यस्यापि नाखण्डार्थत्वम् । तच्छब्देन हि सर्व-  
ज्याद्विशिष्टं सच्छब्दवाच्यं प्रकृतं ब्रह्माच्यते । त्वंशब्देन च सम्बोध्यः  
श्वेतकेतुर्जावः । परन्तु प्राज्ञा देवदत्त इत्यत्र यथा देवदत्तशब्दः तच्छ-  
रीरकमाचष्टे तथाऽयं त्वंशब्दोऽपि श्वेतकेतुशरीरकमाचष्टे । तच्छब्द-  
सामानाधिकरण्यात् । यद्वा त्वंशब्दो जावपर एव । तच्छब्दस्तु उक्त-  
विध्वन्नङ्गात्मकपरः । तथा च उक्तविधं ब्रह्म त्वच्छरीरकमिति वा, त्वं  
तदात्मक इति वा वाक्याथः । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय तदुप-  
पादनार्थं कार्यकारणयोः सज्जगतारनन्वत्वमुपदिश्य जगत्सृष्टिमुक्त्वा  
सृष्टेर्जगति ब्रह्म अन्तरात्मतयाऽवतिष्ठत इति 'एतदात्म्यमिदं सर्वं,  
तत्सत्यं, स आत्मा' इत्यनेनावेद्य, एवं सामान्यत उक्त श्रान्तरि विशेषे  
निर्देशयन्नाह—'तत्त्वमसि' इति । सर्वं जगत् तदात्मकम् । अतस्त्वमपि  
तदात्मक एव इत्युक्तं भवति । भिन्नयोः शरीरात्मभावमुपदिश्यानुपदं  
सामानाधिकरण्यावलम्बनमेतन्, जगद्ब्रह्मणाः सामानाधिकरण्यं यत्र  
यत्र दृश्यते तत्र सर्वत्र शरीरात्मभावनिवन्धनं तर्दात ज्ञापयति । भगवद्-  
गीतासु च आदित्यानामहं विष्णुरित्युपक्रम्य सामानाधिकरण्येन स्वावि-  
भूतीर्बदन् ततः पूर्वं 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः' इति  
तन्निबन्धनं शरीरात्मभावं दर्शितवान् भगवान् । 'न तदस्ति विना यत्  
स्यान् मया भूतं चराचरम्' इत्यन्ते च पुनः स्मारितवान् । अनेन श्रौतं  
सामानाधिकरण्यमुपपञ्चिहितं भवति ।

एवं अनिसम्बन्धे अक्लिष्टे चार्थे स्थिते अद्वैताभिनिवेशमात्रेण  
अखण्डार्थत्वमत्र आस्थोयमानं सहृदयहृदयङ्गमं न भवति । तथा हि ।  
दण्डी कुण्डलीत्यत्र तावत् विशिष्टशौरैक्यमुपपन्नमेव । विशेषणयोरप्यै-



क्यापत्तिस्तु न । आपादकाभावात् । दण्डविशिष्टे धर्मिणि हि कुण्डल-  
विशिष्टधर्म्यभेदोऽत्र वाक्यार्थः । तत्र धर्मिणोरेव ऐक्यं प्रतीयते । न  
धर्मयोः । तथैव व्युत्पत्तेः । प्रत्यक्षं हि दण्डकुण्डले एकस्मिन् पुरुषे विद्य-  
माने दृष्ट्वा तमर्थं परस्मै बोधयन्नेवमाह—दण्डी कुण्डलोति । न हीतो  
ऽन्येन प्रकारेण सोऽर्थः प्रकाशयितुं शक्यः । न च पदयोः स्वबलद्वैतत्व-  
मस्ति । तस्माद् विशिष्टयोरैव पदाभ्यानुपस्थितावपि विशेष्ययोरेव पर-  
स्परमन्वयः । न तु विशेष्ययोरपि ।

ननु दण्डित्वं विशेषणं वा उपलक्षणं वा ? आद्ये तस्यापि कुण्डलित्व-  
मुक्तं स्यात् । विधेयान्वयिन एव विशेषणत्वात् । अन्त्ये विशिष्टस्योद्देश-  
यत्वं परित्यक्तव्यं स्यात् । न । उभयथापि सम्भवात् । विधेयानन्वयित्वा-  
दुपलक्षणं च । तत्प्रतीतिकाले प्रतीयमानत्वाद्विशेषणं च । एनेन सोऽयं  
देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञामिलापकवाक्यमपि व्याख्यातम् । पूर्वं देशान्तरे  
स्थितस्य दृष्टस्य च अद्य एतद्देशस्थितदृष्टाभेदे विरोधाभावात् । पूर्वं  
तत्र स्थितो दृष्टो वा अयं वा अन्यो वा, इति संशये निवर्तनीये उद्देश्य-  
विधेयभाव ईदृशः । पूर्वं तत्र स्थितो दृष्टो वा यः सः अयमिति अयमेव  
नान्य इति भावः । अयं अद्यात्र स्थितः पूर्वं तत्र यः स्थितो दृष्टो वा स  
एव किम्, एतान्य इति तु संशये अद्यात्र सतो दृश्यमानस्य वा पूर्वं  
तत्र स्थितदृष्टाभेदो बोध्यत इत्येवमुद्देश्यविधेयभावो द्रष्टव्यः—योऽय-  
मत्र स्थितः सः, सः पूर्वं तत्र स्थित एवेति । न हि कालभेदेन एकस्य  
देशद्वयसम्बन्धे कश्चन विरोधोऽस्ति । अतो दण्डी कुण्डलोति यादृशं  
तादृशमेवेदमपि वाच्यम् । उभयत्राविरुद्धधर्मद्वयसम्बन्धिनो धर्मस्य  
एकत्वबोधनात् । अयं तु विशेषः । पूर्वस्मिन् समानकालिकधर्मद्वय-  
सम्बन्धः । उत्तरस्मिन् भिन्नकालिकदेशद्वयसम्बन्ध इति । तेन

अविरुद्धविशेषणद्वयप्रभवत्वेपि विशिष्टयोर्द्वयोः ।

घटते न यदैकता तदा नतरां तद्विपरीतरूपयोः ॥

इति विशेषः।भिधानमनिरूपकत्वविजृम्भितमिति ज्ञेयम् । एवं चोभ-  
यत्रापि अन्वयानुपपत्तेर्वा तात्पर्यानुपपत्तेर्वा सर्वथा विरहात् न स्वरूप-  
लक्षणाप्रसङ्गोऽस्ति । एतेन “लक्षणाया ऐक्यबोधनं तूभयत्र समानम् ।  
लाक्षणिकत्वेऽपि दृण्डी कुण्डलीत्यादौ विशिष्टतात्पर्यान्नाखण्डार्थत्व-  
व्यवहारः । सोऽयमित्यत्र तु “अयं सः न वा ? अयं नैव सः” इत्यादि-  
संशयविपर्ययज्ञानविषयीभूताभेदमात्रस्य वृमुत्सितत्वेन तत्रैव तात्पर्याद-  
खण्डार्थत्वम् । न ह्यन्यस्मिन् वृमुत्सिते अन्यत्प्रतिपादयितुमुचितमित्यु-  
क्तम् । तत्तोदन्तोपस्थितिद्वारकाभेदबोधस्यैव भेदभ्रमविरोधितया नान्य-  
तरपदवैयर्थ्यम् ।” इति यदुक्तं तन्निरस्तम् । लक्षणाया स्वरूपमात्रपरत्वे  
कुतो विशिष्टे तात्पर्यम् । विशिष्टे तात्पर्यं चेत् कुतो लक्षणाश्रयणम् ?  
व्याहृतं ह्येतन् लक्षणाया विशेषणपरित्यागे न विशेष्यमात्रमुच्यते  
विशिष्टे च तात्पर्यमिति । विशिष्टे तात्पर्यं चेत् स एव पदार्थः । तत्र  
च न लक्षणापेक्षा । विशिष्टयोरेव पदवाच्यत्वात् । अनन्वयाल्लक्षणेति  
चेत् तर्हि अनन्विते अत एव वाक्येन बोधयितुमशक्ये कथं तात्पर्यं स्यात् ।  
अनन्वयश्च नास्तीत्युपपादितम् । यो दृण्डवान् सः कुण्डलवान् इति  
विशिष्टवाचकाभ्यां पदाभ्यां विशेष्यमात्राभेदबोधनस्य पदार्थः पदार्थे-  
नेति न्यायसिद्धत्वात् । “विशिष्टैक्ये विशेषणैक्यमपि भवेत्” इति भवदा-  
क्रोशस्य मृदुप्रज्ञवित्रासनक्षर्माभिर्भाषिकामात्रत्वात् । न खल्वेवं क्वचिद्  
दृष्टम् । दृष्टन्तु घटो नीलः, गौर्गच्छति; अयं घटः, एष देवदत्त इत्यादि  
ह्यिष्टं यत्र जातिगुणक्रियासंज्ञा विधेया उद्देश्यविशेष्यमात्रान्वयिनो  
भ्रमन्ति । घटो ज्ञातः, पटो दृष्टः, इत्यादिषु विशेषणेषु विधेयान्वय  
आर्थिकः न तु शाब्दः । व्युत्पत्तिविरोधादित्युक्तम् । तस्माद्दृण्डी कुण्ड-  
लीत्यत्र लक्षणाया नैव प्रसङ्गः ।

एवमेव सोऽयमित्यत्रापि । न हि केवलोऽभेदो वा यत्किञ्चित्स्वरूपाभेदो  
वा संशयविपर्ययज्ञानविषयीभूतः । किन्तु अयं अद्यात्र वर्तमानो दृश्य-

मानो वा िः सः यः पूर्वं तत्र स्थितो दृष्टो वा, उतान्यः इति विशिष्टा-  
भेद एव । तेन तत्रैव वाक्यतात्पर्यम् । स च लक्षणा विनैव बाध्यत  
इति कोऽत्र भवतां कृत्स्निकल्पनावकाशः । तत्तेदन्तोपस्थितिद्वारका-  
भेदबोधस्यैव भेदभ्रमावरोधित्वं वदता च विशेषणपेक्षा प्रकटिता । तथा  
चापेक्षिनस्य पदशक्त्यापस्थितस्य विशेषणस्य परित्यागाय अच्युमुत्सि-  
तत्वं अतात्पर्यविषयत्वं लक्षणां च को नु स्वस्थहृदयो वर्णयेदाकर्णयेद्वा ।  
लक्ष्यं च स्वरूपं किं स्वरूपत्वंनैव भाति अथवा इदंस्वरूपत्वेन तत्स्वरूप-  
त्वेन च । आद्ये संशयविर्ययानिवर्तकत्वापत्तिः । न हि अयं स न वा  
इति संशयस्य नैव सः इति विपर्ययस्य च स्वरूपं इति ज्ञानेन निवृत्तिर्भ-  
वेत् । द्वितीये अखण्डार्थत्वं दूरनिरस्तम् । अत एव निर्विकल्पकामिला-  
पोऽयं न भवति । नैयायिकभिमत्तस्य निर्विकल्पकस्याव्यपदेश्यत्वान् ।  
अस्मदभिमतस्य सप्रकारकत्वान् । प्रत्यभिज्ञाया निर्विकल्पकत्वाभावेन  
तदमिलाकस्य अयं देवदत्तः सः इत्यस्य वा, स देवदत्तः अयमित्यस्य  
वा वाक्यस्य निर्विकल्पकप्रत्ययजनकत्वायोगाच्च ।

ननु तत्तेदन्नोपलक्षितं स्वरूपं भातीति चेन्न । उपलक्षितत्वस्य विशे-  
षणत्वं अखण्डत्वमङ्गान् । उपलक्षणत्वे उपयुं परि तथेति अनवस्थाप्रस-  
ङ्गान् । किञ्च तत्तेदन्तयोरुपलक्षणत्वमसम्भवि । तत्ता नाम देशान्तरा-  
वच्छेदेन अतीतकालदर्शनविषयत्वम्, 'तत्र पूर्वं दृष्टः' इत्यमिलापाहम् ।  
इदन्ता नाम पुरोदेशावच्छेदेन वर्तमानकालदर्शनविषयत्वं, 'अत्राद्य  
दृश्यते' इत्यमिलापाहम् । न चेदमुभयं चैत्रस्वरूपे नास्ति येनोपलक्षणं  
स्यात् । अथ तत्तादन्तयोर्न बोधविषयत्वमङ्गीक्रियते, येन विशेषणत्वा-  
पलक्षणत्वविकल्पस्यावकाशः स्यात् । स्वरूपमात्रं तु बोधविषयत्वव्यञ्ज-  
नाथैव तयोरुपलक्षणत्ववाच्योक्तारति चेत् तर्हि स्वरूपं स्वरूपमिति  
पदद्वयेन प्रतिपादने अनन्वयान् वाक्यस्यार्थशून्यत्वमेव स्यात् ।

एवं दृष्टान्तभूतस्य सोयर्भाति वाक्यस्य साध्यविकलत्वान् तत्त्वमसि-

वाक्यस्य अखण्डार्थत्वमनुमानेन न साध्ययितुं शक्यम् । साध्याप्रसिद्धिश्च पूर्ववत् । अकार्यकारणद्रव्यमात्रनिष्ठत्वे सति समानाधि करणत्वान्, इति हेतोरसिद्धिश्च । सार्वज्ञ्यादिविशिष्टनिष्ठत्वेन द्रव्यमात्रनिष्ठत्वाभावात् । उपादानभूतस्य कार्यकारणरूपस्य ब्रह्मणः कार्यकारणभिन्नत्वाभावाच्च । तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वादिति द्वितीयहेतुरप्यसिद्धः । कोऽहमिति कल्पितस्य प्रश्नस्य कश्चन्द्र इतिवदेव विशिष्टपरत्वेन तन्मात्रपरत्वाभावात् । अहं कः ? हिमात्मक इति प्रश्नार्थः । ऐतदात्म्यामिदं सर्वमिति सर्वस्व तदात्मकत्वे उक्ते विशिष्य स्वस्य क आत्मा, इति जिज्ञासा श्रोतुः स्वरसतो भवति । अतः सखण्डार्थ एवायं प्रश्नः ।

वस्तुतस्तु तत्र यस्य कस्यचि प्रश्नस्य नात्रकाशः । “उद्दालको ह्यारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्रान्तं मे सोम्य विजानीहीति” इत्युपक्रम्य श्वेतकेतुप्रश्नं विना स्वयमेव पित्रा कृत उपदेशः “स एषोऽणिमा । ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् । तत्सत्यम् । स आत्मा । तत्त्वमसि श्वेतकेतो ।” इत्येतदन्तो निबद्धः । तत्र

“सन्मूनाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ।” इत्यात्मलक्षणं प्रथममुक्त्वा ‘ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्’ इति सर्वस्य जगतस्तदात्मकत्वमभिधाय एव शरीरात्मनिबन्धनमेव ‘सदेव सोम्येदं’, ‘तदैक्षत बहु स्यामिति’ इति पूर्वोक्तं जगद्ब्रह्मणोः सामानाधिकरण्यमिति ज्ञापनाय तथा निर्देशमन्ते चिकीर्षन् आचार्यः श्रोतरि पुत्रे तं चकार । ततः परं ब्रह्मणो विशेषान्तराणि जिज्ञासमानेन श्वेतकेतुना ‘भूय एव मा ष्यगवान् विज्ञापयतु’ इति पुनः पुनः पृष्ठः सः तं तमुपदेशं कृत्वा तत्तदन्ते ‘स य एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् । तत्सत्यम् । स आत्मा । तत्त्वमसि श्वेतकेतो’ इत्येतदेवावर्त्य उपसंहारमकरोत् । अतो नेदं प्रश्नोत्तरम् । अखण्डार्थत्वसाधनाय न ह्यन्यस्मिन् बुभुत्सिते अन्यद्बहुमुचितमिति युक्तिलभज्ञोभेन पूर्वोत्तरपरामर्शं विना कल्पितोऽयं

कोऽहमिति प्रश्न इति विदाङ्कूर्वन्तु विद्वांसः । तदेवं द्वितीयस्यापि हेतोर-  
सिद्धेः अनुमानमेतदप्रमाणम् ।

तत्त्वमसिवाक्यमखण्डार्थम्, उपाधिभेदभिन्नेऽर्थे ऐक्यप्रातपाद-  
कत्वात्, घटरवं महारवमिति वाक्यवदिति कल्पतरूक्तानुमानान्तरसाध्ये  
त्वखण्डार्थत्वे पूर्ववत् पदवाक्यन्यायविरोधो नास्ति । घटावच्छिन्नमा-  
काशं महाकाशमेवातवत् त्वदन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं परब्रह्मरूपचैतन्य-  
मेवेति बाधाभ्युपगमात् । किन्तु अस्मान् प्रति हेतुरसिद्धः । जीवपरयोर्व-  
स्तुत एव भिन्नत्वेन उपाधिभेदभिन्नत्वाभावान् ।

वस्तुतस्तु “उपाधिभेदभिन्नोऽर्थो येनैकः प्रतिपाद्यते । तदापि स्याद-  
खण्डार्थं महत् खं कुम्भखं यथा ॥” इति कल्पतरुजन्माद्यधिकरणस्थे  
श्लोके, परिमले अस्मिन् सिद्धिग्रन्थे चांक्तरीत्या अखण्डार्थत्वसाधकम-  
नुमानं नाभिप्रेतम् । अखण्डार्थत्वस्य साध्यस्य हेतवनतिरिक्तत्वात् । न  
हि संसर्गागोचरप्रमितजनकत्वरूपमखण्डार्थत्वमत्रेष्टम् । दृष्टान्ते तद्वै-  
कल्यात् । घटाकाशं महाकाशमिति संसर्गावगाहित्वस्याभिमतत्वप्रतीतेः ।  
तदापि स्यादखण्डार्थमित्यापशब्देन समुच्चयपरेण “अविशिष्टमपर्यायाने-  
कशब्दप्रकाशितम् । एकं वेदान्तनिष्णाता अखण्डं प्रतिपेदिरे ॥” इति  
पूर्ववदत्रापि लक्षणमेवोच्यते, अन्यच्चैदं लक्षणमित्यवगमाच्च । तदिह  
उपाधिभेदभिन्नार्थैक्यबोधकत्वमखण्डार्थत्वमिति एतल्लक्षणमेवोच्यते, न  
त्वनुमानमिति ज्ञेयम् ।

“सत्यज्ञानादिर्गःरेतत्संसर्गव्यतिरेकिणि ।

अर्थे प्रमाणं मानत्वान्नयनादिप्रमाणवत् ॥”

इति काष्ठागतधाष्टर्यस्य दुरनुमानपटोश्चित्सुखाचार्यस्यानुमानं प्रति-  
ब्रूमः । पदार्थसंसर्गे प्रमातृत्वेन किमपि वाक्यमङ्गीक्रियते, न वा ? आद्ये  
तत्र हेतोर्व्यभिचारः । संसृष्टसंसर्गातिरिक्ते प्रामाण्यविरहेऽपि प्रमाण-  
त्वात् । अन्त्ये ‘अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः’ इत्यादेः स्वर्गहोमादि-

साध्यसाधनभावे प्रामाण्याभावप्रसङ्गः । पृथिवी निर्गन्धा, द्रव्यत्वात्, जलादिवत् इत्याभासतुल्यत्वं विवेकिनां सुस्पष्टम् । अत एव बाधोऽप्यत्र दोषः । वाक्येतरप्रमाणत्वमुपाविश्व । अत्र साध्यमन्यथा परिष्कुर्वन् निर्विकल्पकमादाय दृष्टान्ते साध्यवत्तां वदंश्च तत्र भवान् ब्रह्मानन्द-स्वामी चित्सुखीयमनुत्तानं यथावन्न जग्राहेति सुज्ञानं विदुषाम् ।

वाद्मार्गप्रचण्डोऽस्तु पण्डिताखण्डलोऽस्त्वपि ।

अखण्डमर्थं वाक्यम्य न मण्डयितुमीश्वरः ॥

## २. निर्गुणत्वम् ।

को गुणस्तस्य वाचि स्याद् यो ब्रूते ब्रह्म निर्गुणम् ।

कथञ्च ब्रह्मवेदित्वमवेद्यब्रह्मवादिनः ॥

इदमपरं ब्रह्मविदां कर्णारुन्तुदं भाषन्ने यद् ब्रह्म निर्गुणमिति । तत्र यदुच्यते “कैवल्यश्रुत्या तावदात्मा निर्गुणः” इति, तन्न । तस्या निर्विशेषत्वबोधकत्वाभावात् ।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः

सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः

माक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

इत्ययं हि स मन्त्रः । इतः पूर्वे परे च मन्त्राः ब्रह्मणो विविधान् श्रुतान् गुणान् वर्णयन्ति । तेषु उदाहृतात् कैवल्यमन्त्रात् प्रपूर्वमन्त्रः कारणरहितं कारणं अधिपरहितं सर्वाधिपं च ब्रह्म प्रतिपादयति । स ईश्वरः प्रधानोपादानकैः स्वसृष्टैर्वस्तुभिः स्वमावृणोति स्वकीयं जीववर्गं लुप्तप्रज्ञं करोति, यद्वा तैः स्वरूपमावृत्य तिष्ठतीत्यनन्तरमन्त्रे उच्यते । इममर्थं विवरीतुं प्रवृत्तः प्रकृतः कैवल्यमन्त्रः ।

एकः, समेन वाऽधिकेन वा द्वितीयेन रहितः । देवः, जगत्सृष्ट्या-

दिभिः क्रीडन् परमपुरुषः । सर्वभूनेषु, देवमनुष्यतिर्यक्स्थावरात्मक-  
 विविधशरीरवत्सु सर्वेषु प्राप्तिषु । गूढः अन्तः प्रविश्य तेषां दुर्ज्ञेयतया  
 स्थितः । स कुत्र वर्तत इत्यत्रोक्तं सर्वभूतेष्विति । कस्मान्न दृश्यत  
 इत्यत्रोक्तं 'गूढः' इति । कथमेकस्य सर्वभूतान्तर्वर्तित्वमित्यत्राह—सर्व-  
 व्यापीति । विभुत्वान् तस्य तदुपपन्नमिति भावः । किमर्थं तस्य सर्व-  
 भूतान्तःप्रवेश इति शङ्कापरिहारायाह—सर्वभूतान्तरात्मेति । आत्मा  
 नियन्ता । नियमनं कर्तुमन्तःप्रवेश इत्युक्तं भवति । किं तन्नियमनमिति  
 चेन्न तद् विवृति—कर्माध्यक्ष इति । प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपाणि सर्वाणि  
 कर्माणि 'दैवं चैवात्र पञ्चमं' इत्युक्तरीत्या तदधीनानीति भावः । एवं  
 नियमनार्थमन्तरवास्यत्या भूतानि परमात्मनो धारकाणि, स तु धाय  
 इति बुद्धिर्भवेत् । तां व्यावर्तयति—सर्वभूताधिवास इति । सर्वाणि  
 भूतानि तर्माधिवसन्ति । तेन धियन्ते । न तु स एतैः । गीतं च 'न-स्वहं  
 तेषु ते मयि' इति ।

यदि शरीरान्तरवस्थितः तर्हि जीवन् भोक्ता स्यात् । न । स हि  
 केवलं साक्षात्, साक्षाद् द्रष्टा । तत्रत्यां जीव एव भोक्ता । अयं तु तत्र  
 स्थितः तत्र यद्यद् भवति तत् केवलं पश्यति, न तु किमपि भुङ्के । 'अन-  
 शनन्' इति ह्यन्यत्रोक्तम् । शरीरान्तर्वर्तित्वं उभयोरविशष्टे कथमेकस्य  
 भोगः, नेतरस्य । उच्यते । चेता । चिन् चयने । निर्माता, सर्वकारण-  
 भूतः सर्वज्ञः । चेतयिता वा, नित्यासङ्कुचितज्ञानः । अज्ञत्वाज्जीवस्य  
 भागः सर्वज्ञत्वादितरस्य नेति । अयमपि विशेषः कुतः ? यदयं केवलः  
 न तु जीववद् विहितनिषिद्धकर्मकृत्वतत्फलभूतपुण्यपापविशिष्टः ततः ।

जीवस्य एवम्भावं हेतुश्च अनादिकालप्रवृत्तगुणसम्बन्धः । यद्  
 गीयते—

'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदस्योनिजन्मसु'

इति । एतदत्यन्ताभाववान् पुनरीश्वरः । इदमुच्यते मन्त्रान्ते—  
निर्गुणश्चेति । यतो जीवस्य तत्तत्कर्मकर्तृत्वं, तत्फलभूतपुण्यपापे,  
एतत्कृतदेहसम्बन्धः, अज्ञत्वं, सुखदुःखोपभोगश्च तादृशसत्त्वरजस्तमो-  
रूपप्रकृतिगुणसम्बन्धरहित ईश्वरः । अतः तेन सह वर्तमानस्यापि सर्वज्ञ-  
त्वाद्यात्मकस्वभावविशिष्टतयैव वर्तमानत्वान्नास्य जीवबद्धोगप्रसङ्गः ।

अथ प्राकृतगुणसम्बन्धः कुतो जीवस्येवास्य न भवति । अत्रोत्तर-  
मनन्तरमन्त्रेणोच्यते—

एको वशी निष्क्रियाणां बहूना-

मेकं बीजं बहुधा यः करोति ।

इति । एकः स्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षणः सः वशी स्वाधीनस्वेतरस-  
मस्तवस्तुकः । प्रकृतिश्च तस्य वशे वर्तते । तत्सङ्कल्पयत्तसर्वपरिणामा ।  
सर्वैश्वर्यमन्त्रः सर्वशक्तः सर्वज्ञः सः संहारलीलाया चेतनाचेतनःत्मकं सर्वं  
जगत् नामरूपानर्हसुसूक्ष्मावस्थं करोति । तदानीं अनन्ता जीवात्मानः  
करणकलेवररहिततया श्रुचेतनवदेव निष्क्रिया भवन्ति । अथ सः अनु-  
कम्पाद्रहदयः सङ्कल्पिते प्रलयकाले वृत्ते पुनर्जीवैभ्यः क्रियाकरणोचित-  
करणकलेवरादिदित्सया तद्बीजभूतं प्रकृतिसंज्ञं जडवस्तु महदहङ्कारा-  
दिक्रमेण बहुधा करोति । एवं सकलभुवनस्मृष्टिसिथिसंहारनियमना-  
दिरूपलीलारसिकेन सर्वेश्वरेण उपकरणीकृता त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः  
स्वस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिषु तस्यात्यन्तपरतन्त्रा सती तस्य बन्धाय भवेदिति  
मनसा चिन्तयितुमपि न शक्यमित्युक्तं भवति ।

तदेवमस्मिन् प्रकरणे परस्य ब्रह्मणः कारणान्तररहितकारणत्वं,  
अधिपत्यन्तररहितसर्वाधिपतित्वं, स्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षणत्वपर्यव-  
सायि एकत्वं, जगत्स्मृष्टिादिलीलारसिकपर्यवसितं देवत्वं, सर्वभूत-  
गूढवर्तित्वं, सर्वव्यापित्वं, सर्वान्तरात्मत्वं, प्रेरकत्वं, सर्वाधारत्वं, साक्षा-  
द्द्रष्टृत्वं, नित्यसर्वज्ञत्वं, अपहतपाप्मत्वं, सत्त्वादिप्राकृतगुणसम्बन्ध-



गन्धशून्यत्वं, स्वार्धनसकलचेतनाचेतनत्वं, परमकारुणिकत्वं, जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वं इत्यादिर्महतीयं गुणपरम्परा उपदिश्यत इति सर्वेषामतिरोहितमेतत् ।

एवं सत्यत्र निर्विशेषत्वापरपर्यायं निर्गुणत्वमुच्यत इति कथमास्योच्यते ? न ह्यत्र निर्गुणपदं धर्मसामान्यशून्यत्वपरतया योजयितुं शक्यम् । तस्य प्राकृतगुणत्रयराहित्यपरतयैव प्रयोगप्रचुरात् । यथा “गुणभृन्निर्गुणो महान्” इति सहस्रनामसु । “निर्गुणं गुणभोक्तृ च” इति गीतासु च । अत्र भाष्यं च शाङ्करम् — “सत्त्वरजस्तर्मांसि गुणाः । तैर्वजितमपि सत्” इति । “अनादित्वान्निर्गुणत्वात्” इत्यत्र यद्यपि शाङ्करे ‘सगुणो हि गुणव्ययाद् व्येति । अयं तु निर्गुणत्वाच्च न व्येति’ इत्यव्ययत्वहेतुत्वेनान्वयमभिप्रेत्य प्रसिद्धार्थपरित्यागेन व्याख्यातमिव भाति, तथापि श्रीभाष्ये “निर्गुणत्वात् सत्त्वादिगुणरहितत्वात् न करोति, न लिप्यते देहस्वभावैर्न लिप्यते” इति यथावदेव व्याख्यायि ।

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता

कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।

इति पञ्चमाध्याये जीवस्य सत्त्वादिगुणान्वयोक्त्या ततः परमात्मनो वैलक्षण्योपदेशप्रकरणेऽस्मिन् तद्राहित्याभिधानस्यैव युक्तत्वाच्च । पूर्वत्रोत्तरत्र च विस्तरेण बहुगुणोपदेशे क्रियमाणे मध्ये गुणसामान्यशून्यत्वस्य बाधनत्वेनान्वयाच्च । निर्गुणस्येति चकारावगतसमुच्चयानुपपत्तेश्च । न हि कारणत्वगूढावस्थायित्वादेर्गुणगणस्य तदभावस्य च समुच्चयः सम्भवति । तस्मात् कारणात्त्वादिबन् निर्गुणत्वमपि कोऽपि धर्मो ब्रह्मणि प्रतिपाद्यते । कोऽसाविति निरूपणे प्रयोगप्रचुर्येण पुरस्फूर्तिकृत्यान् जीववैलक्षण्यप्रतिपादनप्रकरणपर्यालोचनया च उक्तरीत्या प्राकृतगुणराहित्यरूप इत्यवधार्यते । उपनिषदो हि तदितरसमस्तवस्तुविलक्षणतया ब्रह्म उपदिशन्ति । सा च विलक्षणता द्वेषा—इतरावृत्ति-

धर्मवत्तया इतरवृत्तिधर्मरहिततया च । तत्र आद्यराशिप्रविष्टं कारणत्वा-  
दिकम् । द्वितीयराशिप्रविष्टं केवलत्वं निर्गुणत्वं ईदृशमन्यच्च । अतः  
परस्य ब्रह्मणो धर्मसामान्यशून्यत्वबोधकं एकमपि प्रमाणवाक्यं नःस्तीति  
निश्चलाभिदं तत् ।

किञ्च निर्गुण इत्यस्य निषेधस्य शास्त्रोपदिष्टगुणवियत्वं दुर्बचम् ।  
शास्त्रभ्रान्तान् गुणान् अनूद्य हि इमे ब्रह्मणि न सन्तीति निषेधः कार्यः ।  
इदं निर्गुणपदेन एकेन दुष्करम् । एकप्रसरताभङ्गप्रसङ्गात् । अतो  
“वषट्कृतुः प्रथमभक्तः” इत्यत्र यथा वषट्कृतुर्यो भक्तः स प्रथम इति  
विधानासम्भवात् प्राथम्यविशिष्टमज्ञान्तरस्यैव विधानमिष्यते तथैवात्र  
ये गुणाः पूर्वमुपदिष्टास्ते इह न सन्तीति निर्गुण इत्येकेन पदेन बांधना-  
सम्भवात् गुणान्तरप्रतियोगिकत्वविशिष्ट एव प्रतिषेधः क्रियत इति  
वच्यम् । कानि तानि गुणान्तराणीत्यन्वेषणे प्रकरणादिपर्यालोचनया  
तदवधारणं भवतीति ज्ञेयम् ।

ननु सामान्यवाचिगुणपदे श्रूयमाणे कथं गुणान्तरग्रहणं युज्यत इति  
चेन्न । स्ववाक्ये स्वनैव साकं विधेयमानानां गुणानामद्याप्यप्रातत्वेन  
निर्गुणत्ववदकगुणत्वेन तेषां ग्रहणासम्भवात् तद्भिन्नगुणग्रहणावश्यम्भा-  
वात् । प्रकरणान्तरवाक्यान्तरविहितानामपि ब्रह्मगुणानां एतद्वाक्यस्थ-  
गुणवदेव ब्रह्मवैज्ञान्यप्रातपत्त्यर्थतया निषेधायोगात् । अनाकाङ्क्षित-  
त्वाच्च । साक्षां चेता केवलां निर्गुणश्चेतीमानि हि पदानि सर्वभूतान्तर-  
वैतिष्ठमानस्यापि परस्य ब्रह्मणो जीवन् सुखदुःखमोक्तृत्वं नास्तीत्येतदर्थ-  
प्रतिपादकानीत्यदर्शयाम । तेन प्राकृतगुणनिषेध एवात्रापेक्षितः । न  
तु शास्त्रोपदिष्टापूर्वपरब्रह्मवैलक्षण्यपादकसर्वज्ञत्वसत्यकामत्वसत्यसङ्कल्प-  
त्वादिक्ल्याणगुणगणप्रतिषेधः । तस्मादयं निर्गुणपदघटको गुणशब्दः  
‘गुणान्वयः’ इति पूर्वाध्यायस्थगुणशब्द इव सत्त्वादिप्राकृतगुणावचक  
एव । विशिष्य “त्रैगुण्यवर्जितम्” इति श्रवणात् “विना हेयैर्गुणादिभिः”

इत्युपबृह्मणाच्च तत्परतैव युक्ता ।

यत्तु 'नेति नेति' इति वीणसाबलेन प्रसक्तसर्वप्रतिषेधे प्रतीते कतिपय-  
विशेषपरिशेषस्य कर्तुमशक्यत्वादिति, तन्न । श्रुत्यर्थापरिज्ञानात् । इति  
न, एवं न; पूर्वं यावद्विशेषविशिष्टमुक्तं, तावन्मात्रं ब्रह्म न भवति । अपि  
तु ततोऽप्यधिकापरिमितविशेषविशिष्टमित्यर्थः । वीणसाऽऽदरातिशये ।  
तथा च सूत्रं "प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधाति" इति । प्रकृतैः पूर्वोक्तैः  
विशेषैः एतावत्त्वं एतावन्मात्रविभूतिमत्त्वं यद् ब्रह्मणः प्रसक्तं, तत् प्रति-  
षेधतीत्यं श्रुतिरित्यर्थः । यत्त्वत्र परकीयं भाष्यं प्रकृतं मूर्तामूर्तरूपं प्रपञ्चं  
प्रतिषेधतीति तत् एतावत्त्वं प्रतिषेधतीति सूत्राक्षराननुगुणम् । तथा च  
सर्वप्रकारप्रतिषेधरश्रुत्यभावेन तद्विरोधप्रसक्तेः निर्गुणत्वमिति सामान्यं  
त्रैगुण्यवजितमिति विशेषे उपसंहृतं भवति ।

यत्तु एवं सति न हिंस्यादित्यस्य ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्यत्र  
उपसंहारः स्यादिति, तत्र वदामः । स्यादेव न्यायतः । विपीलिकादेरारभ्य  
तत्तज्जन्तुजातवधे पृथक् पृथक् प्रायश्चित्तविधानात्तु निषेधः सर्वमाणि-  
विषय इत्यवधार्यते । विशिष्य ब्राह्मणहिंसानिषेधस्तु आत्रेयवधप्रतिषेधवत्  
पापातिशयस्य तदनु रूपप्रायश्चित्तविशेषस्य च ज्ञापनार्थः । अतो नात्रोप-  
संहारः । प्रकृते तु निराबाध उपसंहारः । निर्गुणपरता च शब्दस्य न  
सम्भवतीति पूर्वमेवोक्तम् । न हि निर्विशेषं किमपि बुद्धादारोपयितुं  
शक्यते । आकाशशब्दान् तदर्थनिर्विकल्पकं वदन्तोऽपि हि शब्दगुण-  
कत्वेन तत्प्रतीतिं वदन्ति । गङ्गापदे तीरत्वमात्रेण तीरे लक्षणां वदता-  
मपि तीरत्वेन तीरावगाहित्वात् सप्रकारक एव तीरबोधः । वस्तुतस्तुं  
तीरे घोष इत्येतावन्मात्रप्रतीत्या आकांक्षानुपरमात् गङ्गातीरत्वेन बोध  
आवश्यक इत्यवोचाम । तथैव चन्द्रादिस्वरूपस्य केवलस्य निराकांक्ष-  
प्रतीत्ययोगादखण्डार्थता न सम्भवतीति च । अतो निर्विशेषस्य प्रति-  
पत्तुमशक्यत्वादपि न गुणसामान्यशून्यपरोऽयं निर्गुणशब्दः ।

किञ्च सामान्यनिषेधेन विशेषविधेर्बाधो न सम्भवति । अन्यथा न हिंस्यादिति निषेधः अग्नीषोमीयपशुमपि गोचरयेत् । यत् निर्गुण-  
वाक्यस्य तत्परत्वेन प्रबलत्वात् तेन सगुणवाक्यबाध इति, तन्न ।  
निर्गुणवाक्ये सिद्धे हि तत्परत्वं प्राबल्यं वा अस्ति नास्तीति विमर्शा-  
वकाशः स्यात् । तत्तु अद्यापि न सिद्धम् । निर्गुणस्येति पदावगत-  
निषेधस्य को विषय इति हि सम्प्रति विचारः क्रियते । तथा सति  
निर्गुणवाक्यस्य तत्परतया प्राबल्यं कथमुच्यते । कारणत्वसर्वज्ञत्वादि-  
वादिनो विशेषविधयः । निर्गुण इति सामान्यनिषेधः । अत्र विरोधे  
किमनुगोधेन किं नेयमिति संशयः । तत्र तत्परतया एकस्य प्राबल्यवचनं  
न युज्यते । तत्परत्वस्यैव विचार्यमाणत्वात् । किमिदं यथाश्रुतं गुण-  
सामान्यनिषेधपरं, अथवा गुणविशेषविधानानुरोधात् सत्त्वादिगुण-  
विशेषनिषेधपरं, इति हि विचारयन्तो वर्तामहे । तत्र कथं स्वार्थपरत्वं  
निश्चितं कृत्वा प्राबल्यमुच्यमानं युज्येत ।

अथोच्यते—उपासनविशेषत्वात् सगुणवाक्यानां न स्वार्थे तात्पर्यम् । अनन्यशेषत्वात्तु निर्गुणवाक्यस्य तत्परत्वम् । अत इदं प्रबल-  
मिति । तदयुक्तम् । ब्रीहिभिर्यजेत, सांभेन यजेतेत्यादिषु ब्राह्मादिषु  
तात्पर्याभावप्रसङ्गात् । यागार्थत्वेनान्यपरत्वात् । न चेष्टापत्तिः । द्रव्या-  
न्तरग्रहणापत्तेः । न च जर्तिलयवागून्याय इह सङ्गतः । ‘अनाहुतिर्वै  
जर्तिलाश्च’ इति निन्दा हि तत्र तद्विधानाभावहेतुः । विकल्पस्य प्रकारा-  
न्तरेणैव सिद्धिश्च । यदि चान्यशेषत्वमेव तत्परत्वाभावहेतुः, तर्हि ‘अज-  
क्षीरेण जुहोति’ इति श्रुते अजक्षीरेऽपि तात्पर्यं न स्यात् । होमार्थत्वात् ।  
दूषितश्चायं अन्यार्थत्वप्रयुक्ततात्पर्याभाववादां भवद्भाष्य एव विस्तरेण  
‘भावं तु बादरायणोऽस्ति हि’ इति सूत्रे ।

‘यदप्युक्तं मन्त्रार्थवादयोरन्यार्थत्वान्न देवताविग्रहादि प्रकाशन-  
सामर्थ्यमिति । अत्र ब्रमः । प्रत्ययाप्रत्ययौ हि सद्भावसद्भावयोः

कारणम् । नान्यार्थत्वमनन्यार्थत्वं वा ।”

इत्युपक्रम्य

“प्रतीतिशरणैर्विद्यमानवाद् आश्रयणीयो न गुणवादः । एतेन  
मन्त्रो व्याख्यातः ।”

इत्यन्तेन ग्रन्थेन । किञ्च निर्गुणश्रुतिरपि परार्थैव । मोक्षार्थसाक्षात्कार-  
विषयप्रतिपत्त्यर्थत्वात् । न हि शाब्दमेव ब्रह्मज्ञानं पुरुषार्थः, तत्साधनं  
वा । तस्मिन् सत्यपि बन्धानुवृत्तेः । अतः

“ब्रह्मप्रतिपत्तिप्रतिबद्धं तु फलं श्रूयते ।”

इति ‘कारणत्वेन चाकाशादि’ष्विति सूत्रे भवद्भाष्योक्तरीत्या ‘ब्रह्मविदा-  
प्रोति परम्’ इति श्रुतब्रह्मविद्यावाक्यशेखत्वात्निर्गुणवाक्यस्य स्वार्थे  
तत्परत्वं दुर्घटमेव । तस्माद् दुर्नीतिरेषा यदुपासनार्थत्वात् सगुणवाक्या-  
नामतत्परत्वं, ततो दुर्बलत्वं चेति । यथा तु उत्पत्तिविधेः कर्मणि  
तात्पर्यं, विनियोगविधेः फलसाधनत्वे, गुणविधीनां तत्तद्गुणविशेषे,  
विशिष्टविधीनां शब्दतो विशेष्ये अर्थतो विशेषणे, एवमत्र ‘सदेव सोम्य’  
इत्यादीनां ब्रह्मणि, ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं’ ‘अपहतपाप्मा सत्यकामः सत्य-  
सङ्कल्पः’ ‘साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च’ इत्यादीनां तत्कल्याणगुणेषु,  
‘ब्रह्मविदाप्रोति’ इत्यदीनां उपायफलयोश्च तात्पर्यमिति अनाकुलस्ता-  
त्त्विकाऽर्थोऽवगन्तव्यः । तत्र भावाभावरूपगुणविधिवाक्यानां वा पदानां  
वा विरोधात्तन्माने सर्वेषां श्रुतिर्त्वाविशेषात् उपक्रमप्राबल्यादिन्यायै-  
रेवार्थनिष्कर्षः कार्यः । तथा क्रियमाणे च निर्गुणपदं सत्त्वादिगुणपरं  
भवति । एवं क्लृप्तैर्न्यायैः समञ्जसेऽर्थे निश्चीयमाने निर्गुणे इत्येकस्य  
पदस्य आपातप्रतीतिर्धर्मिभिविरय श्रुतिस्मृतिशतसिद्धसकलभगव-  
त्कल्याणगुणगणभञ्जने महता प्रदासेन यदुद्युमः क्रियते, तत एव भव-  
द्भिमतमद्वैतमब्रह्ममिति ख्याप्यते ।

यथा रागप्राप्तिर्हिंसां विषयं प्राप्य न हिंस्यादिति सामान्यनिषेधः सोमाङ्गतया विहितं पशुबन्धनं न विपर्ययीकरोति तथा निर्गुण इत्यर्थं सामान्यनिषेधोऽपि उपासनार्थतयाऽपि अपूर्वतया ब्रह्मणि विहितान् मङ्गलगुणान् विषयीकरोति । किन्तु हेयगुणविषयतया पर्यवस्यतीति विभाव्यम् । “अपद्वत्पाप्मा विजरां विमृत्युर्विशोको विवर्तघत्सो विविपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः” इत्यविशेषेण श्रूयमाणे पूषानुमन्त्रण-मन्त्रन्यायेन सत्यसङ्कल्पत्वादेः प्रकरणादुत्कर्षः कर्तव्यो येन आप-र्तति, तं व्याख्यानमार्गं सचेतनः कोन्वादियेत । यच्च “साक्ष्यादिपदै-र्द्रष्टृत्वादिगुणविधानात् निर्गुणशब्देन गुणसामान्यनिषेधो न युक्तः” इत्येतत् प्रतिब्रुवता उक्तम्—

‘द्रष्टृत्वादावत्रापि न तात्पर्यम् । गुणान् तदस्थीकृत्य तेषां ब्रह्म-  
परत्वेन गुणे तात्पर्याभावात् ।’

इति, तत्र विपरीतो हेतुः । तेषां ब्रह्मपरत्वेन तेषु तात्पर्यं हि वक्तव्यम् । न ह्यसद्भिर्गुणैः कथितैर्ब्रह्मणो यथावन् प्रतिपत्तिर्भवेत् । व्यामोहस्तु प्रबलो भवेत् । अन्यथा ब्रीहिभिर्यजेतेत्यत्र ब्रीहिषु तात्पर्यं न स्यात् । यागपरत्वादित्युक्तम् ।

ब्रह्मस्वरूपस्याथात्म्यावबोधनेन तस्मिन् जनानामनुरागविशेषं जनयितुं वर्धयितुं च अज्ञातपूर्वेषु अद्भुतेषु अनन्तेषु तदीयेषु गुणेषु शास्त्रैस्तत्परै-रुपदिश्यमानेषु कथं हि लोकोत्तरप्रज्ञेन भवता तेषामतात्पर्यविषयत्वं अतात्त्विकत्वं च अध्ववर्सायते । ‘एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा’ इत्यादि पठतां हि व्युत्पन्नानां एवङ्गुणां भगवान् सर्व-श्वरेश्वर इति स्वरसवाहिनी आनन्ददायिनी धीरुदेति । तद्ब्रह्मणे को हेतुः ? निर्गुण इति श्रवणमिति चेत् तर्हि ‘असद्वा इदमग्र आसीत्’ इति श्रवणाद् ब्रह्मणोऽप्यभवः स्यात् । असदिति नामपदसमभिव्याह-रत्वेन नवो निषेधकत्वं न सम्भवतीति चेन्न । निर्गुण इत्यत्र गुणनिषेधं

वदताऽत्र सन्निषेधासम्भवस्य वक्तुमयुक्तत्वात् । सद्भिन्नमासीदित्यतः  
शून्यमासीदित्यर्थलाभेन ब्रह्माभावप्रत्ययसम्भवाच्च । “नैवेह किञ्चनाम  
आसीत्” इति साक्षान्निषेधस्यापि श्रवणाच्च । भवदुक्तनीत्या अस्यैव  
स्वार्थतत्परत्वेन “सदेव सोम्य”, ‘ब्रह्म वा इदम्’, इत्येवमादेः सर्वस्य  
निषेधप्रतियोगिसमर्पकतया तत्परत्वाभावात् । अथात्र पूर्वोत्तरपरामर्शो-  
नान्योऽर्थो वाच्य इत्युच्यते, तत् समानं निर्गुणपदेऽपि । तस्मात् अद्वै-  
ताभिनिवेशापिशाचावेशप्रमत्ततयैवात्र सकलप्रमाणवाक्यविध्वंसनं क्रियते,  
न तु न्याय्यं किञ्चिदुच्यत इत्यलम् ।

एतेन सगुणश्रुतिः अपरब्रह्मविषया । निर्धर्मकश्रुतिविरोधेन विषय-  
भेदस्यावश्यकत्वाद्दत्तेतदपि निरस्तम् । ब्रह्मभेदासिद्धेः । एकत्वाद्  
ब्रह्मणः । निर्धर्मकश्रुतेरभावाच्च । “इदानीं सगुणं दशान्तरे निर्गुणमिति  
वाक्याविरोधः” इति कुकल्पनाऽप्यत एव निरस्ता । निर्गुणवाक्याभा-  
वात् । “सगुणत्वमसि भौमि-निर्गुणत्वमसि” स्वाभाविकनिर्धर्मकत्व-  
श्रुतेर्न विरोधः ।” इतीदमपि पूर्ववदेवासमञ्जसम् । गुणानामौपाधिकत्वा-  
सिद्धेः । इत्युक्त स्वाभाविकत्वश्रवणत् । न चास्मदादाविव भौतिको-  
पाधिकत्वभावेन योगात्त्वव योगार्जितत्वाभावेन च स्वाभाविकत्वो-  
क्तिरिति वाच्यम् । एवं औपचारिकत्वे प्रमाणाभावात् । न च निर्गुण-  
वाक्यस्यैव प्रमाणत्वम् । तदभावस्यासकृदुक्तत्वान् । एकमुपसंहारस्थ-  
मर्थान्तरप्रसिद्धं च निर्गुणपदं न खलु वाक्यन्यायविरुद्धं, स्ववाक्यस्थ-  
पदैः स्वप्रकरणस्थवाक्यान्तरैः प्रकरणान्तरस्थवाक्यशतैश्च उपदिश्यमा-  
नानां गुणानामौपाधिकत्वान्नातिकत्वाद्यापादकं च गुणसामान्यशून्यत्व-  
रूपमर्थं बोधयितुं क्षममिति वितत्य निरूपितम् । अतो निर्गुणवाक्यस्य  
शशशृङ्गायमाणत्वान्न तद्वशेन परब्रह्मगुणानामौपाधिकत्वं भवितुमर्हति ।

यच्च ‘किञ्च निषेध्यसमर्पकतया एकवाक्यतयैव प्रामाण्यसम्भवे न  
वाक्यभेदेन गुणप्रापकता युक्ता’ इति महासाहसिकेनोच्यते तदपि दत्तो-

त्तरम् । साक्षी चेता केवलां निर्गुणश्चेति पूर्वोक्तैः सर्वैर्गुणैर्निर्गुणत्वस्य समुच्चयो हि प्रतीयते । गुणसामान्यशून्यत्वे एकस्मिन् वाक्ये समुच्चयः कथं घटेन । न च धर्मिणि प्रकारत्वेनोपस्थितानां धर्माणां अन्यत्रान्वयः सम्भवी । न हि कुण्डली वासस्वी देवदत्ता निर्द्रव्य आगच्छतीत्युक्ते निर्द्रव्य इत्यनेन धनाभाववत् कुण्डलवाससोरप्यभावः प्रतीयते । सपुत्रः सभार्यश्चैत्रो निस्सहयो गच्छतीत्यत्र वा निस्सहायपदेन मनुष्यान्तराभाववत् पुत्रभार्ययोरप्यभावः । अन्याश्चानुपपत्तयः पूर्वोक्ता अनुसन्धेयाः । किञ्च गुणा ब्रह्मसम्बन्धितया प्रमिता न वा । अत्ये असिद्धानां तेषां निषेधप्रतियोगितयाऽन्वयो न घटते । आद्ये प्रमितानां तेषामसञ्जातविरोधाधत्वेन प्रावल्यात् तदविरोधेन प्रतियोगो नेयः । अत एवापच्छेदन्यायस्यात्रानवकाशः । परस्परनिरपेक्षशास्त्रद्वयविषयत्वात् । उक्तं च

“पूर्वतरबलीयस्त्वं तत्र नाम प्रतीयताम् ।

अन्योऽन्यनिरपेक्षाणां यत्र जन्म धियां भवेत् ॥”

इति ।

यदुक्तं तार्त्त्विकत्वान्यन्तस्य सगुणश्रुत्या आविषयीकरणात्, इति तद् वैदिकेन सता वक्तुं न शक्यते । वेदवाक्यजनिताया धियः स्वतः प्रामाण्याभ्युपगमात् । अद्वैताभिनिवेशसन्निपातज्वरानुपहतानां तत्रातार्त्त्विकत्वकोटेः सर्वथानुन्मेषात् । यच्च ‘शून्यताया अपुरुषार्थत्वात् । आनन्दावाप्तिरूपमुक्तिप्रतिपादकविरोधाच्चेति । तच्चायुक्तम् । वेदप्रमितस्य तत्त्वस्याभ्युपगन्तव्यत्वत् । सगुणाग्निर्गुणं तत्त्वमभ्यर्हितमिति कुतो भवन्त आतिष्ठन्ते । वेदबोधितत्वादिति चेत् स एव चेत् न्यायसहायः शून्यं तत्त्वमवगमयात् तदभ्यर्हिततरमिति हि प्रामाणिकैः परिग्राह्यम् । न तु अपुरुषार्थ इति परित्याज्यम् । आनन्दावाप्तिरूपा मुक्तिश्च कथमद्वैतिनाम् । जीवस्तावत् स्वनाशादेव नानन्दमवाप्नोति । ब्रह्मणश्च निर्विकारत्वात्पूर्वं किमपि न भवति । न चान्यः कश्चिदास्त यो मुक्त आनन्दी



भवति । तस्मादपुरुषार्थरूपमेवाद्वैतम् । तथा शून्यमपि भवितुमर्हति ।

अथ यत् “ज्ञानादीनां स्वरूपतया गुणत्वासिद्धेरिति”, तत्र पृच्छामः सत्यज्ञानानन्दपदानां वाच्यतावच्छेदकं किञ्चिदस्ति न वा । नान्त्यः । वाचकत्वेन घटादिपदानामिव तस्यावरयकत्वात् । स्वरूपमात्रवाचकत्वे पर्यायत्वस्य सर्ववस्तुस्वरूपवाचकत्वस्य चापत्तेः । आद्ये कल्पे तत् किं भावरूपं उताभावरूपम् ? नान्त्यः । प्रतीतिविरोधात् । यथा घटः गौः इत्यादिपदश्रवणे तत्तत्संस्थानविशिष्टव्यक्तिविशेषापस्थितिः तथैव हि एषामपि श्रवणे सत्यत्वज्ञानत्वानन्दत्वात्मकस्वभावविशिष्टवस्तुविशेषप्रतीतिर्भवति । प्रमञ्जापहवप्रवृत्तास्तु बाह्याः अपोहमर्थमातिष्ठन्त । तदनुसारिभिर्भवद्भिः असत्यादिव्यावृत्तिरर्थ उच्यते । स तु प्रतीतिविरुद्धतया नाङ्गीकर्तुं शक्यः ।

तस्मादाद्यः पक्षः परिशिष्यते । तानि च वाच्यतावच्छेदकानि सत्यत्वज्ञानत्वानन्दत्वानि ब्रह्मवृत्तितया तद्गुणा भवन्ति । एवमेवेक्षितृत्वकारणत्वसत्यकामत्वसत्यसङ्कल्पत्वाद्योऽपि । घटापथोऽयं परित्यक्तव्यो भवति अद्वैतकान्तारवांसभिर्भगवद्गुणपाटञ्चरैः । प्रतीतिबलेन हि धर्मधर्मिव्यतिरेकः सिद्धयति । घटत्वमन्यत् तद्वान् घटोऽन्य इति । अग्निस्वरूपमन्यत् तद्गतं दाहकत्वमन्यदिति । तद्वत् ब्रह्मणि सत्यत्वमस्ति । तेन सत्यमुच्यते । एवं ज्ञानत्वाद् ज्ञानम् । आनन्दत्वादानन्दः । एतत्सर्वं ब्रह्मस्वरूपमेवेति चेदुच्यते घटत्वादिमपि घटादिस्वरूपमेवेति कुतो न भवति । इदमिष्टमेवेति चेत् तर्हि वादाधिकारो हीयते । लोकव्यवस्थातिलङ्घनात् । अनतिलङ्घने वा ब्रह्मविषयेऽपि धर्मधर्मिभावः अत एव तद्व्यतिरेकश्चाभ्युपगन्तव्यः । स्वरूपवाद्च्छलेन तु न किञ्चित् सेत्स्यति ।

यदि हि ब्रह्मणि सत्यत्वधर्मो नास्ति तर्हि तत् तुच्छं स्यात् । अविशेषात् । अस्ति । तत्तु स्वरूपमेवेति चेन्न । धर्मधर्मिभावानुपपत्तेः । न

हि स्वरूपे स्वरूपं स्यात् । धर्मधामिभावः कल्पित इति चेन्न । पुनस्तुच्छा-  
विशेषप्रसङ्गात् । तत्रापि कल्पितसत्त्वसम्भवात् । तत्र स्वरूपमेव नास्ति ।  
अत्र त्वस्तीति विशेष इति चेत् अनेन किमुक्तं भवतीति विमर्शनीयम् ।  
ब्रह्मस्वरूपमस्तीति किं सत्तायोगीत्यर्थं इष्यते उतनेष्यते । आद्ये धर्मवत्त्व-  
मङ्गीकृतमित् सिद्धं नः समीहितम् । तथा चाद्वैतं विप्रवास्यम् । अन्त्ये  
तुच्छाविशेषस्तदवस्थः । तस्मात्स्वरूपातिरिक्तगुणवत्त्वं ब्रह्मणोऽवर्ज-  
नीयम् । “अस्माकमपि ब्रह्मातिरिक्तगुणसद्भावप्रद्वेषात् । अभेदे गुणगुण-  
भावस्य पारिभाषिकत्वात्” इति वदता भवता वस्तुतः सत्यज्ञानादि-  
रूपत्वं ब्रह्मणः पारिभाषिकमेवेत्यङ्गीकृतं भवति । तथा च तुच्छत्वैव  
ब्रह्मण इत्यास्तां तावत् ।

अथ यदुक्तं—“य आत्माऽपहतपाप्मा...सत्यकामः सत्यसङ्कल्प  
इन्द्र्यत्र अपहतपाप्मत्वादीनां स्वरूपतया जिज्ञास्यकोटिप्रवेशोऽपि सत्य-  
कामत्वादीनां स्वरूपबहिर्भावेन जिज्ञास्यत्वायोगात् तच्छब्देन तेषामपरा-  
मर्शात् । यच्चित्रगुर्लम्बकर्णश्च तमानयेत्यादौ योग्यविशेषणस्यैव तच्छ-  
ब्देन परामर्शदर्शनात् । अस्वरूपत्वे तेषामप्यपरामर्शं विशेष्यांशमात्रपरा-  
मर्शः । यच्चित्रगुर्बहुधनस्तमानयेत्यादिवत् ।” इति, तदसत् । यदि  
चित्रगुत्वस्य तच्छब्देन न परामर्शः तर्हि अचित्रगुरप्यानीयेत । न चैवं  
सत्यादेशोऽनुष्ठितो भवति । तत्कस्मात् ।

इदं त्वत्र तत्त्वम् । तच्छब्दपरामर्शं उभयोर्वाविशिष्टः । उभयोर्वापि  
ऋचावर्तकत्वात् । पृथक्स्थितियोग्यत्वायोग्यत्वाभ्यां तु एकस्य आनयना-  
न्वयायामनन्वयः । अन्यस्यानन्वयश्च । चित्रगोस्वामित्वस्यैव पदगम्यत्वात्  
तस्यापि तदानीमन्वयोऽस्त्येव । परं तु अयमन्वयो वाऽनन्वयो वा न  
तात्पर्यविषयः । आनेयोपलक्षणत्वेन तात्पर्यविषयत्वं तूभयोर्वाविशिष्टम् ।  
अवर्जनीयत्वात् कर्षस्यानन्वयः । वर्जनीयत्वात्तु गवामनन्वयः । यत्र  
तु एवं निश्चायकं किमपि नास्ति तत्र संशयो भवति । यथा यः पुत्रवान्

तमानयेत्युक्ते पुत्रोऽप्यानेयो न वेति । वाक्यान्तरेण च तस्य परिहारः । एवमानयनक्रियां प्रति एषां विशेषणानां विशेषे सत्यपि आनयनाक्षिप्तं यत् तत्पूर्वभावं आनेयज्ञानं तदुपयोगित्वे विशेषाभावात् सर्वेषामेषां तच्छब्दपरामृश्यत्वमस्त्येवेति ।

प्रकृते तु अपहृतपाप्मत्वादिवाक्ये अन्वेष्टव्यः, विजिज्ञासितव्यः, इति ज्ञेयत्वमेवाच्यते, न तु क्रियान्तरकर्मत्वम् । तत्र च भावाभावरूपस्य सर्वस्य गुणस्य ज्ञेयत्वापत्तोः वैषम्ये न कश्चन हेतुरस्ति । ननु उद्देश्यतावच्छेदके विधेयान्वयो भवता नेष्यते । घटा नील इत्यत्र घटत्व-विशिष्टबाधेऽपि नीलत्वं विशेष्यमात्रान्वयीति वाक्यस्य यथाश्रुतार्थस्यापपन्नत्वापवादान् । अपहृतपाप्मत्वादेः सत्यकामत्वादेश्च तच्छब्देन परामर्शोऽपि उभयोः केवलमुद्देश्यतावच्छेदकत्वात् कथमन्वेष्टव्यत्वादीति चेन्न । शब्दमयोदया तदलाभेऽपि स आत्मा कथं जिज्ञासितव्य इत्याकाङ्क्षायां एभिरेव गुणैर्विशिष्टतया जिज्ञासितव्य इत्युपस्थितबलेनावधारणात् ' एनांश्च सत्यान् कामान्' इति विधिश्रवणाच्च ।

यस्त्वत्र अपहृतपाप्मत्वादेः स्वरूपता, सत्यकामत्वादेस्तु स्वरूपबहिर्भावं इति कश्चन विशेषः कल्पितः सः निनिबन्धनः । उभयोरविशेषेण आत्मधर्मत्वश्रवणात् । अभावस्याधिकरणात्मकत्वादिति चेत् भावरूपस्यापि धर्मस्य तत् कुतो नाङ्गीक्रियते । अधि करणःतिरिक्तः अभावो नाम कश्चन पदार्थो न प्रतीयते । भावरूपस्तु प्रतीयते । अतो विशेष इति चेत् तेन कथमधिकरणात्मकत्वम् । 'भावान्तरमभावाऽन्यो न कश्चिदतिरूपणात्' इत्युक्तीत्या तदधिकरणवृत्तिभावधर्मान्तरात्मकत्वस्यापि सुखचत्वेन अधि करणात्मकत्वनियमासिद्धेः । तथा चाभावस्वरूपं किमात्मकमिति विमर्शस्तावत् कामं भविनुमर्हति । तस्य धर्मविशेषणत्वं तु सर्वसम्प्रतिपन्नम् । तेन स्वसमानाधि करणधर्मान्तरस्येव वा पूर्वज्ञानवृत्तित्वादिर्विशिष्टान् घटाद् घटस्येव वाऽस्वाधिकरणात् तस्य भेदोऽपि सिद्धः ।

अन्यथा अपहतपाप्मत्वमिति वाच्यम्, न त्वपहतपाप्मेति । तेनास्यापि गुणस्य स्वरूपब्राह्मिवांऽपरिहार्यः । स्वरूपातिरेकेऽपि ज्ञेयत्वं न विहन्यते । शास्त्रांपदिष्टत्वात् ।

ननु सत्यकामत्वाद्दकमाविद्यकम् । अविद्यानिवर्तकज्ञानविषयत्वं तस्य कथं घटत इति चेत् अद्वैतप्रक्रियारक्षणार्थं सत्यकामत्वादेर्गुणा-  
तस्याज्ञेयत्वं अतात्त्विकत्वं अविद्यासिद्धत्वमित्यादिकमभ्युपगन्तव्य-  
मित्युक्तं भवति । तथा च प्रमाणतोऽद्वैतसिद्धिदुर्लभा । तदभिनिविष्टैः  
सर्वप्रमाणप्रामाण्यसिद्धिः परं सम्पाद्यत इति सृग्धयामतिरोहितमेतत् ।  
अपहतपाप्मत्वादिवत् सत्यकामत्वादयोऽपि ब्रह्मस्वरूपगता एव गुणाः ।  
तद्विशिष्टमात्मशब्दितं ब्रह्म 'य आत्माऽपहतपाप्मे'त्यादिनाऽनुवादसरूपेण  
वाक्येनोपदिश्य 'सोऽन्वेष्टव्यः स त्रिजज्ञासितव्यः' इति तस्यैव यथावद्  
ज्ञानपूर्वकमुपास्यत्वं विधीयते । तस्य चाद्वैतं सदेव सोम्येदमित्यादिषु  
श्रूयते । अतः सर्वप्रमाणाविरोधित्वात् सर्वप्रमाणस्वरससिद्धत्वाच्च  
विशिष्टस्याद्वैतं शास्त्रप्रमेयम् । न तु शुद्धचैतन्यस्य । तद्वैपरीत्यादिति  
अनभिनिविष्टानां तत्त्वोपलम्भप्रवणानां सतां सुगमम् ।

एतेन सगुणोपासनस्य साक्षान्मुक्तिसाधनत्वाभावं निर्गुणज्ञानस्य  
तत्त्वं चेच्छ्रुता यदुक्तम्—'यद्यपि नास्याब्रह्मवित् कुले भवतीत्यादि-  
फलान्तरश्रवणं निर्गुणज्ञानेऽपि । स्तुत्यर्थतयोपपादनमपि समानम् । संयो-  
गपृथक्त्वेन उभयफलत्वांक्तिरपि समाना । तथापि अधिष्ठानतत्त्वावगा-  
हित्वाभ्यां निर्गुणसगुणज्ञानयोर्विशेषात्, सगुणज्ञानजन्यमुक्तेरवान्तरमु-  
क्तित्वाच्च ।' इति तदपि निरस्तम् । निर्विशेषासिद्ध्या विशिष्टज्ञानस्य  
तत्त्वावगाहित्वात् । निर्गुणज्ञानस्यातत्त्वावगाहित्वेन निष्फलत्वात् प्रत्युत  
योऽन्यथा सन्तमात्मानमिति न्यायेन विपरीतफलत्वाच्च ततो मुक्तिलाभ-  
कथाया दूरनिरस्तत्वात् ।

यदपि 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' इति गुणविशिष्टस्य

उपास्यस्य ब्रह्मत्वं निषिद्धमिति तदुपनिषदर्थस्य यथावद्ग्रहणाशक्ति-  
विजृम्भितम् । कात्स्न्येन ब्रह्मज्ञानमिच्छतः शिष्यस्य तमभिर्निवेशं उप-  
शमय्य “वागादीनि अस्मदीयानि ज्ञानेन्द्रियाणि कृत्स्नब्रह्मावबोधना-  
क्षमाणि । कात्स्न्येन ज्ञातुमशक्यमित्येव ब्रह्म अस्माभिर्ज्ञेयम् ।” इत्या-  
चार्य उपदिदेशेति उपनिषदियमाह ।

“यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमाविजानताम् ॥”

इत्युपरितनेन मन्त्रेणेदं स्पष्टम् । अन्यदेव तद् विदितादित्यस्यायमर्थः ।  
घटपटादिकं प्रत्यक्षदृष्टं यथाऽस्माकं सुविदितं तथा ब्रह्म न विदितम् ।  
अतो विदितादन्यत् । यथा अत्यन्तासद्भस्तु सर्वात्मना अविदितं तथा  
तदविदितं न भवति । वेदेन आचार्योपदेशेन च ज्ञातमानत्वात् । अतः  
अविदितादन्यत् । अयमर्थः ‘नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च’  
इति मन्त्रांतरेण स्पष्टमुक्तः । सुवेदेति अहं न मन्ये । न वेदेति च न  
मन्ये । अनेन प्रकारेणाहं तद्वेद च’ इत्यस्यार्थः । एतेन स्वप्रकाशत्वप्रति-  
पादनपरोऽयं अन्यदेव तद्विदितादिति मन्त्रभाग इति निरस्तं वेदि-  
तव्यम् । इदमेव विव्रियते यद्वाचाऽनभ्युदितमित्यादिभिर्मन्त्रैः । यद्  
वागादिभिरिन्द्रियैः कृत्स्नतया प्रकाशायतुं न शक्यं, किञ्च यद् वागादी-  
नामधिष्ठातृ, तदेव ब्रह्मेति त्वं जानीहि । यत् इदमिति परिच्छिन्नतया  
उपासते, परिपूर्णं ब्रह्म विदितमिति मन्यमाना मूढा उपासते, इदं ब्रह्मेति  
त्वं न विद्धि, इत्येषां मन्त्राणामर्थः । इन्द्रियाणि परिच्छिन्नवस्तुमात्र-  
ग्रहणक्षमाणि । वागादिस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिकारणभूतं ब्रह्म तु सर्वपरिच्छे-  
दशून्यम् । अतस्तानि एतद्ग्रहणे न प्रभवन्ति । तस्मात् कारणभूतं  
अपरिच्छिन्नं ब्रह्म अस्माभिः कात्स्न्येन ज्ञातुमशक्यमिति विद्धीत्युक्तं  
भवति । एवं सति गुणविशिष्टस्योपास्यस्य ब्रह्मत्वमत्र निषिद्धमिति वदन्  
कथमुपादेयवाक् भवेत् । न खल्वेषां मन्त्राणामयमर्थो भवति । नापि सङ्गति-

रस्यार्थस्यात्र विद्यते । तस्माद्विशिष्टैवात्र ब्रह्मत्वमुपदिश्यत इति ज्ञेयम् ।

एवं प्रमाणवाक्यानि सर्वाणि सगुणब्रह्मबोधकान्येव । निर्गुणबोधकन्तु एकमपि नास्ति । न च सम्भवतीत्युक्तम् । अथ 'सगुणत्वेऽनुमानान्यपि द्वैतिभरुक्तानि । तानि दूषयन्नाह—“एष्वनुमानेषु धर्मिपदस्वपदयोर्येत्किञ्चिद्भ्रमिर्नयत्किञ्चित्सम्बन्धिपरत्वे घटादिसमसत्ताकर्काल्पतधर्मवत्त्वेन सिद्धसाधनम् । ब्रह्मपरत्वे साध्याप्रसिद्धिः । घटादिधर्मे ब्रह्मसमानसत्ताकत्वादेरप्रसिद्धेः । न च दृष्टान्ते साध्यनिरूपणे तदेव धर्मी । पक्षे तन्निरूपणे ब्रह्मैव धर्मी । धर्मिपदस्वपदादीनां समभिव्याहृतपरत्वादिति वाच्यम् । शब्दस्वभावोन्यासस्यानुमानं प्रत्यप्रयोजकत्वात् । स्वरूपपदस्याप्येवमेव ब्रह्मपरत्वे साध्याप्रसिद्धिः । घटादिपरत्वे सिद्धसाधनम् । समभिव्याहृतपरत्वस्य शब्दस्वभावस्यानुमानं प्रत्यप्रयोजकत्वमिति दूषणं पूर्ववत् ।” इति । तदेतन् किं स्वप्रयुक्तमनुमानं विस्मृतवता उक्तं अथवा अनृजुशीलतर्येति न विद्मः । विवरणोक्तं हि भावरूपाज्ञानानुमानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तैर्यादिस्वपदघटितसाध्यकमेव । अत्रोक्तं दूषणं तत्र कुतो न भवति । स्वकीयेषु चानुमानेषु परमार्थसत्त्वं स्वसमानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोग्यवृत्तीत्यादिषु स्वपदघटनं क्रियते । तस्मादेवमनुमानदूषणं दूषकस्य दूषणं भवति । किमधिकेन ।

यत्तु निर्गुणत्वसाधकमनुमानं—अनुभूतिनिर्विशेषा अनुभूतित्वात्, यन्नैवं तन्नैवमिति । तत्र अनुभूतित्वरूपविशेषवत्त्वं अनुभूतेरङ्गीक्रियते न वा । आद्ये बाधो दोषः । अन्त्ये हेतोरसिद्धिः । वह्निनिर्विशेषः वह्नि-त्वादिति व्यतिरेक्याभाससाम्यं च । निर्विशेषत्वबोधकमेकमपि श्रुति-वाक्यं नास्तीति निरूपितत्वात् । किञ्च निर्विशेषत्वं नाम अनुभूतित्वरूपा-तिरिक्तो विशेषो न वा । आद्ये तेनैव सविशेषत्वात्तत्र निर्विशेषत्वम् । अन्त्ये अनुभूतित्वरूपे विवादाभावात् न किञ्चित्साध्यमस्ति । अनु-

भूतिस्वरूपस्य निर्विशेषत्वरूपेण ज्ञानमुद्देश्यमिति चेन्न । स्वरूपातिरिक्तस्य निर्विशेषत्वरूपस्याभावेन अनेन रूपेण स्वरूपज्ञानमिति वचसोऽशून्यत्वात् । यत्र हि स्वरूपातिरिक्तं रूपमस्ति तत्रैवं व्यवहारो भवति । घटा घटत्वेन ज्ञायते द्रव्यत्वेन ज्ञायते इत्यादिः । यस्य तु यः कोऽपि विशेषो नास्ति तस्य कथं पूर्वमज्ञातेन केनाचिद्रूपेण ज्ञानं भवितुमर्हति ? स्ववाग्विधमप्यजानन्तो भवन्तो वृथा वादाडम्बरं कुर्वन्ति ।

किञ्च अप्रयोजकमिदमनुमानम् । न च भिन्नत्वे अभिन्नत्वे सम्बद्धत्वे असम्बद्धत्वे चातिप्रसङ्गानवस्थाभ्यां धर्मधर्मिभावानुपपत्तिरिव विपक्षे बाधक्रेतव्यम् । बौद्धोपज्ञस्यास्य कुतर्कस्य वेदान्ताभिर्निरसनीयत्वात् । अभिन्नत्वं तावन्नाभ्युपगम्यते । भिन्नत्वं तु इष्यते एव । धर्मधर्मिभावस्य तद्व्याप्यत्वात् । न च भिन्नयोर्धर्मधर्मिभावे घटपटयोः मेरुह्यमाचलयोर्वा तदापत्तिः । न हि भेदे सति धर्मधर्मिभावानवस्थाऽभ्युपगम्यते । अपि तु धर्मधर्मिभावे सति भेदानयमः । सम्बन्धोऽपि अतिरिक्तो नैष्यते । गुणगुणानौ जातिव्यक्ती इत्यादिकं स्वभावत एव परस्परं सम्बद्धमुपलभ्यते । तावता धर्मधर्मिभावः । अतिरिक्तसम्बन्धानभ्युपगमाज्ञानवस्था । असम्बन्धेऽपि धर्मधर्मिभावेऽतिप्रसङ्गस्तु तत्तद्धर्मधर्मिस्वभावविशेषात् परिहृतः । कोऽसौ सम्बन्ध इति चेत् अपृथक्स्थितिरिति गृह्यताम् । अतश्च धर्मधर्मिभावानुपपत्तेः विपक्षबाधकतर्कस्य विरहादप्रयोजकमनुमानम् ।

यच्च साध्यप्रसिद्धयेऽनुमानान्तरमुक्तं—विशेषत्वमभावप्रतियोगिताः वच्छेदकं, अभावप्रतियोगिसामान्यवृत्तित्वात्, घटत्ववन्, इति, तत्पदार्थत्वमभावप्रतियोगितावच्छेदकं अभावप्रतियोगिसामान्यवृत्तित्वान् घटत्ववन् इत्येतत्तुल्यम् । विशेषत्व उक्तसाध्यवन्न, सकलपदार्थवृत्तित्वत्वात् मेयत्वत्ववन् इति प्रतिसाधनं च । न चासिद्धिः । पदार्थत्वेन सर्वस्य विशेषवत्त्वसाधनात् । किञ्च अभावपदेन किं विशेषभावो विव-

हितः अथवा घटाभावः अथवा सामान्यताऽभावः । आद्ये साध्या-  
प्रसिद्धिः । दृष्टान्ते तदसिद्धेः । द्वितीये बाधः । पक्षस्य घटाभावप्रति-  
योगितावच्छेदकत्वः भवति निश्चयान् । तृतीयेऽप्येवं समानम् । विशेष-  
णत्वस्य अभावसामान्यप्रतियोगितावच्छेदकत्वाभावनिश्चयान् । घटत्व-  
स्यापि तथात्वनिश्चयान् दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यञ्च । न च कथञ्चिदनु-  
गमः । शब्दस्वभावस्यानुमानं प्रत्यप्रयोजकत्वस्य त्वयैवोक्तत्वात् ।

अथ निर्विशेषे किं प्रमाणमिति चोद्यं समादधता यदुक्तम् स्फूर्त्यर्थं  
वा अज्ञाननिवृत्त्यर्थं वा प्रमाणप्रश्नः ? आद्ये स्वप्नहाशतया प्रमाणं यथ्यम् ।  
द्वितीये उपनिषद् एव प्रमाणत्वमिति, तत्र ब्रूमः । स्वप्नहाशस्यात्मनः  
अहमिति यत्स्फुरणं ततोऽतिरिक्तं स्फुरणं तावन्नास्ति । तत्तु ज्ञातृभोक्तृ-  
विषयमेव । न तु निर्विशेषविषयम् । न च तत्र विषयान्तरभानेऽपि  
निर्विशेषस्वरूपमपि भावति वाच्यम् । विशेषैः सह भासमानस्य निर्वि-  
शेषत्वायोगात् । अतो निर्विशेषस्फुरणे किञ्चित्प्रमाणं वाच्यमेव । तत्तु  
नैवास्ति । अज्ञाननिवर्तकं प्रमाणमुपनिषदित्यापि न । येन केनाप्युपनिष-  
द्वाक्येन निर्विशेषस्यानुक्तेः । विस्तरेणोपपादितञ्चैतन् । अतोऽत्यन्तःप्रा-  
माणिकमेव निर्विशेषं वस्तु ।

यदुक्तं—“वृत्तिमन्तरेणापि सुप्तोत्थापकवाक्यस्येव वेदान्तवाक्यस्य  
निर्विशेषे प्रामाण्यस्य वानिककृद्भिरुपपादितत्वाच्चे”ति तदशक्यरक्षणा-  
द्वैतरक्षणसंरम्भाधीनाविवेकविलसितम् । हस्तगतानुप्रसङ्गः दद्यात्तुभोपा-  
दिद्वन् ध्वनिमात्रेण हि वाक्यं सुप्तोत्थापने उपयुज्यते । न तत्र शाब्दबो-  
धोऽस्ति यावत्प्रबोधम् । प्रवृद्धस्तु याद वाक्यं शृणोति, सम्बन्धज्ञानपुर-  
स्सामेव वाक्यार्थं जानाति । तस्मान् “सगुणत्वे सायकाभावान् बाधक-  
सत्त्वाच्च निर्गुणत्वे तदभावान् निर्गुणमेव ब्रह्मेति सिद्धम्” इति निगमनं  
तत्र भवतः ‘सर्वार्थान् विपरीतांश्च’ इति भगवत्सन्नित्तुद्विविशेषवैभवाधी-  
नमित्यत्र कस्य ऋजुबुद्धेः सन्देहो भवितुमर्हति ।



समस्तहेयप्रतिपन्नता च समस्तकल्याणगुणाढ्यता च ।  
समस्तवेदावगता यदीया समस्तभव्यप्रद एषमेऽस्तु ॥

### ३. निराकारत्वम् ।

परस्य ब्रह्मणः पुरुषोत्तमस्य गुणापह्वानन्तरं विग्रहापह्ववे ऽवृत्तः यथाशीलं प्रमाणवाक्यानि अपार्थे योजयति । 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् । आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।' इति निविशेषवर्णादभ्यञ्चपेटां ददताव श्रुतिः तमसः परस्तात् देदीप्यमानं आदित्यवर्णं महान्तं पुरुषमहं वेदेत्याह । प्रकृतिमण्डलमतीत्य वर्तमाने दिव्यलोके आदित्यवर्णेन वपुषा विभ्राजते सर्वेश्वरेश्वर इति घोषणमिह क्रियते । स्वरसवाहिनमिमं मुख्यार्थं अद्वैतविरुद्धतया उपेक्षमाण आह—'आदित्यवर्णमित्यस्य अविद्याविलक्षणस्वप्नकाशस्वरूपप्रतिपादनपरतया उपास्यपरतया वा उपपत्तेः । न च तमसः परत्वोक्त्या उपासनापरत्वानुपपत्तिः । उपास्यविग्रहोपलक्षितस्य तमसः परत्वोक्तेः, न तु रूपविशिष्टस्य ।' इति । अत्र प्रथमपक्षे तमसः परस्तादित्यस्य तमोऽवधिकपरत्वशालिप्रदेशवाचिनः अविद्याविलक्षणत्वे, आदित्यवर्णमित्यस्य स्वप्नकाशत्वे, पुरुषपदस्य स्वरूपे च लक्षणादोषः स्पष्टः । द्वितीयेऽपि 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति साक्षान्मुक्तिफलविद्याविषयत्वे श्रूयमाणे तादृतरफलोपासनाविषयत्वकल्पनं तमसः परस्तादित्यस्य रूपाविशिष्टान्वये स्वरसतः प्रतीयमाने तदुपलक्षितान्वयकल्पनं च दोषः । परस्तादित्यस्य देशवाचित्वान् तस्य स्वरूपेऽन्वयासम्भवात् योग्यार्थान्तरे लक्षणा चाश्रयणीया । एवञ्चात्रापि अद्वैतानुरोधेन श्रुतेर्न्ययनं क्रियते न ह्यश्रुत्यनुरोधेन तत्त्वनिर्णयः क्रियत इति स्पष्टम् ।

य एषाऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यत इति श्रुत्या सूर्यमण्डलस्यान्तः विज्ञानगुणरूपाविशिष्टः परमात्मा वर्तत इति स्पष्टम् । आह च भाष्यकार एवान्तरश्रिकरणे—'यत्तत्तं हिरण्यश्मश्रुत्वादिरूपश्रवणं पर-

मेश्वरे नोपपद्यत इति । अत्र ब्रूमः । स्यात्परमेश्वरस्यापि इच्छावशान्मा-  
यामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम् ।” इति । एवं तदेवानुप्राविशन् इत्यनुप्रवे-  
शश्रवणात् विमुना स्वरूपेण तद्व्यांगान् विग्रहविशेषद्वारैव तद्वाच्यम् ।  
एतद्विशिष्टोऽस्मद्भूदये स्थित एव हार्द इत्युच्यते । ‘सदा जनानां हृदये  
सन्निविष्टः’ ‘स यश्चायं पुरुषे’ इत्यादिभिः श्रुतिभिः स एवाभिप्रेतः ।  
हार्दानुगृहीत इति सूत्रकारश्च वदति । ‘हृदयालयेन ब्रह्मणा’ इति भव-  
द्भाष्यं च तत्र । एवमनुप्रवेशार्थापत्त्या रूपविशेषे सिद्ध्यति “स्वसृष्ट-  
कार्याभिव्यक्तत्वस्यैवानुप्रवेशशब्दार्थतया व्यापकस्य मुख्यप्रवेशासम्भ-  
वान्” इति तन्निरसनव्यसनितयाऽसङ्गतं किमप्याह । व्यापकस्य मुख्य-  
प्रवेशासम्भवादेव हि मुख्यप्रवेशोपपादकं रूपं सिद्ध्यतीत्युच्यते । एवं  
वदन्तं प्रति व्यापकस्य मुख्यप्रवेशासम्भवादित्यभिधानं कथं सङ्गतं  
भवेत् । अपूर्वकल्पनन्यायेन च रूपकल्पनं ह्यत्र प्राप्तम् । एवं मुख्यार्थ-  
सम्भवे लक्षणा न न्याय्येति चाभ्युपगन्तव्यम् । तदस्य तात्त्विकस्थार्थस्य  
प्रतिक्षेपाय कमपि युक्त्याभासमप्यप्रतिपद्यमानः व्यापुर्ध्वं किमपि लिलेख ।  
अत एव ‘व्यापकस्य मुख्यप्रवेशासम्भवेन स्वसृष्टकार्याभिव्यक्तत्वस्यानु-  
प्रवेशशब्दार्थत्वान्’ इति लेखनीये विपरीतलेखनमापतितमिति ज्ञेयम् ।

एवं ब्रह्मविदाप्रोति परामात श्रुतप्राप्त्यर्थापत्त्याऽपि देशविशेषे स्वासा-  
धारणविग्रहविशिष्टतया ब्रह्मणोऽवस्थानं सिद्धम् । उपचारेणार्थान्तर-  
कथने प्रमाणाभावान् । अन्यथाऽद्वैतं न सिद्ध्यतीति तु भवता वाच्यम् ।  
कथं नाम इतरथा “स्वतः प्राप्तस्याऽपि आविद्यातिरोधाननिवृत्त्यपेक्षया  
प्राप्यत्वापचारेण विग्रहानाक्षेपकत्वात्” इति निश्शङ्कमुच्यते । मुख्यार्थ-  
परित्यागेन उपचाराश्रयणे न खलु किमाप बाजं भवता वक्तुं शक्यम् ।  
तमेवं विद्वानमृत इति सविग्रहोपासनफलमुक्तेः क्रममुक्तित्वोक्तिः साक्षा-  
न्मुक्तित्वपक्षे तदुपलक्षितात्मज्ञानस्यैव मोचकत्वोक्तिश्च पूर्ववदेव अप्रामा-  
णिकी । आभिमानिकाद्वैतसङ्गेन प्रमाणवचनानि निर्दयं विनाश्यन्त इति

मन्ये स्वदृश्यमेव भवन्तं भवादृशांश्च व्यथयति । अत एव हि वंशीवि-  
भूषितकरादित्यनुपदं भवतः रूपविशेषाविशिष्टभगवत्स्मरणप्रवृत्तिः ।  
भवत्सिद्धान्तमनुसृत्य तु तत्र चतुर्थः पादः 'कृष्णात्परं किमपि नाहम-  
वस्तु जाने' इति पठनीयः । एवं तमसः परस्तादादित्यवर्णरूपं, आदित्य-  
मण्डलान्तर्वर्ति रूपं, हार्दरूपं, अजायमानो बहुधा विजायत इति श्रुतं  
अवताररूपं इति सुवहूनि भगवतो रूपाणि । इमानि परिच्छिन्नानि ।  
स्वरूपवदेव अपरिच्छिन्नमपरं रूपमस्ति, यदर्जुनेन दृष्टं, 'देवा अप्यस्य  
रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षणाः' इति भगवतैव वर्णितञ्च ।

यस्तु भगवद्विग्रहं प्रांत विकल्पः भौतिको वा अभौतिको वेत्यादिः,  
तत्र ब्रूमः । अभौतिकः अमाधिकः ब्रह्मांभन्नश्चेति । न चात्र नेति  
नेतीतिश्रुतिविरोधः । तस्याः प्रकृतैतावत्त्वप्रतिषेधमात्रत्वस्य पूर्वमुक्त-  
त्वात् । न चापाणिपादमिति श्रुतिविरोधः । तस्याः 'अनेजदेकं मनस्ये  
जवीयः' 'तद्भावतोऽन्यानत्येत तिष्ठन्' इतिवन् स्वरूपवैभवपरत्वात् ।  
तस्य स्वरूपं हि पाणिपादरहितम् । अथाऽपि सः जवनो ग्रहीता । अति-  
वेगेनापि यो धर्वाति तस्यापि स्वयं वेगवत्तरः सन् ग्रहीता भवति । यत्र  
यत्र स धर्वाति तत्र तत्र वर्तमानत्वान् । तदनेन स्वरूपस्य सर्वव्यापित्व-  
मुच्यते । अतो विग्रहवत्त्वस्य नानेन विरोधः । न च परविद्याविषयस्य  
विग्रहवत्त्वप्रतिपादनविरोधः । 'उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः, य एवं  
वेद' इति सर्वपापक्षयरूपमुक्तिफलतया परविद्यारूपान्तरादित्यविद्या-  
विषयस्य रूपवत्त्वश्रवणात् ।

भगवद्रूपेषु च कानिचित्प्रादुर्भावतिरोभाववन्ति । 'तद्विष्णोः परमं  
पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' इति परमे व्योम्नि नित्यसूरिभिः सदाऽनुभूय-  
मानं तु सर्वरूपान्तरप्रकृतिभूतं रूपं नित्यम् । सदा पश्यन्तीति श्रवणात् ।  
सर्वाण्यपि वा नित्यानि कामं भवितुमर्हन्ति । यत्तु भगवद्विग्रहो न  
नित्यः, महत्त्वे सति रूपवत्त्वान्, विग्रहत्वाद्वा इत्यनित्यत्वानुमानं

तदागमबाधितम् । सदा पश्यन्तीति श्रवणात् । न चास्यान्यथासिद्धिः  
सुबचा । प्राकृतत्वमुपगधिश्च । न च साधनव्यापकत्वम् । 'तमसः परस्तात्,  
तमसः पराके, त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति प्रकृतिमण्डलानिक्रमश्चक्रेण  
तस्य सर्वस्यः प्राकृतत्वस्यावधारितत्वान् । एतेन सावयवत्ववहेतुरपि  
निरस्तः । आगमेन बाधान् । सोपाधिकत्वाच्च । अन्यथा जगत्स्रष्टा  
जीवः, कर्तृत्वान्, कुलालवदित्याप साधु स्यान् । न चानादेर्भावस्या-  
नित्यता भवितुमर्हति । क्वचिदप्यदर्शनान् । अत एव भवतां अनादि-  
भावरूपज्ञाननिवृत्त्यभिधानमयुक्तमेव ।

भगवद्विग्रहवत् तल्लोका अपि नित्याः । 'अतो हि वैष्णवा लोका  
नित्यास्ते चेतनात्मकाः' 'मत्प्रसादान् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि  
शाश्वतम्' इत्यादिभ्यः । यत्त्वत्र 'एषामवन्तरप्रत्ययस्थत्वमरत्वान्न  
स्त्रिगोध' इत्युच्यते तन्तदा शोभेत यद् प्रमाणवचनानि सर्वाणि भवदा-  
ज्ञापरतन्त्राणि स्युः । तानि हि विना कारणं उपचारवादप्रवृत्तं कुटिल-  
हृदयं मन्यमानानि तमवज्ञाय स्वमुख्यार्थपराण्येव भवन्ति सुजनमनां-  
सीव । तस्मात्

वैकुण्ठे तु परे लोके श्रिया सार्धं जगत्पतिः ।

आस्ते विष्णुरचिन्त्यात्मा भक्तेर्भार्गवतैः सह ॥

इत्युक्त्वात्त्या दिव्याद्भुतविग्रहविशिष्ट एव भगवानिति सिद्धम् ।

#### ४. ज्ञानत्वादि ।

निर्विशेषस्य कथं ज्ञानत्वमिति चेत् तदुपपादयन्नाह -- अर्थप्रकाश-  
त्वेमेव ज्ञानत्वम् । मुक्तावर्थाभावेऽपि तत्संसृष्टप्रकाशत्वस्य कदाचिदर्थ-  
सम्बन्धेनाप्यनपायान्, इति । इदमयुक्तम् । निर्विशेषस्य निर्विषयकत्वे-  
नार्थप्रकाशत्वाभावात् । वृत्त्यवच्छिन्नस्य सावषयत्वं भवतीति चेत्  
कथम् । निर्विकारं हि तत् । वृत्तिः कथं तन्न कञ्चन विकारगुत्पादयेत् ।  
अतो वृत्तिदशायामपि निर्विशेषस्य ज्ञानत्वं नास्ति । मुक्तौ वृत्तिसामान्य-

विरहात् नतराम् । तत्र अतीतेनापि विषयसम्बन्धेन यदि ज्ञानत्वं भवति तर्हि पटप्रकाशस्यापि पूर्वज्ञातघटप्रकाशत्वेन घटज्ञानत्वमपि स्यात् । न च वृत्तिभेदेन नियमः । मुक्तौ वृत्तिसामान्यविरहेऽपि ज्ञानत्वस्येष्यमाणत्वेन अमुक्तिदशायामपि वृत्तोर्ज्ञानत्वाप्रयोजकत्वात् । प्रयोजकत्वे वा मुक्तौ ज्ञानत्वं न स्यात् । वृत्तेरभावात् ।

किञ्च अविद्याकाल्पतार्थसम्बन्धायत्तं यदि ब्रह्मणो ज्ञानत्वं तर्हीद-  
मौपाधिकं स्यात् । न च सत्यं ज्ञानामत्युपदिश्यमानस्य ज्ञानत्वस्यौपा-  
धिकत्वे किञ्चन प्रमाणमस्ति । अतः स्वतः प्राप्तस्य स्वाभाविकत्वस्य  
विघातो यथा न भवति तथा एतद्वाक्यबोधयतस्त्वरूपमवधारणीयम् ।  
स्वाभाविकसत्यत्वसमभिव्याहाराच्च तथात्वं ज्ञानत्वस्य प्रतीयते । अतः  
स्वत एवार्थप्रकाशरूपत्वं ब्रह्मणो वाच्यम् । कस्यार्थस्य स प्रकाश इति  
चेत् स्वस्यैव । ब्रह्म हि स्वात्मानं स्वयं गृह्णाति अहमिति । अतस्तद्  
ज्ञानम् । अत एव स्वस्य वा परस्य वा यः प्रकाशः तद् ज्ञानमिति ज्ञान-  
लक्षणम् । अत एव च अर्थो नास्ति, ज्ञानन्तु अस्तीति व्याहृतं वचः ।  
अर्थाभावात् तदनवगाहित्वेन मुक्तौ ज्ञानत्वं नास्तित्येव तु पर्यवस्यति ।  
तदेवमद्वैतमते मुक्तौ ज्ञानत्वं दुर्घटमेव ।

एवमानन्दत्वमपि ! तद्धि निरुपाधिकंष्टत्वरूपमभ्यते । मुक्त्यव-  
स्थायां कस्य निरुपाधिकेष्टं ब्रह्म । न तावत् स्वस्य । स्ववेद्यत्वानभ्युपग-  
मात् । नापि परस्य । तदानीं तदभावात् । यत्तु 'मुक्तावच्छापायेऽपि  
नानन्दापायापत्तिः । इष्टत्वापलाक्षितस्य स्वरूपस्यानपायात् । उपलक्ष्ये च  
तदवच्छेदकसत्त्वस्यातन्त्रत्वात्' इति तन्न । निरुपाधिकेष्टत्वं हि आन-  
न्दत्वमुक्तम् । तत्र तादृशेष्टत्वापलाक्षितं स्वरूपमित्युक्ते आनन्दत्वापलाक्षितं  
स्वरूपमित्येवोक्तं भवति । तथा च ज्ञानत्वमिव आनन्दत्वमपि मुक्तौ  
नास्तीति पर्यवस्यति । तेन जडमनानन्दात्मकं च तदा ब्रह्म भवेत् ।  
उपलक्षकधर्माणामपि तत्तद्व्यवहारप्रयोजकत्वे वा बन्धोपलक्षितत्वमादाय

बद्धव्यवहारोऽपि स्यात् । न चात्र सर्वत्रेष्टापत्तिः । सर्वशून्यत्वेऽपि तत्प्रसङ्गात् । न च तस्याप्रामाणिकत्वाद्विशेषः । प्रकृतेऽपि अप्रामाणिकत्वस्य तुल्यत्वात् । ज्ञानत्वानन्दत्वादिकं हि ब्रह्मणः स्वाभाविकं नित्यं च न्यायानुगृहीतश्रुतिवचनशतेनावगम्यते । तथा सति यथा संसारबन्धान्मुक्तिः तथा ज्ञानत्वानन्दत्वाभ्यामपि मुक्तिः । अथापि स्वरूपस्यैकत्वात् ज्ञानानन्दः आत्मकं बद्धञ्च मुक्त्यवस्थायां ब्रह्मेति इष्टमेवेति कथनं कथन्नाम विद्वांसः सहेरन् ।

अत्रेदं बोध्यम् । अद्वैतमेव पारमार्थिकं तत्त्वमिति स्वतुद्धथाऽवधार्य तस्मिन्नर्थे उपनिषद्वाक्यानि हठादपि योजनीयानीति दृढाध्यवसायाः ब्रह्मसम्बन्धितया श्रुतानां गुणान्नामपद्मवन्वयं मार्गं इति निश्चित्य किं ब्रह्मेति स्वरूपमात्रप्रश्नः, तत्प्रतिवचनत्वात् सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, अज्ञानं ब्रह्मेत्यादिकर्मापि स्वरूपमात्रबोधनपरम्, अतः सत्यत्वज्ञानत्वादिकं स्वरूपोपलक्षणमेव न तु तद्विशिष्टं ब्रह्म । तदपि कल्पितं ज्ञानत्वादिकं नानुगृह्यश्रुत्या प्रतिषिद्धमिति वदन्ति । उष्णीषानुरोधेन शिरश्छेदनमेतदिति तत्त्वं विद्वद्भिः प्रामाणिकैस्तु तद्वैपरीत्येन न्यायानुगृहीतानि वेदान्तवाक्यानि कमर्थं बोधयन्तीत्यन्विष्य सोऽवधार्येते ।

तत्र 'किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा । अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्माविदो व्यवसधाम्' इत्युपनिषत् स्वयमेव प्रश्नं निबध्नाति । अत्र सर्वभूतोत्पत्तिस्थितिकारणभूतं सर्वनिवृत्तं च ब्रह्मपदवाच्यं किञ्चिदस्तीति जानतां, इयं सा व्यक्तिरिति त्रिंशद्याजानतां चायं प्रश्न इति स्पष्टम् । अत्र कार्यवर्गस्य सत्यत्वे वा, तन्निरूपितं यत् कारणत्वं नियन्वृत्त्व च, ब्रह्मपदप्रवृत्तिनिमित्तं निरतिशयं बृहत्त्वं च, तद्विशिष्टत्वे वा ब्रह्मणः न कश्चिन् संशयोऽस्ति । अत्र सर्वत्र निश्चयवन्त ऋषयः एतैर्विशिष्टैर्विशिष्टा व्यक्तिः केति विचारमवतारयामासुः । सा व्यक्तिः काल इति केचिदूचिरे । एवमन्येऽन्ये अन्य-

दन्त्यन् । इतरेभ्यो व्यावर्तकधर्मो वक्तव्य इति प्रश्नार्थः । कालस्त्वं स इति प्रतिवचनार्थः । यः कालः स तद्ब्रह्मेत्युक्तं भवति । एवमाद्युत्तरं निराकृतवन्तस्ते विरकृतध्यानयोगबलेन तत्त्वमुपलभिरं । किं तत् । चेतनवर्गस्य भोग्यभोगोपकरणभोगस्थानरूपेण विद्वधपरिणामशक्तिर्ना प्रकृतिमपश्यन् । भोक्तारं जीववर्गमपश्यन् । ततः परं स्वान्विष्टं ब्रह्मशब्दवाच्यं परमात्मानमपश्यन् । कः सः ? असौ

‘यः कारणाणि निखलानि तानि

कालात्मयुक्तान्यवितिष्ठत्येकः’ ।

प्रवृत्तिनिवृत्तिकारणभूतानि प्रकृतिपरिणामात्मकानि सर्वाणि द्रव्याणि तेषां ज्ञातारं स्वोचिततत्त्वकर्मकर्तारं जीवात्मानं सर्वकार्यसामान्यकारणं कालं च य एकः अवितिष्ठति स तद्ब्रह्म स्वजिज्ञासितं कारणवस्तु इति ते निरधारयन् । सकलचेतनाचेतनविलक्षणो यः सर्वज्ञः सर्वशक्तः सः स्वजिज्ञासितो व्यक्तिविशेष इत्युक्तं भवति । चेतनाचेतनात्मकस्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षणचेतनत्वं प्रश्नविषयो व्यावर्तकधर्मः अनेन ज्ञापितो भवति । अयमेव धर्मः अस्या उपनिषद्ः प्रधानप्रतिपाद्यः । अत एव ‘पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा’ ‘संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः’ ‘क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावाशते देव एकः’ ‘भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा’ इति तद्भ्यासः क्रियते । एवं च प्रश्ने यथा अनेकगुणविशिष्टत्वं ब्रह्मण उक्तं तथैव प्रतिवचनेऽपि सकलचेतनाचेतनप्रेरकत्वतर्दाक्षप्रानेकगुणान्तरवैशिष्ट्यं तस्योच्यते इति स्वरसवाही आक्षिप्तोऽयमर्थः । अनयैव रीत्या सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, आनन्दं ब्रह्मेत्यादिपूक्तं ज्ञानत्वानन्दत्वादिप्रमपि ब्रह्म विशेषणं यथाश्रुतं प्रतिपत्तव्यम् । ततश्च तद्विशिष्टमेव परतत्त्वार्थात् । तत्र आनन्दत्वं स्वस्य परेषां चानुकूलतया वेदनीयत्वम् । तच्च स्वाभाविकं नित्यं च ।

एतेन अद्वितीयपदं इतरमध्यात्वपरतया न व्याख्येयमित्यपि ज्ञापितम् । सदेव सोम्येदमित्युपादानत्वप्रतिपादनेन तदतिरिक्तनिमित्तकारणसत्त्वप्रसक्तौ तत्प्रतिषेधपरं हि तन् । एवं प्रमाणान्तरप्राप्तार्थाबाधेनोपपत्तौ सम्भवन्त्यां तद्वाभावहार्थान्नराभिधानं अन्याय्यम् । एवं ब्रह्मणो नित्यत्वमपि नेतरव्यावृत्तं वाच्यम् । नित्यो नित्यानां, सदा पश्यन्ति, इत्यन्येषामपि तच्छ्रवणात् । अत एव सर्वकालसम्बन्धित्वाद्दलक्षणेषु अतिव्यातःयादिवारणप्रयासो नारीकृतव्यः । इतरेषामपि प्रामाणिकस्य नित्यत्वस्य एष्टव्यत्वात् । न खलु तेषां नित्यत्वेन ब्रह्मणो नित्यत्वं मात्रयाऽपि हीयते ।

सान्निध्यं च ब्रह्मणः साक्षात्कारवत्त्वम् । इदं च चैतन्यमात्ररूपस्य ब्रह्मणो न घटते । यदत्रोक्तं—अविद्यातत्कार्यान्तरप्रतिफलितचैतन्यस्यैव सान्निध्यम् । तथा च दृग्भूष्यामि उपाधिना द्रष्टृत्वम्, इति । तन्न । स्वाभाविकस्य यथाश्रुतस्य द्रष्टृत्वस्य परित्यागे औपाधिकस्य कल्पने च मानाभावात् । एतदनुरोधेन स्वतो द्रष्टुरेव ब्रह्मणोऽङ्गीकर्तव्यत्वान् । केवलदृग्भूष्यानङ्गीकर्तव्यत्वात् । तदेवं श्रुतज्ञानत्वाद्यनुपपत्तोरपि अद्वैतमनादरणीयमिति सिद्धम् ।

### ५. निमित्तोपादानत्वम् ।

जगत्प्रति ब्रह्मोपादानं, तदेव निमित्तं चेत्यस्माकमपीष्टम् । सदेव सोम्येदम्, तद्वैज्ञत बहु स्यां प्रजायेयेति, कस्मिन्नु भगवो-विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीत्यादिभ्यः । परं तु अद्वैतब्रह्मणः उपादानत्वं वा निमित्तत्वं वा कथं घटत इति वक्तव्यम् । न हि विवर्ताविष्ठानस्य उपादानत्वं क्विद् दृष्टम् । न च आत्मनि कार्यजनिहेतुत्वमेवोपादानत्वम् । तच्च ब्रह्मणि अविहतमिति वाच्यम् । गर्भं प्रति मातुरुपादानत्वापत्तेः । तद्देहधातुविशेष एव हि तदुपादानम् । न तु माता । चक्रस्य घटोपादानत्वापत्तेश्च । अतो नेदमुपादानलक्षणम् । अपि तु यदवस्थं कार्यद्रव्यं, तत्तः



पूर्वावस्थाविशिष्टं तदेव द्रव्यं तत्कार्यं प्रत्युपादानमिति । न चेदं अवस्थासामान्यशून्यस्य ब्रह्मणः सम्भवति ।

अस्मन्मते तु तेजोऽवस्थं ब्रह्म अववस्थं स्वं प्रति कारणमिति भवत्युपादानम् । न च तेजोवस्था अववस्था च अचेतनप्रकृतिगता, न तु ब्रह्मगता अतो ब्रह्मण उपादानत्वासम्भवो भवतोऽपि समान इति वाच्यम् । तेजनियन्तृत्वावस्थाविशिष्टं ब्रह्म कारणं, अब्नियन्तृत्वावस्थाविशिष्टं कार्यमित्युपपत्तोः । न चैवं ब्रह्मणो विक्रियापान्तः । कर्माधीनस्वरूपस्वभावान्यथाभावस्यैव विक्रियापदार्थत्वात् । स्वतन्त्रस्य परमात्मनः स्वेच्छाधीनस्य सङ्कल्पाग्रन्यथाभावस्य विक्रियात्वाभावान् । प्रत्युत ऐश्वर्यविकासहेतुतया गुणत्वात् । तदैक्षतेति सृष्ट्यारम्भकाले ईक्षणं द्विश्रुतम् । अन्तः प्रविष्टः शास्तेति शासनं च । तस्मात्तदतिरिक्तविषयत्वमेव निर्विकारत्वश्रुतेः ।

नन्वेवमपि ब्रह्मण उपादानत्वं दुर्घटमेव । चेतनाचेतनात्मकस्य कार्यस्य तदारब्धत्वाभावान् । न हि ब्रह्मस्वरूपं तद्रूपेण परिणमते । स्वरूपस्यापरिणामित्वाभ्युपगमात् । सर्वदा एकरूपतया सत्त्वरूपसत्यत्वश्रुतेरिति चेन्न । अपृथक्सिद्धकारणत्वमुपादानत्वमिति लक्षणान्तराश्रयणान् । सर्वास्वप्न्यवस्थासु ब्रह्माश्रितमेव हि सर्वं वस्तु । तेन सर्वं कार्यं प्रति अपृथक्सिद्धं कारणं ब्रह्म भवति । न च विभौ सर्वकार्यकारणे च कालेऽतिव्याप्तिः । एकद्रव्यत्वाधाराधेयभावान्यतरसम्बन्धेनापृथक्सिद्धेर्विबक्षितत्वात् ।

यद्वा विशिष्टं प्रति विंशष्टं कारणम् । न तु विशेषणमात्रं प्रति विशेष्यमात्रम् । तथा हि । कार्यकारणयोरनन्यतया जगत्सामानाधिकरण्येन सदेव सोम्येदमिति निर्दिष्टं यत् सर्वकारणं सत्, तत् ईक्षति-श्रवणादिभिर्हेतुभिश्चेतनमिति तावन्निश्चितम् । न च चेतनस्य तेजोजलादिरूपेण परिणामः सम्भवति । अतः अव्यक्तशरीरकमेव ब्रह्म सच्छब्द-

वाच्यमिति गम्यते । तदैक्षत । तन् अव्यक्तशरीरकं ब्रह्म ऐक्षत सङ्कल्प-  
मकरोत् । किमिति । अहमिदानीं अविभक्तनामरूपतया एकमेवास्मि ।  
तादृशमहं बहु स्याम । विभिन्ननामकनानारूपविशिष्टं भवेयम् । तदर्थं  
नानारूपतया जन्म पाप्नुयामिति । एवं सङ्कल्प्य तत् स्वशरीरतया स्वा-  
पृथक्सिद्धविशेषणभूतं अव्यक्तं तेजोरूपतया परिणमयामास । तेजश्श-  
रीरकमात्मानमसृजतेत्यर्थः । तत्तज ऐक्षत । सृष्टतेजःशरीरकं ब्रह्म सङ्क-  
ल्पयामास । किमिति । बहु स्यां प्रजायेयेति । ततः तदपोऽसृजत । स्वश-  
रीरभूतं तेजः अवात्मना परिणमय्य तच्छरीरकमभवदित्यर्थः । ता आप  
ऐक्षन्त । किमिति । बह्वथः स्याम प्रजायेमहीति । ता अन्नमसृजन्त ।  
स्वशरीरभूता आपः पृथिवीरूपेण परिणमय्य तच्छरीरकमभवदित्यर्थः ।  
संथं दैवतैक्षत । इयं तेजोजलपृथिवीरूपाणि त्रीणि भूतानि सृष्टवती  
देवता सति इति प्रक्रान्तं ब्रह्म पुनः सङ्कल्पयामास । किमिति । हन्ताहमि-  
मास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ।  
अत्र अहमिति अस्मदा स्वात्मानं निर्दिश्य ततः परं अनेनेति इदम  
जीवनिर्देशात् इमास्तिस्र इति निर्दिष्टतेजःप्रभृत्यचेतनवस्तुवत् जीवोऽपि  
स्वभावत एव ब्रह्मणो भिन्न इति स्पष्टमवगम्यते । सृष्टयनुक्तेः तस्य  
नित्यत्वं च गम्यते । प्राक्तनात् एकमेवेत्यवधारणात् अव्यक्तवत् सच्छ-  
न्दोक्तस्य ब्रह्मणोऽपृथक्सिद्धविशेषणतया तच्छरीरमित्यपि ज्ञायते ।  
एवं सङ्कल्पितवत् ब्रह्म ततः परं यथासङ्कल्पमकरोत् । चेतनाचेतनात्मक-  
शरीरविशिष्टं ब्रह्म देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मकविविधवस्तुरूपमात्मान-  
मकरोदित्युक्तं भवति ।

एवमस्य प्रकरणस्य सृष्टिप्रतिपादकत्वात् तदनुगुणतया सतः  
स्वभिन्नचेतनाचेतनवस्तुविशिष्टत्वस्यावश्यं वाच्यत्वात् । अद्वैतिभिरपि  
अविद्याजीवयोरनादित्वेन तदानीं सत्त्वाभ्युपगमाच्च एकमेवाद्वितीय-  
मित्येतैस्त्रिभिः पदैः सजातीयविजातीयस्वगतभेदनिषेधेनाद्वैतमत्र प्रति-

पाद्यत इतीदमपत्र्याख्यानमिति सुगमम् । न हि शुद्धचैतन्यस्य ईक्षणकर्तृत्वं तेजश्चादिसृष्टृत्वं वा उपर्युच्यमानमुपपद्यते । अतः दहर उत्तरेभ्य इति न्यायेन उपरि प्रतिपादितेक्षणासृष्टिकर्तृत्वाद्यनुरोधेन विभागानर्हातिसूक्ष्मचिदाचद्विशिष्टं सदेव आसीत् । तच्च अविभक्तनामरूपतया अब्रह्मत्वादेकमेवासीत् । उपादानभूतस्वातिरिक्तनिमित्तकारणविरहात् अद्वितीयमासीदिति व्याख्येयम् । अत एव हि भवद्भिरपि पण्णामनादित्वमिष्यते—जीवेशां शुद्धचैतन्यं तथा जीवेशयोर्भिदा । अविद्या तच्चित्तोर्योगः षडस्माकमनादयः ॥ इति । एषु शुद्धचैतन्ये न किञ्चन प्रमाणमस्ति । मिथो भिन्नौ जीवेशौ प्रमाणसिद्धौ । अनयोर्भेदस्य च मिथ्यात्वमप्रामाणिकम् । अविद्या त्रिगुणप्रधानात्मिका प्रमाणासद्धा । न तु भावरूपाज्ञानात्मिका । अत एव तच्चित्तोर्योगो नास्ति । जडवस्तुपादानत्वेन प्रधानस्यैव ब्रह्मविशेषणतयाऽऽक्षिप्तत्वात् ।

तदेवं श्रूयमाणसृष्ट्याद्यनुपपत्त्या सच्छब्दवाच्यब्रह्मविशेषणतया चेतनाचेतनवस्तुनोराक्षेपात् तद्विरुद्धमद्वैतं न तत्र प्रतिपत्त्यहम् । नतरां जीवेशभेदादेर्मिथ्यात्वम् । एकमेवाद्वितीयमित्यस्य सर्वभेदान्निषेधकत्वे सिद्धे हि तदनुरोधेन उपरि श्रूयमाणं ईक्षणकर्तृत्वादकं अविद्याधीनं कल्पितमिति कल्पयेत् । तत्तु नास्ति । 'पूर्वापरपरासृष्टः शब्दोऽन्यां कुरुते मतिम्' इति न्यायेन तावन्मात्रेण प्रतीयमानस्याथेत्य अन्यथात्वावश्यम्भावात् । तद्वैद्वेद्यानुपरिश्रूयमानानुरोधिन एवार्थस्य प्रामाणिकैःस्वीकर्तव्यत्वात् । श्रूयमाणस्य चेक्षणकर्तृत्वादेः कल्पितत्वे प्रमाणत्वेऽस्यापि विरहात् पारमार्थिकमेवेदम् । अत एव तदाक्षिप्तं सार्वज्ञ्यं मूढमचेतनाचेतनवस्तुविशिष्टत्वात्क्रमात्क्रमात् पारमार्थिकमेव । एवं च विशिष्टमेव कारणं कार्यं च । तत्र कार्ये अचिदंशं प्रति चेतनांश एव, ईश्वरांशं प्रति ईश्वरांश एव च कारणम् । न तु कार्ये विशेषणांशं प्रति-कारणे विशेषणांश ईश्वरः कारणम् । अतो न कोऽपि दोषः ।

अथैवं सजातीययोरेव कार्यकारणभावे सति नविलक्षणत्वाधिकरणस्य कथमुत्थितिः । जडत्वचेतनत्वकिञ्चिज्जत्वसर्वज्ञत्वादिभरत्यन्त-विलक्षणयोर्जगद्ब्रह्मणोः कथं कार्यकारणभाव इतीममाक्षेपमुत्प्राप्य अस्ति तादृशयोर्नापि स इति स्थापनं हि तत्र क्रियते । उक्तरीत्या सलक्षणयोरेव कार्यकारणभावे सति अनयोः पृथक्पक्षसिद्धान्तयोरवकाश एव नास्तीति चेत्, श्रूयताम् । तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति, तन् तेजोऽसृजत, तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः इत्यादिभिः परस्मान् ब्रह्मणः तद्विलक्षणाकाशाद्युत्पत्तिः श्राव्यते । यदि विलक्षणयोः कार्यकारणभावः कथमपि न सम्भवतीति स्यान् तर्हि इमानि वेदान्तवाक्यानि अग्निरनुष्ण इत्यादिवत् बाधितार्थानि सन्ति बह्वकारणत्वं नैव गमयेयुः । ईक्षणदे-रौणत्वमाश्रित्य प्रधानपरतयैव नेयानि स्युः । तथा च श्रीमद्भाष्यम्— 'विलक्षणयोर्हि कार्यकारणभावः प्रतिपादयितुमेव न शक्यते' इति । अतः शाब्दबुद्धिप्रतिबन्धकायोग्यतानिश्चयविघटनाय लोके कार्यकारणयोः सालक्षण्यनियमो नास्तीति व्युत्पादनमनेनाधिकरणेन क्रियते । तेन शाब्दबोधे निराबाधं निष्पन्ने वाक्यान्तरप्रमाणान्तरावगतकार्यकारण-भूततत्तद्वस्तुस्वरूपस्वभावपर्यालोचनया विशिष्टं प्रति विशिष्टस्योपादानत्वमित्यवधार्यत इति ।

तदेवमस्मन्मते अवस्थाविशेषवत्त्वेन अपृथक्सिद्धकारणत्वेन वा ब्रह्मण उपादानत्वं सुवटम् । भवन्मते तु शुद्धचैतन्यस्य तदभावान् भवद्भूकोपादानलक्षणस्य दुष्टत्वाच्च दुर्घटम् । न च सर्वकार्याधिष्ठानत्वाद्ब्रह्मणः तदपृथक्सिद्धिरस्त्येवेति वाच्यम् । तत्सत्त्वेऽपि कारणत्वायोगेन उपादानत्वासम्भवात् । न हि शुद्धचैतन्यस्य यत् किमपि कार्यं प्रति कारणत्वमस्ति । उपहितं कारणमिति चेत्, ततः किम् । उपाधिरेव कारणमिति पर्यवसानात् । न हि उपाधिना चैतन्यस्वरूपे कश्चनातिशयो जन्यते । निर्विकारत्वात् । तेन उपहितं कारणमित्यनेन उपाधिः कारण-

मित्यतोऽतिरिक्तं न किञ्चिदुक्तं भवति ।

एनेन निमित्तत्वमपि शुद्धचैतन्यस्य नास्तीत्युक्तं भवति । ईक्षण-  
कर्तृत्वाभावात् । यत्तु अविद्यापरिणामेच्छाकृत्याद्याश्रयत्वमस्तीति, तन्नेत्यु-  
क्तमेव । न हि अविद्यापरिणामो यः कोऽपि शुद्धचैतन्यं स्पृशति । नित्य-  
शुद्धमुक्तत्वस्वभावत्वात् । न च तदैक्षत तदसृजतेत्यादिषु अविद्यापरि-  
णामग्रहणे किञ्चन प्रमाणमस्ति । कल्पितं कार्यं प्रति कर्तृत्वायोगाच्च न  
निमित्तत्वम् । यत्तु 'कुलालादिकार्यघटादावपि अकल्पितत्वस्य न सम्प्र-  
तिपत्तिरिति तत् बह्वैरुणत्वे नास्ति सम्प्रतिपत्तिरित्येतत्तुल्यम् । तस्मा-  
दद्वैतमते ब्रह्मणः श्रुते उपादानत्वनिमित्तत्वे न घटेते इति सिद्धम् ।

#### ६. स्वप्रकाशत्वम्

ब्रह्मणस्तावत् ज्ञानत्वं श्रुतं—सत्यं ज्ञानमनन्तमिति । ज्ञानत्वं नाम  
स्वस्य वा परस्य वा कस्यचित् प्रकाशकत्वमित्युक्तम् । तत्रात्मस्वरूपेण  
इतरस्य भानाभावात् स्वभासकत्वेनैव तस्य श्रुतं ज्ञानत्वमुपपादनीयम् ।  
तथा च ब्रह्म स्वप्रकाशमिति सिद्धमिति । स्वत एव न तु सर्वविदन्तरात्  
प्रकाशः व्यवहारानुगुण्यं यस्य तत् स्वप्रकाशम् । घट-घटादिकं स्वतो न  
प्रकाशते । अपि तु आत्मधर्मभूतज्ञानद्वारा । अतस्तत्सर्वं परप्रकाशम् ।  
आत्मस्वरूपं तद्धर्मभूतज्ञानं च पुनः ज्ञानान्तरवेद्यत्वेऽपि ज्ञानान्तरं  
विनाऽपि स्वत एव भूयिष्ठं प्रकाशते । अत उभयोरनयोः स्वप्रकाशत्वम् ।  
आत्मस्वरूपं स्वस्मा एव स्वयं प्रकाशते । न परस्मै । धर्मभूतज्ञानं  
स्वाश्रयायैव स्वतः प्रकाशते । नान्यस्मै । स्वस्मै प्रकाशमानमात्मस्वरूपं  
अहमित्युल्लिख्यते ।

इदं स्वप्रकाशत्वं अद्वैतब्रह्मणो न सम्भवति । तस्य स्वविषयत्वान-  
भ्युपगमात् । यत्तु अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारविषयत्वयोग्यत्वं एत-  
दत्यन्ताभावानधिकरणत्वं वा स्वप्रकाशत्वम् । तच्च तत्राक्षतमिति तन्न ।  
न हि स्वप्रकाशपदस्यायमर्थः । न च तदर्थपरित्यागे अर्थान्तरकल्पने

च किञ्चित्प्रमाणमस्ति । किञ्च योग्यत्वनिवेशात् मुक्तिदशायां स्वप्रकाशत्वं नास्तीत्येवाङ्गीकृतं भवति । न च ब्रह्मस्वभावस्य कालिकाव्याप्यवृत्तित्वं युक्तम् ! सर्वदा एकरूपत्वात् । किञ्च आविद्यकापरोक्षव्यवहारविषयत्वाधीनत्वात् ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वमौर्वाधिकमेव स्यात्, न स्वाभाविकम् । तथा च तात्त्विकं स्वप्रकाशत्वं तस्य नास्ति ; तेन च चिद्रूपत्वमेव तस्य हीयते । यद्धि स्वयं न प्रकाशते, परं च न प्रकाशयति, तद् घटादिवदचिदेव ।

अपि च घटादिकं ज्ञानेनैव प्रकाशते, न स्वतः । अतः तत् अस्वप्रकाशम् । ज्ञानं तु ज्ञानान्तरं विना स्वयमेव प्रकाशते । अतः तत् स्वप्रकाशमित्युच्यते । ब्रह्म च ज्ञानरूपत्वात् अहमुल्लेखित्वाच्च स्वयं स्वस्मै प्रकाशते । अतः स्वप्रकाशमिति प्रतीयते । तदिदं कुतो भवद्विर्भाभ्युपगम्यते । ब्रह्मणो वेद्यत्वे घटादिवत् मिथ्यात्वं भवेत् । अतो नाभ्युपगम्यत इति चेत् ब्रह्मणो वेद्यत्वमभ्युपगम्य वेद्यत्वं मिथ्यात्वे न हेतुरित्येव कुतो नेष्यते । तथा चेदस्माकं सिद्धान्तहानिरिति चेत् तर्हि आभिमानिकसिद्धान्तरक्षणार्थं प्रामाणिकमपि स्ववेद्यत्वं ब्रह्मणः प्रतिषिध्यत इति स्फुटमेतत् । एवं सति आर्जवेन स्वप्रकाशत्वं नेष्यत इत्येव वाच्यम् । न तु परिभाषिकार्थान्तरकल्पने यतितव्यम् । अपरोक्षव्यवहारविषयत्वादिकं हि परप्रकाशघटादिसाधारणम् । तत् कुत इह स्वप्रकाशलक्षणे अन्तर्भाव्यते । घटादिवारणाय च पुनः अवेद्यत्वे सतीति विशेषणमुपादीयते । न चेदं युक्तम् । स्वप्रकाशपरप्रकाशयोः वेद्यावान्तरभेदत्वात् । यत् प्रकाशते तस्यैव स्वतः परतो वेति विशेषाभिधानात् ।

किञ्च अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारविषयत्वं तद्योग्यत्वं च व्याहृतमेव । तदपरोक्षव्यवहारे तद्विषयकस्फुरणस्यावश्यकत्वात् । यत्तु अन्यत्र तद्विषयस्य स्फुरणस्य तद्व्यवहारजनकत्वेऽपि स्फुरणस्य स्वाविषयस्य स्वस्मिन् व्यवहारजनकत्वम् । स्वभावभेदान्, इति तन्न । स्वभावभेदा

सिद्धेः । तत्र प्रमःणाभावान् । स्वविषयस्यैव स्वस्य स्वस्मिन् तद्व्यव-  
हारजनकत्वस्य एष्टव्यत्वात् । न ह्यज्ञातस्य व्यवहारः सम्भवी ।  
भेदनियतस्य विषयविषयिभावस्य कथमेकस्मिन् सम्भव इति चेत् यथा  
घटाद्विचालुपत्वप्रयोजकस्य रूपस्य स्वचालुपत्वप्रयोजकत्वं, यथा घटा-  
दिप्रकाशकस्य दीपस्य स्वप्रकाशकत्वं तथा घटादिग्राहकस्य ज्ञानस्य-  
स्वप्रहकत्वं न विहृद्यते । तथा ज्ञानरूपस्य आत्मनश्च । आत्मज्योतिष्-  
वचनाच्च । अहमर्थत्वाच्च । स्वात्मानं प्रतीत्य हि अहमिति व्यवहरन्ति ।  
एवं च विषयविषयिभावस्य भेदव्याप्तिर्ने सिद्धयतीति बोध्यम् ।

भवन्तस्तु आत्मनः स्ववेद्यत्वे अत एवाहमर्थत्वे च शरीरभेदेनात्म-  
भेदान् अद्वैतभङ्गः स्यादिति विभ्यतः अहमर्थस्यानात्मत्वं आत्मनोऽवेद्यत्वं  
च साधयितुमभिनिविशन्ते । तत्र स्वप्रकाशत्वं नास्तोत्येव पर्यवस्यति ।  
सत्तामात्रेण चेत् स्फुरणं व्यवहारहेतुः तर्हि तस्य प्रकाश एव नास्तोत्युक्तं  
भवति । तत्र स्वप्रकाशना कथं भवेत् । अवेद्यत्वापरपर्यायं अप्रकाशत्वमेव  
तु भवेत् । 'यद्वा त्रिद्विविषयस्वरूपत्वमेव स्वप्रकाशत्वमिति कल्पान्तर-  
माश्रयता तदभ्युपगतमेव भवति । परन्तु तत्र अप्रकाशत्वमिति वक्तव्ये  
स्वप्रकाशत्वमिति वचनं न युज्यते ।

एनेन यद्वा स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदनपेक्षत्वं स्वावच्छिन्नसंवि-  
दनपेक्षत्वं वा स्वप्रकाशत्वमित्येतदपि व्याख्यातम् । स्वव्यवहार्यत्वस्य  
हि एवं लक्षणं भवितुमर्हति । न तु स्वप्रकाशत्वस्य । अस्य तु 'स्वप्रकाशो  
संविदन्तरानपेक्षत्वमित्यादि लक्षणं वाच्यम् । 'स्वव्यवहारे' इत्यादि-  
लक्षणेनापि यद्यपि स्ववेद्यत्वरूपं स्वप्रकाशत्वमर्थतः सिद्धयति, तथापि  
तस्य कण्ठतो निषेधात् न तत् स्वप्रकाशत्वलक्षणं भवितुमर्हति । तत्  
सिद्धमद्वैतवादे ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वं दुर्घटमिति ।

अथ यत् स्वाभिमतस्वप्रकाशत्वे अनुभूतित्वहेतुरेव व्यतिरेकी प्रमा-

णमित्युच्यते, तदयुतम् । अनुभूतिर्वेद्यत्ववती वस्तुत्वान् घटवदिति  
प्रतिसाधनवत्त्वान् । न चास्याप्रयोजकत्वम् । अवेद्यत्वेऽवस्तुत्वापत्तोः  
तर्कस्य सत्त्वान् । न चावेद्यत्वेऽपि स्वतः सिद्धत्वाद्भवस्तुत्वान् । अवेद्यस्य  
स्वतःसिद्धत्वोक्तेरथशून्यत्वात् । सिद्धिर्हि निश्चयः । स कथमवेद्यस्य  
भवेत् । अनुभूतित्वहेतोरसिद्धश्च । अविषयाया अनुभूतित्वाद्योगान् ।  
न चात्र आसीदित्यादिवाक्यजन्यज्ञानतुल्यत्वम् । विषयस्य स्वरूपतस्त-  
दानोमसत्त्वेऽपि ज्ञानस्य सविभयत्वान् । प्रकृते तु निर्विषयत्वात् । न  
हि विषयशून्याऽनुभूतिः काञ्चिद् दृष्टा । अप्रयोजकत्वं तु भवदनुमानेषु  
सर्वत्रैव स्थितम् । श्रुत्यनुग्रहस्य शराशृङ्गायमाणत्वात् । बाधश्च दुरुद्धरः ।  
अपरोक्षानुभवमप्यपरोक्षतो जानामीति दृढप्रत्ययात् ।

यत्तु अहमर्थस्य ज्ञप्त्याश्रयत्वाद्योगेन ज्ञानपदस्य वृत्तां गौणत्वात्  
साध्यनुभवस्य वृत्तिरूपगौणानुभवविषयत्वमेवात्रास्ति, न तु अनुभव-  
विषयत्वमिति तत् तान् प्रति वक्तुं युक्तं ये भवन्मत्प्रक्रियामभ्युपग-  
च्छन्ति । न त्वन्यास प्रति । न हि साध्यनुभवं वृत्तिरूपगौणानुभवा-  
न्तरं च वयमभ्युपगच्छामः । प्रमाणाभावात् । अत एव उक्ताभिलाषे  
जानानेगौणत्वमन्याय्यमेव । निराबाधयथा स्थितप्रतीतिवशेन तु अनु-  
भवस्य वेद्यत्वमङ्गीकर्तव्यम् । ततश्च स्थितो बाधः ।

अद्वैतसाधनाद्युक्तैरुत्तरं प्रतिवादिनाम् ।

अद्वैतं सिद्धवत्कृत्य न युक्तं यदुदीर्यते ॥

आत्मानमेवावेदिति श्रुतिबाधश्च अप्रकल्प्यः । यत्तु अत्रापि स्वसि-  
द्धान्तानुसारेण किञ्चिदुच्यते तद् विद्वांसो न कर्णे करिष्यन्ति । यथा-  
श्रुति प्रतिपत्तौ अनुपपत्तिलेखिरहात् । अहमर्थस्यैवात्मत्वात् । स्वय-  
म्प्रकाशस्य तस्य स्वविषयवेदनस्यैव आत्मानमेव वेदिति वचनान् ।  
‘ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् । तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मः स्मरति’ इति श्रुति-  
वाक्ये हि ब्रह्मणः स्ववेदित्वं सुस्पष्टमुच्यते । एवं च एतच्छ्रुतिविरोधान्



ब्रह्मणोऽवेद्यत्वानुमानं बाधितमेव । अत एव एतच्छ्रुत्युपष्टब्धानि ब्रह्म स्फुरणविषयं अपरोक्षव्यवहारविषयत्वात् घटवदित्यादांनि वेद्यत्वानुमानानि समञ्जसानि सन्ति भवदनुमानं सत्प्रतिपक्षयन्ति । न चात्र स्फुरणप्रयुक्तव्यवहारशक्तिव्यवहारविषयत्वमादाय सिद्धसाधनम् । साक्षाद्विषयत्वस्य साध्यत्वत् । न चास्य स्वस्मिन् वृत्तिविरोधेन बाधः । प्रकाशकस्य स्वस्मिन् वृत्तिविरोधाभावात् । दीपप्रभा हि स्वप्रकाश्या । अत एव विषयविषयिभावस्य सम्बन्धत्वेन भेदनियततया स्वस्मिन् स्ववेद्यत्वं विरुद्धमिति निरस्तम् । प्रकाश्यप्रकाशकभावसम्बन्धस्य दीपे एकस्मिन् दर्शनान् । अभेदतादात्म्यादीनामपि सम्बन्धत्वाभ्युपगमाच्च । समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यनानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणत्वं समवायिकारणत्वमिति ह्याहुः । संयोगसमवायादीनां केषाञ्चिदेव सम्बन्धानां भेदनियमात् ।

यच्च स्वविषयत्वे किञ्चिदुदाहरणं नास्तीति तन्न । तत्तुल्ये स्वप्रकाश्यत्वे उदाहरणस्य प्रदर्शितत्वात् । दीपप्रभा यथा घटादिकं तथाऽऽत्मानमपि हि प्रकाशयति । तथा च तस्याः प्रकाशकत्वं प्रकाश्यत्वमित्युभयमप्यस्ति । तद्वदेव ज्ञानस्यापीदमुभयमस्तीति किमनुपपन्नम् ? सत्तया स्वव्यवहारप्रयोजकत्वे उदाहरणाभावस्य समानताच्च । यच्चोक्तम्—व्यवहारोपपादनार्थं स्वविषयत्वस्वभावकल्पनापेक्षया स्वाविषयत्वेऽपि स्वव्यवहारजनकत्वस्वभावत्वमेव कल्पयताम्, लाघवात्, इति तत् कथमिति न विवृणम् । लाघवं तु स्वविषयत्वञ्च एव । सर्वं वस्तु ज्ञानप्रकाश्यमित्यत्र तद्व्यवहारं प्रति तदनुभवः कारणमित्यत्र च ज्ञानेतरत्वविशेषणं भवन्मने यथा देयं तथा तत्र तस्यादेयत्वात् । न च विषयविषयिभावो भिन्ननिष्ठ इति नियमे ज्ञानव्यतिरिक्तस्थल इति सङ्कोचकरणं भवतोऽप्यावश्यकमिति वाच्यम् । अस्य नियमस्यानपेक्षितत्वात् । न हि घटः स्वविषयः स्यादित्यापत्तिः सम्भविनी, येन स नियम आद्रियेत ।

घटस्य विषयित्वाभावान् । न हि सामान्यस्याभावे विशेषस्वास्ति प्रसङ्गः । अनुभवस्तु विषयी । स्वभावसिद्धा सा विपथिता प्रमाणोप-  
पत्त्यनुरोधान् स्वनिरूपिताऽपि भवतीत्यभ्युपेयते । तदत्र गुरुत्वाववस्थि-  
तिविमरीतेति मन्तव्यम् ।

यदपि 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजा-  
नीयात्' इत्यादिभिरवेद्यत्वं श्राव्यत इति, तदपि नास्ति । आशस्थले  
तावत् 'यः प्राणेन प्राणिनि स त आत्मा सर्वान्तरः' इति याज्ञवल्क्योक्तं  
श्रुतवतां उषस्तेन 'यथा विब्रूयादसौ गौरसावश्व इति, एवमेवैतद्व्यप-  
दिष्टं भवति' इति जीवपरयोरविभवेकनोत्तरामदमुक्तमित्याक्षिप्ते पुनर्या-  
ज्ञवल्क्यः दृष्टेर्द्रष्टारं दर्शनस्य कर्तारं जीवं मया उक्तं न मन्यस्व ।  
तदितरः पर आत्मा मयोक्त इत्याह । द्वितीयस्थले च 'येन परमात्मना  
प्रसन्नेनानुगृहीतः इदं सर्वं विजानाति, सर्वज्ञो भवति तं परमात्मानं केन  
हेतुना विजानीयात् । 'क इत्था वेद यत्र सः' इतिवत् परमात्मप्रसादमन्त-  
रेण स दुरवबोधः' इत्याह । तत्र आत्मनोऽनुभूतेर्वाऽवेद्यत्वस्य  
कः प्रसङ्गः ।

क्रियाकर्मत्वविरोधान् न स्वस्मिन् स्ववेशत्वमित्यप्यसाधु । ज्ञानस्य  
छिदादिव न स्पन्दात्मकक्रियात्वाभावात् । न हि ज्ञानकर्मत्वं छिदां प्रति  
वृक्षस्येव मुख्यं कर्मत्वम् । किन्तु विषयत्वरूपं गौणम् । अत एव लक्ष-  
णया द्वितीयया बोध्यते । तदुक्तं भाट्टरहस्ये—

एवं च यत्र एतादृशकर्मत्वबाधः तत्र घटं जानाति मैत्रः,  
इच्छति कुरुते, घटस्य ज्ञातेत्यादौ साविषयपदार्थाभिधायि-  
धातुयागे द्वितीयाषष्ठयोर्विषयत्वे लक्षणा...न त्वत्र परसमवे-  
तत्वप्रवेशः । वैयर्थ्यात् । स्वात्मानं जानामि, आत्मानमात्मना  
चेत्सि, इत्यादिप्रयोगाच्च । इति ।

स्वं जानामि, चैत्राऽहं स्वात्मानं जानामि, आत्मानमा-

त्मना वेत्सि, इत्यादौ एकसंज्ञावरोधेऽपि संज्ञान्तरप्रयुक्तकार्य-  
दर्शनात् । न च शरीरमनोरूपावच्छेदकमादाय तत्रासाङ्कर्योप-  
पादनम् । तथात्वे स्वपदप्रयोगानुपपत्तेः । चैत्ररचैत्रं गच्छतीति  
प्रयोगेऽपि शरीरप्रदेशान्तरावच्छिन्नात्मादिभेदकल्पनोपपत्तेश्च,  
इत्यादि च ।

अतो ज्ञानस्थले क्रियाकर्मत्वविरोधो वा कर्तृकर्मत्वविरोधो वा नास्तीति  
ज्ञेयम् । तदेवं वेद्यत्वानुमानानां बाधा नःस्तीति निरूपितम् । जडत्वमुपा-  
धिरपि नास्ति । जडत्वं हि नाम ज्ञानभिन्नत्वं वा आत्मभिन्नत्वं वा ।  
तत्र अनुभूतेः ज्ञानत्वात्मत्वे अभिमते न वा ? आद्ये पक्षेतरत्वमेवेदं  
जडत्वमिति नोपाधिः । अन्त्ये साधनव्यापकत्वान्नोपाधिः । यत्तु बाधो-  
न्नीतत्वेन पक्षेतरत्वरूपत्वेऽपि न क्षतिरिति, तदत्रानवकाशम् । बाधस्य  
निरस्तत्वान् । अवेद्यत्वस्यैव बाधितत्वान् । न हि निर्विषयस्य ज्ञानत्व-  
मनुभूतित्वं वा सम्भवति । केवला चिन्तश्च सकलविषयविरक्ताऽभ्यु-  
पगता । सा चेत् स्वात्मानमपि न गांचरयेत् तर्हि चित्तमेव हीयते ।  
स्फुरणरूपत्वान् चित्तमिति चेत् कस्य स्फुरणं, कं प्रति च ? न कस्यचित्  
न कश्चिन् प्रतीति चेत् तर्हि तन् स्फुरणमिति कथमुच्यते । इदं मे स्फु-  
रति, तन् ते स्फुरति, इति ससम्बन्धिकं हि वस्तु स्फुरणं नाम लोके  
प्रसिद्धम् । प्रसिद्धस्वभावरहितं किञ्चिन् तद्वस्तु कथं भवेत् । स्वतः  
सिद्धमिति चेत् उक्तोत्तरमेतन् । अवेद्यत्ववादिनः सिद्धिपदार्थो दुर्निरूप-  
इति । तस्मात् स्वप्नाहकत्वविरहे स्फुरणमेव तन्न स्यादिति दृढमेतत्प्रति-  
पत्तव्यम् ।

यदपि यथाशीलं कुटिलानुमानं प्रयुक्तं त्वदीयापरोक्षव्यवहारयोग्य-  
त्वज्ञानं त्वदीयापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणं ज्ञानत्वात्,  
मदीयज्ञानवत्, इत्यादि तन् वेद्यत्वस्थाने अवेद्यत्वं घटयित्वा प्रदुज्य-  
मानेन तेनैवानुमानेन सत्प्रतिपत्तितं भवति । यत्तु अत्र बाधकत्वेन

स्थापनाऽधिकवलेति, तदाशामोदकवृत्तमात्रमिति इयता निरूपणेन सुग-  
मम् । वस्तुतस्तु इदमनुमानं अग्निः जलान्यत्वे सति स्पर्शवत्त्वानधिकर-  
णम्, द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वान्, जलवत्, इत्याभासतुल्यमिति  
ज्ञातव्यम् ।

घटादिविषयज्ञानं च तदाश्रयभूतऽहमर्थ आत्मा चेत्युभयमपि  
स्वप्रकाशमित्युक्तम् । तेन चिदभिन्नस्यात्मनोऽपि स्वप्रकाशत्वं चिद्रूप-  
त्वात् साधनीयमिति दुरवस्था नःनुभवनीया । यच्च वेद्यत्वे आत्मनो  
वेदनाभावादज्ञानदशायां आत्मनि संशयविपर्ययव्यतिरेकनिर्णयप्रसङ्ग  
इति । तन्न स्वातिरिक्तवेदनाभावदशायामपि स्वात्मकववेदनसत्त्वेन अत  
एव स्वप्रकाशत्वेन उक्तप्रसङ्गानवकाशात् । अवेद्यत्ववादिनो भवतस्तु स  
प्रसङ्गो दुर्निवारः । तद्विषयज्ञानर्णयो हि तद्विषयकसंशयाद्यनुदयकारणम् ।  
सदभावे कथं तद्विषयकसंशयाद्यनुदयः । चिद्धिन्नस्थल एव तथा नियम  
इति चेत् पुनः गौरवान्तरमापद्यमानमङ्गीकुरुष्व । न चेदं सोढव्यम् ।  
अप्रामाणिकत्वात् । अतः संशयाद्यनुदयोपपत्त्यै वेद्यत्वमवश्याश्रयणी-  
यम् । तत्तु ज्ञानान्तरेणैव स्वतोऽपि भवतीति स्वप्रकाशत्वमिष्यते ।  
आत्मैवास्य ज्योतिः स्वयंज्योतिरित्यादिना चात्मनः स्ववेद्यत्वं सिद्धम् ।  
अस्य जीवात्मनः आत्मैव स्वस्वरूपमेव ज्योतिः प्रकाशकम्, इत्यर्थात् ।  
एतेन 'स्वातिरिक्तानपेक्षतया स्वप्रकाशत्वमुक्तं' इति यदत्राक्तं तन्न युक्त-  
मिति ज्ञेयम् । आत्मनैव प्रकाशमानतया स्वप्रकाशत्वमुक्तमिति हि वक्त-  
व्यम् । 'अस्य ज्योतिः एतद्विषयकव्यवहारानुगुण्यजनकः' इति हि  
श्रुत्यर्थः । षष्ठ्या विषयत्वार्थकत्वात् । अत्राह—“न चास्येति षष्ठ्या  
विषयत्वाभिधानम् । स्वयं दासा इत्यादाविवानयवेद्यत्वपरत्वात् । न  
चामुख्यार्थत्वापत्तिः । मुख्याविषयासम्भवेनेष्टत्वात् ।” इति । किमुक्तं  
भवति । अद्वैतसिद्धान्तविरोधान् श्रुतिरन्यथा नेयेति । तथा च श्रुतिविरु-  
द्धमद्वैतमिति स्वयमभ्युपगतं भवति ।

इदमत्र बोध्यम् । आत्मैवास्य ज्योतिर्भवति, अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति, इतीदं स्वप्नावस्थाविषयम् । इतः पूर्वं आदित्यचन्द्राम्निवाचां ज्योतिर्प्रमुक्तम् । तत्र आदित्येनैव ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति श्रवणात् आसनादिक्रियानिर्वर्तनापरिष्कारप्रकाशहेतुत्वमेव ज्योतिःपदाभिप्रेतमिति ज्ञायते । 'आत्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति श्रवणात् आत्मनोऽपि तादृशमेव ज्योतिष्त्वं वाच्यम् । अतोऽत्रान्याधीनप्रकाशराहित्यमात्रे न तात्पर्यम् । किन्तु आत्माधीनप्रकाशवत्त्वेऽपि । तत्र आत्मनः अहर्मित प्रकाशः स्वेनैव । अन्यः सर्वः प्रकाशो धर्मभूतज्ञानेनेति ।

यदपि “न च प्रदीपादौ स्वाविषयत्वेन स्वप्रकाशत्वव्यवहारः सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यप्रकाशत्वस्यैव तत्रापि व्यवहारनिदानत्वात् । अत एव न घटादावप्रकाशोऽतिप्रसङ्गः” इति तदप्यनार्जवेनैवोक्तम् । यद्यपि प्रदीपादेः स्वाविषयत्वं नास्ति । अतो न तस्य तत्प्रयोज्यः स्वप्रकाशत्वव्यवहारः । तथापि स्वतः प्रकाशमानत्वात् स्वप्रकाशत्वमिति वक्तव्यं सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यत्वमिति वक्रमुक्त्वा तस्य घटादावतिप्रसक्तत्वात् तद्व्यवहारप्रकाशत्वमन्यत् कुतो निवेश्यते । न हि घटादिप्रकाशकादीपः स्वयं न प्रकाशते । स्वातिरिक्तप्रकाश्यत्वं घटस्य अस्वप्रकाशत्वम् । तदभावो दीपस्य स्वप्रकाशत्वम् । उभयोः प्रकाशमानत्वं तु समानम् । तथैव धर्मभूतं धर्मिभूतं वा ज्ञानं स्वयं प्रकाशत इति स्वप्रकाशत्वं वाच्यम् । हठादेव तु अन्यदन्यन् स्वप्रकाशत्वमुच्यते । तत्सर्वमप्रामाणिकं प्रमाणाविरुद्धं चेत्यलम् ।

### ७. वाच्यत्वम्

सर्वेश्वरस्य परब्रह्माभिधानस्य सकलवेदवेद्यस्य सर्वं विशेषमपहृत्य तुच्छमिन्नत्वमात्राभ्युपगमेन सर्वश्रेयोभाजनमात्मानं मन्यमानः विभूतिमिध्यात्वनिर्गुणत्वावेद्यत्वकथनानन्तरं वाच्यत्वबिह्वे प्रवर्तते । सर्वे वेदा

यत्पदमामनन्ति, वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः इत्यादिभिः परस्सहस्रैः श्रुति-  
स्मृतिवचनैः सर्ववेदवेद्यत्वं अत एव तत्तत्पदवाच्यत्वं च बोध्यते । तथा  
सति किन्नाम कारणं यं तस्य अवाच्यत्वसाधने संरभन्ते । निर्विशेषत्व-  
दाढ्यार्थमिति भाति । आहुश्च —

दृष्टा गुणक्रियाः गतिरभ्यन्तः शब्दहेतवः ।

नात्मन्यन्यतमो ह्येषां तेनात्मा नाभिधीयते ॥

इति । शब्दवाच्यत्वेऽभ्युपगते वाच्यतावच्छेदकधर्मयोगं विना वाच्यत्वा-  
योगात् वाच्यतात्रलेनैव सगुणत्वमापद्येत । अतस्तन्निराकरणप्रयत्न  
इति । तदिदं निर्गुणत्वासिद्धिरूपणसकलकल्याणगुणाकरत्वसाधना-  
भ्यःमेव व्युदस्तं भवतीति न पृथक् प्रयत्नापेक्षा । तथापि वैशद्याय  
किञ्चिद् ब्रूमः ।

वाच्यत्वं नाम शक्यत्वम् । तद् ब्रह्मणं नास्ति । लक्ष्यत्वं तु अस्त्ये-  
वेत्याह । तत्रेदं प्रष्टव्यम् । ब्रह्म न वाच्यमित्यत्र ब्रह्मपदं स्वार्थं कया  
वृत्त्या बोधयति । न कयापि वृत्त्या बोधयतीति चेत् तर्हि धर्मिभानं  
कथम् ? स्वप्रकाशतया स्वत एवेति चेत् अवेद्यत्वं हि स्वप्रकाशत्वं भव-  
दभिमतम् । तत्र तस्य स्वतः कथमुपस्थितः ? स्वरूपमेवोपस्थितिः ।  
तदवाच्यत्वेनान्वेतीति चेत् । न । न ह्यशाब्दं शाब्देनान्वेतीति न्यायात् ।  
अन्यथा गौर्गच्छतीत्युक्ते प्रत्यक्षार्थान्तरान्वयं प्रतीत्य गौस्तिष्ठति, अश्वो  
गच्छतीति प्रहरणप्रसङ्गात् । ब्रह्मपदेन आवरणाभिभावकवृत्तौ उत्पन्नायां  
स्त्रीर्मा एवतो भातीति चेत् वृत्तिपरिभाषया पदजन्योर्पास्थनिरियमङ्गीकृता  
भवति । सेयमावरणाभिभावकवृत्तिः किं ब्रह्मपदेन श्रुतिमात्रेण जन्यते  
परिचरुतेन प्रभातधीरिव, अथवा स्वगतवृत्तिस्मरणद्वारा, गोपदेनेव तद-  
र्थोर्पास्थितः । नाद्यः । वर्णात्मकवाचकशब्दत्वात् । सङ्केतविशेषानुप-  
लब्धेश्च । अन्त्ये सा वृत्तिरभिधा लक्षणा वा ? आद्ये कः सः अभिधे-  
योऽर्थः ? अभिधा नास्ति । अत एवाभिधेयोऽर्थोऽपि नास्ति । लक्षणया

तु ब्रह्मस्वरूपं बोधयतीति चेत् । अनादिः शब्दशाल्मसंस्कारवान् वेदादिषु सर्वत्र प्रयुक्तः प्रसिद्धश्च ब्रह्मशब्दः । स कथमभिधाशून्यः अभिधेयशून्यश्च स्यात् ।

प्रयोगश्च—ब्रह्मेतीयमज्ञगनुपूर्वा अभिधावती अभिधेयवती वा अनादिवर्णानुपूर्वीत्वात् गवःशानुपूर्वीवत्, इति । न चात्र चः कोऽपि दोषः सुवचः । आह च सूत्रकारः ब्रह्मशब्दस्य परमात्मनि मुख्यत्वमन्यत्र गौणत्वं च 'परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्, 'तत्सामीप्यात् तद्व्यपदेशः,' इति । 'स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत्' इति च । युष्वाद्यायतनं स्वशब्दादिव्यतिष्ठन् सूत्रे च स्वशब्दविवरणावसरे. आत्मब्रह्मादयः शब्दाः ब्रह्मणः स्वशब्दत्वेन भवद्भाष्यग्रन्थेषूक्तः । तस्माद् ब्रह्मादिशब्दवाच्यमेव ब्रह्म । अन्यथा अनादिवाचकतया साधुत्वेन प्रसिद्धानां शब्दानां अवाच्यत्वेनासाधुत्वापादकतया अद्वैतमप्रामाणिकमनादरणीयमित्येव सिद्धयेत् । वाचकत्वेऽपि ब्रह्मणः तत्तद्गुणयोगस्य वक्तव्यतया अद्वैतमपैत्येवेति चेत् प्रामाणिकगुणादयोगाविरुद्धमेव अद्वैतमास्थेयम् । न तु सर्वज्ञोभकारि भवदभिमतं मृषाऽऽद्वैतम् ।

ननु ब्रह्मशब्दो लक्षणया परतत्त्वं बोधयतीति चेत् अभिधाविरहे कथमभिधेयसम्बन्धरूपा लक्षणा भवेत् ? बोध्यसम्बन्धा लक्षणोऽत चेत् काममेवम् । तथापि वाक्येऽर्थो बोध्योऽनभिधेयो भवति । पदे तु अभिधेय एव बोध्यः, नन्वतिरिक्तः कश्चित् । तस्मात् ब्रह्मादिपदस्थले अभिधेया बोध्यं कञ्चनार्थमुक्तवैव तत्सम्बन्धरूपया लक्षणया अर्थान्तरं बोध्ययति पदार्थमिति वाच्यम् । तच्च न भवन्मते सम्भवति । लक्षणया केवलस्वरूपप्रतिपत्तिश्च नालं भवितुम् । सर्वस्यापि वस्तुनः केनाचद्रूपेणैव भानिन्यमात् । तदिदं अखण्डार्थखण्डन एवोक्तम् ।

यत्तु यतो वाचो निवर्तन्ते, अशब्दमस्पर्शमित्यादिश्रुतयश्चात्रानुसन्धेयाः, इति तद्विदुषां विनोदाय केवलं कल्पते । अत्र हि आद्यस्थले

ब्रह्मानन्द ईदृश इति तद्ग्रहणदिशं काञ्चिन् प्रदर्श्य अन्ते स इयानिति ईदृश इति च वाचा वक्तुं मनसा चिन्तयितुं चाशक्य इत्युच्यते । बाङ्मनसापरिच्छेद्यो ब्रह्मानन्द इत्युक्तं भवति । तत्र का प्रसक्तिः पद-पदार्थयोर्वाच्यवाचकभावस्य यो निपेक्षुमिष्येन । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वानिति ब्रह्म तत्रापि अभिदधात्येव श्रुतिः । एवं द्वितीयस्थलेऽपि आकाशादिपञ्चभूतगुणानन्वयप्रतिपादनरत्वान् वाच्यत्वसम्बन्धेन शब्दराहित्यस्य नैवापस्थितिरस्ति । पुरुषविष्णवादिपदैः परब्रह्माभिधानरूपे तथाऽर्थाभिधानं बाधितमित्यप्यवधेयम् । ततश्च समवायसम्बन्धेनेव वाच्यतासम्बन्धेनापि शब्दराहित्यमर्थं इति परास्तम् । अन्यथा लक्ष्यतासम्बन्धेनापि तद्राहित्यमर्थः स्यात् । यद्वा लक्ष्यशब्दराहित्यमेवाक्तं स्यात् । सर्वेषां शब्दानां मुख्यवृत्त्या ब्रह्मवाचित्वात् । यथोक्तमस्मद्भाष्ये चराचरव्यग्राश्रयसूत्रे — “तद्व्यपदेशः चराचरवाचिशब्दः ब्रह्मण्यभाक्तः मुख्य एव । कुतः ब्रह्मभावभावित्वात् सर्वशब्दानां वाचकभावस्य ।” इति

सर्वशब्दैः क्वाच्यस्य ब्रह्मणो ये न वाच्यताम् ।

मृष्यन्ति तेऽभिगच्छन्ति सर्वलोकस्य वाच्यताम् ॥

## ८. भेदः ।

अथ भेदनिराकरणे सरम्भं दर्शयति । वस्मै प्रयोजनायेदं कल्पत इति तु न विद्मः । यदि हि प्रमाणबलात् विश्वमिध्यात्वं जीवब्रह्मैक्यं च सिद्धयेत् तावता अद्वैतं सिद्धयेदेव । किं विशिष्य भेदनिराकरणेन । व्यावहारिकं भेदं न निराकुर्म इति स्वयमेव वदति । तात्त्विकस्तु भेदो व्यावहारिकाणां वस्तूनां परस्परं न सम्भवति । मिध्याभूतेऽर्थे तात्त्विकार्थासमवायात् । तेभ्यो ब्रह्मणि तु सम्भवति । परन्तु किमर्थं स निषिध्यते । अद्वैतसिद्धयर्थमिति चेन्न । भावाद्वैतपक्षे भेदस्य स्वरूपातिरेकेऽपि दोषविरहात् । पक्षान्तरेऽपि स्वरूपानतिरेकाभ्युपगमेनोपपत्तेः । नित्यत्व-



सत्त्वानन्दत्वादिकमपि हि तथैव समर्थ्यते । तत्र भेदस्य स्वरूपानतिरेकाङ्गीकारेणाद्वैतरक्षणे कः क्लेशः । ब्रह्मणि घटादिभेदो हि प्रतीयते इष्यते च । न च स व्यावहारिकः, तात्त्विकस्तु निषिध्यत इति वाच्यम् । व्यावहारिकत्वे मानाभावात् । न च दृश्यत्वेन मिथ्यात्वात् व्यावहारिकत्वम् । तात्त्विक इति विशेषणेऽपि दृश्यत्वानपायेन मिथ्यात्वापत्त्या तात्त्विकभेदान्तरासिद्धेस्तन्निषेधस्याशक्यत्वात् । किञ्च तात्त्विकस्य प्रपञ्चभेदस्य ब्रह्मणि निषेधे तदभेदापत्तिः । परस्परविरांघे प्रकारान्तराभावात् । घटे कल्पितघटान्तरभेदभ्रमस्थले भेदनिषेधेऽपि अभेदापत्तिर्नास्तीति चेन्न । वैषम्यात् । भ्रमस्थलं हि तत् । भ्रमसिद्धस्य भेदस्यैव घटान्तरस्यापि विरहात् न तदभेदापत्तिः । भ्रमसिद्धमपि घटान्तरं विद्यमानं कृत्वा घटे तद्भेदमात्रनिषेधे तत्रापि अभेदापत्तरपरिहार्यैव ।

किञ्च यदि भेदः स्वरूपं धर्मो वेति विकल्प्य निराक्रियते तर्हि तथैव रीत्या अभेदस्यापि निराकर्तुं शक्यत्वात् अभेदप्रत्ययोऽपि बाधनावषयः स्यात् । न चाभेदस्य श्रुत्यनुग्रहो विशेषः । अभेदबाधकश्रुत्यभावस्य प्रागेवोपपादितत्वान् । तस्माद् ब्रह्मणः स्वस्मादभेदो यथा उपपाद्यते तथैव प्रपञ्चाद् भेदस्यापि उपपादयितुं शक्यत्वात् उपपादनीयत्वात् निराकर्तुमशक्यत्वाच्च भेदनिराकरणं सर्वथा निष्कलमिति स्थितम् । तथापि घटपटभेदादिसाधारण्येन सर्वभेदखण्डनाभिनिवेशः केवलं कलहोद्धरतां प्रकाशयति । न च भेदापह्नवः शक्यः । तथा हि । वादिप्रतिवादिस्थापनाप्रतिस्थापनाभूषणदूषणयुक्तिप्रभृतीनां भेदं गृहीत्वऽवा वादः प्रवर्त्यते, अगृहीत्वा वा ? आद्ये अभ्युपगतो भेदः । अन्त्ये परपक्षमङ्गः । नापि स्वपक्षविजयः । पक्षभेदाभावात् । वाद् एव च निरवकाशः । यत्तु व्यावहारिकभेदाभ्युपगमेन सर्वा व्यवस्था स्थिता । पारमार्थिकं तु भेदं निराकुर्म इति । तत् स्वमताभिनिवेशाधर्माच्चित्तविभ्रमविजम्भितम् । न ह्यस्माभिरेवं द्वौ भेदावभ्युपगतौ, यत एवं

विभागवचनं उपपद्येत । घटपटभेद उभयोरावयोः सिद्धः । स भवतो व्यावहारिकः । मम तु तात्त्विक एव । अयमेकः प्रतीयमानो भेदो बाधित इति भवता साधनीयम् । नेत्यस्माभिः । तत्र तात्त्विकव्यावहारिकभेद-कल्पनाऽनवकाशा । कल्पनायां च सिद्ध एव भेदः । तथा च वादे प्रवर्तमानेन भवता स्वपरभेदमङ्गीकृत्यैव प्रवृत्तोः भवदीयं भेदखण्डनपरं सर्वं वाक्यं माता मे बन्ध्येतिवत् बाधितार्थमेव । इदमलं सद्यो भवतो निग्रहाय । तथापि तत्त्वानिरूपणकुतूहलाद् ब्रूमः ।

योऽयं घटे पटभेदोऽनुभूयते स कथमपह्नूयेत । न ह्ययमनुभवः शुक्तिरजतानुभववद् भ्रमः । परीक्षितप्रामाण्यत्वात् । स्वरूपं वा धर्मो वा अन्यो वेति निरूपणानर्हत्या नास्तीति निश्चीयत इति चेन्न । कारण-दोषबाधकप्रत्ययविरहात् ज्ञानानां स्वतः प्रामाण्याच्च विषयसत्ताया अवश्यम्भावान् । अन्यथा घटपटादिकमपि नास्तीति स्यात् । न चेष्टापत्तिः । विशिष्य भेदनिराकरणसम्भ्रमस्यायुक्तत्वात् । घटादेः शुक्तिरजतवैलक्षण्याभ्युपगमविरोधाच्च । तस्मान् घटादिप्रत्ययस्य घटादिवत् तद्भेदप्रत्ययस्य भेदोऽपि विषयो भवताऽप्यङ्गीकर्तव्य एव । एवं सिद्धे भेदे स क इति निरूपणं भवतोऽपि भारः, न त्वस्मदादीनामेव । यत्तु

अस्माकमविद्यासामर्थ्यात् सर्वानुपपत्तिविधूननोपपत्तिः । न हि मायायामसम्भावनीयं नाम । तथा च परस्पराश्रितमपि इन्द्र-जालवद् दर्शयिष्यति ।

इति. तन् किं स्वस्थबुद्धिनैवोच्यत इति संशेमहे । अश्वार्थी भवान् महिष-दर्शने कुतो निवर्तते । सर्वत्र्यवस्थोल्लाङ्घिनी हि माया अश्वभेदं निवर्त्य महिषमप्यश्वं कर्तुमीष्टे । न हि मायायामसम्भावनीयं किञ्चिदस्ति । तत्र माया भेदनिवर्तनाभेददर्शने न करोति । तेन निवृत्तिर्गति चेत् तर्हि तत्र मायासम्बन्धो नास्तीति निश्चीयते । यथा च मायाव्यपदेशेन भेद-दृषणनिस्तारो दुर्लभः । अभ्रान्ताः सर्वे अश्वार्थिनः महिषदर्शने निय-

मेन निवर्तन्त इति सम्प्रतिपन्नमावयोः । तेन तत्र अबाधिता भेदप्रति-  
पत्तिरस्तीति च । एवं सति व्यवहारदशायामेव भेदं बाधितुर्माहमानेन  
भवता व्यवहारव्यवस्था कथमुपपाद्यते । यदि मायया शुक्तिरजतव-  
द्भेदभानमिष्यते तर्हि तद्भेदेव बाधोऽपि भवेत् । न च क्वचिदपि कदाचि-  
दपि भवति । अथ माया अश्वादिवदेव तद्भेदमपि भासयतीत्युच्यते तर्हि  
अश्वादौ सत्येव अश्वप्रतीतिरिति वत् भेदे सत्येव भेदप्रतीतिरिति इयं  
प्रमैव भवति । न तु बाधितविषया सती अप्रमा । न च तृतीयः प्रकारः  
कश्चिदस्ति । अत एव

भेदस्तत्प्रतीतिश्च यदि मायिकी न स्यात् सर्वव्यवस्थोल्लङ्घनी

न स्यात् । सर्वव्यवस्थोल्लङ्घनी चेयम् । तस्मान्मयिकी ।

इत्यापादनमयुक्तम् । भेदतत्प्रतीत्योर्व्यवस्थोल्लङ्घित्वासद्धेः । यथाप्रतीति  
व्यवस्थाप्यत्वत् । प्रतीतिर्हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणमिति स्थितेः ।  
व्यवहारदशायामापतन्तीनामप्यनुपपत्तीनां मायिकत्वेन अभ्युपगम्य परि-  
हारे भवता वादिनिरसने तदर्थं विपुलग्रन्थकरणे च न प्रवर्तितव्यम् ।  
परैरुद्भाव्यमानानां दूषणानां सर्वेषामभ्युपगमेऽपि मायामहिम्नैव सिद्धा-  
न्तसिद्धेरेष्टं शक्यत्वात् । इन्द्रजालेऽपि व्यवस्थोल्लङ्घनं नैवास्ति ।  
बीजान् सयां वृत्तोत्पत्तेः तैलविशेषसेचनरूपकारणाधीनत्वात् । इत्थं सर्व-  
जनविदितकारणादर्शनेऽपि सर्वत्रैव कारणविशेषस्य सत्त्वात् । अतः

उक्तश्रुत्या अस्वव्याघातकयुक्त्या च भेदस्य बाधात् अभेद-

स्याबाधाच्च स्वाभेदस्वभेदयोर्व्यावहारिकत्वे समानेऽपि स्वाभेदं

परित्यज्य भेद एव सर्वथा प्रद्वेषो नाकारणकः ।

इति निगमनं स्वाभ्युपगतकेवलद्वेषमात्रमूलकमिति स्पष्टम् । घट-  
पटाश्वमहिषाद्यभेदबोधिका या क्वचिदपि श्रुतिर्नादाहृता । न चास्ति,  
सम्भाव्यते वा । अस्वव्याघातकयुक्तिश्च अस्मन्मत एव सुलभा, न तु  
भवन्मते । भवान् हि भेदसामान्यं नेच्छति । तेन सर्वाभेदः फलति ।

तत्र भेदखण्डनयुक्तीनामापि भूषणयुक्त्यभेदेन स्वाव्याघातकता दुष्परि-  
हारा । न चास्मन्मते एवम् । यत्र भेदः प्रतीयते तत्रैव तत्स्थापनात् ।  
अभेदां यत्र प्रतीयते तत्र तदभ्युपगमात् । तेन स्वस्य स्वाभेदोऽपि न  
सिद्धयेदिति स्वाव्याघातकताया आपादायितुमशक्यत्वात् । तदेवं प्रमा-  
णयुक्तभ्यां भेदबाधस्यासिद्धेः अकारणक एव भवतां भेदविद्वेषः ।  
अथवा सकारणक एव । अद्वैतरागमूलत्वान् । 'कामान् क्रोधोऽभिजायते'  
इति प्रसिद्धेः ।

भेदखण्डनयुक्तीनां तत्त्वतो भेदान्वारकत्वेऽपि व्यावहारिकभेद-  
स्यानिराकरणेन स्वाव्याघातकतोपपत्तोः ।

इति प्रथममुक्त्वा पश्चाद्व्यावहारिकभेदान्वारण एव संरम्भं बहता  
सुष्ठु तावत् वादकुशलता विस्मम्भणीयता च आविष्कृता । दृढप्रत्यक्ष-  
सिद्धश्च भेदश्चतुर्मुखेनापि न निराकर्तुं शक्य इति जानातु भवान् ।  
तदिदं प्रत्यक्षप्राबल्योपपादनेन अभेदार्थकश्रुतिविरहप्रदर्शनेन च पूर्व-  
भेदावेदितम् । तदेवं

दृढप्रत्यक्षासिद्धत्वाद् बाधकस्यानिरूपणात् ।

भवताऽप्यभ्युपेतत्वाद् व्यवहारदशाजुषा ॥

तन्निवासस्य चाद्वैतसिद्धावनुपयोगतः ।

एष्टव्यः कुर्वता दूरे द्वेषं भेदोऽप्यभेदवत् ॥

भेदस्वरूपं तद्दूषणपरिहारादिकं च सर्वं पूर्वाचार्यग्रन्थेष्वेव विशदयितं  
वेदान्ती तान्त्ररूपेण वयं प्रवर्तमानहे ।

## ६. भेदप्रत्यक्षम् ।

नाहं सर्वज्ञः, नाहं निर्दुःखः, इत्यनुभवात् जीवस्य ब्रह्मभेदः  
सिद्धयति । अत्र यदुक्तम् - अस्यानुभवस्य अन्तःकरणाद्यवच्छिन्नचै-  
तन्ये तदनवच्छिन्नचैतन्यप्रतियोगिकभेदावगाहितया शुद्धचैतन्यधर्मि-  
कनिर्दुःखादिप्रतियोगिकभेदावगाहित्वं नास्तीति । तेन जीवेश्वरभेदोऽङ्गी-

कृत एव भवति । भेदाधिकरणं जीवः अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यमित्ये-  
 तत्तु अद्वैते सिद्धे वक्तुं युज्येत । इमं प्रतीयमानं भेदमनुसृत्य जीवस्व-  
 रूपमन्यन्, ईश्वरस्वरूपमन्यादिति प्रतिजानामहे । तत्राभेदरक्षणपरैः  
 भेदस्यान्यथासिद्धये जीवस्वरूपं वाऽन्यथा कल्पनीयं, तत्त्वमसाति श्रुते-  
 र्वाऽन्योऽर्थो वाच्य इति विमर्शं पूर्वपक्षो भवद्विराश्रितः । उत्तरोऽस्माभिः ।  
 अयमेव युक्त इति चोपपादितम् । एवं सातं नाहं सर्वज्ञ इत्यादि जीवेश्वर-  
 भेदानुभवस्य शुद्धचैतन्ये निदुःखादिप्रातयोगिकभेदावगाहित्वं नास्तीत्यु-  
 क्तिरसङ्गता । न हि शुद्धचैतन्ये भेदावगाहित्वं केनचिदुक्तम् । प्रबलप्रत्य-  
 क्षसिद्धत्वाज्जीवेश्वरभेदस्य तदभेदो न श्रुत्यर्थ इत्येव वाच्यम् । अतोऽद्वै-  
 तार्थापत्तिविरहादन्तःकरणावच्छिन्न एव भेदग्रह इत्येतन्नास्ति ।  
 अन्तःकरणस्य बहिःकरणवन् करणत्वेन जीवस्वरूपानन्तर्गतत्वान् ।

यद्यपि साङ्ख्यमत इव अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यमेव जीवः तथापि  
 इदं जीवचैतन्यं निदुःखत्रहचैतन्यः दान्यदेव । अबाधितभेदप्रत्ययान् ।  
 एतदाभासीकरणक्षमस्य प्रमाणान्तरस्य यस्य कस्याप्यभावान् । अस-  
 म्भवाच्च । चैतन्यनिष्ठो हि प्रतीतिगम्यो भेदः । अन्तःकरणस्यावच्छे-  
 दकमात्रत्वान् । यथा घटत्वावच्छिन्ननिष्ठः पटभेदो घट एव न घटत्वे ।  
 अस्मिंस्तु तद्भेदः प्रत्ययान्तरगम्यः । तथेति । यदपि साक्षिप्रत्यक्षस्या-  
 ध्यस्तसाधारणतया तत्सिद्धत्वमात्रेण भेदे अबाधितत्वमसम्भावितमेवेति,  
 तदपि भवद्भिन्नसंनिर्णयःऽप्रमाणिकत्वादेव निरस्तम् ।

इत्थं जीवेश्वरभेदवत् जीवानां परस्परं भेदोऽपि प्रत्यक्षसिद्धः । नहं  
 चैत्र इति । अहमर्थश्चेतनः चैत्रशरीरात्मभूतचेतनादन्य इति हि तदर्थः ।  
 घटो न ब्रह्म, घटः पटो न, नाहं घटः, इत्यबाधितप्रतीतिबलात् एतेऽपि  
 भेदाः सिद्धाः । यत्तु कल्पितभेदविषया इमाः प्रतीतय इति । तत्र ।  
 कल्पितत्वे प्रमाणाभावान् । एतद्विराधेनाद्वैतस्यैव कल्पितत्वावगमात् ।  
 तस्माद्भेदपञ्चकं प्रत्यक्षसिद्धमित्येतन्नष्कम्पम् ।

अवर्ज्यः प्रमिता भेदा भवद्भिर्भङ्क्तुमिष्यते ।

विना मानं विना युक्तिं स्वसिद्धान्ताक्तिमात्रतः ॥

### १०. भेदानुमानम् ।

यद्यपि प्रत्यक्षसिद्धेऽर्थे अनुमानमनपेक्षितम्, तथाऽपि तत्करसिकतया भेदेऽनुमानमप्याद्रियमाणाः प्रयुञ्जते—“जीवेशो भिन्ना, विरुद्धधर्माधिकरणत्वात्, ददनतुद्दिनवत्” इति । अत्राह—दुःखादेरन्तःकरणस्यैव धर्मत्वेन स्वरूपासिद्धिरिति । इदमयुक्तम् । यदि ह्यन्तःकरणस्यैव दुःखादि न चैतन्यस्य, तर्हि तस्यैव संसारित्वं स्यात् । तान्नवृत्तिरूपो मोक्षश्च तस्यैव । न चैवमिष्यते । अस्मिन्नेव प्रकरणे अन्ते ‘ब्रह्मणो जीवत्वस्य संसारित्वं पक्षे इष्टापत्तिः’ इति जीवस्य भवता तदभिधानात् । न च जडस्यान्तःकरणस्य दुःखित्वं सम्भवति । प्रयोगश्च; अन्तःकरणं न दुःखि, जडत्वात् पटवत्, इति । तस्मान्न तावत् स्वरूपासिद्धिरनुमानदोषः ।

नापि एतन्नैव निदुःखत्वदुःखत्वयोरवच्छेदकभेदेन दृष्टतया धर्मिभेदासाधकत्वम् । एतन्नैव दृष्टयोः अविरुद्धत्वेन हेत्वन्तर्भावान् । के तर्हि विरुद्धा धर्मा इति चेत्, एवं पृच्छन्तः कोऽभ्रमायः ? किं ते नैव सन्तीति अथवा सन्तीति । आद्ये ‘तथा जीवेशयोर्भिन्दा’ इति जीवेशभेदस्यानन्तित्वेन गणनं नोपपद्यते । न हि विरुद्धधर्माधिकरणत्वे भेदो भवेत् । अन्त्ये कुतोऽस्मान् प्रति प्रश्नः । भवताऽपि हि ते वक्तव्याः । ईश्वरदेन प्रश्न इति चेन्न । सौहार्दस्याप्रकाशानात् । विरुद्धसायाः प्रकाशानात् । देहोपद्रवजन्यं हि दुःखं अवच्छेदकदेशभेदेन स्वाभावसमानाधिकरणं कथञ्चिद् भवेत् । न तु पुत्रमरणराज्यावहारादिजन्यम् । इदं च दुःखं जीवस्य प्रत्यक्षसिद्धम् । ईशस्य एवमादिदुःखं सर्वथा नास्तीति श्रुतय आहुः । ईशशयोश्च दुःखित्वप्रतियोगिव्यधिकरणतदभावयोर्विरुद्धधर्मत्वेन विवक्षायां सत्यां अविरुद्धौ तावादाय प्रयोग-

दूपणं नैव आर्जवत्क्षणम् । एवं सार्चयितदभावौ जगत्कर्तृत्वतदभावौ अत्या-  
नन्दत्वानिरतिशयानन्दत्वे च तादृशा धर्माः । दुःखित्वदुःखवद्भेदौ च तथा ।

अथ यत् भेदमात्रे सिद्धसाधनम् । तात्त्विभेदे साध्यवैकल्यामिति,  
तदपि फल्गु । कीदृशं भेदमादायेदं सिद्धसाधनमुच्यते, प्रातिभासिकं  
वा घटपटयोर्यादृशस्तादृशं वा घटाकाशमहाकाशयोर्यादृशस्तादृशं वा ।  
नाद्यः । बाधाभावेन प्रातिभासिकत्वायोगान् । भवतैवानभ्युपगमाच्च । अत  
एव न द्वितीयः । न हि त घटपटयोरिव दहननुद्दिनयोरिव च जीवेशयो-  
र्भेदः इष्टः । ईदृशश्च भेदः साध्यत्वेन निर्दिष्टः । अत एव न तृतीयः ।  
स्वापनायां तादृशस्य अनिर्देशान् । तथा च दहननुद्दिनयोरिव जीवेशयो-  
र्भेदस्य सिषाधयिषितत्वान् तत्र च भवता सिद्धसाधनस्योद्भावयितुमश-  
क्यत्वाच्च, भेदप्रमितौ सत्यः बाधः प्रमाणाभावेन स्वयमेव तात्त्विभेदसि-  
द्ध्या प्रयोगे तद्गतमनपेन्ननिनि साध्यवैकल्यादिप्रयुक्तदूषणस्य नास्त्य-  
वकाशः एतेन । साध्याप्रसिद्धिनिवन्धन दूपणं सर्वं निरस्तं वेदितव्यम् ।

यच्च 'प्रसिद्धेतरभेदः पृथिव्यामिव प्रसिद्धजीवभेदां ब्रह्मणसिद्धयतु ।  
न तावता तद्गततात्त्विभेदमि सिद्धयति । व्यापकव्यतिरेकस्य व्याप्य-  
व्यतिरेकमात्रसाधनसमर्थत्वान् र्जत तदपि दत्तोत्तरम् । न हि सुप्रतिष्ठि-  
तेन प्रमाणेन प्रमेये प्रमिते पुनस्तत्र तात्त्विभेदसिद्धयै पृथग्यतनीयम् ।  
प्रमितस्यातात्त्विभेदायोगान् । अतात्त्विभेदस्य प्रमितत्वायोगान् । जीवेश-  
भेदस्य तात्त्विभेदे अद्वैतं न सिद्धयतीति चेत् सत्यं न सिद्धयति । तत्र  
अनुकम्पैवास्माकं भवन्तं प्राति । तथापि किं क्रियताम् । प्रमाणशरणां इ-  
वयम् । अतः सुहृद्भावेन ब्रूमः—

त्यज्यतां केवलाद्वैतं दुस्साधं निपुणैरपि ।

आपादचूडसुभगं विंशष्टाद्वैतामध्यताम् ॥

यच्च भेदानुमानविशेषाणां स्वशब्दधर्मशब्दादि प्रयोगनिबन्धनान-  
नुगमदोषाद्भावनं तत् स्वोपन्यस्तस्वप्रागभावव्यतिरिक्त्यादिकमपि

गोचरयतीति पूर्वमेवोक्तम् । अत्राह—“न चैवं स्वप्रागभावव्यतिरेकेत्यादौ का गतिरिति वाच्यम् । तत्राप्येतदृषणसञ्चारेण व्यतिरोर्काण वाऽनुमानान्तरे वा तात्पर्यात्” इति । एवं

संरम्भेणातिमहता साधितं यन् तदेव चेत् ।

अवद्धमुच्यते पश्चान् कथ विश्वसनीयता ॥

न चानुगम एव । अनुगमस्य सुकरत्वात् । यथा ‘ब्रह्म स्वज्ञानाबाध्य-जीवप्रतियोगिकभेदवत्, पदार्थत्वान् घटवत्,’ इत्यत्र जीवप्रतियोगिकभेदवैशिष्ट्यं साध्यम् । वैशिष्ट्यं च स्वाश्रयत्वमनाबाध्यत्वज्ञानरन्ध्रोभयसम्बन्धेन । अत्र आद्यौ स्वशब्दौ भेदपरौ । अन्त्यः ब्रह्मपरः । सम्बन्धघटकश्च स्वशब्दः नानुगमावरोधीति विदन्ति तर्कनिपुणाः । अनुमानान्तरेऽवप्येवं द्रष्टव्यम् ।

यदुक्तं—“अप्रमेयेऽनुमानस्य प्रवृत्तिर्न कथञ्चन । प्रमेयस्य त्वनात्मत्वान् तत्र भेदानुमेप्यते ॥ शुद्धचैतन्ये धर्मानधिकरणतयाऽनुमानाप्रसरः । यत्र प्रसरः तत्रेष्टापत्तिरित्यर्थः” । इति, मिथ्यागाम्भीर्यविजृम्भितमेतत् । याद परमार्थोऽयं आदावेव हि एवमुक्त्वा दूषणादुपरतैर्भाव्यम् । किञ्च—

अप्रमेयमसद्वतु प्रमेयमनुमापदम् ।

तदसद्वेष्यतां ब्रह्म भिन्नं वा चेतनान्तरान् ॥

तदेवम्—

सुप्रसिद्धविशेषत्वादन्यथानुपपत्तितः ।

सर्वशक्त्यल्पशक्त्यादेर्न भेदे तन्त्रता कुतः ॥

## ११. जीवभेदः

जीवाश्च परस्परं भिन्नाः । अत्र स्थापना च—चैत्रो मैत्राद् भिन्नः मैत्रानुसंहितदुःखाद्यनुसन्धानृत्वान् । घटवत्, इति । इदं दूषयन्नाह ‘उर्पाह-तस्य पक्षत्वेऽर्थान्तरान् । चैतन्यस्य पक्षत्वं हेत्वसिद्धेः ।’ इति । इदमसत् ।



परं प्रति एवं विज्ञानुपपत्तः । न हि उपहितं चैतन्यं जीव इति परस्य मतम् । स्वमतानुसारेणायं विकल्प इति चेन्न । पराभिमतत्वेन स्वमतसिद्धस्वार्थस्य विकल्पनायोगान् । पराऽपि स्वमतसिद्धमर्थं अस्मान् प्रति प्रयुज्यमाने प्रयोगे पक्षीकर्तुं नार्हतीति चेत् सत्यम् । अत एव उभयसाधारणाकारः पक्षो ग्राह्यः । चैत्रशरीरावच्छिन्नो भोक्ता हि कश्चिदुभयपक्षसिद्धः । तस्य मैत्रशरीरावच्छिन्नभोक्तृभेदे सिद्धे अनुपहितमेव जीवस्वरूपमिति सिद्धयति । असिद्धे तु उपहितं चैतन्यामिति भवन्मतं स्थास्यति । तदेतदनुमानपर्यवसानफलम् । ततः पूर्वं तु साधारणमात्राकारः पक्षः प्रतिपत्तव्य इति तस्यैवं स्वमतानुसारेण विकल्प्य दूषणं परदूषणशीलतामात्रं प्रकाशयति । न वादकुशलाताम् । अथ यन् साधनैकदेशस्थाननुसन्धानादेरुपाधित्वमिति, तत्रोच्यते । चैत्रः मैत्राभिन्नः अनुसन्धावृत्त्यात् इति उपाध्यभावेन साध्याभावसाधने अन्वयदृष्टान्तस्तथावन्नास्ति । अतो व्यतिरेकदृष्टान्तो वाच्यः यत्र यत्र मैत्रभेदः तत्र तत्र अननुसन्धानम् । यथा घट इति । तत्र जडत्वमुपाधिरिति उपाधेः सोपाधिकत्वान्नानुमानदूषकत्वम् ।

किञ्चात्र उपाधेः साध्यव्यापकत्वमेव नास्ति । यत्रोपाध्यभावः तत्र साध्याभाव इति व्यतिरेकव्यापतेरसिद्धेः । अस्ति ह्यनुसन्धानं यज्ञदत्तादिषु । न च तत्र मैत्राभेदः सिद्धः । भ्रान्तोऽसि । मन्मते स सिद्ध एवेति साधिक्षेपा ब्रह्मानन्दोक्तिर्विस्मयावहा । परकीयानुमानदूषणाय हि उपाधिरयमुद्भासितः । तत्र अभेदनिरसनायैव परेण प्रयुक्ते अनुमाने स्वसम्मतभेदमुपजीव्यैव दूषणाभिधानं कथं युज्यते । विप्रतिपत्त्या सन्दिग्धो ह्यभेद इति । यदप्यत्र तेनैव हेतुदूषणं कृतं 'शरीरजन्येत्यत्र शरीरम्येव मैत्रानुसंहितेत्यस्य वैयर्थ्यं' इति तदप्युक्तम् । अधिकविशेषणे सत्यमि व्यापतेरनपायत् । न हि पर्वतो वह्निमान् वह्निजन्यधूमवत्त्वान् इत्युक्ते अनुमितिन भवेत् । तदिदं पूर्वमेवोक्तम् । तदेवं

द्वैतनामिदमनुमानं अदुष्टमिति स्थितम् । वयं तु सामान्यमुखीं व्याप्त-  
मत्र आद्रियामहे । यो नियमेन यद्भृत्तिधर्मानधिकरणं स ततो भिन्नः,  
यथा अश्वो माह्वपान् । नियमेन मैत्रवृत्तिदुःखानुसन्धानराहितश्च चैत्रः ।  
तस्मात् ततो भिन्न इति ।

उक्तेऽनुमानेऽनुकूलनर्कः व्यवस्थातो नानेति महर्षिन्मूत्रप्रसिद्ध एव ।  
यदि भेदा न स्यात् तर्हि मैत्रसुखदुःखादेः चैत्रेण अनुसन्धानात्तरिंति ।  
अत्रान्यथासिद्धिं वदन् अन्तःकरणभेदाद् व्यवस्थंत्याह । न तु तदुपप-  
न्नम् । उपाधिभेदेऽपि आत्मन एकत्वान् । आत्मभेदे सत्यपि वैशेषिकादि-  
मते मनआदिभेदेन व्यवस्था न शक्या वक्तुमिति सूत्रभाष्ये उक्तम् ।  
तथा सति आत्मैक्ये किं वक्तव्यम् । एकस्य ह्यात्मनः बहु-वन्तःकरणेषु  
सत्सु तदधीनान् सर्वान् भागान् स एव भुङ्क्ते इति प्राप्नोति । तत्र  
व्यवस्थाया हेतुर्नास्ति । यथा शरीरभेदो वा इन्द्रियभेदो वा न व्यव-  
स्थाहेतुः तथैवान्तःकरणभेदोऽपि । विशेषाभावात् । अत्राह । “अन्यकर-  
णभेदे तथा दर्शनेऽपि अन्तःकरणभेदस्य तदैक्याध्यासाभे अननुसन्धा-  
नप्रयोजकत्वं कल्प्यते । अन्यथा ब्रह्मैक्यस्य जीवे श्रुतिसिद्धतया सर्वा-  
नुसन्धानापत्तेः ।” इति ।

अत्यन्तशोचनीयत्वमात्मनः प्रययत्ययम् ।

भेदाय दर्शितं तर्कमभेदाय प्रदर्शयन् ॥

भोगसङ्करो नास्ति । आत्मैक्ये स आपद्येत । अत आत्मानो नानेति-  
र्हि भेदवादिनस्तर्कं प्रदर्शयन्ति । अन्तःकरणस्य करणान्तरंष्वदृष्टं अननु-  
सन्धानप्रयोजकत्वं कल्प्यम् । अन्यथा सर्वानुसन्धानापत्तेः, इति तमेव  
तर्कमवलम्ब्योक्त्वा आत्मैक्यं रक्षितुमिच्छति । तथा च प्रबलतर्कोप-  
ष्टब्धेन प्रबलेनानुमानेन आत्मभेदं साधयन्तं प्रबलं वादिनं प्रति किमप्य-  
न्यद्वक्तुमशक्नुवन् आत्मैक्यं श्रुत्यवगततया व्यपदिश्य यदन्तःकरण-  
भेदस्य अश्रद्धेयमसम्भावनीयं च भोगव्यस्थापकत्वं कल्पयति तद्युक्ति-

दार्द्र-चोपननां महतीं दुरवस्थां आवेदयतीति मधियां सुगमम् । अश्रम-  
हिषयोरैक्यं कृत्वा यदि कश्चन ब्रूयात् चक्षुषोस्तादृशी काचन शक्तिरस्ति  
यथा ते कदाचिदश्रत्वेन प्रकाशयतः कदाचिन्महिषत्वेन, सहावस्थाने च  
पृथक् पृथक् अश्रत्वेन महिषत्वेन चेति, तादृगिदं भवति । यथाऽत्र  
पृथग्व्यक्तिदर्शानां विरुद्धधर्मदर्शनाच्च मिथो भेदः कल्प्यते, न तु  
चक्षुषोः शक्तिविशेषः तथा चैत्रमैत्रयोः पृथग्दर्शानां परस्परदुःखाद्यना-  
धारत्वाच्च भेदः कल्पनीयः, न त्वन्तःकरणभेदस्य कश्चन सामर्थ्यविशेषः ।  
असम्भवी च अन्तःकरणस्य व्यवस्थापकत्वम् । न ह्यात्मानमेतच्छ्र-  
नन्ति, येन व्यवस्था भवेत् । अविद्याभेदेऽपि सर्वमेतत् समानम् ।

बन्धमोक्षसामानाधिकरण्याय च आत्मभेदोऽभ्युपेयः । उपाधिशून्य  
एव मुक्तः । तस्यैव पूर्वं बद्धत्वं वाच्यम् । अन्यथा अन्यो बद्धः अन्यो  
मुक्तः इति वैयधिकरण्यापत्तेः । स चोपाधिं विना स्वत एव जीवः  
सन्नात्मा तादृशबद्धान्तरभोगं न लभत इति आत्मन एव आत्मान्तराद्  
भेदो वाच्यः । अत्र 'मोक्षस्य शुद्धगतत्वेऽपि दुःखाद्यनुसन्धातृत्वस्य  
उपहितवृत्तितया शुद्धभेदापादनायोगान्' इत्यनेन न किमापि समन्धान-  
मुक्तं भवति । दुःखाद्यनुसन्धानं निरुपाधिकस्यैवेति कृत्वा हि तस्य  
भेदं परे आहुः । तत्र 'दुःखाद्यनुसन्धातृत्वस्य उपहितवृत्तितया' इति  
स्वमतस्य सिद्धवत्कारेण किं कृतं भवति । तस्मादात्मभेदाभावे उपाहतं  
बद्धं, शुद्धं मुक्तमिति वैयधिकरण्यं दुष्परिहरमेव । भेदे सति य एव पूर्वं  
बद्धः स एव मुक्त इति सामानाधिकरण्यं भवति ।

यच्च 'आत्मेन्द्रियमनायुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषणः' इति श्रुतेर्विशिष्टस्यैव  
भोक्तृत्वात् तस्य भिन्नत्वाद् व्यवस्थेति मतमुक्तं तच्च न साधु । अचेत-  
नानां भोक्तृत्वायोगान् । उपकरणतयैव आत्मेतरेषां साहित्यवचनान् ।  
यथा दण्डचक्रादिमानेव कुलालो घटस्य कर्तेत्युक्ते न विदिष्टस्य कर्तृत्वं  
तद्वदत्रापि । विशिष्टे विशेष्यस्यापि घटकत्वात् तस्य चैकत्वात् अप-

रिद्दार्थं भोगसाङ्कर्यम् ।

अथ यत् “किञ्च उपाधिकल्पितांशजीवानां वाऽनुसन्धानमापद्यते, अंशिनो ब्रह्मणो वा” इति विकल्प्य किञ्चिदुच्यते तत् जीवब्रह्मणोः स्वरूपस्य ईदृशस्य परैरनभ्युपगमान् तान् प्रति एवं विकल्पायोगाभिरस्तम् । यच्च “पादावन्निद्रन्नदुःखस्य हस्तावच्छिन्नेऽनुत्पादवत् चैत्रीयदुःखाद्यनुसन्धानस्य मैत्रेऽनुत्पादः । हस्ते दुःखप्रयाजकसामग्रीविरहवत् मैत्रे अनुसन्धानप्रयोजकोपाध्यैक्याभावान् ।” इति, तत् शब्दान्तरप्रयोगमात्रम्, न त्वपूर्वयुक्तिविशेषप्रदर्शनम् । आत्मैक्ये सति हस्तपादभेदवत् अन्तःकरणभेदांऽपि नानुसन्धानहेतुगिनि परे श्रावयन्ति । तत्र ‘अनुसन्धानप्रयोजकोपाध्यैक्याभावान्’ इत्युक्तिमात्रं न शोभते । पादे यद्यपि वेदना, नावयवान्तरे, तथाऽपि ‘मे’ इति स्वकीयत्वानुसन्धानं न तत्र न विहन्यते । तथा शरीरान्तरे ‘मे’ वेदना इत्यनुसन्धानं स्यादेव यद्यात्मैक्यं स्यात् । एतेन ‘तवात्मभेदेनेव अवच्छेदकाज्ञानादिभेदेन मम व्यवस्थोपपत्तिः’ इत्येतन्निरस्तमिति सुग्रहम् । आत्मभेदे हि अन्यदुःखस्यान्यस्मिन् अवर्तमानत्वात् अननुसन्धानं युक्तम् । अवच्छेदकभेदे तु तस्मिन् सत्यपि आत्मन एकत्वात् सर्वं दुःखं तदीयमेवेति अननुसन्धानं नापपद्यते ।

अथ यत् उपाधेर्भेदकत्वं नापपद्यत इति परैर्विकल्प्योक्तं दूषणं परिहरता उक्तं—“सर्वविकल्पासहत्वेन मिश्र्याभूतस्यैवोपाधेर्मिश्र्य भेदप्रयोक्तृत्वस्य प्रागेवोपपादितत्वात् ।” इति ।

तेन भूयः स्वपक्षस्य सर्वथाऽनुपपन्नताः

स्वहस्ताक्षरदानेन विहाता सुप्रनिष्ठिता ॥

युक्त्याभासा अपि यदा न स्पुरान्त तदा भरम् ।

अवद्याशिरास न्यस्य स्वात्मरत्ना गवेष्यते ॥

एवं जीवेशयोः जीवानां परस्परं च भेदां दुरपहव इति दर्शितम् ।

एवमेव जडात् जीवस्य ब्रह्माण्णश्च, जडवस्तूनां परस्परं च भेदो दुरपहव इति तैरेव न्यायैः ज्ञातुं शक्यमिति पुनस्तत्र विस्तरं न कुर्मः ।

## १२. भेदानुवादः ।

एवं यथा प्रत्यक्षानुमानाभ्यां तथा श्रुत्याऽपि भेदः सिद्धयति । द्वा सुपर्णा, य आत्मनि तिष्ठन् इत्यादिभिः जीवेश्वरभेदः, नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामिति जीवानां मिथः, तेभ्यः परस्य च भेदः, अजा ह्येक इति जीवानां, मिथः, एषां प्रधानाच्च भेदो हि गम्यते । अत्राह । द्वा सुपर्णेति मन्त्रावगतां भेदः काल्पनिकः । द्वौ चन्द्रमसाविति वत्, इति । तत्र पृच्छामः । किं स्वरसासद्धान्तमिदं काल्पनिकभेदपरत्वं अथवा अन्याय्यमेव आश्रीयते । न तावदाद्यः कल्पो युज्यते । तत्त्वमसा-  
त्यत्राभेदस्यापि काल्पनिकत्वापातात् । नान्त्यः । अन्याय्याश्रयणे प्रमा-  
णाभावात् । अभेदश्रुतिर्बाधकप्रमाणमिति चेत् भेदश्रुतिरेव तद्बाधिका कुतो न भवेत् । प्रत्यक्षसिद्धभेदानुवादकत्वेन इयं श्रुतिर्हीनबलेति चेन्न । प्रत्यक्षसिद्धभेदविरुद्धार्थकत्वेन अभेदश्रुतेरेव हीनबलत्वात् । न च षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपष्टब्धत्वात् तस्याः प्राबल्यम् । नाहमीश्वर इति दृढप्रत्यक्षबलेन अभेदश्रुतिश्रवणानन्तरक्षणे एव अर्थान्तर एवास्यास्ता-  
त्पर्यमिति निश्चयोदयेन अभेदतात्पर्यलिङ्गानामपेक्षाया एव विरहात् । सतामपि अपेक्षाविरहेण अनुपयोगान् । वस्तुतोऽसत्त्वाच्च ।

वस्तुतस्तु शास्त्रेण सिद्धयन्तीश्वरः चेतनाचेतनाभ्यामन्यत्वेनैव सिद्धय-  
तीति भेदोऽपि शास्त्रगम्य एव । श्रुतस्य तस्य प्रत्यक्षानुभवोऽपि लोके भवति । न हि ईश्वरमजानतां नाहं स इति प्रत्ययः सम्भाव्यते । तज्ज्ञानं च श्रुत्या । सा च, 'द्वा सुपर्णा', न त्वेक एव । तयोरेकोऽयं जीवः कर्म-  
फलभुक् । ततोऽन्यस्तु न कर्मफलभुक् । अभिचाकरोति । सततोऽञ्जलः  
'सर्वेश्वरः' इति जीवान्यत्वेनैव तमुपादशति । वाक्यान्तरेऽवगम्येवं

बोध्यम् । अतो लोकावगतस्य भेदस्य वेदेऽनुवाद इति विपरीतकल्पनेयं तत्रभवताम् ।

अथ यदुच्यते अनुवादः क्त्वाभावेऽपि व्यावहारिकभेदपरत्वेनैव श्रुत्युपपत्तिरिति तदापि दत्तोत्तरम् । व्यावहारिकेतरतांस्त्वकार्थप्रमितेर-सम्भवस्योक्तत्वात् । न ह्यं काचन श्रुतिर्वोधयति । अद्वैतश्रुत्यर्थापत्त्याऽ-वगम्यत इति चेत् न । अद्वैतश्रुतेरेवाभावात् । प्रत्यक्षविरोधेन, आत्मनि तिष्ठन् . अवास्थितेरिति काशकृत्स्नः, इति श्रुत्यन्तरन्यायानुसारेण च सामानाधिकरण्यस्य न्यथैवावपत्तोक्तव्यत्वात् । उक्तत्वाच्च पूर्वाचार्यैः । 'फलाध्यायोपवर्णितमुक्तावप्यनुवर्तमानत्वाच्च भेदस्तात्स्विक एव । यत्तु साऽवान्तरमुक्तिः परममुक्तिस्त्वन्यैवेति तदपि वः केवलकल्पनामात्रम् । मुक्त्यन्तरे प्रमाणलेशस्यापि विरहान् ।

प्रमाणद्वयायाभ्यां यदन्वगतं तन् प्रतियतां

स्थिराभ्यामेताभ्यां यद्वगतमेतद् विजहताम् ।

उदीर्णानाक्षेपान् व्युदसितुमनीशानमनसा-

मविद्याधन्यानां बत भुवि विचित्रं विलसितम् ॥

### १३. तात्पर्यलिङ्गम् ।

आथर्वणे प्रथममुण्डके 'कस्मिन्न भगवो विज्ञाते सर्वामदं विज्ञातं भवति' इति शौनकप्रश्नानन्तरं तत्राभिप्रेतं कार्यकारणयोरनन्यत्वमुपपादयितुं प्रवृत्तोऽङ्गराः प्रथममक्षरशब्दितं कारणमुपादश्य ततः परं विश्वो-दन्ति वदन्ति । तत्र विश्वस्य मिथ्यात्वं वा ब्रह्मणो निर्गुणत्वं वा अविद्या-सम्बन्धो वा अद्वैतसम्मतं किमपि न प्रस्तुतम् । अतः कारणं कार्यं च विशिष्टमेवाभिमतम् । तयोरेवानन्यत्वमुपक्रमोर्पक्षिप्रामिति ज्ञायते । अतोऽत्र उपक्रमः नाद्वैतस्य । अपि तु विशिष्टस्यैव । विशिष्टं च भेद-गर्भमेवेति भेदविषयत्वमुपक्रमस्याविहतम् । परमं साम्यमुपैतीत्युपसंहा-

रश्च अद्वैतविगोध्येव ; यन्तु परमसाम्यमैक्यरूपमिति तत् धाष्टर्यातिशयविजृम्भितम् । न हि परमनीलमित्युक्ते श्वेतमुक्तं स्य न । साम्ये नारतम्यसन्त्वात् परमार्माति विशेषितमिति न तस्य वैयर्थ्यम् । प्रसिद्धं च साम्ये तारतम्यं लोके । पूर्वतन्त्रे च षष्ठतृतीये प्रतिनिधप्रकरणे सुसदृशं ईषत्सदृशमिति ग्रन्थकारः व्यवहरन्ति ।

‘पुरुष एवेदं विश्वम्’ इत्यादि सामानाधिकरण्यं च शरीरात्मभावनिबन्धनमिति स्थितम् । ‘परेऽव्यये सर्व एकीभवन्तीत्यपि लयाभिप्रायं, न त्वभेदाभिप्रायम् । प्रत्ययविषयत्वात् । ‘ब्रह्मैव भवतीति च साम्यपरम् । ‘विष्णुरेव भृत्वा’ इतिवत् । ब्रह्म वेदेति वेद्यवेदितृभावेन ‘कर्म कर्तृव्यपदेशाच्च’ इति न्यायात् भेदस्यास्तत्त्वेन, तस्य नित्यत्वेन च ऐक्यार्थत्वासम्भवात् ।

तदेवं आदिमध्यावसानेषु ऐक्यप्रतिपादनं नास्ति । अतोऽभिक्रमणन्यायस्यात्र न प्रसरः । अपि तु राजसूयन्यायस्य । निश्चितार्थयजिपदानुरोधेन यथा अनिश्चितार्थराजसूयपदार्थावधारणं, तथाऽत्र द्वासुपरोति मन्त्रानुरोधेन पुरुष एवेदमित्यादेरर्थोऽवधार्यः । सामानाधिकरण्यस्य बहुप्रकारत्वेन सन्दिग्धार्थत्वात् । तेन ‘तयोरन्यः दिप्पलं स्वाद्वत्तिः,’ ‘अनश्नन्नन्यः,’ ‘अन्यमीशम्’ इत्यभ्यासो निराबाधः । नायं भेदस्तात्त्विक इति तु पूर्वमेव निरस्तम् । तात्त्विकभेदान्तरं नास्तीति । अपूर्वोऽयं भेद इति चोक्तम् । ईश्वरस्वरूपप्रतिपत्त्यन्तर्गतत्वात् । पुण्यपापे विधुर्येति फले तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः, इत्येवमादिरूपेऽर्थवादे, अन्ति अनश्नन्नित्युपपत्तौ च नातीव विवादः । अतः तात्पर्यलिङ्गानि अद्वैतप्रतिकूलान्येव । एवं अन्यत्रापि द्रष्टव्यम् ।

आत्मेत्येवापासीतेति बृहदारण्यके कामं सूत्रिता ब्रह्मविद्या । सा तु अद्वैतपरेत्यसत् । ‘स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषः, अत एकैकेन भवति ।’ इति पूर्वेण, ‘अत्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति’ इत्युत्तरेण

च एकै कोपासननिन्दाकरणेन सर्वव्यापकब्रह्मापासनत्रिधौ तात्पर्यावगमात् . द्वितीयनिषेधाप्रतांते । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञया च सर्वमस्तात्थेवावगमात् , नास्तीत्यनवगमात् । ब्रह्म वा इदमग्र आसीदित्यस्य सामानाधिकरण्यस्य कार्यकारणानन्यतापरत्वात् । 'आत्मानमेवावेन्' इत्यनेन सर्वोपास्यस्य ब्रह्मणः उपास्यमन्यन्नास्ताति प्रतिपादनात् । मैत्रेयोब्राह्मणे च 'धत्तत्वस्य सर्वमात्मैशभून् तत्कन कं पश्येत्' इत्यत्र सर्वं ब्रह्मात्मकमिति ज्ञाने सम्मन्ने अब्रह्मात्मकेन करणेन अब्रह्मात्मकं वस्तु किमापि न पश्यतात्प्रच्यते । ब्रह्मात्मकः कर्ता तादृशेनैव करणेन तादृशमेव वस्तु पश्यति, न तत्रब्रह्मात्मकतया स्वतन्त्रं किमपीति यावत् । अताऽत्र क्वचिदपि अद्वैतगन्धाऽपि नास्ति ।

'शारारश्चाभयेऽपि हि भेदेनैमधोयने' इति सूत्रचिंथश्च भेदापलापिनां दुवारः । सूत्रत्रण्डनमेव हि अत्रत्येन भवदायभाष्येण क्रियते । कल्पितभेदादश्च निरस्तः । एतेन द्वा सुपर्णेति बुद्धिजीवावुक्तो न तु जीवेश्वरावित्येनदपि प्रत्युक्तम् । 'गुहां प्रचष्टःवत्मानौ हि' इति सूत्रकारेण सुस्पष्टमनिधानात् । 'समाने वृत्ते पुरुषा निमग्नः' इति अनन्तरमन्त्रे पुरुषस्याक्त्या बुद्धिप्रहरणानुपपत्ताः । पैङ्गित्दस्यत्राह्वणेऽपि सत्त्वक्षेत्रज्ञशब्दाभ्यां जावररमात्मानावेवाच्येते इति पूर्वाचार्यैः सुानरूपतम् ।

### १४. ऐक्यम् ।

इत्थं खण्डनपरतया भेदचिन्तां कृत्वा इदानीं स्वसम्मतं अभेदरूपमैक्यं साधयितुं प्रवर्तते । तत्र यन् तदवृत्तिधर्मानाधारस्त्रोत्सन्नितं स्वरूपमेवाभेद इत्युक्तं तत्रापपद्यते । परिपूर्णानन्दत्वासंसारित्वादेर्जीवावृत्तिधर्मस्याधारत्वात् । किञ्च सर्वभेदराहित्यरूपमैक्यं भवत इष्टम् । न चेदं तद्भवति । जीवस्य तद्वृत्तिधर्माणां तदधिकरणस्य तद्भेदस्य च अस्मिन् ऐक्यरारारे षट्कत्वात् । तेषां प्रतिषेधाप्रतांतेः । एतेन परिपूर्णा-नन्दत्वादीनां कल्पितत्वेन ताद्विकथमानाधारत्वाविधाताददाष इति



निरस्तम् । तात्त्विकत्वस्य धर्मविशेषणत्वेन निवेशे प्रतियोग्यप्रसिद्धेः । अनिवेशे कल्पितधर्माधारत्वमादाय असम्भवतादवस्थ्यात् । अपि च जीवावृत्तिधर्मानाधारत्वोक्तौ जीववृत्तिधर्माधारत्वप्रतीतिरपरिहार्या । अन्यथा जीवावृत्तिवोपादानस्य वैयर्थ्यापत्तेः । वायौ नीलरूपं नास्तीत्यत्राप्येवं द्रष्टव्यम् । रूपसामान्याभावतात्पर्येण एवमुक्तं च मत्कारा-  
यैव । रूपं नास्तीत्यस्यैव पर्याप्तत्वात् । नीलरूपमपि नास्ति वा वक्तव्य-  
मिति । तदेवं स्वाभिमतमैक्यं अद्वैतिनां निवृत्तुमशक्यमेवेति ज्ञेयम् ।

### १५. अभेदप्रमाणम् ।

अथ यदुच्यते आत्मनैक्यं तत्त्वमसीत्यादिः श्रुतिर्मानिर्मात, तत् प्रागेव निरस्तम् । ऐतदात्म्यमिदं सर्वमित्युपक्रमानुरोधेन तत्त्वमसीति सामानाधिकरण्यस्य शरीरात्मभावनिबन्धनत्वेन अभेदपरत्वाभावात् । सार्वज्ञ्यासार्वज्ञ्यादिविरुद्धधर्मविशिष्टयोरैक्यस्य अयोग्यत्वाच्च । यत्तु 'सोऽयमित्यादाविव विरुद्धाकारत्यागेन शुद्धयोरैक्यबोधनम्' इति, तन्न तथा । दृष्टान्ते वस्तुतो व्यक्त्यैक्यात् । विशेषणान्तरविशिष्टे अविरुद्ध-  
विशेषणान्तरविशिष्टाभेदस्य बोध्यत्वेन आकारविरोधो वा तत्त्यागो वा तत्र नास्तीत्युपपादितत्वात् । प्रकृते तु अल्पशक्तित्वादिना लोकावेदाव-  
गतस्य जीवस्य सर्वशक्तित्वादिना जीवादन्यत्वेनैव शास्त्रावगतस्य सर्वेश्वरस्य च व्यक्तितोऽत्यन्तभेदात् तदैक्यमयोग्यत्वान्न प्रमेयम् । ननु लक्षितयोरैक्यं बोध्यं ब्रूमः । लक्षिते च शुद्धे । तस्मान्नायोग्यत्वमिति चेन्न । तत्रापि मानाभावात् । तत्त्वंपदाभ्यां प्रत्यङ्गानुमानश्रुतिप्रमाणैर्भिन्न-  
व्यक्तित्वेनावधृत्तयोरुभयोरुपस्थितत्वात् ऐक्यशङ्काऽपि हि नोदेतुं क्षमते । तथा सर्वात् कुतस्त्यं तत्र तात्पर्यम् । ऐक्यं नास्ति । कथन्तु सामानाधि-  
करण्यमिमां विमर्शं य आत्मनि तिष्ठन्, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, इत्यादीनां प्रमाणवाक्यानां, सदेव सोम्येदं तत्तेज ऐह्यत. इत्यादिप्रयोगविशेषाणां, सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः इत्याद्युपबृंहणानां च पर्यालोचनया

ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमितिवत् शरीरात्मभावाधीनमिति निश्चयः सुधियां सुलभः । लोके हि स्थाणुश्चोर इति बाधे. मुखं चन्द्र इति सादृश्ये, मनुष्योऽहं, नालो घट इति शरीरात्मभावे अपृथक्सिद्धविशेषणत्वे च, आयुर्धृतमिति हेतुहेतुमद्भावे च सामानाधिकरण्यं दृश्यते । न च सामानाधिकरण्यदर्शनमात्रेण ऐक्यतात्पर्यमेषु गृह्यते; स्वरूपमात्रलक्षणा वाऽऽश्रीयते । तन् कस्मान् । भेदस्य पूर्वमवधृतत्वादेव । तथैव प्रकृतेऽपि ।

अन्यैरुक्ताश्च दृष्टान्ता इह समञ्जसाः । परमाणुः सावयव इति प्रमाणं नेष्यते । परमाणुपदेन निरवयवद्रव्यमेवाभिधीयत इति निश्चितत्वान् तद्विरोधेन सावयवत्वं तत्र बाद्धं न शक्यत इति । एवं ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वेनावगतत्वात् ईश्वरो न सर्वज्ञ इत्यप्रमाणम् । एवमेव आदित्यो ब्रूय इत्यपि ऐक्यार्थे अप्रमाणम् । कुतः । पूर्वावगमविरोधात् । एवं प्रत्यक्षविरोधादेव ऐक्यपरत्वाभावे निश्चिते नैरर्थक्यमरिहाराय अर्थान्तरे वक्तव्ये आकाङ्क्षादिवशान् सन्निहितविधिविषयस्तुतिपरत्वमङ्गीक्रियते । न तु अन्यशेषत्वात् अभेदपरता नास्तीति निर्णयः । प्रत्यक्षबाधेन अभेदपरत्वकांक्ष्युत्थानस्यैव विरहात् । अनेनैव पूर्वप्रमितत्वन्यायेन उत्पन्नशिष्टगुणान्तरावरुद्धे कर्मणि गुणान्तरानन्वयः । न तु भवदुक्तेन द्रव्यसामान्यस्य प्रकारान्तरेणैव लाभात् आमिन्नादिपदस्य द्रव्यसामान्यपरत्वे वैयर्थ्यापत्तिरिति न्यायेन । आमिन्नावाजिनयोर्विकल्पसमुच्चयान्यतैराश्रयणसम्भवेन वैयर्थ्याप्रसक्तेः । अत एव द्रव्यसामान्याक्षेपविरहाच्च । तथा च शास्त्रदीपिका—

तस्मादुभयोस्तुल्यबलत्वात् पूर्वस्मिन्नेव कर्मणि विकल्पः समुच्चयो वेति प्राप्तेऽभिधीयते ।—

आमिन्नाया बलीयस्त्वमुत्पत्तौ चोदनाच्छ्रुतेः ।

उत्पन्ने वाजिनं वाक्यात् तेन तद्बुद्धं मत्तम् ॥

यत्तु सगुणोत्पन्नमपि कर्म स्वरूपमात्रेण निष्कृष्य शक्यं गुणान्तरं विधानुमित्युक्तं, तदयुक्तम् । तथापि तस्योत्पत्तिवाक्यावग-  
तस्यानुवादान् तत्स्वरूपमालोच्यमानमेव गुणयुक्तमवगम्यते ।  
ततश्च नैराकाङ्क्ष्यादयोग्यत्वाच्च गुणान्तरमत्र निवेशमलभमानं  
आत्मनिवेशानक्षमकर्मन्तरोत्पत्तिं सूचयति ।

इति । प्रमाणान्तरावगतस्य विंशष्टस्य वस्तुनः अन्यत्र स्वरूपमात्रो-  
क्तावपि विंशष्टमेवोपस्थित्यारूढं भवतीति वाक्यन्यायविचक्षणं इह  
प्रचक्षते । भवांस्तु साक्षान् विनरोतमाह 'विंशष्टस्याभिधाने सत्यपि  
विशेषणं परित्यज्य लक्षणया स्वरूपमात्रं बोध्यते' इति । उत्पत्तिविंशष्टगुण-  
न्यायादिदमयुक्तमिति जानातु भवान् । तच्छब्देन उत तमादेशमप्राच्य  
इत्यारभ्याधीनसकलविशेषविशिष्टं ब्रह्माभिधीयते । त्वंशब्देन जाग्रत्स्व-  
प्राद्यवस्थाविशेषविशिष्टो जीवः । एवं पृथग्भूतयोः विरुद्धस्वभावयोरु-  
भयोरुपस्थित्यनन्तरं सामानाधिकरण्येन ऐक्यं प्रतीयते । अस्य च  
यथाश्रुतस्य अयोग्यत्वात् कथं निवाह इति विमर्शो जायते । तत्र परीक्षि-  
ताबाधतस्वतःप्रमाणभूतपूर्ववृत्तप्रमाणान्तरावधृतभेदावरोधिना केन-  
चित्प्रकारेण तन्निर्वाहः कार्ये इति न्याय्या सराणः । एतत्प्रहाणेन पूर्व-  
प्रमितभेदबाधनमन्याय्यम् । अत एव व्यावहारिको भेदः । तात्त्विकम-  
भेदं तु श्रुतिबोधयतीति व्यवस्था अप्रामाणिकी ज्ञेया । अभेदे अस-  
न्दिग्धं प्रमिते इयं व्यवस्थाऽऽद्रियेत । उक्तीत्या भेदस्य दृढप्रमाण-  
प्रमितत्वान् तद्विरोधेन विशेषणपरित्यागेन स्वरूपमात्रलक्षणाया अन्यत-  
य्यत्वान्, तन् त्वदात्मेति पूर्वप्रमितभेदाविरुद्धार्थप्रातिपादनसम्भवाच्च,  
एवं शरीरात्मभावनबन्धनतया सामानाधिकरण्यस्यापि मुख्यत्वाच्च नात्र  
परमात्मजीवात्माभेदपरता युक्ता । अतो व्यावहारिकतात्त्विकभेदोऽपि  
नास्ति । तस्मात् तत्त्वमसीति वाक्यं न जीवेश्वराभेदे प्रमाणमिति  
सिद्धम् ।

किञ्च तत्त्वंपदे ईश्वरे जीवे च श्रुती । तदभिधायकत्वात् अभेदबोधकं सामानाधिकरण्यं तु वाक्यम् । पदद्वयसमभिध्याहाराधीनत्वात् । श्रुति-वाक्यसमवाये च श्रुतिः प्रबला । अथार्थ वाक्यस्यैव वैयर्थ्यापत्तेः आन-थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबलमिति न्यायेन प्रातिपदिक एव लक्षणा-श्रयणं अगत्या भवति । तत्र यावता वैयर्थ्यं परिहृतं भवति तावदेव लक्षणिकत्वं आश्रयणीयम् । नाधिकम् । अप्रागणिकत्वात् । तत्र सिंहो देवदत्त इत्यादाविव एकपदलक्षणाद्यैवोपपत्तौ पदद्वयलक्षणा न युज्यते । प्रमाणान्तरत्राधापत्तेश्च । भवद्वीत्या अभेदानुरोधे हि जीवेश्वरभेदग्राह-कप्रमाणोपरोधो भवति । न चाबाधेनोपपत्तौ बाधो युक्तः । एतेन प्रोद्गा-तृणामित्यत्र विभक्तिस्वारस्याय प्रातिपदिकस्यान्यथा नयनवदत्रापि प्रातिपदिकस्यैवान्यथा नयनमिति प्रत्युक्तम् । तत्र प्रमाणान्तरप्राप्तार्थोप-सर्द्धाभावात् । पदद्वयलक्षणविरहाच्च । तत्र पाशाधिकरणन्यायप्रवृत्ति-र्बाधकस्य कांस्यभोजिन्यायस्य पाशाधिकरणसोमनार्थीये दर्शितत्वाच्च ।

यच्च—किञ्च न तावत् प्रातिपदिकस्य निरवकाशत्वम् । विभक्तेः सङ्ख्यायामिव विशेष्याशे सावकाशत्वात् । नापि प्राधान्यम् । प्रधानार्थ-वाचकप्रत्ययस्यैव प्राधान्यात् । तदुक्तं, “प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूततस्यांस्तु प्रत्ययः प्राधान्येनेति”, इति, तर्दाप न चारु । विशिष्टाभिधायिनः प्राति-पदिकस्य निरवकाशत्वे चोदिते लक्षणागम्यविशेष्यांशमादाय सावका-शत्वोक्तेरयोगात् । अन्यथा एकत्वलक्षणोपयोगिबहुत्ववाचितया वचन-स्यापि प्रोद्गातृणामित्यत्र सावकाशत्वापत्तेः । प्रत्ययप्राधान्यं च तस्य कर्मस्थमाश्रित्योच्यते । यद्यभेदं न स प्रत्ययार्थः । अननुशासनात् । विशेष-णविविभक्तीनामभेदार्थत्वमिति प्रवादश्च पाञ्चिकबोधविषयाभेदान्वय-मूलः । न त्वाभधेयत्वमूलः । नीलो घट इत्यादौ अभेदस्य संसर्गमर्याद-यैव लाभाच्च न वाच्यत्वम् । अथ प्रातिपदिकार्थेत्यादिपाणिनिसूत्रं अभिहितकारकवाचिनी प्रथमेति वार्तिकं वाऽनुसृत्य प्रातिपदिकार्थ-

मात्रं वा कर्तृकारकं वा तत् त्वमित्यत्र प्रथमार्थं इत्युच्यते तेन कस्ते लाभः । न ह्यभेदप्राधान्यं तेन लभ्यते । यत् प्रोद्गातृणामित्यत्र उद्गातृपदे यौगिकत्वपक्षं ब्रह्मानन्दः खण्डयति तत्र भाट्टदीपिकायां खण्डदेवोक्तं समाधानमनुसन्धेयम् ।

एवमेकस्मिन् पदे लक्षणाया सामानाधिकरण्यनिर्वाहाऽपि श्रेयान् । न तु जीवेश्वराभेदः कथमपि तत्त्वमसिप्रतिपाद्यः । वस्तुतस्तु नात्र लक्षणा । सर्वेषां शब्दानां तत्तद्रूपविशिष्टपरमात्मनि मुख्यवृत्तत्वात् । देवमनुष्यादिशब्दाः किल तत्तच्छरीरिवाचिनः । तथैव यः परमः शरीरी तमपि तेऽभिदधति । अपृथक्सिद्धविशेषणवाचिनां शब्दानां विशेष्य-पर्यन्तत्वस्य लोके व्युत्पन्नत्वात् । शास्त्रेण सर्वशरीरिणः परमात्मनः सिद्धौ तथैव व्युत्पत्त्या सर्वेषां शब्दानां तत्पर्यन्ताभिधायित्वस्य स्वयं सिद्धेः । परिभाषाकारस्तु लक्षणां विनैवाभेदान्वय इत्याह —

“वयं तु ब्रूमः सोऽयं देवदत्तः. तत्त्वमसीत्यादौ विशिष्टवाच-  
कानां पदानां एकदेशपरत्वेऽपि न लक्षणा । शक्त्युपस्थितयोर्वि-  
शिष्टयोरभेदान्वयानुपपत्तौ विशेष्ययाः शक्त्युपांस्थितयोरेवान्व-  
याविरोधात् । यथा घटोऽनित्य इत्यत्र घटपदवाच्यैकदेशघटत्व-  
स्यायोग्यत्वेऽपि योग्यघटव्यक्त्या सहानित्यत्वान्वयः । यत्र  
पदार्थैकदेशस्य विशेषणतयोर्पस्थितिः तत्रैव स्वातन्त्र्येणोपस्थि-  
तये लक्षणाभ्युपगमः । यथा नित्यो घट इति । अत्र घटपदात्  
घटत्वस्य स्वातन्त्र्येणानुपस्थित्या तादृशोपस्थित्यर्थं घटपदस्य  
घटत्वं लक्षणा । एवमेव तत्त्वमसीति वाक्येऽपि न लक्षणा ।  
शक्त्या स्वातन्त्र्येणोपस्थितयोः तत्त्वंपदार्थयोरभेदान्वये बाध-  
काभावात् । अन्यथा गेहे घटः, घटे रूपं, घटमानयेत्यादौ घट-  
त्वगेहत्वादेरभिमतान्वयबोधायोग्यतया तत्रापि घटादिपदानां  
विशेष्यमात्रपरत्वे लक्षणैव स्यात् । तस्मात् तत्त्वमसीति वाक्ये

आचार्याणां लक्षणोक्तिरभ्युपगमवादेन बोध्या ।”

इति । अत्रेदं वक्तव्यम् । पदयोर्विशिष्टशक्तिः विशिष्टमुपस्थाप्य विरमति । तत्रान्वयानुपपत्तिप्रतिसन्धानानन्तरं पुनर्विशेष्यमात्रोपस्थित्यर्थं पुनः पदव्यापारोऽपेक्ष्यत एव । अन्यथा शाब्दबोधः अनुपपत्तेः । स च व्यापारः अपेक्षितविशेष्यमात्रोपस्थापकत्वात् विशिष्टोपस्थापकव्यापारादन्य एव : अन्यश्च लक्षणैव । तथा चाहुः ‘शक्यादन्येन रूपेण ज्ञाते भवति लक्षणे’ति । गेहे घट इत्यत्र गेहत्ववतो धर्मिणः घटाधिकरणत्वस्य उपपन्नतया विरोधप्रतीतिविरहात् लक्षणाया न प्रसङ्गः । नीलो घट इत्यत्र धर्मिणोरभेदः प्रतीयते । एकस्मिन् घटधर्मिणि घटत्वनीलत्वयोः समवायात् विरोधो न प्रतीयत इति अत्रापि न लक्षणा । तत्रमसीत्यत्र तु तच्छब्देन सर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्य त्वंपदेन किञ्चिद्ज्ञत्वादिविशिष्टस्य धर्मिणः प्रतीतौ एकस्मिन् धर्मिणि तयोरसम्भवात् विरोधस्फूर्त्या धर्ममपहाय धर्मिमात्रबोधनाय व्यापारान्तरमपेक्ष्यते । तच्च लक्षणा-रूपमिति दुष्परिहास लक्षणा । अतः पूर्वोक्तरीत्यैव लक्षणापरिहारः ।

यदत्र दूषणमुक्तम्—“शरीरपर्यन्तत्वमिति तल्लक्षणत्वं वा, तत्रापि शक्तत्वं वा, शरीरविषयवृत्त्यैव तत्प्रतिपादकत्वं वा । बाधः । मुख्यत्वानुपपादनात् । न द्वितीयः । शरीरवाचिनामित्यसाधारण्येन निर्देशानुपपत्तेः । प्रवृत्तिनिमित्तमनुष्यत्वादिजातेः शरीरविषयवृत्तेश्च । न तृतीयः । अन्यविषयवृत्तेरन्यानुपयोगेन शरीरशरीरिणोरनादभ्रमसिद्धाभेदान्बन्धनोऽयं प्रयोगो वाच्यः । तथा चात्राप्यभेदनिबन्धन एवायं प्रयोगः । अभेदस्तु बाधकाभावाद् तत्त्विक इत्येव विशेषः” इति । तदनवकाशम् । लक्षणत्वानङ्गीकारात् । मुख्यत्वस्योपपादतत्वात् । शरीरवाचिनां देवमनुष्यादिशब्दानामित्यस्मदुक्तौ शरीरवाचिनामित्यत्र शरीरमात्रवाचिनामित्यवधारणाभावात् । शरीरवाचितया सर्वसम्प्रतिपन्नानां न तावन्मात्रवाचित्वं, अपि तु शरीरपर्यन्तवाचित्वमित्यभि-

प्रायात् । मनुष्यत्वजातेः शरीरिणि विरड्स्थेष्टत्वान् । मनुष्यत्वजातिम-  
च्छरीरमिति सम्बन्ध्यात्मत्वेनैव वाच्यत्वप्रतिपादनात् । अत एव तृतीय-  
विकल्पस्यानुत्थानान् । एवमभिज्ञानां व्यवहारस्य शरीरशरीरिभावनि-  
बन्धनत्वान् 'वाचिकैः पक्षिमृगतां' इत्यादिस्मरणात् । अत एव अनादि-  
भ्रमसिद्धाभेदनिबन्धनत्वानुपपत्तेः । भ्रान्तव्यवहारस्यानादरणीयत्वात् ।  
यत्तत्र शक्यशरीराभेदेन लक्षणया वा प्रयोगोपपत्तौ अनेकशक्तत्वस्यान्या-  
द्यत्वमिति ब्रह्मानन्देनोक्तम्, तन्न । अनेकशक्त्यनभ्युपगमात् । एकैव  
शक्त्या विशिष्टबोधाङ्गीकारान् । केवलशरीरमात्रपरतया प्रयोगस्य  
आत्माज्ञानमूलत्वान् । जीवमात्रपर्यन्तप्रयोगस्य परमात्माज्ञानमूलत्वान् ।

ननु भोगायतनत्वं शरीरलक्षणम् । तेन परस्य ब्रह्मणः सशरीरत्वे  
भोगप्रसङ्ग इति चेन्न । यस्य पृथक्वा शरीरमिति वेदेऽपि शरीरपदप्रयोगद-  
र्शनेन उभयसाधारणस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तस्य वाच्यत्वात् । न च वैदिङ्ग-  
प्रयोगो लाक्षणिकः । मानाभावात् । अन्यथा घटपदं स्वगृहस्थनीलघटे  
शक्तम् । अन्यत्र लक्षणिकमिति प्रसङ्गात् । उभयसाधारणं च प्रवृत्ति-  
निमित्तं चेतनं प्रति अपृथक्सिद्धविशेषणं यद् द्रव्यं तत्त्वम् । इष्टं च  
प्राचामद्वैताचार्याणां प्रपञ्चापादानस्य जडद्रव्यस्य सर्वेश्वरशरीरत्वम् ।  
यथाऽऽहुः शङ्कराचार्याः सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसङ्ग्रहे—

स्वतन्त्रः सत्यसङ्कल्पः सत्यकामः स ईश्वरः ।

तस्यैतस्य महाविष्णोर्महाशक्तेर्महीयसः ॥ ३१२

सर्वज्ञत्वेश्वरत्वादिकारणत्वान्मनीषिणः ।

कारणं वपुरित्याहुः समष्टिं सत्त्वबृहितम् ॥ ३१३

इति । मनीषिण आहुरित्यनेन स्वसम्मतिं समग्रां तत्र दर्शयत्याचार्यः ।  
न च लाक्षणिक एव व्यवहारोऽत्र निर्दिष्ट इति वाच्यम् । मुख्यत्वेऽपि  
अद्वैतसिद्धान्ताविरोधान् । लाक्षणिकत्वाभ्युपगमनिर्बन्धाभावात् । शरीर-  
त्वेनैवाध्यस्तत्वस्य सुवचत्वात् । न हि शरीरशरीरिभावसम्बन्धोऽद्वैतेन

विरुद्धयते । अपि तु तस्य सत्यत्वम् । अयुक्तं च लान्निङ्कत्वमित्युक्त-  
मेव । अत्र जगन्मूलकारणस्येश्वरस्य मद् विष्णु वःभिधानान् भगवद्द्विषो  
न शाङ्करमनानुसारिण इत्येतर्दापि स्पष्टम् ।

अत्रेदं तत्त्वम् । जीवेश्वरभेदः सर्वाभ्युपगमः । तत्त्वमसीत्यत्र तत्पदेन  
त्वंपदेन च ईश्वरे जीवे च उपस्थिते सामानाधिकरण्यावगतस्याभेदस्य  
तत्रानन्वयान् सिंहो देवदत्त इत्यादाविव तदन्वयानुगुणः प्रकृत्यर्थः  
कश्चन वाच्य इति प्रतीयते । अथ कोऽसावर्थो भवितुमर्हतीति विमर्शः,  
ऐतदात्म्याभिदं सर्वं, य आत्मानं निष्ठान्, यो विज्ञानं तिष्ठन् इत्यादिभिः  
परस्य जीवात्मानं प्रत्यप्यात्मत्वोपदेशात्, तेन जीवस्य परं प्राप्तं शरीरत्वा-  
वगनान्, शरीरत्वदृष्टांतेश्च, शरीरवाचिनां शब्दानां शरीरवाचक-  
शब्दैः सामानाधिकरण्यस्य अयं पण्डितो देवदत्तो ब्राह्मण इत्यादिषु  
दृष्टत्वाच्च त्वंशब्दः त्वदात्मपर इति न्यायःनुसारी निर्णयः भवति ।  
सर्वस्य सन् आत्मा । अतस्तवापि स एवात्मेत्युक्तं भवति ।

एवं समञ्जसेऽर्थे सम्भवति परस्परानुसारेण तदर्थः तदर्थः  
सर्वथा न युज्यते । तथा हि । पूर्वावगतभेदानुपमर्देनैव सिंहो देवदत्त  
इत्यादौ सामानाधिकरण्यप्रतीताभेदान्निर्वाहः सर्वैः शस्त्रकारैः क्रियते ।  
तस्य न्यायस्येह परित्यागे हेतुर्नास्ति । अहं नेश्वर इति प्रत्यक्षेण, अहं  
नेश्वरः दुःखत्वात्, परतन्त्रत्वात्, अल्पज्ञत्वात्, इत्यनुमानेन,  
'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' इत्यादिकया श्रुत्या, 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्वयः'  
इत्यादिस्मृत्या च जीवेशभेदो हि सुप्रमितः । कथं नाम एतावत्प्रमाण-  
प्रामितभेदबाधक्षमता तत्त्वम्पदसामानाधिकरण्यप्रतीतस्याभेदस्य भवेत् ?  
यदि भवेत् सिंहो देवदत्तः ब्राह्मणो विद्वानित्यादिष्वपि भवेत् । किञ्च त्वं  
तत्तुल्यः तदाधारः तदधीनः इत्येवमादिरतीत्या एकपदलक्षणैव अभेदा-  
न्वयोपपत्तौ पदद्वयेऽपि लक्षणःङ्गोक्तोऽयुक्तः । अखण्डार्थनिरासावस-  
रोक्ताश्च सर्वे दोषा इहानुसन्धेयाः । एवं प्रत्यक्षानुमानश्रुतिस्मृतिशतःत्म-



कसकजप्रमाणाप्रामाण्यप्रसञ्जकत्वात् सुदृढप्रतीतिविषयस्य जगतो  
मिथ्यात्वापादकत्वात्, पदवाच्यदोषबहुलत्वाच्च तत्त्वमसिवाच्यस्य  
नाद्वैतपरत्वं सम्भवति ।

किञ्च त्वतत्पदाभ्यामुपाख्यतयोर्जीवश्वरयोः सामानाधिकरण्यबोधि-  
ताभेदान्वयः कुतो न भवति ? भेदादिति चेत्, किं विशेषणमात्रेऽयं भेदः  
उत स्वरूपेऽपि ? आद्ये विशेष्याभेदः प्राक् प्रतिपन्नो न वा । प्रतिपन्न-  
श्चेत् अस्य वाक्यस्य ऐक्ये मानत्वाक्तिरयुक्ता । असम्भविनी चान्यतः  
प्रतिपत्तिः । प्रत्यक्षानुमानाभ्यां भेदम्यैव सिद्धेः । ऐक्यबोधकस्य श्रुति-  
वाक्यान्तरस्य एतत्तुल्यत्येन प्रापकत्वानुपपत्तेः । अप्रतिपन्नश्चेत् विशेषण-  
मात्रभेदाक्तिरयुक्ता । विरुद्धविशेषणानां विशेष्यभेदकत्वावश्यम्भावात् ।  
अन्ये सिंहो देवदत्त इत्यादिवत् पूर्वं प्रतीतभेदाविरोधेन अर्थान्तरल-  
क्षण्यैव अभेदान्वयो निर्वाह्य इति नात्र जीवेश्वरैक्यप्रामतिर्भवेत्तुमहति ।

अपि च निर्धर्मकस्वरूपमात्रस्य प्रत्येतुमशक्यत्वान् पदद्वयेनपि  
स्वरूपमात्राभिधाने घटो घट इतिवत् अवोधकत्वेन वाक्यस्यैवाप्रामाण्या-  
पत्तेः, स्वरूपमात्रावगाहिनिर्विकल्पकजनकत्वस्य क्वापि वाक्ये अदृष्ट-  
त्वेनः भुङ्गमानोगन्, अभ्युपगमेऽपि तत्पदलक्ष्यस्वरूपस्य त्वम्पदलक्ष्य-  
स्वरूपेण सहैक्याबोधकत्वाच्च नास्य वाक्यस्य ऐक्ये मानत्वं कथमपि  
सम्भवति ।

न च तात्पर्यस्य सर्वतो बलीयस्त्वान् सर्वमिदं सङ्गम् । अद्वैततात्पर्ये  
मानाभावान् । वाक्यस्थैः पदैरेव हि तात्पर्यमप्यवधारणीयम् । न हि  
रामो रावणमवधीदित्युक्ते तात्पर्यबलीयस्त्वमपदिश्य रावणपक्षपार्श्व-  
रभिधीयमाननाक्षणिकविपरीतार्थान्तरपरत्वं वाक्यस्यास्माभिरङ्गीकर्तुं  
शक्यम् । अथोच्येत—जीवो यदि परमार्थतः सर्वेश्वराद् भिन्नः, तस्य  
बन्धश्च पारमार्थिकः, उपासनेन च क्रियारूपेण यजनेनेव स्वर्गो मोक्ष-  
स्तस्य भवति तर्हि स्वर्गबन्धोक्तोऽप्यनित्यः स्यन् । साध्यत्वान् । तथा

च वाक्याधिकरणान्ते भाष्यम्—

“स्थिते न क्षेत्रज्ञपरमात्मैकत्वविषये सम्यग्दर्शने क्षेत्रज्ञः परमा-  
त्मेति नाममात्रभेदात् क्षेत्रज्ञाऽयं परमात्मनो भिन्नः, परमात्माऽयं  
क्षेत्रज्ञाद् भिन्नः इत्येवञ्जातीयक आत्मभेदविषयो निर्बन्धो  
निरर्थकः ।...ये तु निबन्धं कुर्वन्ति, ते वेदान्तार्थं बाधमानाः  
श्रयं द्वारं सम्यग्दर्शनमेव बाधन्ते कृतकमनित्यं च मोक्षं  
ऋपयन्ति । न्यायेन च न सङ्गच्छन्ते”

इति । अत्र ब्रूमः । न मोक्षस्यानित्यत्वापत्तिः । स्वरूपाविर्भावस्यैव मोक्ष-  
त्वात् । स्वभावतः अपहृतपाप्मत्वाद्गुणाष्टर्कविशिष्टं हि परमात्मन  
इव जीवस्यापि स्वरूपम् । तत्तु संसारावस्थायां कर्मणा तिरोहितम् ।  
उपासनश्रीतेन परमात्मना प्रतिबन्धके कर्मणि कात्स्न्येन निवर्तिते पूर्वं  
तिरोहिता अपहृतपाप्मत्वादयो गुणाः प्रादुर्भूताः सन्तः पुनस्तिरोभाव-  
प्रसङ्गरहितास्तथैवावतिष्ठन्त इति कथमनित्यता मोक्षस्य । तस्मान्मोक्षा-  
नित्यत्वाभिर्भाऽपि न वेदान्तविनाशनं कार्यं, नापि जगन्निःश्रयात्वसाधन-  
व्यग्रतया कुतर्काचलम्बनमिति ।

एवं तत्त्वमसीति वाक्यम्य किं जीवेश्वराभेदपरत्वं उत शरीरात्म-  
भावादिसम्बन्धावशेषपरत्वमिति विप्रतिपत्त्या संशये सति तन्मात्रान्व-  
यिभिरेव न्यायविशेषैः अभेदपरत्वमसम्भवीत्युक्तम् । दृष्टान्तपरम्परापर्या-  
लोचनेनाप्येवमेतादृति निर्धारणं शक्यमित्यन्ये निरूपयन्ति । तत्राय-  
माह—सर्वे दृष्टान्ता अन्यथोपपद्यन्त इति । तत्रेदं वक्तव्यम् । अन्यथोप-  
पद्यन्ते न वति नायं प्रश्नः प्रकृतः, येनान्यथोपपद्यन्त इति प्रदर्शनं युक्तं  
स्यात् । अपि तु एषु प्रतीयमानो भेदो नियामको भवति नेति । ‘प्रकृ-  
तिश्च प्रातिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्’ इति दृष्टान्तानुरोधेन हि सान्दग्धविष-  
यावधारणं कर्तव्यमाह सूत्रकारः । तत्त्वमसीत्यत्र अर्थविप्रतिपत्तौ  
यस्य पक्षस्य दृष्टान्ता अनुकूलाः स न्याय्य इति निश्चयो भवति । एवं

न्यायविद्भिरुच्यमाने अस्मत्पज्ञानुरोधेन दृष्टान्ता अन्यथोपपद्यन्त इति प्रत्यवस्थानं कथं युज्येत । तथा च एषां दृष्टान्तानां भेदगर्भाणामनुरोधेनापि अद्वैतं मिथ्येति सिद्धयति ।

बृहदारण्यके 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् । तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मी'ति वाक्येऽपि अभेदपरत्वे न किञ्चिद् गमकम् । इदमिति लोकावगतं सर्वमनूय तस्य ब्रह्मात्मकत्वविधायकत्वात् । इदमिति हि चेतनाचेतने उभे अप्युच्येते । तत्र अचेतने ब्रह्माभेदो नेष्टः । तद्वदेव चेतनेऽपि नेष्टव्यः । बाधान् । पूर्वत्र जडत्वाजडत्वाभ्यामिव उत्तरत्र अज्ञत्वप्राज्ञत्वाभ्यां भेदस्य निश्चितत्वात् । वैरूप्याच्च । न हि एकरूपो ब्रह्माभेदश्चेतनाचेतनयोः सुवचः । न चैकपदोपात्तोष्वर्थेषु भिन्नरूपाभेदोपदेशो न्याय्यः ।

'तयो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् । तथर्षीणाम् । तथः मनुष्याणाम्' इति वाक्येऽप्युपरितने जीवानां बहुत्वेन परस्परभेदस्य, प्रत्यबुध्यतेत्यनेन वेद्यतया वेदितृभ्यस्तेभ्यो ब्रह्मभेदस्य चावगमान् 'स एव तदभवत्' इत्युपसंहारे तदविरोधेन तदात्मकोऽभवदित्येवार्थः । तदात्मकत्वानुभवं लेभ इति भावः । मुक्तो बभूवेति यावत् । न तु तदभिन्नोऽभवदिति । बाधान् । अत एव 'अहं अनुरमवं सूर्यश्च' इत्यस्मिन् वामदेववाक्ये अहमित्यन्तर्यामिण एवाभिधानम् । यत्तु 'पश्यन् प्रतिपेदे' इति बोधनिमित्तब्रह्मभावस्यात्र प्रतीतेर्नान्तर्यामिपरत्वमिति । तन्न । विरोधाभावात् । बोधनिमित्तब्रह्मभावपरत्वस्य अन्तर्यामिपरत्वस्य चैकत्वात् । मद्दन्तर्यामी कश्चिदस्तीति बोधे सत्येव हि अहमिति तस्य निर्देशः सम्भवो । ततश्च ब्रह्मभावः । सर्वभावो वा । 'तदभवत्' इत्यस्य हि सर्वमभवदित्येव स्वरसतोऽर्थः । एवंविधबोध एव 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशः' इति सूत्रेऽभिसंहितः । तदुक्तं श्रीभाष्ये—

एतदुक्तं भवति । अनेन जीवेनानुभवः अनुप्रविश्य, एतदात्म्यमिदं

सर्वं. अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा, य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमर्याति. एष सर्वभूतान्तर्गता अपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नार यत्, इत्येवमादिनः शास्त्रेण जीवात्म-शरीरकं परमात्मानमवगम्य जीवात्मवाचिनां अहन्त्वमादिशब्दानामपि परमात्मन्येव पर्यवसानं ज्ञात्वा 'म मेव विजर्नाहि' 'मामुपास्व' इति स्वात्मशरीरकं परमात्मानमेव उपास्यत्वेनोपदिदेशेति । वामदेवत् । यथा वामदेवः परस्य ब्रह्मणः सर्वात्मत्वं सर्वम्य च तच्छरीरत्वं शरीरवाचिनां च शब्दानां शरीरिण पर्यवसानं पश्यन् अहमिति स्वात्मशरीरकं परं ब्रह्म निर्दिश्य तत्सामानाधिकरण्येन मनुसूर्यादीन् व्यपदिशति— अहं मनुग्भवं सूर्यश्चेति । यथा च प्रह्लादः 'सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थिनः' इत्यादि वदति ।'

इति । अथ यत् 'अहं भूमिमदामर्याय' इत्यादिप्रयोगाणामुपहितमादा-योपपत्तिरिति, तत्रोच्यते । उपहितो वा स्वतः सिद्धो वा जीवस्तावत् तत्र वाच्यः । ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमिति व्यवहारे तत्तच्छरीरवच्छिन्नो जीवो वाच्य इत्येतदपि निर्विवादम् । तथा च तेनैव न्यायेन जीवशरीरकः परमात्मापि तद्वाच्य इत्येतदपि समञ्जसमिति ।

यत् अन्तर्गतामिणि भेदाप्रसक्तेर्न तदभेदपरा श्रुतिरिति, तत् कामं तथा । जीवे ब्रह्मभेदस्य तात्त्विकत्वेन तदभेदस्यायोग्यत्वान् तत्परताऽपि न सम्भवतीति तु ज्ञेयम् । वस्तुनस्तु सर्वभवनफलकवेदनविषयतया अहं ब्रह्मास्मीत्युक्तेः अभेदविधाने नास्ति तात्पर्यामिति बाध्यम् । सर्वभवनं च सर्वैकान्त्यसाक्षात्कार इत्युपनिषद्भाष्ये स्पष्टम् । किञ्चात्रानुपासनाप्रकरणत्वं भवदभिमतं नास्ति । 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते' इति उपास्तिश्रवणान् । तदनुरोधेन पूर्वोत्तरवाक्योक्तवेदनस्यापि उपासनात्मक-

ज्ञानपरत्वात् । यत् वेदनश्रवणानुरोधेन उपास्तिरेव वेदनपर इति, तदसाधु । सामान्यस्य विशेषे उपसंहारस्य न्याय्यत्वात् । विशेषस्य सामान्यपरत्वे लक्षणाप्रसङ्गात् । ननु अथ श्रोत्र्यां देवतामुपास्त इत्यादिना भेदनिन्दनात् अभेदपरता गम्यत इति चेन्न । “तस्य, देवता ममात्मान भवति, नाहं तस्याः शरीरमिति मत्वा, देवता ममात्मान, अहं तस्याः शरीरमिति मतिं विना वा य उपास्ते स यथावन्नोपास्त इत्येवं निन्दापरत्वात् ।

‘स यश्चायं पुरुषे । यश्चासावादित्ये । स एकः’ इत्यत्राप्यन्तर्याम्यैक्यमेवापदिश्यते । न तु ‘ब्रह्माविदाप्राप्तिं परमिति शुद्धस्य ब्रह्मणः प्रकृततया तस्मिन्नुपाधिगतभेदस्य तात्त्विकत्वप्रसक्तौ तान्नाकारकरणार्थत्वेन ऐक्योपदेशः । ब्रह्मशब्देन बृहत्त्वबृहत्त्वत्वविशिष्टाभिधानात् । वेदनकर्मत्वात्, प्राप्तिकर्मत्वात् प्राप्तिवेदनकर्तृत्वैलक्षण्यप्रतीतेः, एतेषामुपलक्षणत्वे प्रमाणाभावाच्च शुद्धप्रकरणाभावात् । शुद्धे प्रतीते च तत्रोपाधिकृतभेदस्य तात्त्विकत्वप्रसक्तिविरहान् । न हि घटाकाशमहाकाशयोस्तात्त्विको भेदो लोके दृष्टः, येनेह तच्छङ्का उन्मिषेन्, तत्परिहाराय च ऐक्योपदेशोऽपेक्ष्येत ।

अतः परं “न चैवं छान्दोग्ये य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सांख्यमस्मीत्यत्र स एवैवान् ब्रह्म गमयतीति भेदपरोत्तरवाक्यविरोधः । तस्योपासनाप्रकरणस्यत्वेनाहंप्रहोपासनापरतया विरोधाभावात्” इति शङ्कासमाधाने अद्वैतसिद्धिग्रन्थे दृश्यते । तत्र स एवान् ब्रह्म गमयतीति छान्दाग्ये चतुर्थाध्याये उपकोसलविद्यायां पठ्यते । तत्र ‘य एष आदित्ये पुरुषः’ इति वाक्यं न दृश्यते । तदयं किं केनचिन् प्राक्षितः पाठः अथवा ग्रन्थकृत एव प्रमाद इति चिन्त्यम् ।

मुण्डके ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीत्यत्र त्रिणगुरेव भूत्वेतिवन् साम्यमेवोच्यते, न त्वभेद इति पूर्वमेवोक्तम् । समाने वृत्त इत्यस्मिन् अन्यभीशं यदा पश्यति तदा वातशोको भवतीति भेदज्ञानस्य मोक्षोपायत्व-

मुच्यत इति तावत् स्पष्टम् । अयं भेदः काल्पनिक इत्यत्र किमपि प्रमाणं नास्ति । अतो मुक्तावप्यनुवर्तत एव । तस्मान्महिमानमित्यस्य पश्यतीत्यत्रान्वयेऽपि भेदप्रतीतिरविहतैव । परन्तु एवमन्वये इतिशब्द-वैयर्थ्यं क्रियाध्याहारश्च दांष इति पश्यन्तः केचित् 'यदाऽन्यभीशं पश्यति तदा वीतशोकः अस्य ईशस्य महिमानं इति एति, गच्छति । इतीति इण्धातोर्लटि गुणाभावे छान्दसं रूपम् । 'इतः' इति द्विवचन-वत् ।' इत्याहुः । एतदनुसारेण मुक्तौ तत्साम्यमेव न तु तद्भाव इति कण्ठोक्तं भवति ।

'यथा नद्यः स्यन्दमानाः' इति दृष्टान्तोऽभेदवादिनामनुपपन्न एव । अन्यथा न्यनमयुक्तमित्युक्तत्वात् । 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यं' इति देशान्तरस्थब्रह्मप्राप्तिरूपमुक्त्यभिधानाच्च अभेदपक्षां न घटते । दिवि श्रीवैकुण्ठे भवं दिव्यम् । यत्तु एवंविधाया मुक्तेः सगुणोपासनाफलत्वेन ब्रह्मावद्याफलत्वासम्भवात् स्वरूपभूतब्रह्मप्राप्तिपरमिदं वाक्यमिति, तेन अद्वैतप्रक्रियाऽमनुसृत्य इदं वाक्यमन्यथा नेयमित्येवोक्तं भवति । न हि सगुणोपासनातिरिक्ता ब्रह्मविद्याऽद्यापि सिद्धा । निगुणस्यासिद्धत्वात् । प्रपञ्चमिथ्यात्वस्यासिद्धत्वान् । कस्यापि वाक्यस्याभेदपरत्वस्यासिद्ध-त्वात् । "तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैत दिव्यम्" इत्यस्मिन् वाक्ये नामरूपादिति प्रकृतिरुक्ता । विद्वानिति जीवः । परा-त्परं पुरुषमिति ब्रह्म । प्रधानात्परो जीवः । तस्मादपि परः पुरुषः । तं अनुत्तमे उत्तमे लोके स्थितं प्रकृतिविनिमुक्तां जीवां गच्छति, यथा पर्वतान्निस्सृत्य स्यन्दमानाः प्रवहन्त्यः सरितः समुद्रं गच्छन्ति, तथा । द्वा सुपर्णेत्यादिमन्त्रद्वये च वृक्ष इति अनीशयेति च प्रकृतिरुक्ता । द्वेति अन्य इति च जीवेशौ परस्परविनक्ष्णौ पृथगुक्तौ । त एव त्रयः पुन-रिहोच्यन्ते । स्यन्दमाना इति दृष्टान्ते, उपैति दिव्यामिति दाष्टान्तिके च गमनं स्पष्टमुच्यते । तथा चास्वारस्थलेशमपि विना मन्त्रैः स्वस्वार्थे

समञ्जसे बोध्यमाने अभिनिविष्टैर्भवद्भिर्हठादेव अपार्थवर्णनं क्रियत इति तदस्थो विद्वान् को न जानीयात् ।

अन्तर्यामिप्रकरणस्थं 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इति वाक्यं ऐक्ये प्रमाणमिति नूनं स्वहृदयविसंवादिन्येव प्रतिज्ञा । तथा हि । अस्य वाक्यस्य तावदयमर्थः । अतः एतस्मात्, अदृष्टो द्रष्टेत्युक्तो योऽन्तर्यामी तस्मात् अन्यो द्रष्टा नास्तीति । अत्रान्य इति न जीवाभिधानम् । पूर्वत्र यमात्मा न वेदेति ज्ञेयस्यः द्रष्टृत्वोक्त्या इह द्रष्टृत्वेन निर्दिश्यमानान्यत्वानुपपत्तेः । अन्तर्यामी स्वनियाम्यस्वशरीरभूतैः चेतनाचेतनात्मकैः सर्वैरन्यैरदृष्टः तेषां सर्वेषां द्रष्टेत्यास्मिन् वाक्ये उच्यते । तत्र अदृष्ट इत्यर्थं 'यं पृथिवी न वेद्' इत्यादिभिः पूर्ववाक्यैः फलित एवार्थः । 'अन्तरो यमर्यात्' इत्यनेन फलितश्च 'द्रष्टा' इत्ययमर्थः । एवं पृथिव्यादाभिरदृष्टः तेषां द्रष्टा चान्तर्यामीत्युक्ते यथा पृथिव्यादीनामयमन्तर्यामी अस्ति अयं च तैरदृष्टः तेषां द्रष्टा च, तथा किमस्यान्तर्यामिणोऽपि काश्चिदन्योऽन्तर्याम्यस्ति, यः अनेनादृष्टः अस्य द्रष्टा च, इति शङ्का जायते । तस्याः परिहारः नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टेत्यनेन क्रियते । अतः अद्रष्टृत्वेन पूर्वोक्तस्य जीवस्येह द्रष्टृत्वेन निर्देशानुपपत्तेः अन्य इति स न विवक्षितुं शक्यः ।

अन्य इत्यनेन समानामितरच्छब्देनेत्यत्रैव पूर्वोक्तसदृशस्यैव विवक्षितत्वात् अदृष्टत्वादिना च सादृश्यात् न ज्ञेयविवक्षा सम्भवतीति ज्ञेयम् । पूर्वं य आत्मनि तद्रष्टृत्वोक्त्या दना पृथिव्यादीनामिव आत्मनोऽपि अन्तर्यामिभेदस्थोपादृष्टत्वाच्च न तन्निषेध इह सम्भवतीति च बोध्यम् । न चौपाधिकभेदमात्रेण तदुपपात्तः । औपाधिकत्वे मानाभावात् । एतदनुराधेन ऐक्यं कापि न प्रमेयमित्यवधारणान् । एवं च अतोऽन्यदार्तामित्यस्य जीवजातं दुःखीत्यर्थं उपपद्यते ।

एतेनाक्षरप्रकरणस्थं 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्येतदपि नैक्यपरामिति

व्याख्यातम् । ततः प्राक्तने 'एतस्य वा अज्ञरस्य प्रशासने गार्गी सूर्या-  
चन्द्रमसौ विधृतौ निष्ठतः' इत्यस्मिन् वाक्ये प्रतीयमानां भेदो नौपा-  
धिकः । मानाभावादित्यपि द्रष्टव्यम् । यत् 'अनेन ह्येतत् सर्वं वेद'  
इति व्यवहितपूर्वाध्यायस्थं यत् एकाविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानं तदुप-  
पादनार्थत्वात् अध्यायान्तरस्यस्याप्यस्य सर्वस्याभेदार्थत्वं वक्तव्यमिति,  
तदप्युक्तम् । तथा हि । एकाविज्ञानमित्यत्र एकमिति किं शुद्धं विवक्षि-  
तम्, अथवा उपहितम् ? आद्ये सर्वविज्ञानं न घटते । प्रपञ्चस्य तदा भिन्न-  
त्वात् । न हि शुद्धचैतन्यज्ञाने प्रपञ्चस्य विग्रहत्वमस्ति, येनास्य ज्ञातत्वं  
स्यात् । अन्त्ये उच्यतेः प्रपञ्चात्मना परिणामने । चैतन्यं सर्वेषु परिणामेषु  
अन्तरात्मनया वतंत इति वक्तव्यम् । एवं चेत् कारणं कार्यं च विशि-  
ष्टम् । तत्रावस्थाभेदेऽपि कारणज्ञानाविग्रयोभूतं किमपि कार्यं नास्त्येति  
एकारणविज्ञानेन सर्वं कार्यं विज्ञातं भवतीति वक्तव्यम् । तत्रायमर्थः  
अस्माद् वाक्यात् कथं लभ्यत इति पर्यालाचनीयम् ।

अयं तावत् यथाश्रुतवाक्यार्थः । यदेतत् सर्वं तदनेन वेदेति । अत्र  
प्रमाणान्तरागतं सर्वं वस्तु यथाप्राप्ति अनूद्य अनेन तस्य सर्वस्य ज्ञात-  
त्वमुपदिश्यते । तत्र ब्रह्मस्वरूपमात्रे ज्ञाने प्रपञ्चस्य ज्ञातत्वानुपपत्तेः  
प्रपञ्चरूपेण परिणामार्हं तदुपादानभूतं किञ्चिद् ब्रह्मविशेषणमाक्षिप्यते ।  
तेन कारणं तावद् विशेषणविशेष्याभयात्मकम् । विशेष्यस्य कार्येऽप्यनु-  
वृत्तमानत्वात् कार्यमपि तादृशम् । एवं सति मृत्तिकाज्ञानेन तद्विकाराणां  
सर्वेषामिव कारणभूतविशिष्टब्रह्मज्ञाने सांत तेन कार्यभूतस्य सर्वस्य  
विशिष्टस्य वस्तुना ज्ञातत्वं भवतीति पर्यवस्यति । एवं एकाविज्ञानेन  
सर्वविज्ञानम् ।

एतेन 'ब्रह्म वा इदमग्र आसात्' 'आत्मा वा इदम्' 'सदेव सांभ्ये-  
दम्' 'तद्वेदं तद्दिं अव्याकृतम्' इति सर्वत्र विशिष्टमेवाच्यत इति  
ज्ञेयम् । तत्र प्रपञ्चस्य चेतनाचेतनोभयात्मकत्वात् अचेतनवशेतेनस्यापि



ब्रह्मविशेषणत्वमाक्षिप्यते । तेन कारणं कार्यं च सर्वं ज्यात्मकम् । 'द्वासु-  
पर्णा समानं वृक्षम्' इति कार्यस्य ज्यात्मकत्वं स्पष्टमुक्तम् । सर्वस्यापि  
कार्यस्य ब्रह्मणि लयवचनात् सृष्टिवचनाच्च कारणस्यापि तथैव  
ज्ञायते । एवं सति प्रपञ्चोपादानस्य अविद्यात्वं वा प्रपञ्चस्य मिथ्यात्व वा  
जीवेशयोरभेदो वा केनोच्यते, किमर्थमाश्रीयते । विशिष्टयोः कार्यं कारण-  
योरभेदस्यैव कारणवाक्येषु सर्वेषु प्रमितत्वात् । विशेष्यस्य ब्रह्मणः  
विशेषणस्य तादृतरस्य चाभेदस्य क्वाप्यप्रतीतेः । तस्मादेकविज्ञानेन  
सर्वविज्ञानप्रतिज्ञया अभेदो नैवाक्षिप्यत इत्येतदनुरोधेन वाक्यान्तरा-  
णामभेदपरत्वाश्रयणं वन्ध्यापुत्रमहाराजप्रीतये वन्दिभिस्तदीयस्तुति-  
शिक्षणकल्पामिति ध्येयम् ।

द्वितीयाद्वै भयं भवतीति भेदस्य भयहेतुत्वेन निन्दितत्वादभेद एवो-  
पनिषद्गम्य इत्येतदप्युपहास्यम् । तस्मादेकाकी विभेतीत्येकत्वस्यापि  
निन्दितत्वान् । न च परमार्थदर्शनरहितस्य तन्निमित्तभयसम्भवान्  
एकाकी विभेतीत्युक्तमिति वाच्यम् । परमार्थदर्शनरहितस्य एकाकित्वा-  
भावेन एवं निर्देशानुपपत्तेः । विशालप्रपञ्चमध्ये वर्तमानो हि सः । स  
कथमेकाकी भवेत् । भवद्रीत्या एकाकिनः परमार्थदर्शनराहित्यं तन्मूलकं  
भयं च न घटते । यस्यैतद् द्वयं तस्यैकाकित्वं भवदभिमतं न घटते ।  
तथा च व्याहृतार्थमिदं वाक्यं भवेत् ।

किञ्च एकाकी विभेतीति एकाकित्वनिमित्तकमेव भयमुच्यते ।  
मलिनः स्नातीति मालिन्यानिमित्तकस्नानवत् । तेनोपस्थितं परित्यज्यानु-  
पस्थितहेत्वन्तरकल्पनमयुक्तम् । किञ्च तस्मादेकाकी विभेतीति वर्तमान-  
पदेशोऽयं लोकसिद्धानुवादः । अन्धतमसे अरण्ये वा असहायो गच्छन्  
हि विभेति । तदिदमिहाच्यते ! तत्र परमार्थदर्शनाभावनिमित्तकस्य  
भयस्य कः प्रसङ्गः ।

नन्वस्मदभिमतमेवेदं भवता प्रत्यपादि । एवमेकाकित्वनिमित्तकं

हि भयं परमार्थदर्शनरहिताविद्यादशायामेवेति चेन्न । “इयमविद्यादशा । इतोऽन्या परमार्थदर्शनदशाऽपराऽस्ती”ति गमकस्यात्र अत्यन्तमविद्यमानत्वान् । परमार्थत्वेन गृहीतस्य एकाकित्वस्य तद्धेतुकभयस्य च तथैवानुवादात् । किञ्च एकाकित्वं यदि अविद्यादशास्थं असहायत्वरूपं तर्हि द्वितीयाद्वै भयं भवतीत्युक्तं द्वितीयत्वमपि तादृशमेव चोरसरीसृपादिनिष्ठम् ।

तथा हि । सोऽभिभेदिति असहायत्वप्रयुक्तं भयं पूर्वमुक्तम् । तस्मादेकाकी बिभेतीति लोकप्रसिद्धभयनिदर्शानात् । तदनन्तरं “काममहमसहायः । तथाऽपि कुतो मया भेतव्यम् । चारसरीसृपसिंहव्याघ्रादिकल्पाः केचनानिष्टकारिणः सन्ति चेत् तैः पीडासम्भवात् अहो बत निस्सहायोऽस्मीति भीतिर्युक्ता । त एव तु न सन्ति । मदभ्यस्य यस्य कस्याप्यभावात् । अतो मदनिष्टकारी कोऽपि नास्ति । तेन स मां पीडयिष्यतीति भयस्य नावकाशः । तथा सति एकाक्यस्मीति कुतो मया भेतव्यम्” इति पर्यालोच्य स तद्भयान्मुक्त इत्युक्त्वा तद्युक्तमेवेत्याह श्रुतिः “कस्माद्धि अभेष्यत् । द्वितीयाद्वै भयं भवती”ति । द्वितीये सति तस्मादनिष्टमापतेदिति भयं युक्तम् । तदेव तु नास्ति । अतस्तत्र प्रातिकूल्यस्य तदधीनानिष्टोषनिपातस्य च प्रसक्तिविरहात् एवं विवोक्कनस्तस्य भयनिवृत्तियुक्तेति भावः । इत्थं पूर्वेण सङ्गतार्थत्वात् अत्राप्यद्वैतगन्धोऽपि नास्ति ।

यदि तु द्वितीयाद्वै भयं भवतीत्यस्य परमार्थदर्शनाभावप्रयुक्तभयपरत्वं स्यात् तदा ‘तत एवास्य भयं वीयाय’ इत्येतत् तादृशभयापगमपरमेव स्यात् । तदेकवाक्यत्वान् । तेन तस्य परमार्थदर्शनं सम्पन्नमिति स्यात् । तत् नोपपद्यते । ‘स वै नैव रेमे’ इत्यनुपदं तस्यारतिवचनात् । ‘स द्वितीयमैच्छत्’ इति रिरंसावचनाच्च । तदिह द्वितीयाद्भयश्रवणमात्रेण अद्वैतवर्णनसंरम्भो भवतामचमत्कारायैव कल्पते ।

अत्र श्रुतंनिगूढं तात्पर्यमाचार्या वदन्ति-भगवान् यज्जगत् सृजति तत्र तस्य स्वानिष्टपरिहारादिकं नोद्देश्यम् । न हि स कश्चिदस्ति, यस्तस्यानिष्ट किञ्चित् कर्तुमीष्टे । न च तस्यावाप्तसमस्तकामस्य अनवाप्तमवाप्तव्य किञ्चिदस्ति, यज्जगत्सृष्टिप्रयासेन ईप्सेत् । केवलं दययैव तु प्रवर्तते । दया नाम स्वाथंनैरपेक्ष्येण परहितप्रावण्यम् । भगवत इयन्पारा प्रलयावस्थावस्थितचेतनविषया दया । तदिदं

अचिदविशिष्टान् प्रलये

जन्तूनवलोक्य जातनिर्वेदा ।

करणकलेवरयोगं

वितरसि वृषशैलनाथकरुणे त्वम् ॥

इत्याचार्यचरणानुगृह्योतदयाशतकश्लोकं स्पष्टम् । अत्राक्तं भयं साक्षात् प्रथमसृष्ट्यत्तुमुखनिष्ठम् । तद्वारा तु भगवति । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमित्यादिषूक्तं सृष्टेः प्राक् ब्रह्माण एकत्वं द्रढयितु केवले कल्पनामात्रासद्धाविमौ भयतदपगमौ उपन्यस्ताविति तु साधायः ।

'एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति' इत्यत्र भेदनिन्दयाऽप्यभेदसिद्धिरित्यपि न । एतस्मिन् अलमपि भेद कुरुते चेन् तदा भयं भवतीत्युक्ते देशविशेषावच्छेदेन कालविशेषावच्छेदेन वा तत्स्वरूपस्वभावयोर्भेददर्शने सत्यनर्थो भवतीति स्वरसतो लभ्यते । प्रकृतौ स्वरूपस्वभावभेदो बहुधा भवति । जीवे स्वभावभेदः । तथा कश्चन भेदः अन्यथाभावः ब्रह्मणि नास्तीति तदुभयविलक्षणमेतत् । एवं सति तयोरिवास्यापि कश्चन भेदोऽस्तीति यो मन्येत तस्य यथावस्थित ब्रह्मज्ञानविरहात् संसारानुवृत्तिभयं भवतीति भावः ।

यद्यप्येतस्मिन्निति सप्तमाश्रवणं तु भेदं प्रति प्रतियोगित्वमस्य न प्रतीयते, तथापि वैमृधन्यानेन उपवेषन्यायेन च उपस्थितत्वात् एतस्यैव तत्त्वमङ्गीकृत्य स्वस्मिन् स्वभेदाप्रसक्त्या तन्निषेधायोगात् उक्तरीत्या

प्रधानजीवयोगिव शङ्कनीयस्वरूपस्वभावान्यथाभावरूपो भेदो निषिध्यते इत्युपशान्दीयम् । उपक्रमाक्तभगवन्कल्याणगुणचेतनाचेतनात्मकसकल-प्रपञ्चबाधस्यान्याय्यत्वेन भेदस्य सर्वप्रतियोगिकत्वासम्भवाच्च तथोप-पत्तिर्वच्यते ।

उपपन्नतरमर्थान्तरं चाहुः । 'प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति' इति पूर्वं प्रतिष्ठयाऽभयमुक्तम् । तत्र प्रतिष्ठा नाम अविच्छिन्न-स्मृतिस्तन्ततिरेव । अत्र श्रद्धावर्धनाय व्यतिरेकेऽनर्थः प्रकृतवाक्ये उच्यते । एतस्मिन् ब्रह्मणि अल्पमध्यन्तरं स्मृतिविच्छेदं यदा कुरुते तदा भयं भवतीति ।

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इतोदमपि नाद्वैते प्रमाणम् । 'आत्मनि तिष्ठन्' इतिवत् सर्वभूतेषु गूढ इति भेदावगमान् । भूतशब्दस्य प्राणि-वाचित्वस्य कोशसिद्धत्वात् । चेतनाधिष्ठितप्राणादिवाचित्वेऽपि विशेष्य-विशेषणभावमात्रभेदान् । चेतनाधिष्ठितप्राणशरीरादिषु गूढ एको देव इत्युक्तावपि हि चेतनभेदः सिद्ध्यत्येव । चेतनस्य शरीराधिष्ठानुर्द्वि-त्वात् । तत्र गूढस्य तु देवत्वात् । 'अनश्नन्नन्या अमि चाकर्षाति' इत्युक्तीत्या-द्योतमानत्वात् । देवत्वे सत्येव गूढत्वात् । न च एक इत्यनेन जीवाभेदो बाध्यते । तस्य सर्वभूतेषु एक एव गूढ इति शरीरादिभेदप्रयुक्तभेदाभाव-परत्वात् । पूर्वोत्तरपरामर्शेन अस्या उपनिषदो भेदपरत्वस्योपपादि-तत्वाच्च ।

“यावन्माहं तु भेदः स्याज्जीवस्य च परस्य च ।

ततः परं न भेदाऽस्ति भेदहेतोरभावतः ॥”

इत्यादिस्मृतावपि व्यक्त्यैक्यं नाच्यते । किन्तु जीवस्य परस्य च कर्म-सम्बन्धासम्बन्धज्ञानसङ्कोचासङ्कोचसुखदुःखभोगाभोगादिरूपो यो भेदः तस्य संसारदशायां वर्तमानस्य निश्शेषकर्मज्ञानान्नवृत्तिरुच्यते । व्यावत-कधर्मो हि भेदः । स च प्रकृते संसारित्वासंसारित्वरूपां विवक्षितः ।

यावन्मोहमित्युक्तेः । देहात्माभिमानो मोहः । तदधीनं विषयप्रावरणं यावत् तावदित्यर्थः । अतो यः स्वाभाविको व्यक्तिभेदः यश्च अणुत्व-महत्त्वपारतन्त्र्यस्वातन्त्र्यादिरूपो भेदः, तदनिवृत्तावपि न विरोधः । जीवस्य परस्य च ततः परं न भेदोऽस्तीत्युक्ते जीवो नश्यतीत्ययमर्थो न युक्तो वक्तुम् । तयोर्विद्यमानो भेदो नश्यति । जीवः परेण परमं साम्य-मुपैतीत्ययमर्थो हि समञ्जसः । सर्वप्रमाणसामञ्जस्यापादकत्वात् । वैप-रीत्यात्तु अर्थान्तरं हेयम् ।

‘क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धां’त्यत्रापि न जीवपरमात्मनोरभेद उपदिश्यते ।

‘न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।’ इत्युपक्रम एव जीवेश्वरयोः जीवानां मिथश्च भेदस्योक्तत्वात् ।

“अवरेयामतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥”

इति प्रकृतिवदेव जीवस्यापि विभूतिःत्वेनाभिधानात् ।

‘उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।’

इत्यन्यत्वस्य कण्ठत एवोक्तत्वाच्च । इदमन्यत्वमेव पञ्चदशाध्यायार्थः । यथोक्तं यायुनाचार्यैः—

“अचिन्मिश्राद्विशुद्धाच्च चेतनात्पुरुषोत्तमः ।

व्यापनाद् भरणात् स्वाम्यादन्यः पञ्चदशोदितः ॥”

इति । न च सामानाधिकरण्यं स्वरूपाभेदपरमेव । ‘रसोऽहमसु’, ‘अहं क्रतुरहं यज्ञः’ ‘आदित्यानामहं विष्णुः’ इति विभूतिपरत्वस्यैवेन्न निरूढत्वात् । अतः ऐक्ये किमपि प्रमाणवाक्यं न प्रदर्शयितुं शक्य-मिति सिद्धम् ।

मतिविभ्रममात्रोत्थमद्वैतं त्रातुमुत्सुकैः ।

बहुभिर्बहुधाऽप्युक्तं याति सैकतसेतुताम् ॥

## १६. ऐक्यानुमानम्

अथानुमानेन जीवेशैक्यं साधयितुं प्रवर्तते । तत्तु सर्वथाऽशक्यमिति इयंतैव निरूपणेन शक्यमवगन्तुम् । जीवाः परमात्मनस्तत्त्वतो न भिद्यन्ते, आत्मत्वात्, परमात्मवत्, इत्यादि हि सर्वे तदैक्यानुमानं प्रत्यक्ष-श्रुतिभ्यां वाधितम् । नाहमीश्वर इति भेदप्रत्यक्षस्य दुरपलपत्वात् । 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' 'तयोरन्वः सिफलं स्वद्वत्ति' इत्यादि-श्रुतिवाक्यैश्च भेदस्य कण्ठोक्तत्वात् । नन्दयं व्यावहारिकं भेदः । तात्त्विकभेदाभादस्तु साध्यत इति चेन्न । दत्तोत्तरत्वात् । अबाधितप्रत्यक्षावगतादन्यस्य तात्त्विकभेदस्याप्रसिद्धत्वेनासाधनीयत्वात् । तत्प्रसिद्धयप्रसिद्धिभ्यां व्याघाताच्च । यदि हि स प्रसिद्धः तदभावः साधयितुं न शक्यः । अथाप्रसिद्धः अप्रसिद्धप्रतिपत्तिकोऽभावः कथं साध्येत ।

घटो हिमालयान्न भिद्यते, पृथिवीत्वात्, हिमालयवत्, इत्याभास-साम्यं च । अत एवाप्रयोजकत्वं च । यत्तु श्रुत्यनुग्रहान्नेमौ दोषाविति तत् तन्निग्रहस्यैवोपपादितत्वान्निरस्तम् । एवं जीवेशैक्यानुमानदौस्थ्यमपि द्रष्टव्यम् । विमतानि शरीराणि चैत्राधिष्ठितानि शरीरत्वात्, सम्मतवत्, इत्यत्र हि 'नेमानि मम शरीराणि' इत्यबाधितानुभवेन बाधः । 'विमतानि शरीराणि न चैत्राधिष्ठितानि तद्भागानायतनत्वात् घटवदिति सप्रतिसाधनत्वम् । महीमहीधरादिकं सर्वं चैत्राधिष्ठितं, वस्तुत्वात्, तच्छरीरवत्, इत्याभाससाम्यं च

विदुषामुपहास्यानि प्रयुज्यन्ते पुनःपुनः ।

असम्यञ्चयनुमानानि तस्थुषा दुःस्थिते मते ॥

भेदो मिथ्या भेदत्वात् दृश्यत्वाद्वा, चन्द्रभेदवत्, इतीदमनुमानं वादिनं प्रति किमर्थं प्रयुज्यते । घटो मिथ्या घटत्वात् दृश्यत्वाद्वा, कल्पितघटवदित्यनुमानादस्य को विशेषः । तस्यापि प्रमाणात्वाद् विशेष एवेति

चेन्न, तर्हि घटवदेव तस्यापि मिथ्यात्वं सिद्धमिति किमिदानीं विशिष्ट्य साधनेन । परमते च तद्वदेव न मिथ्यात्वमिति सिद्धत्वान् पुनः साधनमनवकाशम् । बाधः, बाधितत्वमुपाधिः, भेदो न मिथ्या, प्रमितत्वान्, ब्रह्मवत्, इति प्रतिसाधनं, उक्ताभाससाम्यं चेत्यनुमान-दोषा द्रष्टव्याः ।

किञ्च भवत्प्रदुक्तो बाणो भवत्तमेव प्रहस्ताति न्यायेन “अभेदो मिथ्या अभेदत्वान्, देहात्माभेदवत्” इत्यनुमीयमानमभेदमिथ्यात्वं भवतो दुःसमाधानमेव । यत्तु शून्यवादापत्तिरिति तन्न । भेदमिथ्यात्वानुमानंऽप्यस्य प्रतिकूलतर्कस्य सुवचत्वान् । ब्रह्मणः स्वेतरभेदाभावे हि मिथ्याभूतप्रपञ्चाभेदापत्त्या तद्वदेव मिथ्यात्वान् शून्यमेव तत्त्व-मित्यापत्तित् ।

कथञ्च शून्यवादापत्तिः । स्वाभेदाभावं स्वस्मिन् स्वभेदसंज्ञान् स्वरूपम्यैवासिद्ध्या शून्यं स्यादिति चेन्न । स्वरूपस्य स्वतःसिद्धत्वान् । तर्केण शून्यत्वापादनासम्भवात् । ननु स्वाभेदाभावे वस्तु किंरूपं स्यादिति चेत् स्वेतरभेदाभावे यद्रूपं तद्रूपमेव । स्वेतरभेदशून्यं यदि किमपि वस्तु स्यात् तन् स्वाभेदशून्यं कुतो न स्यात् । स्वेतरस्य तात्त्विकस्य विरहान् तद्वेदोऽनपेक्षित इति चेत् स्वभेदस्य तात्त्विकस्य विरहान् तदभावरूपः स्वाभेदोऽप्यनपेक्षित एव । तस्मादुभावपि भेदाभेदौ अविशेषेण सत्यौ वा मिथ्या वा । तत्रानेकपुत्रस्य दुष्पितुरेकस्मिन् पुत्र इव भेदे भवतो द्वेषः पापायैव । ‘विमता भेदधीः मिथ्या भेदधीत्वान्, चन्द्रभेदधीवन्’ इत्यनुमानमुक्त्वा “आभाससाम्यस्य तात्त्विकत्वे प्रत्येतव्यत्वानुपपत्त्यैन्न निरासः” इति यदुक्तं, तत् स्वमताभिनिवेशभूमना परपक्षं त्रिस्मृत्य । न हि दृश्यत्वेन मिथ्यात्वं परोऽभ्युपगच्छति, येन तं प्रति तात्त्विकत्वे प्रत्येतव्यत्वानुपपत्तिरुद्भाव्येत । तस्मादिदं अन्यानि चात्रत्यान्यनुमानानि पूर्ववदेव दुरनुमानानीति ज्ञेयम् ।

### १७. अंशत्वम्

अथार्थापत्तिमाह । 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' 'ममैवांशो जीवन्नोके जीवभूतः सनातनः' इति श्रुतिस्मृत्योरंशव्यपदेशाद्वापि जीवब्रह्माभेद-  
सिद्धिरिति ! अंशत्वस्य प्रकारान्तरेणासम्भवात् घटाकाशस्य महाकाशं  
प्रतीव कल्पितप्रदेशत्वरूपमंशत्वं जीवस्य वाच्यम् । तथा चाभेदसिद्धि-  
गति मन्वते । अत्र वदामः । विश्वानि भूतानि सहस्रशीर्षेभ्यो दिव्यमित्त-  
महिमातिशयैर्वापि ष्टस्य पुरुषस्य पादः अंश इति तावदस्यः श्रुतेरर्थः ।  
पूर्वं 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इत्यत्र भूतशब्दवाच्यमीव तावन्निवा-  
क्त्या ब्रह्मणस्ततो भेदः सिध्यतीति परब्रह्मणेऽस्मान्पादोऽंशो 'भूतशब्दो  
न चेतनवाची । अत्र तु चेतनावधिष्ठितशरीरवर्चीत्युक्तवता भवतः' इति  
चेतनवाचित्वं कृत्वा तस्य ब्रह्मांशत्वमुक्तमिति यदुच्यते तेन व्यवस्थि-  
त्त्वं विप्रसिद्धिः । अतः चात्मनः ख्याप्यत इति पश्यतु भवान् ।

अथ पुरुषस्य भूतानि कथमंश इति पर्यालोचने अस्येत्यनेन परामु-  
ष्टस्य पुरुषस्य ये विशेषाः पूर्वावगताः, ये च भूतानां, तदपित्यागेनै-  
वांशता वाच्या । प्रथमावगतत्वात्, श्रुतिगम्यत्वाच्च । पदान्तरेण पश्चा-  
देव हि अंशत्वमवगम्यते । तत्र कारणं कार्यं च विशिष्टास्तदुपपादितम् ।  
विशिष्टे च विशेषः अंशत्वान् जीवानां ब्रह्मावशेषणत्वाच्च अंशत्वमन्य-  
थैव सम्भूतप्रवृत्तिः अस्येत्यस्य सहस्रशीर्षत्वाद्युपलक्षितचैतन्यपरत्वाश्र-  
यणे भूतशब्दोक्तजीवानां कल्पितप्रदेशत्वाश्रयणे च नार्थापत्तिः प्रसरति ।

अंशो नानाव्यपदेशादिति सूत्रे नानाव्यपदेश इति भेदव्यपदेश  
उच्यते, सृष्टृत्वसृज्यत्वनिवृत्तत्वनियाम्यत्वादिवचनरूपः । अन्यथा  
चापीति अभेदव्यपदेशः तत्त्वमस्यादिरूपः । उभयव्यपदेशादंशत्वम् ।  
अंशत्वेऽङ्गीक्रियमाणे उभावपि व्यपदेशौ उपपन्नौ भवतः । अतोऽंशत्वमङ्गी-  
कर्तव्यमिति भावः । तत्र सृष्टृत्वसृज्यत्वादिभिः स्वरूपभेदः सिद्धः ।  
अतो भेदव्यपदेशो मुख्यः ।



अपृथक्सिद्धविशेषरूपांशवाचिना पदेन अंशिनो विशेष्यस्या-  
प्यभिधानात् अभेदव्यपदेशोऽपि मुख्यः । तदेवमन्यथैवोपनीएत्वात् जीव-  
पराभेदे अंशत्वार्थापत्तिर्न प्रमाणमिति सिद्धम् ।

अथ त्रिम्बप्रतित्रिम्बभावमाश्रित्य यज्जीवेश्वरैक्यं साधयितुमिष्यते ।  
तदपि मुधा । त्रिम्यप्रतित्रिम्बभावासम्भवस्य विस्तरणोपपादितत्वान् ।

त्रिम्बैक्यं प्रतित्रिम्बस्य काममस्माभिरिष्यते ।

इष्यते किन्तु जीवस्य न ब्रह्मप्रतित्रिम्बता ॥

अनेन हेतुना तस्मादस्मान् प्रति न शक्यते ।

ऐक्यं प्रतिष्ठापयितुं जीवात्मपरमात्मनोः ॥

### १८. अणुत्वम्

अणुराम्नायते जीवो विभुश्च पुरुषः परः ।

शङ्काऽपि जायेत कथमेतयोरेकतां प्रति ॥

यत्तु 'नित्यः सर्वगतः' 'स वा एष महानज अत्मा' इत्यादिभिर्वि-  
भुत्वावगमान्नाणुत्वमिति । तदेनेषां परमात्मविषयत्वान्निरस्तम् । अथ  
जीवो नाणुः, प्रत्यक्षणुःश्रुत्वान्, प्रत्यक्षत्वञ्च, घटवत् । आत्मत्वात्,  
अभूतत्वाच्च, ईश्वरवत् इत्यादिभिरनुमानैरनणुत्वासाद्विरिति चेन्न ।  
'भागो जीवः स विज्ञेयः' इत्यादिश्रुत्या बाधात् । जीवो न विभुः, क्रिया-  
वद्व्यवत्वात् घटवत्, इति प्रत्यनुमानाच्च । न चासिद्धिः । क्रियाव-  
त्त्वस्य साधयिष्यमाणत्वान् । अप्रयोजकत्वाच्च । यत्तु देहव्यापिसुखाद्य-  
नुपलम्भापत्तिः प्रतिकूलतर्क इति, तन् धर्मभूतज्ञानव्याप्त्या उपपन्नत्वे-  
न्निरस्तम् । गीतं हि भगवता—

“यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥”

इति । यच्च 'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च' इत्यस्य व्यापकत्व

प्रतिपादकबहुश्रुतिविरोधेन दुर्विज्ञेयपरत्वमिति तदपि न । व्यापकत्व-  
श्रुतीनां परमात्मविषयत्वात् । प्रकृताया जीवविषयत्वेन विरोधाभावात् ।

उत्क्रान्तिगत्यार्गात्श्रवणाच्च जीवस्य न विभुत्वम् । अत्राह—  
उत्क्रमणादीनां बुद्धिगतानां उपहिते श्रुत्या प्रतिपादनामिति । न त्वेवं कल्पने  
किञ्चिन् प्रमाणमस्ति । प्रत्युत 'एष आत्मा निष्क्रामति' इति जीवस्यैवो-  
त्क्रान्तिरभिधीयते । स एनान् ब्रह्म गमयतीति गन्तुरेव च मुक्तिः श्रूयते ।  
नन्वव्यापकस्यैव अव्यापकं प्रत्येव गमनम् । ब्रह्म च व्यापकम् । तत्  
प्रति गमनासम्भवेन गमनपदस्य उपाधिकृतभेदराहित्यपरतया नास्य  
गतिमुक्तिसामानाधिकरण्यप्रतिपादकत्वांमिति चेत् , सत्यमव्यापकस्यैव  
गमनम् । अत एव गन्तुर्जीवस्याणुत्वं ब्रूमः । भवता तु व्यापकत्वं सिद्धं  
कृत्वा गतेरुपाधिगतत्वमुच्यते । तथा च श्रूयमाणगत्यनुपपत्तेरप्यद्वैतम-  
श्रौतमिति सिद्धयति ।

यच्चव्यापकं प्रत्येव गमनमिति तदपीष्टमेव । गतिप्राप्यदेशविशे-  
षावच्छेदेनैव ब्रह्मप्राप्तेर्मुक्तित्वात् । गतिश्रवणस्यैवात्र प्रमाणत्वात् ।  
परं ज्यातिरुपसम्पद्येति च गतिपूर्विका मुक्तरुच्यते । 'तथा विद्वान्  
नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इति च । पूर्वत्र ज्योति-  
शशब्देन तेजाविशेषः विशिष्टं अप्राकृतं रूपं व्यञ्जितम् । इह पुरुषशब्देन  
तद्दिव्यं रूपं साक्षादुक्तम् । पुरुषमुपैति दिव्यरूपविशिष्टं ब्रह्म प्राप्नोति ।  
एवं मुख्यार्थस्योपपन्नत्वात् । "परमपुरुषस्य सर्वत्र सन्निहितत्वेन तं प्रति  
गमनासम्भवेन उपैतीत्यापि पूर्ववदर्थान्तरपरम्" इति दुस्सिद्धान्तानुरोधेन  
श्रुतिविनाशनं न शोभते ।

यदपि "उपाधिगत्या उपहिते गतिप्रयोग औपचारिक एव । न चैवं  
कृतहान्याद्यापत्तिः । यद्बुद्धयवच्छिन्नेन येनैवात्मना यत् कृतं तदवच्छिन्नेन  
तेनैव ( तदवच्छिन्ने तस्मिन्नेव तेन ) भोगजननात् । न ह्यात्मनः प्रदेशो-  
ऽस्ति । यत् अवच्छिन्नस्य कर्तुर्भाक्त्वे इति, तन्न । अवच्छेद्यात्मनो-

ऽअच्छेदकवृद्धेश्च ऐक्ये अर्वाच्छन्ने भेदस्य वक्तुमशक्यत्वात्” इति तदप्यसाधु । चिदाचिद्प्रस्थिर्हि जावः । तत्र जायमानो भोगः चिति वर्तते न वा । आद्ये भोगसङ्करप्रसङ्गः । आत्मनः अच्छेद्यत्वेन सर्वत्र एकत्वात् । एवं च कर्तृव्यतिरिक्तानामकृताभ्यागमप्रसङ्गः । अन्त्ये कर्तुराप भोगो न स्यात् । चैतनावृत्तित्वत् । न खलु स्वावृत्ति मुखं वा दुःखं वा चेतनोऽनुभवितुमलम् । एवं सति कृतहानिप्रसङ्ग इति । नन्व-हङ्कार एव करोति, अहङ्कार एव भुङ्क्ते । यो यत् करोति स एव तद् भुङ्क्ते । स तद् भुङ्क्ते एव । तत्र नास्ति कृतहान्यादिप्रसङ्ग इति चेन् तर्हि चिदशाषटितः अचेतन एव केवलो जीव इति स्यात् । तत्र कस्य ऐक्यं बोध्यते । नाचेतनस्य । अनिष्टत्वात् । न चेतनस्य । तस्य जीवत्वाभावात् ।

अथैवं जीवस्यागुत्वे सति ‘स चानन्त्याय कल्पते’ इत्येतद्विरुध्यत इति चेन् कामं विरुध्यते । भवतो यथा ‘जीवो भागः स विज्ञेयः’ इत्येतद् विरुध्यते तथा । कथं परिहार इति चेत् स्वरूपतोऽगुरपि मुक्तौ ज्ञानसङ्कोचनिवृत्त्या परिपूर्णविकासेन च धर्मभूतज्ञानद्वारा विभुभवनयोग्यताः वानित्यर्थ इति न विरोध इति । न च गुणिनोऽगुत्वे गुणः कथं सर्वत्र प्रसरेदिति वाच्यम् । दौषप्रभावन पराश्रितत्वनियमेन ज्ञानस्य धर्मत्वेऽपि रूपादिवद् गुणत्वाभावात् । प्रभावदेव द्रव्यत्वात् । सङ्कोचावकासरूपावस्थावत्त्वेन द्रव्यलक्षणयोगात् ॥

“बुद्धेर्गुणानात्मगुणेन चैव

ह्याराप्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः ।”

इत्यत्र आराप्रमात्रत्वस्य बुद्धिगुणहेतुकत्वोक्तेः स्वाभाविकं विभुत्वमुक्तं भवतीत्यपि न युक्तम् । बुद्धेर्गुणेन आराप्रमात्रः । उपाधिभेदेन तत्परिमाण इत्यर्थः । आत्मगुणेन च अवरोऽपि । स्वाभाविकेन

स्वगुणेन अवरोऽपि ततोऽल्पपरिमाणःऽपि भवत त्यर्थात् । यत्तु अवर-  
शब्दस्य न.स्ति वरो महान् यत इति ब्रह्मानन्दीयं विवरणं तन् श्रुतेः  
केवलं कदर्थनम् । अवरशब्दस्य 'तस्मिन् दृष्टे परावरे' इत्यादिप्रयोग-  
दर्शनेन अपकृष्टे निरूढत्वात् ।

वस्तुतस्तु पृर्वार्धात् समन्वित इति पदं समासघटकमपि 'भौष्म-  
द्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्' इत्यत्र -मुखत इतिवत् बुद्ध्या  
निष्कृत्य बुद्धेर्गुणेन अन्तःकरणसत्त्वप्रभृतिगुणेन, आत्मगुणेन तद-  
धीननानाविधार्थविषयसाध्यवसायेन च समान्वतो यः प्राग्ताधिप इति  
योजनान् आराप्रमात्रत्वे बुद्धिगुणो न हेतुरिति द्रष्टव्यम् ।

अङ्गुष्ठमात्रः, आराप्रमात्रः, ततोऽवरश्च शास्त्रेषु दृष्टः । परमार्थ-  
तस्तु 'जीवो भागः स विज्ञेयः' इति श्रुतिः स्वमतं वदतीत्याचार्या इह  
सुष्ठु भाषन्ते । तन् सिद्धमणुर्जीव इति ।

तमो यद्वत्तद् विहित इह येनाम्बरमण-  
-

विधं यद्वत्तद् विहितममृतं येन भुवने ।

नयाऽसौ लेखन्या श्रुतिर्मातनिजैश्वर्यावर्ता-

द्रदिम्ने दैत्यारिः स्वयमिदमुदारो विलिखति ॥

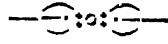
इति

विशिष्टाद्वैतसिद्धौ

जीवेश्वरविभागे नाम

द्वितीयः परिच्छेदः

# अथ तृतीयः परिच्छेदः



## १. श्रवणादि ।

श्रेयस्कार्मैरवगन्तव्यतया शास्त्रैरुपदिश्यमानेषु तत्त्वहितपुरुषार्थेषु त्रिषु तत्त्वं तावत् चिदाचदीश्वररूपेण त्रिधा विभज्यते । तत्र अचितो मिथ्यात्वं चिदोश्वरयोरभेदं चाभ्युपेत्य परे अद्वैतसिद्धान्तमातिष्ठन्ते । सांख्यं सिद्धान्तः केवलमाभिमानकः । सर्वप्रमाणप्रतिकूलत्वात् । अत एव ते सर्वाणि प्रमाणानि हठादेव अन्यथान्यथा नेतुमुद्युञ्जते । स एषां तत्त्वविषयो महान् विपर्ययः इयता प्रबन्धेन न्यरूपि । अथ हित-विषयो निरूप्यते ।

‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ?’ इति तावत् परमपुरुषार्थप्राप्त्युपायां विधायते । अत्र तव्यप्रत्ययान्तषु चतुर्षु पदेषु केन क्रिविधिरित्यत्र विप्रतिपत्तिः । तत्र परं वदन्ति । आत्मा-पराक्षमसिद्धत्वात् प्रपञ्चस्य, तत्साक्षात्कारणैव तन्निवृत्तर्भवत् । न पराक्षज्ञानेन । प्रमात्मकसाक्षात्कारस्य अपराक्षमनिवर्तकत्वं चान्वय-व्यातिरेकाभ्यामेव सिद्धामिति न तत्साधनत्वं शास्त्रेण विधेयम् । ज्ञानस्य प्रमाणपरतन्त्रत्वेन पुरुषपरतन्त्रत्वःभावाच्च तथा । स च साक्षात्कारः तत्त्वमसीति वाक्येनैव जायते । वाक्येन च न केवलेन । अपि तु श्रवण-हितानि शयेन । अतः करणक्रांतिप्रविष्टं श्रवणम् । तच्च श्रोतव्य इति विधीयते । अत एवदमङ्गि । अस्य फलोपकार्यङ्गे मनननिदिध्यासने मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इत्याभ्यां विधीयेते इति । अद्वैतसिद्धान्तानु-रोधेनायं निर्णय इति स्पष्टमेतन् । अद्वैते च प्रमाणलबोऽपि नास्ति ।

प्रत्युत सर्वाणि प्रमाणानि तद्विरोधीनीति स्थितम् । अतस्तदनुसारेण क्रियमाणोऽयं निर्णयोऽप्यनुपपन्न इति स्वयं सिद्धत्वात् न तत् प्रति विशेषतः किमपि प्रतिपादनीयम् । अथापि वैशगार्थं विमृशामः ।

“येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् । यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि” इत्युपक्रमात् मोक्षसाधनं ‘आत्मा वा अरे’ इत्यादिना उपदिश्यते इति ज्ञायते । तस्मात् मोक्षसाधनं लोकतः प्राप्तिमिति वादो न युज्यते । किञ्च श्रोतव्य इत्यत्र किमुद्देशेन किं विधीयते । आत्मसाक्षात्कारोद्देशेन श्रवणमिति चेन्न । आत्मसाक्षात्कारस्यानुपस्थितत्वेन उद्देश्यत्वेनान्वयायोगात् । द्रष्टव्य इत्यनेन तदुपस्थितिगिति चेन्न । तत्रत्यतव्यप्रत्ययोक्तभावनविशेषणत्वेनैव तदुपस्थितेः श्रवणभावनायामन्वयायोगात् । पदान्तरकल्पनयाऽन्वय इति चेन्न । आत्मा द्रष्टव्यः श्रोतव्य इत्यात्मकर्मरुभावनान्वये सर्वत्र समाने सति परस्परं गुणप्रधानभावानुपपत्तेः । न हि समिधां यजति, इडो यजतीत्यत्र परस्परमङ्गाङ्गिभावो भवति । नाप्यगुण्या पिङ्गाद्येत्यत्र द्रव्यगुणयोः । एतेन द्रष्टव्यः श्रोतव्य इत्यव्यवहितपाठरूपसन्निधानात् श्रवणस्य दर्शनेन साक्षादन्वयादङ्गित्वमिति निरस्तम् । उभयत्र आत्मकर्मकत्वस्य तुल्यत्वेन परस्परमुद्देश्यविधेयभावनान्वयस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात् ।

किञ्च द्रष्टव्य इति भवदभिमतः साक्षात्कार उच्यते इत्येतदसिद्धम् । अमृतत्वकामेन आत्मा द्रष्टव्य इति हि वाक्यार्थः । तत्र द्रष्टा सुमुञ्जन्त्यः । द्रष्टव्यश्च सर्वान्तरात्माऽन्यः । न चाप्येनात्मना अन्यस्यात्मनः साक्षात्कारः सम्भवति । अन एव द्वैतमिष्यते । उपाधिकृतश्च भेद इति चेन्न । एवं वचनस्यान्यत्र नैश्वत्वेन इदमपि प्रमाणमद्वैतानां प्रतिकूलमित्येव पर्यवसानात् । द्रष्टव्य इति विधेयदर्शनविशेषप्रतीतिश्च । विधिसरूपोऽयमनुवादः । न तु विधिरिति चेन्न । एवं कल्पनस्यैव दोषत्वात् ।

अपि च भवद्भिमतः साक्षात्कारः शब्देन जननीय इति को निर्बन्धः । न हि लोके शब्दजन्य एव साक्षात्कारः प्रत्यक्षभ्रमनिवर्तक इति नियमो दृश्यते । न च प्रकृते तथा नियमकारो शब्दोऽस्ति । न च मन्त्रपाठवलान्मन्त्रेणैव स्मर्तव्यत्वनियमकल्पनवन्तत्त्वमसीति वाक्यश्रवणबलान् तेनैव साक्षात्कारः सम्पाद्य इति कल्पनम् । तस्य ऐक्यवाधकत्वेन चरिताथत्वात् न च साक्षात्कारस्य जनकापेक्षायां उपदेशनिराकाङ्क्षन्नापि अस्यैव वाक्यस्य अनाम्नातमन्त्रकत्वङ्गस्मरणार्थतया विधेयत्वमिति प्रकृत्यैव प्रहृष्टमिति वाच्यम् । विधेयतया सम्प्रतिपन्नस्य निर्दिध्यासनस्यैव तज्जनकत्वस्वीकारोचित्यात् । न च निर्दिध्यासनजनितसाक्षात्कारस्य विरहिकान्तासाक्षात्कारवदध्याथार्थत्वम् । आत्मैक्येन प्रकृते विषयव्यभिचान् । तत्र तु बाधान् । इष्यते च फलोपकार्यङ्गत्वं निर्दिध्यासनस्य भवता । तत्र फलसाधनत्वे को दोषः । शाब्दपरोक्षः-ङ्गीकारदुर्दशापरिहारेण लाभस्तु महान् । एवं च श्रवणमननयोरर्थतः प्राप्तिरङ्गीकृत्य निर्दिध्यासनविधिमात्रपरतया एकवाक्यत्वमपि रक्षितं भवति । अन्यथा हि विधेयभेदान् वाक्यत्रयं भवति ।

किञ्च यदि चरमवृत्तिरूप आत्मसाक्षात्कार एवेह उद्देश्यः तर्हि ततः प्राकृतं परोक्षरूपे वैदिकवाक्यध्वेयोधे श्रवणमनपेक्षितं स्यात् । अर्थतस्तत्र प्राप्तिरिति चेन्न । तथापि नियमासिद्धेः । तथा चापासनादीनां श्रवणमनपेक्ष्य स्वयमेव वृद्धिमद्भिरवधारणे कृते फलहानिर्न स्यात् । तत्त्वमसीति वाक्येन ऐक्यवधारणे च । अथ तत्साधारण्येन उद्देश्यत्वमिष्यते, मनननिर्दिध्यासनयोः वाक्यार्थज्ञानार्थश्रवणाङ्गत्वमपि स्यात् । न च तद् घटते । अनुपयोगान् । न च साक्षात्कारार्थश्रवणमात्राङ्गत्वं सुवचम् । तस्याविहितत्वेनानुवादायोगात् ।

किञ्च मननादेरङ्गत्वे मानाभावः । तत्प्रत्ययेन आत्मकर्मत्ववाचिना श्रवणसाम्यप्रतीतेः । न च मननेनात्मानं प्राप्नुयादिति बोधे जाते प्राप्ते-

ज्ञानरूपत्वात् तत्र च पूषेवाक्ये श्रवणस्य साधनत्वेन विहितत्वात् साधनाकाङ्क्षायाः शान्तत्वान् तत्साधनश्रवणस्यैवादेश्यत्वं वाच्यार्मात तदङ्गत्वसिद्धिरिति शङ्कयम् । आत्मप्राप्तेरुद्देश्यत्वे सर्वत्र समाने प्रथम-श्रुतश्रवणमात्रेण साधनाकाङ्क्षानिवृत्तेरयोगान् । न हि आग्नेययागविधान-मात्रेण अपूर्वसाधनाकाङ्क्षा निवृत्तंति कृत्वा उपांशुयाजःदेस्तदङ्गत्वं युक्तं वक्तुम् । नापि समिद्यागमात्रेण प्रधानेति कर्तव्यताकाङ्क्षा निवृत्तेति कृत्वा इडादेस्तदङ्गत्वम् ।

यदुक्तं -- “शब्दशक्तितात्पर्यावधारणं तावद्विचारः । अवधृततात्पर्य-कश्च शब्दः करणमिति विचारस्य करणकोटिप्रवेशेन इतिकर्तव्यता-त्वाभावादङ्गत्वनिर्णयः”, इति, तदसन् । मननस्याप्येवं करणकोटि-प्रवेशाभक्त्या अङ्गत्वस्यैवाभ्युपगन्तव्यत्वेन अङ्गत्वभङ्गप्रसङ्गान् । मनना-भ्रावे श्रवणावधृतम्य तात्पर्यस्याप्रतिष्ठानः न मननस्यापि तात्पर्यावधारण-विद्येयोगान् । किञ्च किन्नाम करणकोटिप्रविष्टत्वम् ? किं करणत्वमेव, यद्वा करणतावच्छेदकत्वं, अथवा सन्निरत्योपकारकाङ्गत्वमात्रम् । नाद्यः । शब्दमात्रस्य करणत्वान् । तात्पर्यज्ञानस्य पृथक्कारणत्वान् । पृथग-न्वयव्यतिरेकव्यान्तरेकवत्त्वान् । चेष्टाप्रकरणदिभिः तात्पर्यज्ञानस्य जातत्वेऽपि प्रमादादिना शब्दान्तराच्चारणे विवक्षितबोधाभावात् । सर्वाचीनशब्दप्रयोगे सत्यपि तात्पर्याग्रहे बोधाभावात् । न चैतावता अवधृततात्पर्यकः शब्दः करणमिति तात्पर्यमन्तर्भाव्य करणत्वं सुव-चम् । न हि आलोकादिशिष्टस्य चक्षुषः प्रत्यक्षं प्रति, समिद्धस्याग्नेर्दाहं प्रति, उद्यमननिपातर्नाशिष्टस्य कुठारस्य छिदां प्रति करणत्वं केन-चिदभ्युपगम्यते । आकाङ्क्षादिकमपि करणकोटिप्राविष्टं नैव कैश्चिदङ्गी-क्रियते । आकाङ्क्षादिमत्पदकदम्बकं शब्दकारणमिति व्यवहारः प्रमा-स्थले वस्तुतः पदानि आकाङ्क्षादिमन्त भवन्तीत्यभिप्रायेण क्रियते । न त्वकाङ्क्षादेरपि करणत्वाभिप्रायेण ।



अत एव न द्वितीयः । विशिष्टरूपेणान्वयव्यतिरेकादर्शनान् । तृतीये तु इतिकर्तव्यतात्वस्य सिद्धत्वान् करणकोटिप्रवेशाभिधानं तन्मूलकेतिकर्तव्यतात्वाभाववचनं च न घटते । करणस्वरूपनिष्पादकानां सन्निपत्योपकारकाणामपि इतिकर्तव्यतात्वान् । तदुक्तं शास्त्रदीपिकायामपूर्वाधिकरणे—“एवं प्रकारभेदे सत्यपि सर्वाण्यङ्गानि यागापूर्वनिष्पत्तावनुग्राहकाणि भवन्तीत्येकरूपेणेत्यम्भावेन स्वीक्रियन्ते” इति । तन्न्याख्याने सोमनाथीये च—

“नन्वेवं साक्षादुपकारजनने व्याप्रियमाणत्वान् प्रयाजादीनामेवेत्यम्भावेन स्वीकारः स्यात् । ततश्च तेषामेव विकृतावतिदेशः स्यात् । न त्ववघातादीनाम् । इत्यत आह—एवमिति । कथं भावयेदिति ह्युपकारजननप्रकारमात्रमेवापेक्ष्यते । न तु साक्षादुपकारजननप्रकार एव । ततश्च सत्यव्यवान्तरविशेषे सर्वेषामेवाङ्गानामित्यम्भावेन सङ्ग्रहः । नारादुपकारकाणांमेवेत्यर्थः ।”

इति । एतेन

“ननु सन्निपत्योपकारकत्वेऽपि न फलोपकारकमनननिदिध्यासनरूपाङ्गं प्रति शेषिता । अन्यथा प्रयाजादिकं प्रति अवघातादिः शेषा स्यात् ।”

इत्युत्थितायाः शङ्कायाः समाधानं यदुक्तं—

विशिष्टयगप्रविष्टतया शेषित्वे इष्टापत्तः । असाधारण्येन शेषिता तु असाधारणफलोपकारकत्वे स्यात् ।

इति । तन्निरस्तम् । शङ्कितुर्मीमांसकस्याभिप्रायाग्रहणात् । यद्यवघाताङ्गं प्रयाजाः तर्हि तदर्थं पृथगनुष्ठीयेरन् । यथाशक्तिप्रयोगे च प्रधानार्थतयाऽननुष्ठीनेऽपि सति सम्भवे अवघातमात्रोद्देशेनानुष्ठीयेरन् । अवघातातिदेशे च तदङ्गतया प्रयाजानामप्यतिदेशः स्यात् । न चेदं सर्वं केनचिदद्ध्यते । इति शङ्कितुरभिप्रायः । समाधानमपि अमीमांसकोचित-

मेवोक्तम् । न हि प्रयाजादिवर्जं अवघातादिमात्रवैशिष्ट्यं यागस्य कदाचिदपि भवति । प्रथमं सकलाङ्गकलापसाहित्यस्य ततः परं सर्वप्रधानाङ्गसाहित्यस्य चेष्टत्वात् । प्रयोगविधौ सर्वेषामङ्गानां अविशेषेण फलभावनार्यामिति कर्तव्यतात्वेनान्वयात् । पश्चाच्च तत्र करणत्वेनान्वितस्य प्रधानयागस्य एषां च परस्परमन्वयात् । तस्माद् विशिष्टयागप्रविष्टत्वोक्तिः अवघातशेषत्वे इष्टापत्त्युक्तिश्च अत्यन्तासमञ्जसे ।

धर्मे प्रमीयमाणे तु वेदेन करणात्मना ।

इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति ॥

इति मीमांसाभिधानस्य श्रवणापरपर्यायस्य विचारस्य इतिकर्तव्यतात्वे आप्ततमैः सुस्पष्टमुक्ते सति अत्र इतिकर्तव्यतात्वं प्रतिषिध्य करणत्वं साग्रहं साधयन् अत्रभवान् नूनं तदश्रुतपूर्वी । अथवा अभिनिवेशाति-  
स्तथमहिम्नाऽत्यन्तं विस्मृतवान् ।

यच्च द्वैतिनामाक्षेपमनूद्य समाहितम्—

ननु शब्दसामर्थ्यरूपेण लिङ्गेन 'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' इति वाक्येन फलसम्बन्धात् प्रकरणेन च श्रवणादिकं निदिध्यासने सन्नपत्याङ्गमिति चेन्न । निदिध्यासनपदस्य 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इत्यादाविव साक्षात्काररूपफलसम्बन्धे न शक्तिरिति शब्दसामर्थ्याभावात् । वाक्येऽपि योग्यताबलात् श्रवणेमेवाध्याह्नियते । तथा च तच्छ्रवणात् ध्यायमानो निष्कलं ब्रह्म पश्यतीत्यनुकूलार्थस्यैव पर्यवसानात्

इति तदप्यनुपपन्नम् । वादिवाक्यस्य यथावदर्थानवगमात् । लिङ्गेनेत्यस्य फलसम्बन्धादित्यत्रान्वयस्याविवक्षितत्वात् । वाक्येनेत्यत्र चकाराश्रवणात् । प्रकरणेन चेत्यत्र तद्व्यवहारेनोत्तरत्रैवान्वयप्रतीतेः । यल्लिङ्गं, यच्च वाक्यावगतफलसम्बन्धाधीनं प्रकरणं, ताभ्यां श्रवणादिकं निदिध्यासने सन्नपत्याङ्गमिति हि वाक्यस्यार्थः । श्रोतव्य इति शब्दसामर्थ्यात् श्रवण-

मवगम्यते । तच्च वाक्यार्थनिश्चयजनकतया लोके ज्ञातम् । मन्तव्य इति शब्दसामर्थ्यावगतं मननमपि जातस्य निश्चयस्य प्रतिष्ठापकं ज्ञातम् । सुज्ञातसुनिश्चित एवार्थे निदिध्यासनसम्भवात् श्रवणमननयोर्निदिध्यासनोपकारित्वं ज्ञायते । इदं तदुपकारसामर्थ्यं लिङ्गम् । एवं शब्दावगतार्थसामर्थ्याभिप्रायणैव शब्दसामर्थ्यरूपेण लिङ्गेनेत्युक्तम् । पश्यते निष्कल ध्यायमान इति समाभिव्याहारात्मकवाक्येन निदिध्यासनस्य दर्शनरूपफलसम्बन्धाऽवगतः । ध्यायमानः पश्यत इति हि ध्यानेन पश्यतीत्येतदर्थकम् । एवं फलवति ध्याने प्रकरणोदयात् फलवत्सन्निधाविति न्यायेन तदुपकारसमर्थयोः श्रवणमननयोस्तदङ्गत्वं भवतीति वादिनां समञ्जसमिदमुपपादनम् ।

यच्चत्र योग्यताबलात् श्रवणमेवाध्याह्नियत इत्याद्युक्तं तत्र नूनं लाञ्छितव्यम् । को नु भा अध्याहारस्य प्रसङ्गः । अनध्याहारपक्षखण्डन अध्याहारपक्षावलम्बना कथं शक्येत । रामा रावणमवधीं दत्यत्र चित्तिव्यत्यासो योग्यताबलात् क्रियते । तथा च रामं रावणाऽवधीदित्यनुकूलार्थ एव पर्यवसानमिति रावणावजयवादिनां यावद् वाक्यार्थवर्णनकोशलं तावदेवेह दृश्यते ; तथा चाद्वैतानुरागभूमना यत् किमपि कर्तुं सज्जा भवन्त इत्येषा स्थितिरत्राप्यभिव्यक्तेत्यास्ता तावत् ।

इमां दुरवस्थां परिहर्तुं कामो व्याख्याता भूले 'अध्याह्नियत इत्यस्य 'तत इत्यनेन परामृश्यते' इति विचित्र व्याख्यानं कुर्वन् मन्त्रं विनाशयति ।

'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा

नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-

स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥”

इत्ययं मुण्डकमन्त्रः । अत्र

कर्मणः पूर्वमुक्तत्वान् तस्यैव श्रवणरूपविचारात्मकस्य तत

इत्यनेन परामर्शः । कर्मत्वरूपेण परामर्शोऽपि योग्यताबलात् श्रव-  
णात्मककर्मभानम् । न कर्मणेति निषेधस्तु तदन्यकर्मणः ।  
ज्ञानप्रसादपदेन निष्कामकर्मानुष्ठानाधीनसत्त्वशुद्धेः, ध्यायमान-  
पदेन निदिध्यासनस्योक्तत्वात् अर्वाशष्टश्रवणस्यैव तत्रपदेन  
वक्तुमौचित्यात् ।

इति तर्दायं व्याख्यानं दृश्यते ।

प्रथमेषुभ्य ईदृग्भ्यो नूनं भीता किल श्रुतिः ।

निलोना कांप संवृत्ता जनानां दृष्टिगाचरात् ॥

न चक्षुषा बाह्येन ज्ञानेन्द्रियेण, न वाचा कर्मेन्द्रियेण, नाप्यन्यैः बाह्यैः  
ज्ञानकर्मेन्द्रियैः नापि तपसा अनशनप्रधानेन कायक्लेशेन, नापि इष्टिप-  
शुसोमरूपेण वैदिककर्मणा परमपुरुषो गृह्यते, इति पूर्वार्धे “नाहं वेदैर्न  
क्षपसा न दानेन न चेज्यया” इति, “न वेदयज्ञाध्ययनेन दानैर्न च  
क्रियाभिर्न तपोभिरुपैः” इति चोक्तरीत्या असाधनवर्गनदेशं परिसमाप्य  
विराष्टं साधनमुपदेष्टुमुत्तरार्धं प्रवर्तते इति स्पष्टमेतत् । तुकारेण पूर्व-  
वाक्योक्तार्थगन्धाऽपीह नास्तीति निस्तन्देहमावेद्यते । ‘प्रकृतव्यावृत्त्यर्थश्च  
तुशब्दः’ इति भूमाधिकरणे भवद्भाष्यम् ।

तस्मात् तत इत्यनेन पूर्वोक्तपरामर्शे तुशब्दात्मकश्रुतिविराधः एको  
दोषः । निषिद्धसाधनभावस्यैव कर्मणः अनुपदं साधनत्वात्कौ विप्रतिषेधो  
द्वितीयां दोषः । न च सामान्यविशेषन्यायेनास्य परिहारः । विशेषाश्रव-  
णात् । उभयाः सामान्यमुखेनैव प्रवृत्ताः । ज्ञानप्रसादेनेति विशुद्धसत्त्व  
इति च द्वाभ्यां पदाभ्यां व्यवधानं तृतीयो दोषः । अनुपस्थितश्रवण-  
कल्पनं चतुर्थो दोषः । श्रुतमतवेदान्तार्थस्य परमात्मदर्शनक्रान्तिः तदर्थं  
यतमानत्वावस्थायां क्रियमाणा ह्यनुपदेशः । अत्र श्रवणोपस्थापकं  
किमपि प्रमाणं नास्ति । एतेन ज्ञानप्रसादेनेत्यस्य मननाधीनबुद्धौकाग्र-  
परत्वाश्रयणं पञ्चमो दोष इति ख्यापितम् । मननादपि पराया एवाव-

स्थाया इह प्रस्तावात् । एवं विशुद्धसत्त्वपदस्य निष्कामकर्माधीनचित्त-  
शुद्धिपरत्वाश्रयणं षष्ठो दोषः । निष्कामकर्मानुष्ठानस्य विविदिषार्थत्वा-  
भ्युपगमात् । श्रवणात् प्राक्तनी हि विविदिषा । तस्या अपि प्राक्तनी,  
चित्तशुद्धिः निष्कामकर्मानुष्ठाननिष्पन्ना । तस्या इह कीर्तनं कुत इति ।  
तच्छब्दस्य स्वाव्याहितपूर्वपठितसत्त्वशुद्धिपरामर्शित्वे सम्भवति तदना-  
श्रयणं सप्तमो दोषः । श्रवणस्य दर्शनसाधनत्वेनान्वयायोग्यत्वं  
चापरो दोषः ।

कस्तर्हि मन्त्रार्थं इति चेत्, उच्यते । पूर्वार्थे तावन्नास्ति विशेषः ।  
किं तर्हि साधनमिति चेत् तदाह—ज्ञानेत्यादिना । तु किन्तु ध्यायमानः  
मुमुक्षुः मोक्षार्थं ध्यानं कुर्वन् पुरुषः ज्ञानप्रसादेन ज्ञानस्य सत्यं ज्ञान-  
मिति प्रसिद्धस्य ज्ञानस्वरूपस्य 'बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः' इत्युक्तीत्या ज्ञान-  
प्रवर्तकस्य वा भगवतः प्रसादेन ध्यानशब्दाभिधेयभक्तिप्रसूतेनानुग्रहेण  
विशुद्धसत्त्वः विमलान्तःकरणः साक्षात्कारयोग्यतासम्पन्नचित्तः ततः  
भगवत्प्रसादाधीनोक्तयोग्यतासम्पत्त्यनन्तरं तं पश्यति । मुक्त्यपायसा-  
क्षात्कारसिद्धौ भगवदनुग्रहः प्रधानहेतुरिति भावः ।

“तेषामेवानुक्रमार्थमहमज्ञानजं तमः ।

नःशयान्नामभावस्यो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥”

इति गीतावचनमिहानुसन्धेयम् । तदेवं ध्यानस्य फलवत्त्वः लिङ्गप्रकर-  
णाभ्यां श्रवणादेर्ध्यानाङ्गत्वं परैरुच्यमानं न दूषणार्हमिति ज्ञेयम् ।

यदपि “आनन्तर्यमचोदना” इति तृतीयप्रथमस्थन्यायेन द्रष्टव्यः  
श्रोतव्य इति सन्निधानमन्वये न नियामकमिति प्रतिपक्षयुक्तिनिरास्य  
व्याख्यात्रा उक्तम्—

तत्र हि हस्तावनेजनस्य कर्तृसंस्कारत्वात् कर्तुश्च प्रयोगान्व-  
यित्वेन कारण्यमाणसर्वकर्मार्थत्वं लिङ्गप्रकरणाभ्यां युक्तम् ।  
प्रकृते तु प्रकरणस्य फलान्वयात् पूर्वमसिद्धत्वात् लिङ्गस्य च

मननादौ सत्त्वेऽपि सन्निधानसहकृतलिङ्गस्य ब्रह्मत्त्वेन श्रवणे  
दर्शानान्वयनियामकत्वसम्भवात् ।”

इति, तदपि न चारु । न हि हस्तावनेजनस्य कर्तृसंस्कारत्वात् लिङ्ग-  
प्रकरणप्रवृत्तिस्तत्रोक्ता । कर्तृसंस्कारत्वेन करिष्यमाणसर्वार्थत्वप्रतीना-  
वपि सन्निधिरूपस्थानान् अनन्तरपठितोलपरान्तिस्तरणमात्राङ्गत्वमिति  
प्राप्ते प्रबलाभ्यां लिङ्गप्रकरणाभ्यां स्थानबाधान् भिर्विवातं सर्वार्थत्वमिति  
सिद्धान्तकरणान् । लिङ्गप्रकरणधिरुद्धमानन्तर्यमभ्रमाणमित्येव तत्र  
निर्णयात् । “आनन्तर्यमचोदना” इति हि सूत्रम् । अचोदना अप्रमाण-  
मित्यर्थः । स्वत एव लिङ्गप्रकरणे सन्निध्यपेक्षया प्रबले । अतस्ताभ्यां  
सन्निधेर्बाधात् सर्वार्थत्वम् । युक्त्यन्तरं च सूत्राक्तम्—‘वाक्यानां च  
समाप्तत्वात्’ इति । पृथक् पृथक् वाक्यस्य समाप्तत्वात् परस्परमन्वयो  
नास्तीत्यर्थः । प्रकृते च ‘येनाहं नःमृता स्यां किं तेन कुर्यान्’ इति मोक्ष-  
साधनस्य प्रक्रान्तत्वात् दर्शनादीनां च तत्साधनत्वयोग्यत्वेन लिङ्गसत्त्वात्  
द्रष्टव्यः श्रोतव्य इति प्रत्येकं वाक्यसमाप्तेश्च हस्तावनेजनन्यायेन सन्नि-  
धानकृतः परस्परान्वयो नास्त्येव ।

द्वैतिभिरुक्तरीत्या तु निदिध्यासनस्य ‘ततस्तु तं पश्यते निष्कलं  
ध्यायमानः’ इत्यनेन फलसम्बन्धावगमेन प्रकरणसत्त्वात्, श्रवणमननयो-  
र्ध्यानस्य च मिथ उपकार्योपकारकभावयोग्यत्वेन लिङ्गसत्त्वाच्च श्रवणस्य  
ध्यानाङ्गत्वमेव, न तु सन्निधिना दर्शनङ्गत्वमिति द्रष्टव्यम् । न च  
आत्मकर्मकभावनान्वये सर्वेषां समाने परस्परमङ्गाङ्गिभावां न घटत  
इति त्वयैवोक्तत्वादिदमयुक्तं वाच्यम् । आरुण्यवदुपकारक एवाङ्ग-  
त्ववाचोयुक्तेः । यद्वा अस्य दोषस्य भवत्पक्षेऽपि सत्त्वेन साम्यात् । ‘यश्चो-  
भयोः समो दोषः’ इति न्यायान् ।

यदुक्तं निदिध्यासनस्य फलसम्बन्धात् पूर्वं प्रकरणं नास्तीति तन्न ।  
पश्यते ध्यायमान इति वाक्यान्तरेण दर्शने विनियोगस्य दर्शितत्वात् ।  
तत्रार्थान्तरमुक्तमिति चेन्न । तस्य निरस्तत्वत् । तन्मतानुसारेण प्रक-

रणस्य निर्विधातत्वाच्च । यच्च सन्निधानसहकृतं लिङ्गं प्रबलं श्रवणस्य दर्शनान्वयनियामकमिति तच्च न । सन्निधानाप्रयोजकत्वस्योक्तत्वात् । प्रकरणाद् दुर्बलं हि तत् । लिङ्गस्याप्यभावः च । न हि श्रवणस्य अपरोक्षज्ञानजनने सामर्थ्यमस्ति । शाब्दबोधात्मरूपरोक्षज्ञानमात्रोपयोगित्वात् । न हि श्रवणवधुनतात्पर्यकान् शब्दान् सद्य एवात्मविषयक्रमपरोक्षज्ञानं जायते । जायते च इष्टं च भवतां आत्मविषयकं परोक्षज्ञानं श्रवणसमनन्तरम् । न चास्मिन् तत्त्वज्ञाने प्रथममुपयुक्तस्य श्रवणस्य मनननिर्दिध्यासनानन्तरभाविनि साक्षात्कारे दृष्टविषया कश्चिदुपयोगोऽस्ति, यदर्थं श्रवणपेक्षा तद्विधिश्च स्याताम् । अदृष्टविषयोपयोगे चापूर्वविधिः स्यात् । तत्र नियमविधित्वभ्युपगमविरोधः । तथा च श्रवणस्य साक्षात्कारजननसामर्थ्यात्, साक्षात्कारस्य मनननिर्दिध्यासनात्मकद्वारं विना साक्षात् श्रवणाधीनोक्तस्वीकारासामर्थ्याच्च न लिङ्गमस्तीति सिद्धम् । अतः 'सन्निधानसहकृतं लिङ्गं प्रबलम् । तेन च श्रवणं दर्शनान्वयि' इति रिक्तं वचः ।

यत्तु निर्दिध्यासनजनितः साक्षात्कारः विरहिकार्मानोसाक्षात्कारवदप्रमा स्यादिति, तत्परिहृतं विषयाबाधादिति । अथ यत्

न च मूत्रप्रमाणदाढर्यात् प्रमात्वम् । तर्हि तदेव साक्षात् कारणमस्तु । किं तदुपजीविनाऽन्येन ?

इति शङ्कामुत्थाप्य समाधानमुक्तं, तत् परिहास्यम् । आध्मातोऽग्निर्दाहक इत्युक्ते यदि कश्चिद् ब्रूयात् 'तर्हि आध्मानमेव दाहकमस्तु । किं तदुपजीविनाऽन्येनेति', तत्तुल्यं हि एतत् ।

आत्मसाक्षात्कारो मोक्षसाधनमित्येतदभ्युपेत्य एतावदुक्तम् । तदेव तु नास्तीति ब्रूमः । प्रमाणाभावात् । अपरोक्षभ्रमः परोक्षज्ञानेन न निवर्तते । अतस्तदर्थपत्त्या तस्य तत्साधनत्वमिति ह्युच्यते । देहात्मभ्रमः प्रत्यक्षभ्रम एव । तस्य बाधः अनुमानेन शास्त्रजन्यज्ञानेन यद् भवति

तत् कथम् ? नास्ति तत्र बाध इति चेन्न । तर्हि सा प्रमैव स्यात् । भ्रम इति नोच्येत । न हि बाधं विना भ्रमत्वनिश्चयः सम्भवात् । कथं तर्हि भ्रमानुवृत्तिरिति चेत् ज्ञानानिवर्त्यदोषानुवृत्तेः । यत्तु देहात्मैक्यज्ञानं न भ्रम इति तदयुक्तामित्यन्यत्रोक्तम् ।

यदापि भामतीकारोक्तं निदर्शनं—'न हि माधुर्यसाक्षात्कारं विना तित्कत्वभ्रमनिवृत्तिः', इति, तदप्यापातरमणीयम् । गुडादिनिक्तताज्ञाने भ्रमत्वावगमरूपस्य बाधस्य प्रहारान्तरेणैव सिद्ध्या तदर्थं तन्माधुर्यानुभवस्यानपेक्षितत्वात् । तित्कताग्रहणानुवृत्तिरूपया निवृत्तेः भ्रमादिदोषनिवृत्तिहेतुकत्वेन तत्रापि माधुर्यानुभवस्थानपेक्षितत्वात् । प्रत्युत माधुर्यानुभवस्य रसान्तरग्रहणनिवृत्तिसापेक्षत्वात् । औपाधिकरसान्तगानुभवप्रतिबद्धां हि स्वाभाविकरसानुभवः । प्रतिबन्धश्च प्रतिबन्धकनिवृत्तिसापेक्ष इति । न च रज्जुसपेक्षमो रज्जुदर्शनादेव निवर्तत इति शङ्क्यम् । भ्रमस्य क्षणिकत्वेन स्वयं निवृत्तेः । तदयथार्थत्वस्याप्रवचनादेवावगमान् । तत एव भ्रमानुवृत्त्यभावात् । ततः परं धर्मिप्रत्यक्षेण निवर्तनीयस्य कस्याचिद्भावात् । क्वचित् स्वप्रत्यक्षेणैव भ्रमत्वज्ञानेऽपि सर्वत्र तथैवेति नियमासिद्धेः । एवं प्रत्यक्षभ्रमोच्छेदः प्रत्यक्षेणैवेति नियमादर्शनात् न तदनुरोधेन आत्मसाक्षात्कारस्य मुक्त्युपायत्वसिद्धिः । नतरां तत्साधनतया श्रवणस्य विविधा अङ्गित्वं वेति सिद्धम् ।

नन्वद्वैतावपयपरोक्षज्ञाने तत्त्वमसीत्यादिना जातेऽपि सम्प्रति प्राप्ञ्चिकभेदभ्रमाऽस्माकं न निवर्तते । अतोऽपरोक्षसाक्षात्कार एवैतन्निवर्तक इति निश्चीयत इति चेन्न । उक्तरीत्या साक्षात्कारेण निवर्तनीयस्य कस्याचिद्भावात् । विषयगतमज्ञानं निवर्तनीयमस्तीति चेन्न । तत्सत्त्वे मानाभावस्याक्तत्वात् । परोक्षापरोक्षविभागसिद्धये केवल भवद्भिः कल्पितत्वात् । तत्सत्त्वेऽपि प्रपञ्चाध्यासमूलभूताज्ञानस्य तत्पर्यैः सह शब्दप्रमयैव निवृत्तत्वेन तदर्थं साक्षात्कारस्थानपेक्षितत्वात् ।



ननु प्रपञ्चाध्यासमूलभूनाज्ञानं आत्माज्ञानमेव । तन्निवृत्तये अस्त्येव साक्षात्कारापेक्षा चेन्न । अद्वैते सिद्धे एवं कल्पनस्योचितत्वात् । तस्य चाद्यप्यनिन्दः । कथमसिद्धिरिति चेत् श्रुत्यादिभिः विश्वमिध्यात्वे ज्ञातेऽपि प्रपञ्चानिवृत्तंग्रहः । यद्यप्यवद्यासद्धः प्रपञ्चोऽर्भावष्यत् नूनं तन्मिध्यात्वज्ञानेन आप्तवचनात् मया रज्जुदृष्टा न सप इति तत्त्वं जानतः रज्जुसर्प इव निवृत्तोऽर्भावष्यत् । न च निवर्तते । तस्मान्नायमाविद्यासिद्धः । अपि तु सत्य एव ।

ननु शङ्खश्वेत्ये निश्चिनेऽपि यथा पीतिमभ्रमोऽनुवर्तते, चन्द्रैकत्वनिश्चयेऽपि द्वित्वभ्रमश्च तद्वद्द्वयाधतस्यापि प्रपञ्चस्य भ्रमोऽनुवर्तते इति चेत् तर्हि तद्वदेव भ्रमनिवृत्तये साक्षात्कारानपेक्षा स्यात् । न हि शङ्खपीतिमभ्रमनिवृत्तये तदायश्चैत्यसाक्षात्कारे यत्नं कुर्वन्ति । चन्द्रद्वित्वभ्रमनिवृत्तये वा तदेकत्वसाक्षात्कारे । किन्तु यः पारमार्थिको भ्रमहेतुर्दोषः तन्निवतनाय प्रयस्यन्ति । तन्निवृत्तौ स्वयं श्वेतिमैकत्वसाक्षात्कारो भवति । अतः पुनरपि साक्षात्कारवैयर्थ्यमेव । ज्ञानानिवर्त्यत्वात् प्रपञ्चसत्यत्वं च ।

किञ्च शङ्खसाक्षात्कारे सत्यपि तत्पीतिमभ्रमो जायते, न तु निवर्तते । तथा चन्द्रसाक्षात्कारे सत्यपि तद्वद्वित्वभ्रमश्च । अतो धर्मिसाक्षात्कारस्य तद्वद्विभ्रमनिवर्तकत्वं न लोकसिद्धम् । शुक्तौ इदं रजतमिति भ्रमस्य इयं शुक्तिरिति साक्षात्कारो यद्यपि निवर्तकः तथापि तद्विपरीभूतधर्मविरुद्धधर्मावगाहत्वादेवास्य तन्निवर्तकत्वम् । तद्वत् सप्रपञ्च आत्मेति भ्रमस्य निष्प्रपञ्च आत्मेति सविकल्पकसाक्षात्कारो निवर्तकः, न तु भवदभिमतानविकल्पक इत्येव लोकरीत्या सिद्धयेत् । अपि च शुक्ति-साक्षात्कारानन्तरमपि पुनस्तामेव शुक्तिं दूरतश्च्यन् रजतं मन्यते । अत्र साक्षात्कारस्यान्तिकभ्रमोच्छेदकत्वं न सिद्धं लोक इति एतदनुरोधेनात्मसाक्षात्कारस्य अपवगंसाधनत्वकल्पनमयुक्तम् ।

अङ्गत्वसाधनत्वमैः श्रवणस्य यदीरितम् ।

दृष्टाने सवमेवेदं वैचलं बालभाषितम् ॥

## २. ज्ञानविधिः ।

मांक्षोपायस्य ज्ञानस्य विधेयत्वे पुरुषपरतन्त्रत्वेन क्रियात्वापत्तौ क्रियासाध्यस्य मोक्षस्य स्वर्गवर्दानत्यत्वापत्तिरिति विभ्यतो ज्ञानसामान्यस्य विधेयत्वं निराकुर्वन्ति । ज्ञानमाप मानसी क्रियेति प्राज्ञा अङ्गीकुर्वन्त्येव । यथाऽऽह वाचस्पतिः समन्वयसूत्रभामत्याम्—‘सत्यं ज्ञानं मानसी क्रिया’ इति । क्लृप्तरुकारश्च—‘यद्वादि पूर्वपक्षे ज्ञानस्य भावार्थत्वाद् विधेयत्वम्’ इति, तत्र क्रियात्वमभ्युपेत्य विधेयत्वं निराक्रियत इत्याह—‘सत्यमिति’ इति । तथाऽपि विहितक्रियाजन्यत्वेनानित्यो मा भून्मोक्ष इति विधेयत्वं निरस्यन्ति । वयन्तु तस्य विधेयत्वेऽपि हानिं कामप्यपश्यन्तः तन्निरसनमनुपपन्नत्वान्न सहामहे ।

यो हि परागृह्यः कश्चित् तं वयं ब्रूमः ‘मां पश्ये’ति । न चायममुख्यो व्यवहारः । न च चाल्लुषज्ञानस्य साध्यत्वं नास्ति । पूर्वमभूतस्य तस्य तदानीं तेन स्वप्रयत्नेनोत्पाद्यमानत्वान् । यथा घटमानयेत्युक्तो नियोज्यस्तदानयति तथैव हि मां पश्येत्युक्तः पश्यति । न च पश्येति वदता ज्ञानस्य साध्यत्वमनुद्दिष्टम् । न चेन्द्रियार्थसन्निकर्षसम्पादनमात्रे पुरुषव्यापारस्यापरमात् ततः परमुत्पद्यमानस्य न पुरुषतन्त्रत्वम् । जलाग्निज्वलसंयोगनिष्पत्तिमात्रे तदुपरमात् पाकस्यापि अपुरुषतन्त्रत्वापत्तेः ।

साध्यभेदेन साधनव्यापारविशेषा भिद्यन्ते । यदा मृदः प्रतिमाः क्रियन्ते, तदा हस्तयोरेव साक्षात् तत्र व्यापारः । अग्निज्वलने न तथा । सस्यजलसेचने जलमार्गविधानमात्रेऽस्माकं व्यापारः । जलं तु स्वयं प्रसृतं क्रेदारं व्याप्नोति । न चानेन विशेषेण अग्निज्वलनं वा जलसेचनं वा पुरुषतन्त्रं न भवतीति शक्यं वक्तुम् । साक्षाद्वा परम्परया वा तदुद्देशप्रवृत्तक्रियानिष्पाद्यत्वं हि साध्यत्वम् । तच्च ज्ञानेऽप्यस्ति ।

यदुच्यते “स्वर्गेच्छा स्वर्गसाधनीभूतायां यागादिकृतौ न कारणम् । किन्तु यागादिचिकीर्षेति, तत् विदुषां विस्मयावहम् । स्वर्गकामनयैव हि पुरुषः तत्साधनयागकृतिमारभते । स्वर्गेच्छायास्तत्र कारणत्वं कथं निराकर्तुं शक्यते । अत एव स्वर्गस्य साध्यत्वमपि दुरपह्वम् । परन्तु तत्र प्राप्यत्वेन साध्यत्वम् । न तूत्पाद्यत्वेन । यद्यपि यागाच्चिकीर्षया यागो जन्यते तथापि तस्याश्चिकीर्षयाः स्वर्गेच्छाप्रयुक्तत्वात् तज्जन्येन यागेन यजमानस्य स्वर्गप्राप्तिसम्पादनाच्च स्वर्गस्य साध्यत्वं न विहन्यते । इदन्तु साध्यत्वं प्रयोजनत्वपर्यवसायि । ज्ञानस्य तु यागादिवदुत्पाद्यत्वात् विधेयत्वं न काचिदनुपपत्तिः ।

स्वादेशप्रवृत्तपुरुषव्यापारनिष्पाद्यत्वेन पुरुषतन्त्रम् । अत एव ‘पत्नी आज्यमवेक्षते’ इति विधिः । चालुषज्ञानेन आज्यं संस्क्रुयादिति मुख्यवृत्तयैव बोधः । अन्यत् सर्वमर्थतो लभ्यम् । यदि चैवं नेष्यते यागस्यापि विविर्न स्यात् । देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागस्य ज्ञानरूपत्वात् । न च तत्र आवृत्त्यादिकमाश्रित्य कुकल्पना काचित् सुकरा । यत् सर्वथा पुरुषतन्त्रं न भवति, गोरारुण्यं, पशोरेकत्वं इत्यादि, तदपि उपादेय-द्रव्यगतत्वेन विधेयमिष्यते । तथा सति किं वक्तव्यं ज्ञानं प्रति यत् पुरुषप्रयत्नाधीनोत्पत्तिक्रमेव । यदुक्तं नैतत् कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं वा शक्यते । तस्मान्न पुरुषतन्त्रमिति, तदपि नास्ति । इच्छया विषयाणां द्रष्टुं, अद्रष्टुं, दूरे स्थित्वा स्थूलं, सन्निधाय विशदं च द्रष्टुं शक्यत्वात् । तदेवं ‘स्वप्नान्तं मे साम्यं विजानाही’तिदत्तं ज्ञानस्य विधेयत्वंऽनुपपत्ति-लेशविरहात् ‘ब्रह्मविदाप्नोति परम्’ ‘ब्रह्म वेदं ब्रह्मैव भवति’ इत्यादीनां परमहितोपदेशिनीनां श्रुतीनां क्रद्दर्शनदुर्दशा नानुभवनीया परैरिति पश्यामः । विहितं तु ज्ञानं छागपशुन्यायेन विशेषे उपसंहियमाणं ध्याना-पासनादिव्यपदेशभाक् भक्तिरूपं भवतीत्यस्माकं दर्शनम् । श्रवण-मननयोरर्थप्राप्तत्वादविधेयत्वं चेति ।

ननु ज्ञानस्य विधेयत्वसम्भवेऽपि मिथ्यभूतस्य वस्तुनः तत्त्वसाक्षात्कारनिवर्त्यत्वस्य लोकसिद्धत्वान्न विधेयत्वमिति चेन्न । बन्धनिवर्तको ब्रह्मसाक्षात्कारः स्वस्य भवितुमर्हतीत्यस्य विधिं विना ज्ञातुमशक्यत्वात् । विधौ सति हि अस्मत्कृतिसाध्यत्वबोधनद्वारा तत्सम्भवं अस्माकं सः ज्ञापयेत् । अन्यथा अशक्यत्वज्ञानान्न प्रवृत्तिः स्यात् । स्वप्रयत्नं विनैव सिद्धयेदिति ज्ञानाद्वा । अतः

“साधनत्वावगतिमात्रेण प्रवृत्त्यभावात् । साधनत्वमात्रं हि यागस्य फलं प्रत्यवगम्यते । तन् किं दैवनिर्मितम्येव निदाघममयवर्तिमध्यन्दिनतपनातपतप्तननोऽधि मेघपुष्पगर्भमेघसङ्गस्य सन्तापोत्सादकत्वं कर्मणः फलजनकत्वं, उत अन्यकृतस्य प्रपादिवत्, भोजनादिवद्वा स्वयत्कृतस्येति विशेषानवगमान्न प्रवर्तेत । विधिस्तु प्रवर्तकस्वभावात् कतुरेवेदं फलं साध्यतीति कल्पयतीति भवत्यनुष्ठापकः ।”

इति न्यायरत्नमालायां पार्थसारथ्यमिश्रोक्तरीत्या साक्षात्कारस्थपि विधेयत्वमवश्यं वाच्यम् । अन्यथा कृत्स्नं वेदान्तशास्त्रं अप्रवृत्तिकरमनर्थकं स्यादिति विभाव्यम् ।

### ३. शाब्दापरोक्षम् ।

अथ यच्छब्दादपरोक्षज्ञानात्पत्तिमाहुः तदनुपपन्नमिति प्रदर्शयामः । शब्दस्य परोक्षज्ञानजनकत्वं सर्वसम्प्रतिपन्नम् । अनुमानवन् शब्दस्याप्ययं स्वभावः । एतद्व्यतिलङ्घनमेव तावत् पर्याप्तं परमतस्यानादरणीयत्वं प्रत्याययितुम् । तथापि तदुक्तीनामत्यन्तासामञ्जस्यादपि तथेति प्रदर्शयितुमियमस्माकं प्रवृत्तिः । शब्दस्य परोक्षज्ञानजनकत्वे “तद्धास्य विज्ज्ञौ” ‘तमसः पारं दर्शयति’ इत्यादिकं, ‘वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः’ इत्यादिकं च मानमित्याह ।

निरन्तराभ्यासवशेन यच्चिराद्

बभूवुरेते परिशुष्कचेतसः ।

घृणां विना प्रन्ति ततः पदे पदे

श्रुतीर्यथा सत्त्वकुलानि सैनिकाः ॥

कथञ्च भोः तद्धास्य विजज्ञावित्यस्य तत्र मानत्वम् ? यद्युच्यते 'अपरोक्षज्ञानस्य पित्रुपदेशमात्रसाध्यत्वांक्तेः' इति तदयुक्तम् । विजाना-  
तेरपरोक्षज्ञानवाचित्वाभावात् । ज्ञानसामान्याभिधायित्वात् । प्रकरणाच्च  
उपदेशजन्यस्य परोक्षज्ञानस्यैव प्रतीतेः । 'स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहि'  
इत्यत्र 'स्वप्नान्तविषयकं अपरोक्षज्ञानं ते भवतु' इति न ह्यर्थः । 'भूय एव  
मा भगवान् विज्ञापयतु' इति श्वेतकेतोः प्रार्थनमसकृदावर्त्यते । न चात्र  
दर्शयत्वित्यर्थः । साक्षात्कारावृत्त्यसम्भवान् । उपदेशव्यस्य तत्त्वस्य  
एकस्मिन् विशेषे पित्रा उपदिष्टे पुनर्विशेषान्तरजिज्ञासया श्वेतकेतुरुत्तरो-  
त्तरं पृच्छति । 'पुरुषं सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्ति' इत्येतद्दृष्टान्तेन  
निदर्शिते विशेषे श्रुते श्वेतकेतुस्त्वृत्ता बभूव । पुनः प्रश्नं नाकरोत् । तदेतद्  
व्यञ्जयन्ती श्रुतिराह—'तद्धास्य विजज्ञौ' इति । तत् 'उत तमादेश'मित्यु-  
पक्रान्तं बहुना विस्तराणां पादुष्टं तत्त्वं अस्य पितुः सकाशात् विजज्ञौ  
विशदं ज्ञातवान् श्वेतकेतुरित्यर्थः । अत्र साक्षात्कारस्य कः प्रसङ्गः ?

यत्त्वत्र ब्रह्मानन्दव्याख्यानम्—'तत् तस्मात् तत्त्वमसीत्याद्युपदेशान्  
आत्मानं विज्ञातवान्' इति तत् प्रबलप्रकरणापस्थितसद्रूपार्थपरामर्शिनः  
तच्छब्दस्य सन्निहितवाक्यरामर्शित्वायांगान्, विभक्तिलोपकल्पने  
अध्याहारकल्पने च प्रमाणाभावान्, अस्येति ष-ठयन्तपदेनैव पित्रुपदे-  
शस्य बोधनेन तस्य पुनः पदान्तरेणापस्थापनस्थानपेक्षितत्वाच्चायुक्तम् ।

अध्यायमध्ये सप्तमखण्डान्तेऽपि 'तद्धास्य विजज्ञौ' इति श्रूयते । न  
हि तत्र साक्षात्कारार्थो भवतामपीष्टः । उपदेशस्य सावशेषत्वात् । तथा  
सति तदेकरूपे अन्तिमवाक्ये का विशेषः, येन साक्षात्कारोऽर्थः स्यात् ।

श्रवणसमाप्तिर्होषा । ततः परं मनननिर्दिध्यासनयोर्वृत्तयोः खलु साक्षात्कारोदयः ।

श्वेतकेतुः पञ्चालानां समितिमियावेति कथा पञ्चमप्रपाठके कथिता । तत्र 'अननुशिष्य वाव किल मा भगवानत्रयीन् अनुत्वाशिपमिति' इत्यनेन पितुः सकाशात् साद्व्यालाभानन्तरमेव तस्य तत्र गमनमिति स्पष्टमेतत् । न च पितुरुपदेशवाक्यैरेव तस्य साक्षात्कारे उत्पन्ने पञ्चानुसभागमनमुपपद्यते । मुक्तत्वान् । जीवन्मुक्तावपि राजसभागमनशांकादेरयोगात् ।

यत्तु 'तमसः पारं दर्शयति' इति सप्रमप्रपाठकान्ते उक्तेः तत्समानार्थत्वायात्र विज्ञानं दर्शनं अपराङ्मज्ञानमित्याश्रयणमुचितमिति, तन्न । प्रथमश्रुतविज्ञानानुरोधेन तत्राप्यंतदेव विवक्षितमित्यन्वधारणात् । विशदज्ञाने दर्शनत्वापचारात् । उक्तरीत्या मनननिर्दिध्यासने चिना उपदेशानन्तरमेव साक्षात्कारयोगाच्च । यथा कालान्तरे साक्षात्कारो भवेत् तथा तदनुकूलं उपदेशरूपं प्रयोजकव्यापारं सनत्कुमारः करोतात्यर्थसम्भवाच्च । न ह्युपदेशादेवेदं दर्शनमिति वक्ता कश्चन शब्दोऽस्ति । अपेक्षितकर्मकाररूपं तच्छब्दं पञ्चम्यन्ततया योजयित्वा आत्मानमिति कर्माध्याहृत्य च पूर्वं श्रुतहानाश्रुतकल्पने अविगण्य हठाद् दुर्व्याख्यातं श्रुतिवाक्यम् । अत्र तु तथा हठयोजनायापि पदं किञ्चिन्नास्ति । प्रयोजककर्तृव्यापारवर्चा णिजस्तीति चेन्न । तस्य परम्परासाधारणान् । पर्जन्यो जीवयति, काराषोऽग्निरध्यापयतीति दर्शनात् । न च साक्षात्सम्भवे परम्पराश्रयणमन्यायधीनं वाच्यम् । सम्भवाभावात् । शाब्दापरोक्षस्य लाकऽप्रसिद्धत्वान् । दर्शनशब्दस्य हि चानुषसाक्षात्कारो मुख्याऽर्थः । तस्येहासम्भवादर्थान्तरं लक्षणीयम् । तच्चार्थान्तरं यत्प्रसिद्धं तदेव भवितुमर्हति । न त्वमसिद्धम् । मुख्यार्थसम्बन्धाभावात् । प्रसिद्धं चार्थान्तरं साक्षादुपदेशजन्यं विशदज्ञानं वा मननादिपरम्पराजन्यसाक्षात्

त्कारो वा । अतः शक्त्या लक्षणया वा दृशिरत्र साक्षादुपदेशजन्य-  
साक्षात्कारस्य न बाधकः । तस्मादिदमपि वाक्यं न भवतां हस्तावलम्बं  
दातुमीष्टे ।

यदपि चरमवाक्यस्य चरमज्ञानपरत्वे औचित्यमिति, तत् क्लृप्तक्रमा-  
विरोधे युज्येत । श्रवणमनननिदिध्यासनानां हि क्लृप्तः क्रमः । तत्र  
श्रवणानन्तरं श्रयमाणं दर्शनं श्रवणसमनन्तरोत्पन्नपरोक्षज्ञानरूपं गौणं  
वा आश्रयणोपमं, व्यवधानसहं मुख्यं वा । यदपि 'आचार्यवान् पुरुषो  
वेद' इत्यनेन आचार्योपदेशज्ञानत्वमुक्त्वा तस्य तावदत्यादिना  
तज्ज्ञानादेव कैवल्योत्तेरपि शाब्दापरोक्षसिद्धिर्गतिः, तदपि न । उक्तयुक्ते-  
रेव । आचार्यवत्त्वं हि उपदेशसम्बन्धेनैव । तथा चाचार्याल्लब्धोपदेशः  
पुरुषः मननानन्तरं निदिध्यासनेन सद्बुद्धिः । तस्य शरीरपातानन्तरं मोक्षो  
भवतीत्यर्थः । न हि वेदानानुपदं मुक्तिरिहोच्यते । तस्य न चिरमित्य-  
श्रवणात् । अपि तु 'तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये' इति श्रवणात् ।  
अतो वेदानन्तरं शरीरान्निष्क्रमणावधिं ब्रह्मसम्भितरूपापवर्गे अवलम्ब-  
प्रतिपादनेन भवत्सम्मतसद्योमुक्तिफलकं साक्षात्कार इह न प्रतिपाद्यत  
इति स्फुटमवगमात् भवतां न परं नानुकूलं अपि त्वत्यन्तं प्रातकूलाभेदं  
वाक्यमिति विभाव्यम् ।

वेदान्तविज्ञानमुनिश्चितार्था इत्यत्रापि शाब्दापरोक्षसिद्धिप्रत्याशा  
न कार्या । बह्वथसाधारणमुपसर्गनात्रमाश्रित्य सर्वलोकव्यापरीतं सिद्धान्तं  
स्थापयितुमुद्युञ्जानानां भवतां वैचक्षण्यं लोकोत्तरम् । विज्ञानमित्यत्र  
वीत्युपसर्गेण ज्ञाने विशेषविषयत्वस्य लाभात् सुपदेनापरोक्षत्वोक्तिसिद्धिः  
विप्रलम्भोक्तिः । सुपदं हि स्वविशेष्यं यादृशं प्राप्तं तादृश एव तस्मिन्  
अतिशयं कञ्चन बोधयितुं शक्नोति । न तु जातिं विपर्यासयितुम् । न हि  
सुगौरित्युक्ते गोत्वस्य गोपदेनैव प्राप्तत्वात् सुपदमश्वत्वं वर्त्तीति युक्तम् ।  
वेदान्तानां विचारात्मकं यद् विशिष्टं ज्ञानं तज्जनितः तत्त्वहितपुरुषार्था-

स्मकार्थविषयो निश्चयो हि परोक्षज्ञानात्मक एव । तत्रैव दाढ्यं सुपदेन बोध्यते । न च निश्चितपदेनैव दाढ्यस्य लाभत् सुपदं न तत्परिमिति वाच्यम् । दाढ्यो तारतम्यस्य सत्त्वान् । सामान्यतां दाढ्यस्य निश्चितपदाल्लाभेऽपि तदतिशयस्य सुनोक्तेः । सुनिश्चितमिदमिति बहुलं व्यवहारो दृश्यते । न च साक्षात्कारपरः सः । एवमिमानि तावत् शाब्दापरोक्षे न प्रमाणाणि ।

नाप्यनुमानम् । यत्तु अपरोक्षत्वं तत्त्वमस्यादि वाक्यजन्यज्ञानवृत्ति अपरोक्षज्ञाननिष्ठान्तराभावाप्रतिषेधं गित्वात्, ज्ञानत्ववन्, इत्यनुमानमुक्तं, तत् पूर्वप्रयुक्तसर्वानुमानवदेव दुरनुमानम् । अनेन हि अणुज्ञानवृत्तित्वमपि साधायतुं शक्यम् । न चायोग्यार्थज्ञानवृत्तित्वमुपाधिः । प्रकृतेऽपि शाब्दवृत्तित्वस्यापाधित्वात् । यत्तु तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य अपरोक्षज्ञानाजनकत्वे अपरोक्षभ्रमनिवृत्तिर्न स्यादित्यनुकूलतर्कसत्त्वाद् विशेष इति, तन्न । प्रागेव निरस्तत्वं न । सद्वितीयत्वविषयो हि भ्रमः । तस्य परीक्षितप्रामाण्यतत्त्वावेदकश्रुतजन्यपरोक्षज्ञानेनैव देहात्मैक्यभ्रमस्यैव बन्धस्सम्भवतीति । तदर्थमपरोक्षज्ञानमनपेक्षितमिति च । अन्यथा अस्मन्मतसिद्धेरिति वन् अस्य तर्कस्य परिहास्यत्वाच्च ।

विमनः शब्दः नापरोक्षधीहेतुः, शब्दत्वात्, इति प्रतिसाधनं च । यत्तु दशमस्त्वमसीति वाक्ये व्यभिचार इति तन्न । किमिदं वाक्यं स्वात्मानं दशमत्वप्रत्यक्षवन्तं प्रति प्रयुक्तं अथवा तद्रहितं प्रणि । आद्ये अनुवादकं वाक्यम् । एतज्जन्यं च ज्ञानं पूर्वज्ञातप्रत्यक्षसमानविषयत्वात् प्रत्यक्षमिव भाति, न तु प्रत्यक्षमेव । तथात्वकल्पकाभावात् । अन्त्ये दशमत्वांशे परोक्षमेव ज्ञानम् । शब्दजन्यत्वात् । इन्द्रियसम्बन्धाभावात् ।

एतेन यदुच्यते बहुलतमे तमसि लोचनहीनस्यापि तद्वाक्यादपरोक्षभ्रमनिवर्तकस्य दशमोऽस्मिन्त्यपरोक्षज्ञानस्य दर्शनात् यत्रापीन्द्रियसङ्भावः तत्रापि तदप्रयोजकमेवेति, तन्निरस्तम् । परोक्षज्ञानस्यैव तत्र



जायमानत्वात् । अहमंशे प्रत्यक्षत्वेऽपि दशमत्वांशे परोक्षत्वात् । ज्वालै-  
क्यप्रत्यक्षभ्रमस्य नुमानबाध्यत्वस्य भवतैव साधितत्वेन तदर्थं शाब्दाप-  
रोक्षस्यानङ्गीकर्तव्यत्वाच्च । अन्धकारस्थितस्यान्धस्य दशमस्य स्वदश-  
मत्वाभावभ्रमश्च दुर्वचः । इतरान् न च गणायित्वा स्वस्य दशमत्वं न  
जानातीति तदज्ञानमेव सम्भ्रमस्य हेतुः । न तु नाहं दशमोऽस्मीति  
भ्रमः । स्वकीयदशमत्वोपस्थितसत्त्वासत्त्वाभ्यां व्याघातात् ।

तं त्वौपनिषद् पुरुषं पृच्छामोत्युपनिषद्वाक्ये औपनिषदात्म्यनेन  
शब्दस्य साक्षात्कारकरणत्वं बोध्यत इत्यपि शिलाधेनुदोहनम् । शास्त्रयो-  
नित्वाधिकरणन्यायेन उपनिषदेकगम्यत्वं हि औपनिषदत्वम् । तत्र पुरु-  
षसाक्षात्कारस्योपनिषत्करणकत्वं न लभ्यते । यतो वाचो निवर्तन्त  
इत्येतन्न ब्रह्मणो वाच्यत्वनिषेधपरमिति पूर्वमेवोक्तम् । अतः “अयं  
निषेधः शक्त्या बोधकत्वाभावपरः । औपनिषदमिति विधिस्तु वृत्त्यन्तं  
रेण साक्षात्कार्यत्वपरः” इति व्यवस्थाकरणं जुगुप्सावहम् । ‘चक्रितम-  
भिधत्ते श्रुतिरपि’ इतीदं न वृत्तिविषयम् । अपि तु महिम्नोऽपरि-  
च्छेद्यत्वपरम् ।

मनसैवानुद्रष्टव्यम्, मनसा तु विशुद्धेन, इत्यादिभिः श्रावितं मनसो  
ब्रह्मदर्शनकरणत्वं दुरपहवम् । ‘यन्मनसा न मनुते’ इति न मनसः कर-  
णत्वनिषेधपरम् । किन्तु ब्रह्मणो दुर्ग्रहत्वपरम् । अन्यथा ‘मन्तव्यः’  
इत्यस्यानुपपत्तेः । यत्तु मनसः करणत्वे अधिककल्पना । शब्दस्य कर-  
णत्वे त्वल्पकल्पनेति विशेष इति, तदपि न । मनसोऽन्तःकरणत्वेत्  
दुर्ग्रहसिद्धत्वात् । मन्षष्ठान्निद्रियाणि, इन्द्रियाणि दशैकञ्च, इति  
स्मृतेश्च । करणत्वस्य तृतीयया विभाक्तिश्रुत्या बोधितत्वात् ज्ञानेन्द्रियत्वेनैव  
गणितत्वाच्च मनोविषये न किञ्चित् कल्पनीयम् । शब्दस्य तु अपरोक्ष-  
ज्ञानकरणत्वं अदृष्टमश्रुतं कल्पनीयमिति इदमेवानादरणीयम् । तत्  
सिद्धं न श्रवणमङ्गलं । नाविधेयः साक्षात्कारो मुक्तिसाधनम् । न शब्दस्य

परिच्छेदः

शाब्दानरोचम्

२७६.

अपरोक्षज्ञानजनकत्वमिति ।

गम्भीरां सरणिं नयस्य भजतां येन प्रमाणेन य-

ल्लोके वस्तु यथा भवत्यवगतं तेनेच्छतां तत् तथा ।

रागद्वेषविधूननादुपनतामृद्धिं परां विश्रतां

देवोऽस्माकमयं विभाति हृदये मन्दं हसन् सेन्दिरः ॥

—:०:—

इति

विशिष्टाद्वैतसिद्धौ

हितविधानं

नाम

तृतीयः परिच्छेदः ।

—————

# अथ चतुर्थः परिच्छेदः

—:—

## १. मुक्तिः ।

अथ मुक्तिविमर्शः । तत्राद्वैतमते बन्ध एवःनुपपन्न इत्वोचाम । तथा सति मुक्तेः कः प्रसङ्गः । जगदुपादानत्वेनाभिमता अविद्या जडा । न तस्याश्चेतनानधिष्ठितायाः प्रवृत्तिः सम्भवति । स्वरूपतो मिथ्यास्वाच्च शुक्तिरजतादेरिव नितरां प्रवृत्तिशून्यता । चैतन्यं च निर्विकारम् । अतस्तस्यापि न प्रवृत्तिः । कथं सृष्टिर्बन्धो वा । न चास्या अनुपपत्तेरनादित्वेन परिहारः । कदा बन्धोपक्रम इत्याक्षेपस्य तेन परिहर्तव्यत्वात्, तेजस्तिमिरयोः कथं सम्पर्क इति चोद्यस्यानार्द्रत्वं न परिहारः । न च शुद्धं यद्यपि प्रवृत्तिशून्यं तथाप्युपहितं प्रवृत्तिक्षममिति वाच्यम् । उपधानस्वैवान्यतरप्रवृत्तमन्तरा दुर्घटत्वात् । उभयोरपि च प्रवृत्त्यक्षमत्वात् । उपहितेऽपि प्रवृत्तिहेतुर्विशेषो नास्ति । न हि दीपगर्भस्य अथवा आकाशगर्भस्य घटस्य तेन विशेषेण प्रवृत्तिर्भवति ।

अस्य चाद्यस्य यैः कैश्चिद्द्वैतिभिरुदीरितः ।

नाद्यावधि परीहारो वक्ष्यते न कदाचन ॥

इदं सविस्तरमुक्तं प्राक् । एवं बन्धस्यैवायोगात् ततो मुक्तिवाङ्मया नास्त्यवसरः । का च मुक्तिः ? अविद्यानिवृत्तिः । सा च चरमवृत्त्युपलक्षित आत्मैवेति चेत् नैतद्युक्तम् । मुक्तो ह्यात्मा । न तु मुक्तिः । 'मुक्तः प्रतिज्ञानात्' 'आत्मा प्रकरणात्' इति भगवता वादरायणेन सूत्रितत्वात् । तथा च मुक्तस्य मुक्तित्वाभिधानं दुस्सिद्धान्तपरित्राणनिर्बन्धकृतमिति

इदमेव पयाप्तं भवत्सम्मता मुक्तिर्न मुक्तिरिति तत्त्वमिदं प्रतिष्ठापरियतुम् ।  
असाध्यत्वाद्ग्यात्मस्वरूपस्य न मुक्तित्वम् । न चोपलक्षणसाध्यत्वेन  
तस्य साध्यत्वम् । चोद्यस्यासमाधानात् । उपलक्षितमात्मस्वरूपं मुक्ति-  
रित्यस्थीयते । तस्यासाध्यत्वं चोद्यते । तद्भ्युपगम्यैव उपलक्षणसाध्य-  
त्वमात्रमुच्यते । इष्टमेवेदं परेषाम् ! तथा च साध्यत्वाभिमतता मुक्तिः  
असाध्यात्मस्वरूपा न युक्ताऽभ्युपगन्तुमिति परेषामाक्षेपस्तिष्ठत्यैव । न  
चौपचा रक्तं मुक्तेः साध्यत्वं, येन घटाकाशोत्पत्तिन्यायेन साध्योपलक्षणा-  
पलक्षितत्वं साध्यत्वमित्यूरीक्रयेत । तदनयाऽभ्युपगम्यत्या आत्मस्वरूपस्य  
मुक्तित्वाभिधानं न सङ्गच्छते ।

यदपि कण्ठस्थितकाञ्चनन्यायेन प्राप्यत्वात् साध्यत्वमिति, तद-  
प्ययुक्तम् । वैषम्यात् । तत्र हि पुरुषः स्वकण्ठस्थितं काञ्चनं विस्मृत्य  
विनाशवृद्ध्या परिभ्रान्तः परैः प्रतर्बाधतः पूर्वमेव प्राप्तमपि तदानीं प्राप्त-  
मिव मन्यते । प्रकृते क एव मन्यते ।—‘नाहं प्रपञ्चः । अयमहमस्मि’  
इति । आत्मनोऽज्ञातत्वात् । तस्मादनयाऽपि विधया साध्यत्वं नास्ति ।  
अपि च उपलक्षणभूतायाश्चरमवृत्तेरपि साध्यत्वं भर्वाङ्गरेव निराकृतं  
पुरुषतन्त्रत्वाभावेन विधेयत्वं निराकुर्वाङ्गिः । तदनुकूलव्यापारस्य साध्य-  
त्वात् तस्या अपि साध्यत्वमिति तर्हि आज्यावेक्षणवत् तदेव साध्यत्व-  
मादाय तस्या विधेयत्वमस्तु ! तथा च श्रवणमप्यङ्गमेवास्तु, नाङ्ग ।

किञ्च अविद्यातो मुक्तिर्हि मुख्यो मुक्तिशब्दार्थः । तेनाविद्यानिवृत्तिरेव  
मुक्तिशरीरे निवेश्या । न तु चरमवृत्तिः । मुक्तिसाधनत्वात् । न हि  
साध्यसाधनयोरैक्यं युक्तम् । किञ्च अविद्यानिवृत्तेर्मुक्तित्वे को दोषः ।  
तस्या आत्मस्वरूपरूपत्वेऽसाध्यत्वेन तदुद्देशेन प्रवृत्त्यसम्भवः । तदति-  
रिक्तायाः सत्यत्वे अद्वैतहानिः । मिथ्यात्वे मुक्तेरविद्यापरिणामत्वमिति  
चेत् तर्हि चरमवृत्त्यनन्तरं अविद्यानिवृत्तिर्भवति वा न वा । आद्ये  
उक्ता दोषास्तदवस्थाः । अन्त्ये मुक्तिरेव नास्ति । अविद्याऽनुवृत्तेः ।

ननु अविद्यानिवृत्तिस्तद्विरोधिचरमवृत्तिरूपैवेति न काचिदनुपपत्तिरिति चेन्न । उक्तोत्तरत्वात् । साधनरूपत्वान्न साध्यात्मकत्वं युक्तामिति ह्युक्तम् । अन्यथा चरमवृत्तौ जातायामप्यविद्या न निवर्तेत । जातायास्तस्या एव तन्नवृत्तित्वात् । न ह्युत्पन्ना पुनरुत्पाद्यते । चरमवृत्त्युत्पत्त्यनन्तरं अविद्याध्वंसः । अयं तदनतिरिक्तश्चेत् पश्चादुत्पन्नो न स्यात् । पश्चादुत्पन्नश्च तदात्मको न भवितुमर्हति ।

नन्वयमुत्पद्यमानः तदात्मैवोत्पद्यत इति चेत् कोऽभिप्रायः ? किं तत्सजाती यव्यक्त्यन्तरात्मैति उत तद्व्यक्त्यात्मैवेति । नाद्यः । अनभ्युपगमात् । नान्त्यः । उत्पत्त्यसम्भवदोषतादवस्थ्यात् । न हि सम्भवति पूर्वमुत्पन्ना व्यक्तिः पुनरप्युत्पद्यत इति । न खलु कश्चिदाचक्षीत उत्तरक्षणात्पन्नज्ञानध्वंसः पूर्वक्षणात्पन्नज्ञानरूप इति । ज्वरनिवृत्तिरौषधरूपेति वा । यद्यप्यभावस्य भावरूपत्वमिष्यते तथाऽपि कालभेदे नेदं सम्भवि । न च नैर्यायिकैः कैश्चित् उत्तरात्पन्नसंयोगध्वंसस्य पूर्वोत्पन्नविभागरूपत्वमङ्गीकृतम् । तद्वत्प्रकृतेऽपीति वाच्यम् । तस्याप्युक्तीत्याऽयुक्तत्वात् । अन्यथा लाघवमात्रनिष्ठैः घटपटादीनामप्यन्योन्यात्मकत्वाङ्गीकारापत्तेः । वस्तुतस्तु संयोगनाशातिरिक्तो विभागो नेष्टव्य इति स्पष्टं तत्त्वमुक्ताकलापे । तस्मादविद्यानिवृत्त्याकारा चरमवृत्तिमुक्तिरिति पक्षो न घटते ।

किञ्च चरमवृत्तिनिवृत्तिर्यथाऽधिकरणस्वरूपा तथा अविद्यानिवृत्तिरपि कुतो न भवति । साध्यत्वानुपपत्तेरिति चेत् किमस्मदिच्छानुसारेण वस्तुस्वभावविपर्ययो भवेत्, येनैवमुच्यते । किं नाम उष्णो न हस्तग्राह्य इति वह्निः शीतोऽङ्गीक्रियेत । प्रतियोग्यधिकरणरूपो वा ध्वंसः, तत्समानाधिकरणभावान्तररूपो वा, अतिरिक्तो वेति त्रयः पक्षाः । तत्राद्यावलम्बने साध्यत्वानुपपत्तिः । द्वितीयः तत्समानाधिकरणभावान्तराभावादसम्भवी । अविद्यानिवृत्तावात्मनोऽद्वितीयत्वात् । तृतीये त्वद्वैतभङ्गः ।

एतद्भ्याऽविद्याध्वंसस्य चरमवृत्तिरूपत्वाश्रयणं साध्यसाधनभावविरोधादनुपपन्नम् । सकललोकध्वंसः तदन्तर्गतैकव्यगुणकारणरूप इति वदुपहास्यं च ।

अथ यच्चरमवृत्त्युपलक्षितत्वमात्मन उच्यते तदपि विमर्शनीयम् । अनेन आत्मनि कश्चन विशिषो बोध्यते न वा । आद्ये तस्य सत्यत्वे अद्वैतहानिः । मिथ्यात्वे मुक्तावप्यविद्यानुवृत्तिः । अन्त्ये आत्मस्वरूपं मुक्तिरित्येतावदुक्तं स्यात् । तस्य पूर्वमपि सत्त्वान्मुक्ति संसारयोरविशेषः । उपलक्षितत्वं च विशेषणं वा उपलक्षणं वा । नाद्यः । तेनैव सविशेषत्वापत्तेः । नान्त्यः । उक्तीत्याऽविशेषप्रसङ्गान् ।

“एवमद्वैतसिद्धान्तरक्षाबन्धधुरन्धरैः ।

इयं मुक्तिरिति प्रोदैरपि वक्तुं न शक्यते ॥”

## २. निवर्तकम् ।

एवं वस्तुस्थितौ सत्यामपि सामान्यतः अविद्यानिवृत्तिर्मुक्तिरिति शक्यं प्रातपत्तुम् । तत्राविद्याया निवर्तकं प्रतिपादयन् वृत्त्युपारूढचित्तो वा चित्प्रतिबिम्बधारणया वृत्तेर्वा निवर्तकत्वमित्याह । नेदमुपपद्यते । विशेषणविशेष्यभावभेदेऽपि अत्र स्थितं द्वयमेव-चिच्च वृत्तिश्च । अत्र विषयः केवल चिन्मात्रमिति मूलकारः । व्याख्याता तु वृत्तेरपि विषयत्वमस्त्वेवेत्येतमपि पक्षं दर्शयति । अत्र विषयी कः । नोपाधिमात्रम् । जडत्वात् । न चिन्मात्रम् । सकलविषयविरक्तत्वात् । नोपहितम् । उभयान्तरेकात् । एवं ज्ञानस्यैवाभावे ज्ञातुः कथा दूरे । तथा च वृत्तिरियं कथमविद्यानिवर्तिका । यो हि “अहं ब्राह्मणः जानामि करोमि भुज्ये” इति पूर्वमनुभूतवान् स चेत् “शुद्धचैतन्यरूपोऽहम् । न मद् व्यतिरिक्तं किञ्चिदस्ति” इति जानीयात् तस्य पूर्वानुभूतः सर्वो मिथ्याविषयो निवर्तेत । लोके हि यः शुक्तिरजतं पश्यति स पश्चात् शुक्तिं तत्त्वेन पश्यन् अनेन

यथार्थानुभवेन स्वस्य पूर्वोत्पन्नं प्रत्यक्षं भ्रमत्वेनाध्यवस्यात् । भातं रजतं च मिथ्यात्वेन । यो यथार्थानुभवः शुक्तिमात्रविषयः, न तु पूर्वं रजतत्वेन गृह्यते तत्र रजतत्वाभावावगाही तेन पूर्वभातरजतमिथ्यात्वं न सिद्धयति । यत्र सत्यमेव रजतं येन दृष्टं तत्रैव पश्चात् रजतस्थाने परमार्थशुक्तिं पश्यतस्तस्य पूर्वानुभवस्य वा तद्विषयस्य वा बाधाभावात् । मिथ्यारजनदर्शनानन्तरमपि कालान्तरे तामेव शुक्तिं शुक्तित्वेन पश्यतः इयमेव शुक्तिः पूर्वं मे रजतत्वेनाभादिति स्मरणभावे पूर्वानुभवस्य वा तादृश्यस्य वा बाधाभावाच्च । तस्मात् शुक्तिं तत्त्वेन पश्यन् इदमेव वस्तु पूर्वं मे रजतत्वेनाभासीदिति योऽनुसन्धत्त तस्यैव पश्चात्त्वेन यथार्थज्ञानेन प्राक्तनाज्ञाननिवृत्तिर्भवतीति निश्चप्रचमेतत् । तथैवात्रापि यदि मुमुक्षुः निष्पन्नापायः यथावस्थितमात्मानं पश्यन् 'इयन्तं कालमहं आत्मानमन्यथाऽन्यथा गृहीतवानासम् । इदं तु मे पारमार्थिकं स्वरूपामत्यनुसन्धधीनं तद्दि तस्यानेन यथार्थज्ञानेन पूर्वाज्ञाननिवृत्तिर्भवेत् । न च कश्चिदस्ति । तत्र यदि शुद्धचिन्मात्रविषया काचन वृत्तिर्भवति, कर्म भवतु । तेन प्रपञ्चनिवृत्तिः कथं भवेत् । प्राक्तनप्रपञ्चप्रस्ययस्य कालान्तरभवस्य शुद्धचिन्मात्रप्रत्ययस्य च कः सम्बन्धः, को विरोधः, येन निवर्त्यनिवर्तकभावो भवेत् । न हि देवदत्तस्य स्वापनमन्यद्वा केवलस्वदेहदर्शनं तद्वस्त्रयज्ञदत्ततद्वस्त्रादीनां निवृत्तं कुर्यात् ।

किञ्च ब्रह्मज्ञानान्मुक्तिं वदन्ति श्रुतयः 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवतीत्याद्याः । तत्र ब्रह्म ज्ञेयमन्यत्, तद्विषयं ज्ञानमन्यत् प्रतीयते । केवला वृत्तिर्न ज्ञानम् । नापि केवला चित् । अत एव नोपहितोऽपि विशेषाभावात् । आत्मधर्मः सविषयं ज्ञानं लोके प्रसिद्धम् । लोकप्रसिद्ध एव वैदिकशब्दार्थः । न चैवंरूपं ज्ञानं भवद्विरिह्यते । तस्मात् केवलं पारिभाषिकं भवत्सम्मतं ज्ञानम् । तथा च श्रुतिसिद्धं मोक्ष-

साधनं न भवति यद्भवद्भिरुच्यते । तद्विरुद्धमेव तन् । अविद्यापरि-  
णामत्वान् ।

किञ्चापादेयैकदेशस्य कृत्स्नोपादाननिवर्तकत्वं कुत्र दृष्टम् । “कापि  
न । श्रुतिबलात् कल्प्यते” इति चेन्न । अविद्याया अविद्यानाशकत्वस्य  
काप्यभ्रवणान् । ‘मायां तु प्रकृतिं विद्यान्’ इत्यनेन मायाशब्दवचन्या  
पागमार्थिकी त्रिगुणा प्रकृतिरिति बोधनान् । ‘तरति शोकमात्मवित्’  
इत्यनेन आत्मा, तस्य वेदनं, वेदिता, इति त्रयमुक्त्वा वेदिता वेदन-  
वशान् शोकं तरति लङ्घते जहातीति वेदनफलं शोकतरणमुच्यते, त-  
त्त्वविद्यया अविद्यातरणम् । ‘सोऽविद्याग्रन्थि विकिरति’ इत्यत्रापि एतद्यो  
वेदेत्युक्तो ब्रह्मविन् ब्रह्मविद्यामहिम्ना ग्रन्थिवत् दुर्मोचां अविद्यां विद्ये-  
तरन् कर्म पुण्यपापरूपं विकिरति भिनात्ति निगस्यतीत्युक्तेः नाविद्याया  
अविद्यानिवर्तकत्वपरत्वं प्रसज्यते । ‘तदा विद्वान् पुण्यप पे विधूयेति  
स्पष्टार्थेश्रुत्यन्तरसंवादिनी ह्ये पा श्रुतिः । तस्मान्मुक्तिवदेव तत्साधनमपि  
भवतां दुःस्थितम् । ‘अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा’ इत्यत्र अविद्यया विद्येतरण  
कर्मणा मृत्युं विद्यात्प्रातिप्रतिबन्धक कर्म तीर्त्वा निगस्येत्ययमर्थ उच्यते ।

### ३. पुरुषार्थत्वम् ।

अद्वैतिसम्मतया मुक्तेः पुरुषार्थत्वं दुर्घटमेव । निरतिशयानन्दानु-  
भवरूपत्वे हि तत् स्यात् । न च तेषां मते आनन्दो वा तदनुभवो वा  
अनुभावता वा मुक्तावस्ति । तथा सति पुरुषार्थत्वं कथं भवेत् । ननु ब्रह्म  
सुखात्मकमेवेति चेत् ततः किम् । न हि मुमुक्षाः स्वभोग्यत्वं विना क्रमपि  
वस्तु स्वयं सुखात्मकमित्येतावता पुरुषार्थतां भजेत । “बद्धोऽभिदानीं  
अत्यन्तं दुःखी भवामि । सर्वं दुःखमवधूय नित्यनिरतिशयानन्दभाग्  
भवेयम्” इति हि सर्वः कामयते । न चाग्न्याः कामनाया विषयसिद्धिः  
अद्वैतमुक्तौ भवति ।

अत्राह—लोके सुखस्य पुरुषार्थता नापरकीयत्वेन अथवा स्वकी-



यत्वेन । किन्तु साक्षात्क्रियमाणत्वेन । इदं च मुक्तावप्यस्तीति निर्विघातं पुरुषार्थत्वमिति । तत्र । सुखसाक्षात्कारस्याप्यभावात् । न हि शुद्धचैतन्यं तदा स्वत्मकं स्ववृत्ति वा सुखं साक्षात्करोति । ज्ञातृत्वाभावात् । सुखत्वं च नास्ति । निर्विशेषत्वात् । यत्तु सुखत्वमपि परित्यज्य साक्षात्क्रियमाणत्वेनैव पुरुषार्थत्वाभिनि, तद् दुःखसातप्रसक्तम् । न हि दुःखस्य सातो न साक्षात्कारः । अत एवानुकूलतया वेद्यत्वं सुखलक्षणमाहुः ।

वस्तुतस्तु सुखस्य स्वकीयत्वेनैव पुमर्थत्वम् । न हि सुखसाक्षात्कारो भवति त्विति वस्यार्थादृच्छा दृष्टा घटते वा । स्वप्रवृत्त्यनापत्तोः । सम्बन्धस्य अवर्जनीयसार्त्राधिकत्वाभिवानं साहसमात्रम् । व्याख्यातुर्ब्रह्मानन्दस्य तु—“स्वरूपसुखानुभवो जीवन्मुक्तस्यास्ति । तस्य पुमर्थताऽविहता । परममुक्तौ पुमर्थता नेप्यत एव । तदानीं तस्याव्यवहारेणानुपयोगात् ।” इति मतम् ।

वत साधु कृतं मुक्तेर्वदद्भिरपुमर्थताम् ।

यत्परत्वेन वेदान्ता भवन्त्यत्यन्तमाहताः ॥

मुक्तिकाले व्यवहारऽस्तु मा वा । अद्य पुरुषार्थत्वं मोक्षस्य कृत्वा वा तदथ प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्ते, अकृत्वा वा । न तावदन्त्यः । प्रत्यक्षाविरोधात् । आद्ये तेषां तत्र पुमर्थत्वधीः प्रमा वा अप्रमा वा । प्रथमे कल्पे मुक्तावपि पुरुषार्थत्वमनुवर्तत इत्यभ्युपगतं भवति । द्वितीये फलसिद्धिर्न स्यात् । भ्रान्तप्रवृत्तित्वात् । शास्त्राणि चाप्रमाणानि स्युः । भ्रमहेतुत्वात् । प्रतारकत्वाच्च ।

### ४. मोक्षभाक् ।

मोक्षरूपपुरुषार्थभाक् च भवन्मते कोऽपि नास्ति । अहमर्थस्य बद्धस्य न प्रवृत्तात् । अवशिष्टस्य शुद्धचित्तः कदापि बन्धाभावात् । नित्यानिविकारत्वान् । अहमर्थगतश्चिदंशः मुक्तिकालान्वयां पुमर्थभागत्यनेन न किञ्चिदुक्तं भवति । चिदंशस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य पूर्वमपि अपुरुषार्थान्वयाभावेन पुरुषार्थापेक्षाविरहान् । यस्तु ज्ञातृत्वेन कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन

चाभिमतः अचिदंशः तस्येदानीमभावः । न ह्याकाशस्य घटेन बन्धोऽ-  
पुरुषार्थः, तस्मिन् भिन्ने च बन्धनिवृत्त्या मुक्तिः पुरुषार्थश्च इष्यते ।  
ततः को विशेषः प्रकृते ।

किञ्चायं चिदंशः नानुभवितः । अनुभवानाश्रयत्वत् । नानुभाव्यः ।  
अनुभवान्तरविषयत्वाभावात् । स्वप्रकाशवान्भ्युपगमात् । नानुभवः ।  
विषयित्वाभावात् । एवं सति चिदंशं मुक्तिकालान्वाद्यनं प्रति मुक्तौ  
पुरुषार्थस्य सम्भव इति किमाभिप्रत्योच्यते । अत्यन्तनिवृत्तदुःखस्य  
आत्मनः नित्यनिरतिशयानन्दानुभवो हि मोक्षः । मोक्षस्य पुरुषार्थत्व-  
सम्बन्धो नास्तीति वदन् लघुचान्द्रिकाकाः आर्जवशाली ।

यदापि “आत्मनः सुखमात्रत्वे सुखप्रकाशाभावेनापुमर्थत्वम् । उभ-  
यात्मकत्वे चाखण्डार्थत्वहानिः”

इति चाद्यं परिहरता मूलकृतोक्तम्—

“सुखप्रकाशयोरेकात्मरूपतया उभयत्वस्यैवाभावात् । न चार्थभेदा-  
भावे सहप्रयोगायोगः । अविद्याकल्पितदुःखजडात्मकत्वव्यावर्त्यभेदेन  
तदुपपत्तः”

इति, तदप्यरम्यम् । अपुरुषार्थत्वापादकस्य सुखप्रकाशव्यतिरेकस्यैव  
एवमभ्युपगतत्वात् । अविद्याकल्पितदुःखजडात्मकत्वव्यावृत्तिमात्ररूपे  
सुखत्वप्रकाशत्वे, न तु धर्मौ आत्मनि वर्तमानौ, इति ह्युच्यते । तथा च  
न सुखमस्ति, न तस्य प्रकाशोऽस्ति, इत्येव पर्यवस्यति । तथा च स्थित-  
मपपुरुषार्थत्वं मोक्षस्य । तत्र “तस्मात् स्वप्रकाशचिदभिन्नं सुखं  
पुमर्थः ।” इत्युपसंहारो न युज्यते । इदमप्युक्तं ब्रह्मानन्देन—

“तथा च कैवल्ये सुखत्वाद्यसंसर्गोऽपि न क्षतिः ।”

इति ।

ब्रह्मानन्देन वदता ह्येवमार्जवशोभिना ।

महान् खण्डनकाराणां भारोऽतीव लघुकृतः ॥

किन्तु

नानन्दानुभवो मोक्षो न तस्य पुरुषार्थता ।

इति वेदान्तचिन्नायाः श्लाघ्यः खलु फलोदयः ॥

मोक्षो न सिध्यति न तस्य पुमर्थभावो

मुक्तो न सिध्यति न तस्य सुखापलम्भः ।

अद्वैतवर्तीन यतस्तदतस्त्यजन्तः

सम्यञ्चमाश्रयन कञ्चन वेदमार्गम् ॥

### ५. जीवन्मुक्तिः ।

अथ यज्जीवन्मुक्तिरिति काञ्चिद्वस्थामङ्गीकृत्य तत्समर्थनाय यथाशीलं बह्वीः कुरुत्वनाः कुर्वन्ति तत्र ब्रूमः । जीवन्मुक्तो नाम तत्त्वज्ञानेन निवृत्ताविद्योऽप्यनुवृत्तदेहादिप्रतिभास इति वदन्ति । भ्रमस्थले यथार्थज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं भ्रमविषयप्रतिभासो नानुवर्तते । न हि शुक्तिप्रत्यक्षप्रमानन्तरं रजतप्रतीत्यनुवृत्तिर्दृष्टा । प्रबुद्धस्य वा स्वाप्नार्थप्रतिभासानुवृत्तिः । एवं यदि भ्रमसिद्धः प्रपञ्चः तर्हि तत्त्वज्ञाने जाते पुनः प्रपञ्चप्रतिभासो नैव भवितुमर्हति । अथायं भवति, तर्हि तत्त्वज्ञानं नोत्पन्नमिति निश्चेतव्यम् । कुतस्तु खल्वन्तत्त्वज्ञानस्य अत एव निरस्ताविद्यस्य भ्रमसिद्धरज्जुसर्पादिनुन्वदेः दिप्रतिभासानुवृत्तिः । तत्त्वज्ञानाधीनाज्ञानवृत्त्यनन्तरमपि देहानुवृत्तिदर्शनात् नाविद्यासिद्धं देहादिकमिति तु प्रत्येतव्यम् । अभिनिविष्टैस्तु उत्तरोत्तरं अयुक्तमेव बहूच्यते ।

तथा हि । “निवृत्तसर्पभ्रमस्यापि संस्कारान् भयकम्पानुवृत्तिवत् दण्डसंयोगनाशेऽपि चक्रभ्रमणवच्च संस्कारानुवृत्तेरविद्यानिवृत्तमपि तत्कार्यानुवृत्तिसम्भवात्”, इति यदुक्तं तत्र दृष्टान्तोऽत्यन्तविषमः । सर्पभ्रमजनितं भयकम्पादि न हि सर्पवद् भ्रमसिद्धम् । सर्पभ्रमेण सत्येन कारणेन सत्यमेव भयाद्युत्पन्नम् । तत्संस्कारस्य सत्यस्य अनुवृत्तौ तत्कार्यमपि युक्तं यदनुवर्तते । भ्रमविषयसर्पप्रतीतस्तु पुनर्नैव भवति !

एवं चक्रभ्रमणस्थलेऽपि यथोचितं द्रष्टव्यम् । प्रकृते तु न तथा । देहा-  
देरपि रञ्जुसर्पादिवद् भ्रममात्रासङ्गत्वाभ्युपगमात् । मूलकारणभ्रमनि-  
वृत्तौ पुनः प्रतीत्ययोग्यत्वात् ।

नन्वविद्यायां नष्टायामपि तत्संकारोऽनुवर्तमानः देहादिप्रतिभासम-  
नुवर्तयतीति चेन्न । विश्वमिथ्यात्वप्रयोजकस्य दृश्यत्वस्य उक्तमिथ्यात्व-  
साधारण्यात् यथा मिथ्यात्वमपि मिथ्येत्युच्यते तथा अविद्यासंस्कार-  
स्याप्यविद्यावदेव मिथ्यात्वेन तत्त्वज्ञानेन नाशावश्यम्भावेन अनुवृत्त्य-  
सम्भवात् । अन्यथा सत्यत्वम्यापरिहार्यत्वेन अद्वैतहान्यापत्तेः । अवि-  
द्यासंस्कारे प्रमाणाभावाच्च । ज्ञानक्रिययोरेव हि संस्कारजनकत्वम् ।  
यत्तु निस्सारितपुष्पायां सम्पुष्टिकायां पुष्पवासना दृश्यत इति, तत् सत्यं  
तथा । वासना हि तत्र परिमलः गन्धापरपर्यायः । न तु स्वजनकसजाती-  
यकार्यान्तरजनकः संस्कारः । अयं तु क्रियाज्ञानयोगेव ।

अविद्यायां नष्टायां तदुपादेयस्य संस्कारस्य स्थित्ययोगाच्च न तद-  
धीनो देहादिप्रतिभासः सम्भवति । यत्तु विनश्यदवस्थस्य समवायिकारणं  
विना स्थितदृश्यत इति, तन्न । समवायिकारणनाशः तत्समवेतकार्य-  
नाशे कारणम् । अतः कारणनाशोत्पत्तौ नान्तरक्षण एव कार्यनाशो  
वक्तव्यः । तस्मान् कारणनाशक्षणे अगत्या कार्यमस्तीत्यङ्गीकुर्वन्ति नै-  
वायिकाः । असत्कार्यवादिनामेषां इदमपरिहार्यं भवति । सत्कार्यवादिनां  
तु वेदान्तिनां तत् सर्वथा निरसनीयम् । नैवाभ्युपगमाहम् । अभ्युपगम-  
र्थादेऽपि तद्वत् प्रकृतेऽपि अविद्यानाशः प्रथमक्षणे । तदुपादेयसर्वकार्य-  
नाशोऽनन्तरक्षण इति काममस्तु । यावद्देहपातं संस्कारानुवृत्तिरिति  
तु कथमेतत् ।

ननु प्रारब्धकर्मावसानपर्यन्तं देहादिप्रतिभासोऽपरिहार्यः । अत-  
स्तदुपपत्तये संस्कारस्यापि तावत्कालं स्थितेरावश्यकतया तन्नाशं प्रति  
प्रारब्धकर्मणः प्रतिबन्धकत्वमिष्यते । एवं च प्रतिबन्धकाभावविशिष्ट-

हेतोस्तावत्कालमसत्त्वात् संस्कारानुवृत्तिरुपपन्नेति चेत्, प्रारब्धं कर्म अविद्यानाशं प्रत्येव कुतो न प्रतिबन्धकम् । अविद्यानाशमुत्पन्नं कृत्वा तत्संस्कारास्तित्वं, तन्नाशस्य प्रतिबन्ध्यत्वं च कुतः कल्प्यते । जीवन्मुक्तिर्न सिद्धयतीति चेत् अप्रामाण्ये क्री सा कामं न सिद्धयतु ' का हानिः । आह च भगवती श्रुतिः 'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति । अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः'इति । अत एव जीवन्मुक्तिरिति व्याहृतम् । जीवतो मुक्त्यभावात् । मुक्तस्य जीवनाभावात् । वस्तुतस्तु प्रारब्धस्याप्याविद्य कृत्वाविशेषात् तत्त्वज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं स्थितिदुर्लभा । कुतस्तस्यान्यस्थितिप्रयोजकत्वम् ।

एतेन तत्त्वे ज्ञातेऽपि द्विचन्द्रादिवद् बाधितानुवृत्तिसम्भव इति निरस्तम् । तत्त्वज्ञानाबाध्यस्य वास्तवस्य दोषस्य तत्र सत्त्वात् । इह तदसम्भवात् । ननु तिमिरादिदोषोऽपि न वास्तव इति चेत् तदन्यत् । चन्द्रद्वित्वबाधकेन तस्य न बाध इति तु सम्प्रतिपन्नम् । न च प्रकृते कृत्स्नाविद्याबाधकेन तत्त्वसाक्षात्कारेणाबाध्यं किञ्चिदस्ति । तत्सत्त्वे ब्रह्मवत् तस्य सत्यत्वापत्तेः । बाधां वा अबाधां वेति द्वावेव पक्षा । न तु विलम्बेन बाध इति पक्षान्तरसम्भवः । विलम्बकारणस्य सर्वथा दुर्बलत्वात् ।

नूनमतिसङ्कटामिमां स्थितिं जानाति तत्र भवान् मधुसूदनसरस्वती । अतः पक्षान्तरमाह—'यद्वा अविद्यालेशानुवृत्त्या देहाद्यनुवृत्तिः'इति । लेशो नाम आकारः । अनेकाकारा अविद्या । तस्या निवृत्तावपि तदीय एक आकारोऽनुवर्तते । स हेतुर्देहाद्यनुवृत्तेरिति मन्यते इदमपि पूर्ववदेवानुपपन्नम् । आकारिनाशोत्तरमाकारः कथमनुवर्तते । न च व्यक्तिनाशात्परं जातियेथा तथेति वाच्यम् । व्यक्तिव्यतिरिक्तत्वान् नित्यत्वाच्च जातेः व्यक्तिनाशेऽप्यनुवृत्तिर्युक्ता । इह तु आकारस्याप्यविद्यान्तर्गतत्वान् तथा सह नाशावश्यम्भावेनानुवृत्तिर्न घटते ।

अथान्यदाह—लेशः शक्तिः । अविद्याया वह्नयः शक्तयः । तत्र या प्रश्ने पारमार्थिकत्वादिर्वाहेतुः शक्तिः, या च तत्रार्थक्रियासमर्थत्व-सम्पादिका शक्तिः तयोस्तत्त्वसाक्षात्कारेण निवृत्तावपि अपरोक्षप्रति-भासयोग्यार्थावभासजनिकायाः शक्तेरनुवृत्तेः तद्वर्ता अविद्याऽपि तिष्ठ-त्येवेति । अत्र यद्यप्युपादानं विनाप्युपादेयानुवृत्तिकल्पनाप्रयुक्ता दुरवस्था नास्ति, तथापि तत्त्वसाक्षात्कारे इत्यन्ने साति कथमविद्या-तच्छक्तयोरनुवृत्तिरिति चोद्यमपरिहृतमेव । न च प्रारब्धस्य प्रतिबन्ध-कत्वं गतिः । तदनुवृत्त्यनुपपत्तोरपि प्रदर्शितत्वात् । आविद्यकस्य यस्य कस्यापि सर्वधस्मरेण तत्त्वज्ञानाग्निना अवशेषणासम्भवात् । अवशेषणे सत्यत्वस्यानिवार्थत्वात् ।

देहादिप्रतिभासेन तत्त्वज्ञानोदयेऽपि वः ।

न प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमिति युक्तो विनिर्णयः ॥

यत्तु 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इति श्रुत्या भूयश्चान्त इत्यनेन पूर्वमपि मायानिवृत्तिरस्तीति बोधनात् जीवन्मुक्तिसिद्धिरिति तदङ्गी-कुर्मः । परं तु भवताऽपि जीवन्मुक्तस्य मायानुवृत्तिरभ्युपेयने । तथा चाविद्यावतः कथं मुख्यवृत्त्या मुक्तत्वम् । अमुस्या मुक्तिः प्रमाणान्तर-विरोधेन कल्पनाया । देहाद्यनुवृत्तिमत्त्वान् तदधीनप्रवृत्तिनिवृत्तिमत्त्वान् क्षुत्पिपासादिमत्त्वाच्च नैतेषां निवृत्तिरूपा सा मुक्तिः । किन्तु मुक्तस्य यो निरतिशयानन्दब्रह्मानुभवः सास्त्रैरवगम्यते तत्सजातार्थं विलक्षणमनुभवं विलक्षणोऽधिकारी लभत इत्यनेन सामान्येन स मुक्त इत्युच्यते । यत्तु देहादिप्रतिभासस्य तदीयस्याबन्धकत्वमुच्यते तदश्रद्धेयम् ।

यदपि सूत्रभाष्ये परकीयाऽनुभवविशेषः परेण कथं प्रतिक्षिप्येतेत्युक्तं तत्पक्षान्तरेऽपि सुवचम् । परकीया स्थितः परेण कथं साध्येतेति । योऽस्माकं स्वानुभवः या च मुक्तप्रायाणां महतां प्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यां जाय-माना तदवस्थानुमितः, या च 'न ह वै सशरीरस्ये'त्यादिका श्रुतिः,

एतैः सर्वैः यावद्देहसम्बन्धं तत्प्रयुक्तसुखदुःखानुभवस्यावर्जनीयत्वावधारणात् 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इति श्रुत्याभिप्रेतं यिलक्षणब्रह्मानुभवरूपं मुक्तसाम्यं अवशार्पणपतितेषु सुखदुःखादेषु निस्तङ्गत्वं चापेक्ष्य उपचारान्मुक्तत्वव्यवहार इति निश्चीयते । एवमपपत्तौ यन्मुख्यं मुक्तत्वं कृत्वा बह्वायासभाजन्तामात्मा नीचते तदस्थाने । एतेन 'यद्वा अज्ञानस्य मूढमावस्था लेश' इत्येतदपि प्रयुक्तम् : तत्र्यसाक्षात्कारेण सर्वाविस्थाज्ञाननाशस्य अवश्यं वाच्यत्वात् ।

अतो जीवन्मुक्तः सर्वथाऽनुपपन्ना । सन्ति च अद्वैतिन एव य इमां नेच्छन्ति ।

### ६. भगवत्प्रसादः ।

मुक्तानामानन्दनागनम्यमस्माभिर्गपि नाङ्गीक्रियते । यत्तु ईश्वरस्यैः मुक्तिहेतुत्वं दूष्यते तन्न मृष्यामहे । यदुच्यते—

“तस्य तावदेव चिरमित्यादिश्रुत्याऽस्य उत्पन्नतत्त्वसाक्षात्कारस्य प्रारब्धकर्मक्षयापेक्षणीयमिति प्रतिपादनेन ईश्वरप्रसादापेक्षा वक्तुमशक्यः । स्मृतिपुराणादीनि श्रुतिःवरोधेन स्तुतिपराणि । यमेवैष वृणुत इति भक्तिजन्येश्वरप्रसादस्यापि तत्साक्षात्कारस्वरूप एवापयोगस्य बोधितत्वेन स्मृत्यादीनामपि तदनुसारित्वान् वैपरीत्येन साध्यसाधनभावे मानाभावः ”

इति, तदिदं 'शृणोति यः सोऽपि हि पापभागजनः' इति न्यायेन अनुबद्धतामस्माकमपि पापावहम् । तस्य तावदेव चिरमित्यनेन परमत्मसम्पत्तेः प्रारब्धकर्मक्षयापेक्षत्वे बोधिते परमत्मप्रसादस्यानपेक्षणीयत्वं कथं सिद्ध्यति । न हि तावदेवेत्येवकारस्तं व्यवच्छिन्नन्ति । तावदेव नाधिकं कालमिति कालाधिक्यव्यवच्छेदपरत्वान् तस्य । अपेक्षणीयत्वं

कथं सिध्यतीति चेन् सर्वकारणत्वाद्दोशवरस्य । चेतनस्य च कारणत्वं तदिच्छाद्वारा । इच्छाविशेष एव च प्रसादः ।

‘पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा

जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ।’

इति च श्रुत्य कण्ठना भगवत्प्रसादस्य अमृतत्वसाधनत्वमुक्तम् । प्रेरितारं च मत्वा उपास्य, ततः तस्मादुपासनाद्वेनाः, तेन प्रेरकेणश्वरेण, जुष्टः प्रीतिनिषयीकृतः अमृतत्वमेतात्पर्यात् । श्रुतिशतवण्टावुष्टमेतत् भगवतः सर्वकलप्रदत्व ‘फलमत उपपत्तेरिति प्रतिपादयता मूत्रकृता सामान्यतांसांभङ्गितम् । “पराभिध्यानात्तु तिराहितं ततो ह्यस्य बन्धविर्ययौ” इति विशेषतश्च । “मत्प्रसादाद्वाप्राप्ति शश्वतं पदमव्ययम्” इत्यादि प्रसिद्धम् । किमेतत् सर्वमन्यथा नेयम् उत अद्वैतसिद्धान्तस्याबद्धताऽवधारणार्थेति स्वहृदयं पृच्छन्तु भवन्तः ।

यत्तु यमेष वृणुत इत्यत्र ईश्वरप्रसादस्य साक्षात्कारे उपयोगो बोधिः । इति, तत्र । तेन लभ्य इत्यनेन प्रतिपन्नस्य तत्त्वानिरूपस्य ब्रह्मविदाप्राप्ति परामत्यन्यत्राक्तस्य परमकलस्य साधनतया ‘यमेष वृणुते’ इत्यनेन व्याञ्जनाया भक्तेरन्वयात् । एवं स्ववाक्य एव साध्याकाङ्क्षायाः शान्तत्वेन उत्तवान्वयेऽन्वयायोगात् । प्रत्युत एतदुपपादनःत्वेन उत्तरवाक्यमेव पूर्ववाक्यस्य शेषः । कथं भक्तेन लभ्यः परमात्मेति चेदुच्यते तस्यैव आत्मेति । तस्य भक्तस्य, एव आत्मा, स्वां तनूं स्वस्वरूपं, त्रिवृणुते कात्स्न्येन प्रकाशयति । यथावत् प्रकाशिते भगवत्स्वरूपे भक्तस्य भक्तिहृत्तरात्तरं वर्धते । ततः प्रसन्नो भवति भगवान् । स्वमस्मै ददाति । अयं तं लभते ! एवमनेन लभ्यः स इति । इदमेव गीतम्—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥



तेषामेवानुक्रमार्थमहमज्ञानजं तमः ।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

इति । तस्मान्नात्र साक्षात्कारः पृथगुपाय उक्तः । नापि भक्तेस्तत्र विनियोगः । भक्तिरेव तु मुक्तिसाधनम् । तत्र द्वारमीश्वरप्रसादः । सेयं भक्तिः अहरहरभ्यासेन परिपाकवती दर्शनसमानाकारा भवति । एतदवस्थेयं साक्षात्कार इत्येवाचार्यैर्व्यवहियते । यदेयमेवं भवति तदा प्रभृति उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ । प्रारब्धावसाने अचिरादिना मार्गेण परमं व्योम प्राप्तस्य परिपूर्णब्रह्मानुभवः, यस्यान्तो नास्ति । स एव मोक्ष इति सर्वमनवद्यम् ।

इति विशिष्टाद्वैतसिद्धौ फलसिद्धिर्नाम चतुर्थः परिच्छेदः ।

नमः सकलकल्याणहेतवे भवसेतवे ।

नित्याय निरवद्याय शब्दाय पुरुषाय च ॥

श्रीवासतातार्यपदारविन्द-

स्रुतं मधु स्वादु निर्पाय भूयः ।

मत्तेन चित्तेन तव स्मरामि

न चेदहं तद् भगवन् क्षमस्व ॥

यद्रामानुजपुत्रसम्मिमतसुधीवशेऽविगन्तुं जनिं

यत्प्रज्ञाश्रुतशीलवृत्तविभवोदारान् गुरुन् सेवितुम् ।

यच्छास्त्राणि बहूनि भाग्यमभवन् प्राप्तुं प्रवक्तुं च मे

तत्स्मेमं परिणाममञ्जति विशिष्टाद्वैतसिद्ध्यात्मना ॥

अदूषि न द्वेषवशेन किञ्चि-

दनाजर्वेनामिहितं न किञ्चित् ।

अनुष्मता नीतिपथं यदुक्तं

तथाविधैरेव तदीक्षणीयम् ॥

निष्पद्यते स्म मधुसूदननिर्मितेन

नाद्वैतसिद्धिरुगणाऽपि निबन्धनेन ।

मोहस्य सर्वमितिमाननयव्यवस्था-

विज्ञोभगेन महतोऽज्ञनि किन्तु सिद्धिः ॥

उत्पद्यन्तां समन्तादुपनिषदुदितासीमभूमाभिराम-

ज्योतिश्चिन्तानुबन्धोद्भवनिरतिशयानन्दसान्द्रान्तरङ्गाः ।

अन्तःशत्रुप्रसूतव्यसनघनहृतालोकलोकोपकार-

स्फारोत्साहप्रवाहा जगति सुबहवो माननीया महान्तः ॥

स्वच्छस्फीतयशस्यहोबिलमठे पङ्क्तौ गुरुणां चतु-

श्चत्वारिंशपदेऽभिषेचनमहं सम्प्राप्य विभ्राजते ।

प्राज्ञः श्रीनिगमान्तदेशिकयतीशानः सतामाश्रय-

स्तस्याव्याजकृपाकटाक्षविषयो ग्रन्थं न्यबध्नादिमम् ॥

वस्वस्वनन्देन्दुविदेशवत्सरे

विलम्बिसिंहेऽवसितं निबन्धनम् ।

एतद्विशिष्टाद्वयसिद्धिनामकं

वृषाद्रिनाथाङ्घ्रिसरोजसङ्गिनः ॥

जयति निगमचूडादेशिकेन्द्रो यतीन्द्रो

जयति जयति च श्रीयामुनेयः सनाथः ।

पदकमलममीषां ध्यायता नित्यमेषा

जयतु भुवि विशिष्टाद्वैतसिद्धिनिबद्धा ॥

समुल्लसन्तीश्वरात्मसंविदसर्वार्थसिद्धयः ।

विशिष्टाद्वैतसिद्धिर्मे तासां भवतु पञ्चमी ॥

इति

मीमांसारणवस्य मीमांसाकेसरिणः पूर्वोत्तरतन्त्रप्रदीपस्य देशिकदर्शन-  
धुरन्धरस्य न्यायमीमांसाशिरोमणेः पण्डितराजस्य, श्रीशैलवंश-  
निन्दकः, दमीकुमारकोटिकन्यकादानश्रीदेशिकतातचार्यतन-  
यस्य नावल्लभकं - चतुर्वेद - शतक्रतु - श्रीश्रीनिवास-  
तातचार्यमहादेशिकचरणारविन्दचञ्चरीकस्य  
श्रीशैलताताचार्यस्य प्रोच्यविद्येश्वरस्य

कृतिषु

विशिष्टाद्वैतसिद्धिः ।

## अनुबन्धः ।

—:०:—

### “द्रविडात्रेयदर्शनम्”

१. अथ श्री पोलकं श्रीरामशास्त्रिणा बहु परिश्रम्य कृतस्य महतो धिमर्शस्य फलभूते उपरि निर्दिष्टनाम्नि निबन्धे अस्मद्गुरुपरम्परोपरि निश्शङ्कं साभिनिवेशं आरोपितानां दूषणानां आत्यन्तिकीं निरवकाशतां प्रतिपादयामः । अन्यच्च तत्तत् प्रासङ्गिकम् । पर्वणां सङ्ख्या तदनुसारिणी ।

२. द्रविडाचार्यैः संसाग्निनां जीवस्य मुक्तिप्राप्तौ व्याधकुलवर्धित-राजकुमारवृत्तान्तं निदर्शयामास । तमिमं श्रीशङ्करः अद्वैतानुगुणं प्रतिपादयति स्म । श्रीभाष्यकारः पुनः

यथा च कश्चिद् राजकुमारः बालक्रीडासक्तः नरेन्द्रभवनाभि-  
ष्क्रान्तः मार्गभ्रष्टः नष्ट इति राज्ञा विज्ञातः स्वयं चाज्ञात-  
पितृकः, केनचिद् द्विजवर्येण वर्धितः अधिगतवेदशास्त्रः षोडश-  
वर्षः सर्वकल्याणगुणाकरस्तिष्ठन्, ‘पिता ते सर्वलोकाधिप-  
तिस्त्वामेव नष्टं पुत्रं दिदृक्षुः पुरवरे तिष्ठति’ इति केनचिद्भि-  
युक्ततमेन प्रयुक्तं वाक्यं शृणोति चेत्, तदानीमेव ‘अहं  
तावज्जीवतः पुत्रः, मत्पिता च सर्वसम्पत्समृद्धः’ इति निरति-  
शयहर्षसम्पन्नो भवति । राजा च स्वपुत्रं जीवन्तं अरोगं  
अतिमनोहरदर्शनं विदितसकलवेद्यं श्रुत्वाऽवाप्तसमस्तपुरुषार्थो

भवति । पश्चात् तदुपादाने च प्रयतते । पश्चात् तावुभौ सङ्गच्छेते चेति ।

इति समन्वयाधिकरणान्ते भाषमाणः द्रविडाचार्यनिदर्शनमेतत् अद्वैतस्यात्यन्तं प्रतिकूलमिति व्यञ्जयामास । “स एवं बोधितः त्यक्त्वा व्याधजातिप्रत्ययकर्माणि पितृपैतामहीमात्मनः पदवीमनुवर्तते राजाऽहमस्मीति” इति निदर्शनापन्यासः शाङ्करः । अयमस्यार्थः । नाहं व्याध इति प्रतिबोधं प्राप्य राजपुत्रः तदवधि अनुवृत्तानि व्याधकर्माणि त्यजति । राजाऽहमस्मीति प्रतियत्नं पितृपैतामहीयमात्मनः पदवीमनुवर्तते । राज्यश्रियं प्राप्नोतीति यावत् । एवं नाहं संसारीति प्रतिपद्यमानः संसारिककर्माणि न त्यजति । यावद्देहात्तमाहारव्यवहारापरित्यागात् । अहं ब्रह्मैवास्मीति सप्रकारकज्ञानाद् ब्रह्मभावमपि न प्राप्नोति । अनिष्टं चाद्वैतिनां सप्रकारकज्ञानस्योपायत्वम् । निष्प्रकारकज्ञानस्य तु राजाऽहमस्मीति प्रत्ययो न निदर्शनम् । एवं प्रतिपद्यमानो राजपुत्रः यथा राज्यश्रियं प्राप्नोति तथाऽहं ब्रह्मास्मीति प्रतिपद्यमानः ब्रह्मभावं प्राप्नोतीति हि निदर्शनार्थः । न च राजत्वप्रतिपत्त्यनन्तरं तन्माहमप्राप्तिवद्ब्रह्मत्वप्रतिपत्त्यनन्तरं प्राप्यं किञ्चिदस्ति । अतो दृष्टान्तासामञ्जम्यम् ।

एतेनात्र ‘तत्त्वमस्यादिवाक्यमैक्यपरम् । तच्छेषः सृष्ट्यादिवाक्यम्’ इत्यानन्दगिरिवरणमप्यसङ्गतमिति स्पष्टम् । अहं राजेति प्रतिपत्तिमात्रे निदर्शनस्यापर्यवसानात् । व्याधत्वस्य राजपुत्रे आरोपितस्य निवृत्तावपि व्याधेषु व्याधत्ववत् आत्मनि आरोपितस्य देहत्वादेर्निवृत्तावपि देहादिषु देहत्वादेरनिवृत्त्या सृष्टिवाक्यानां स्वार्थपारमार्थ्योपपन्नमिध्यार्थत्वकल्पने प्रमाणाभावात् । तदिदं द्रविडाचार्योक्तं निदर्शनं नाद्वैतानुकूलम् ।

३. ‘द्रविडाऽपि च तत्त्वमसीति वचो विनिवर्तकमेव निरूपितवान् ! शबरेण विवर्धितराजशिशोर्निजजन्मविदुक्तिनिदर्शनतः ॥’

इति तोटकश्लोके द्रविडपदेन तदाचार्यशङ्करविवक्षैवेति अत्यन्तं युक्तम् । नात्र व्याख्यातुर्भ्रमः कल्पनीयः । अतिप्राचीने नैषधर्म्यसिद्धिग्रन्थे 'एवं गौडैर्द्राविडैः पूज्यैरर्थः प्रभाषितः' इति निस्सन्देहं शङ्करपरतया द्राविडपदप्रयोगाद्गुदीच्येषु तदन्तेवासिषु द्राविड इत्येव स पप्रथं तस्मिन् काल इति हि स्फुटमवगम्यते ।

४. उज्ज्वलाकारा हरदत्ताऽन्यो वाऽर्वाचीनऽद्वैती शाङ्करमेव पन्थानमनुसरतीति सहजसिद्धमेतत् । तेन प्रकृतविमर्शस्य न कश्चिदुपयोगः ।

५. ब्रह्मनन्दिकृतवाक्यग्रन्थः द्रविडाचार्यकृतस्तद्भाष्यग्रन्थश्च चिरान्नष्टौ ! आनन्दगिरिप्रभृतिभिरपि न दृष्टौ ! तत्र 'सिद्धन्तु निवर्तकत्वात्' इति कस्मिन् प्रकरणे केनाभिप्रायेणोक्तमिति स्वयं ज्ञातुमस्माकमशक्यम् । अद्वैतनस्तु अन्यैश्चान्येव सन्ति उगनिषदादिवाक्यानि हठादेव स्वाभिमतार्थे प्रमाणयन्तीनि सर्वविदितमेतत् । अन्य वाक्यस्यार्थं प्रति ते एककण्ठा अपि न भवन्ति । केचिद् ब्रह्मणि पदानां व्युत्पत्त्यभावशङ्कापरिहारपरं वदन्ति । अन्ये ब्रह्मणःऽऽभेद्यत्वकृत्वाप्रामाण्यानरासपगम् । इनरे तत्त्वमस्यादिशास्त्रप्रामाण्यप्रतिज्ञेयम् । एवमपि तु व्याख्यातुं शक्यमिदम् । ननु वेदान्तशास्त्रमप्रमाणम् । निष्प्रयोजनत्वात् । तत्त्वहितबोधद्वारा मोक्षलाभां हि तस्य परमं प्रयोजनम् । स मोक्षो यद्युपायेन साध्यः तर्हि स्वर्गवदान्त्यः स्यात् । अथ न साध्यः तर्हि तदुपायश्चेदकं शास्त्रं व्यर्थं सदप्रमाणम् । एवमाक्षेपे प्राप्ते आह सिद्धन्तु निवर्तकत्वादिति । सिद्धमेव शास्त्रप्रामाण्यम् । नैतदाक्षेपार्हमित्यर्थः । कस्मान् । निवर्तकत्वम् । शास्त्रबोधितो ह्युपायः न मोक्षमुत्पादयति, याग इव स्वर्गादिकम्, येनान्त्यः स्यात् । अपि तु प्रतिबन्धकं निवर्तयति केवलम् । ब्रह्मवदेव अपहृतपाप्मत्वादिगुणाष्टकसम्पन्नं हि जीवस्वरूपम् । तत्त कर्मणा तिरोहितम् । भक्तिशोकात्मकेन शास्त्रविहितेन निदिध्या-

सनेन भगवत्प्रसादद्वारा निवृत्तेऽस्मिन् प्रतिबन्धके स्वस्वरूपमाविर्भवति । तत्र कोऽनित्यत्वप्रसङ्गः । एवं प्रतिबन्धकनिवर्तकत्वान् वेदान्तशास्त्राहितस्योपायस्य मोक्षानित्यत्वप्रसङ्गविरहेण प्रयोजनवत्त्वेन च सिद्धं प्रमाण्यमिति । तस्मादिदं वाक्यं नाद्वैतपरम् ।

तथा च लघुसिद्धान्तारम्भे श्रीभाष्यं—यदुक्तमविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः । सा च ब्रह्मविज्ञानादेव भवति, इति, तदभ्युपगम्यते—इति ।

६. सिद्धान्तु निवर्तकत्वादित्येतन् इष्टासिद्ध्यादिग्रन्थान् दृष्टवानपि मधुमूदनसरस्वतो व्याकरणवाक्यकारवाक्यमिति विशिष्य यदाह तेन सः प्राचीनैरुक्तं तस्य ब्रह्मनन्दिवाक्यत्वं वस्तुतो नास्तीति निस्सन्देहमावेदयति । प्राञ्चो भ्रान्ता इत्येव तस्याध्यवसायः ।

७. आनन्दगिरिणा द्रमिडभाष्यस्य अल्पग्रन्थत्वज्ञापनात् द्रमिडभाष्यमतिसंक्षिप्तमिति श्रुतप्रकाशिकाकारोक्तिः द्रमिडभाष्यादर्शननिबन्धनेत्यवसीयते, इत्याह शास्त्री । ब्रह्मनन्दिवाक्यं द्रमिडाचार्योक्तित्वेन वदन् आनन्दगिरिः स्वस्य तदुभयग्रन्थादर्शित्वं प्रस्थापयति । तत्र आनन्दगिरेरविवेकतां वदन्नेव शास्त्री अत्र श्रुतप्रकाशिकाकारस्य तदुक्तिविरुद्धाभिधायित्वेन दोषं प्रसञ्जयन्मोदते । श्रु० प्र० विरुद्धत्वेन तदुक्तिरेवाप्रमाणं कुतो न भवति । शाङ्करद्वान्दोग्यभाष्ये 'विवरणमल्पग्रन्थमिदमारभ्यते' इत्यत्र अल्पग्रन्थमित्यनेन द्रमिडभाष्यव्यावृत्तिरिति को निर्बन्धः, येन तस्य विस्तृतत्वं वाच्यम् । अल्पग्रन्थमिदम्, न तु विस्तृततया श्रोतृणामायासोद्वेगकरम्, इति भावः किं न स्यात् । श्रुतप्रकाशिकायां च 'द्रमिडभाष्यकारादयो हि परपक्षप्रतिक्षेपाद्यनादरेण मत्सिंक्षिप्तान् ग्रन्थानरचयन् ।' इत्युक्तम् । तत्र यथासम्भवं संक्षिप्ता ग्रन्था ग्राह्या इत्यभिप्रायः । अत एव तत्त्वटीकायां "अत्र पूर्वाचार्या ब्रह्मनन्द्यादयः । तन्निबन्धनानामातसंक्षेपाद् गहनत्वं सूचयति—सञ्चिचिपुरिति" इति श्रीदेशिकः ।

८. छान्दोग्यभाष्ये शाङ्करे स्थलद्वये आचार्यग्रहणं द्रमिडाचार्य-परमिति निश्चायकं प्रमाणं नास्ति । अनवलोकिततद्ग्रन्थस्थानन्दगिरि-वेकत्र तथा विवरणं केवलमाचार्यपदश्रवणमात्रेणोत्प्रेक्षितत्वादविरवस-नीयम् । अत एव स द्वितीयस्थले एकदेशत्वेन आचार्यान् निर्दिशति ।

९. त्रिविधस्य जानश्रुतेः शूद्रेत्यामन्त्रणं उपपद्यन् भगवान् सूत्र-कारः 'शुगम्य तदनादरश्रवणान् तद्द्रवणान् मूच्यते हि ।' इत्याह । अत्र केचिदेवं विवरणमकुरुन् । स्वस्मिन्नादरश्रवणं उहंसवाक्यश्रवणान् अन्य जानश्रुतेः शुगुत्तना । तया सः रैकस्य सः श.न दुद्राव । इदं शोक-हेतुक्रमाद्रवणं सूच्यते रैकेण शूद्रेति त्रिविधमामन्त्रयता । शूद्रशब्देन यथं तत्सूचनमिति चेदुच्यते—तदाद्रवणान् । शुचा आद्रवर्तानि शूद्र इति हि प्रकृते शूद्रशब्दानिर्णयः । अतः प्रकृते तदाद्रवणान् शोकनिमित्तका-द्रवणवर्चिताद्धेतोः शूद्रपदेन तत्सूचन युक्तिरिति भावः । इति । एतदनुसारैव सूत्रभाष्ये शाङ्करं विवक्षितम् । अस्य क्लिष्टत्वात् श्रं भाष्ये विवरणमन्यथा । शुगम्येति सूत्रग्रन्थः शूद्रपदव्युत्पत्तिप्रदर्श-नपः । शुगम्य सञ्ज्ञानेन शूद्रः । शोचतीति शूद्र इति यावन् । एतेन "शूद्रेत्यस्य जानिशूद्रिति नार्थः । अस्मिन् शोकव्युत्पत्त्यर्थः", इति प्रति-पादितं भवति । जानश्रुतेः शोकवत्त्वं कथमिति चेन् तदुक्तं—तदनादर-श्रवणान् तदाद्रवणान् मूच्यते हीति । तदनादरश्रवणं शोककारणम् । तदैव रैकं प्रति आद्रवणं शोककार्यम् । ताभ्यां मूच्यति हि उपनिषन् ज्ञानश्रुतेः शोक उत्पन्न इति । इति ।

अत्र सूचयन् इति सूत्रोक्तसूचनकर्मत्वं प्राचां मने शुचा आद्रव-राम्य । शाङ्करमते शुच एव । "तामृषी रैक्यः शूद्रशब्देनानेन मूचया-म्बभूव" इति भाषणम् । शूद्रशब्दाद्यस्तु उभयत्र समानः शुचा आद्र-वणकारः । श्रीभाष्यमते शचित्त्वमेव केवलं तदर्थः । श्रुतप्रकाशिकायां एतत्समर्थनं कृतम् । इदं द्रमिडाचार्यव्युत्पत्तिमिति शास्त्रः भिद्यति ।



तन् तत्र आचार्यपदनिर्दिष्टो न द्रमिडाचार्य इति प्रदर्शितत्वादयुक्तम् । किञ्च “दंसवचनश्रवणान् शुगेनमाविवेश-तेनासौ शुचा आद्रवती”ति पदैः ‘शुगस्य तदनादरश्रवणान् तदाद्रवणान्’ इति सूत्रपदविवरण-त्मकैः अत एव तत्प्रत्यभिज्ञायकैश्च “पवंवादिन आचार्याः सूत्रव्याख्यातार एव केचिन् । न तु वाक्यव्याख्यातारो द्रमिडाचार्याः” इति सुबोधम् ।

शूद्रशब्दस्य जातवार्त्तत्वभ्रमं ननु कुर्वन् सूत्रकारः ‘शुगस्य’ इत्याह । अनेन प्रकृते तस्य शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं शोको, न जातिरिति प्रतिपादितं भवति । शुद्धमात्रापादानात् तन्मात्रं प्रवृत्तिनिमित्तं, न तेन सहान्यन् हिमपीत्यपि सिद्धयति । शब्दे ‘द्र’ इत्यस्य श्रवणान् द्रवणमपि वाक्येऽन्तर्भावनीयमिति परे मेनिरे । आद्रवणादिति पञ्चम्यन्तेन तस्य सूत्रैकत्वस्यैवात्तेः न वाचयान्तर्भाव इति भगवतः सूत्रकाश्याशयप्रतीतेः श्रीभाष्ये तदनादरगम । शैवभाष्यमपि श्रीभाष्यमेवानुरुन्धे । तत्र व्याख्याताऽपि “अतः शूद्रेत्यामन्त्रणं न रूढ्या । किन्तु शांभुत्वव्यगोने-वेत्यर्थः” इत्याह । अथास्मिन्नर्थे अयंशब्दः किं निरुक्तप्रक्रियया निष्पादनीयः उत औणादिकप्रक्रिययेति विमर्शं चरमं कल्पं वयमद्रियामहे । प्रथममन्ये ; तत्र द्रवणस्य वाचयान्तर्भावपक्षावलम्बनात् “शुचा दुद्रा-वेत्यावर्थेषु शूद्रशब्दस्य, रुजं द्रावयतीत्यर्थे रुद्रशब्दस्येव नैरुक्तप्रक्रियया निष्पात्तः” इति परिमलोक्तिर्युज्यते । “रुजं द्रावयतीत्यर्थे रुद्रशब्दस्येव शाचतीत्यर्थे शूद्रशब्दस्य नैरुक्तप्रक्रियया सिद्धः” इति तु पक्षान्तरावलम्बिशिवाकर्मणि, दिकोक्तिर्न युज्यते । पदे ‘द्र’ इत्यस्यानुपपादानात् । दृष्टान्तवेपथ्यात् । यत्तु औणादिकत्वं यागार्थो दुर्लभ इति तन्न । बाधश्च रूढ्यर्थसम्भवे यागार्थान्मेषस्याप्रतिबन्धात् । उणादप्रत्ययान्तानि प्रात-पदिकानि अत्रयुत्पन्नानीत्यस्य केवलरूढानि, योगार्थप्रतीतिं विनैव स्वार्थ-बोधकानीति तत्पर्यान् । अथ यदव्यवस्थितार्थयुक्तं योगार्थलभेऽपि रूढ्यर्थनिरासः कथमिति, तन् हरिशब्दस्य भगवद्वाचकत्वेऽपि इन्द्र-

वाचकत्वनिरासः कथमित्यवदुपहास्यम् । पदानां सकृदर्थव्यगमन-  
स्वाभाव्यान् । वाधात्परित्यक्तस्य धुनः प्रतीत्यन्तः शूद्रशब्दः रूढ्या  
जातिपरो वा, ऐदिकत्रत्वाविशेषिकारिपरनथा अर्थान्तरपरो वा इति  
हि संशयः । तत्र एकतरपक्षावधारणे पक्षान्तरानरासः स्वयं सिद्धयति ।

अथ यन् 'शदेरुच' इति सूत्रपाठमनङ्गीकृत्य ... 'शुचेदश्च' इति  
सूत्रान्तरपाठं कल्पयन्तः" इत्यादि, तत्र "शुचेदश्चेति । अस्य सूत्रस्य  
व्यातवृत्तं शूद्रशब्दव्युत्पादनावसरे उदाहृतत्वात् प्रक्षिप्तत्वं वदन्तो निरा-  
कृता इति वेदिनेभ्यम्" इति भावप्रकाशिकाग्रन्थोऽनुसन्धेयः । इदानी-  
न्नेषु मुद्रिनेषु सिद्धान्तकौमुदीपुस्तकेषु 'शदेरुच' इति सूत्रं न  
दृश्यते । दृश्यते तु 'शुचेदश्च' इति सूत्रम् ( २. २० )

साधुः शास्त्री निष्कपटं लिखति— "शूद्रशब्दस्य औणादिकप्रक्रियया  
निर्वाहोऽपि न रामानुजभाष्यश्रुतप्रकाशिकोक्तप्रकारेण कार्यः । किन्तु  
न्यायरक्षामणिशिवाकर्मणिदीपिकाद्युक्तरीत्या रक्प्रत्ययेऽनुवर्तमाने  
'शदेरुच' इति सूत्रेण 'शद्लु शातने' इति धातोः... निष्पन्नः शूद्रशब्द  
इत्यङ्गीकार्यम्" - इति । परग्रन्थोक्तत्वान् परिहायेम् । स्वग्रन्थोक्तत्वात्  
स्वीकार्यमित्ययमत्र सारांशः । इदन्तु नः खेदाय यच्छास्त्री आत्मनः  
प्रमादं न बुध्यते ! शोकार्थशूद्रशब्दनिष्पत्तिर्हि सम्प्रति विमृश्यते । तत्र  
"शाञ्चतीत्यर्थे शूद्रशब्दस्य व्युत्पत्तिर्व्याकरणप्रक्रियया न दृश्यते । नाप्यु-  
णादिप्रक्रियया । उणादिसूत्रे हि... 'शद्लु शातने' इति धातोः शूद्रशब्दो  
निष्पादितः" इति शातनार्थकधातुनिष्पन्नत्वादौणादिकस्य शूद्र-  
शब्दस्य, शोकार्थकः सः औणादिको दुर्लभ इति प्रकृतिविरुद्धतया  
शिवाकर्मणिदीपिकायामुपन्यस्तं प्रकारं अत्यन्तमादरणीयं प्रतिजानानः  
शास्त्री नूनं सर्वसम्भाव्यः ।

१०. व्याचक्षत इति स्थिते द्रविडाचार्या इति निर्णयः कथम् ।  
अन्ये व्याख्यातारो नैवासन्नित्यत्र किं मानम् । सम्प्रदायविदः आगम-

विद्ः इत्यादिगौरवोपपदविरहात् अन्य एव केचिद् व्याख्यातार इहाभि-  
प्रेता इति युक्तम् ।

११. अत्र 'सात्मीभावात्' इति युक्तः पाठः । सात्मीकरणमित्या-  
दिव्यवहारस्य साम्प्रदायिकत्वान् ।

१२. अत्रोपात्ते कल्पतरौ सम्यग्रग्रहणवतो भास्करस्य भ्रमकथनं,  
ब्रह्मनन्दिवाक्ये 'दध्यादिवन्' इति दृष्टान्तं परित्यज्य, 'परिणामस्तु'  
इत्येतावन्मात्रग्रहणं, तस्य मिथ्यापरिणामाभिप्रायत्वप्रतिज्ञानं चेति  
सर्वमिदं अत्यन्तमनुजु । 'संव्यवहारभात्रत्वात्' इति ब्रह्मनान्दिवाक्यस्य  
अनिवेचनीयत्वं नैवार्थः । अपि तु कार्यावस्थायां यद् भवति तस्य  
संव्यवहारमात्रत्वादित्यर्थः । यदेव कारणभूतं वस्तु तदेव अवस्थान्तर-  
विशिष्टं कर्तुं भवतीति असदनिष्ठाद्यवस्थास्य नावकाशः । पूर्वमभूतस्य  
अवस्थान्तस्योदयान्न प्रवृत्त्यानर्थक्यत्राण्यर्थः । अवस्थान्तरे किं  
भवतीति चेत् संव्यवहारो भवति । नामान्तरेणान्निधानं पूर्वं या  
असाध्या तादृशार्थक्रियाकरणं च । एवं संव्यवहारायावस्थान्तरमात्र-  
भजनान् वस्तु तदेवेति सत्कार्यवादसमर्थनमिह क्रियते । नानिर्वचनीय-  
त्वस्य आघ्राणमपि ।

१३. अत्रोदाहृतेन भास्करभाष्यग्रन्थेन अद्वैतमतस्य वास्तवं  
रूपं सुप्रकटितम् । "सूत्रकारः श्रुत्यनुभासां परिणामपक्षं सूत्रयाम्बभूव ।  
अथमेव छान्दाग्ये वाक्यकारवृत्तकाराभ्यां सम्प्रदायतः समाश्रितः ।  
तथा च वाक्यं—परिणामस्तु दध्यादिवन्, इति" इति वदता हि श्रुति  
सूत्रं सम्प्रदायः वाक्यं तद्भाष्यान्त्यस्य सर्वस्य न केवलमननुभाष्य  
अपि तु विरुद्धमिति अद्वैतस्य पताका अर्पिता । अथ किमद्वैतस्य मूल-  
मिति चेत् तदप्याह—

विगीतं विच्छिन्नमूलं महायानिकवौद्धगन्धिनं

मायावादं व्यावर्णयन्तो लोकान् व्यामांहर्यान्त ।

इति । वैदिकोऽपि मायावादोऽस्ति । सर्वेश्वराधिष्ठितत्रिगुणात्मक-  
प्रकृतिरूपमायामाश्रित्य हि प्रमाणाकाः जगदुत्पत्तिस्थितसंहारान् उप-  
धादयन्ति । अनस्तद्व्यावृत्तये माहायानिकर्षः द्वगान्धत्वविशेषणम् ।  
विगतं शिष्टगर्हितम् : विच्छिन्नमूलं न्यायवैशेषिकमोमांसाशास्त्रनि-  
ष्णातैः अःमूनान् छिन्नमित्यर्थः । व्यावर्णयन्तः विशेषेण वैदिकत्वेनैव,  
सर्वतः आभिनुरूपेण उपन्यस्यन्तः । लोकान् न काश्चिदेव जनान् । व्यामां-  
हयन्ति यथा बुद्धिमन्तोऽपि स्वल्पित तथा आभिनिवरन् मोहयन्ति,  
इति ।

इत्यत्र द्वैतसिद्धान्तोपालम्भतत्परं भास्करभाषित अम्मत्यकद्रूपणो-  
पये गि भवतीति मत्तोदाहृत्य इदमाह—

त्रयमूत्रव्याख्यानं वाक्यतद्बुध्यकारौ ब्रह्मनन्दद्रमिडाचार्यौ,  
इति रामनुजायैषु ष्यते । तन्नाम्नीति भास्करवाक्यादवगम्यते ।

‘‘द्वान्दोष्यं वाक्यवृत्तिकाराभ्यामिति हि स वदति । ताभ्यां  
मूत्रव्याख्याने स तत्रत्यमेव हि तत्रोपायमुदाहर्यम् ।

इति । तद्व्यवृत्तव्याख्यानं वा वाक्येति भगवद्रामानुजेन कपि नोक्तम् ।  
‘पूर्वाचार्यः सञ्ज्ञिचिपुः’ इत्येतावन्मात्रमुक्तम् । अनेन ब्रह्मसूत्राणि  
ताभ्यां व्याख्यातानां कथं लभ्यते । ब्रह्मसूत्रैः तदावया वंघादनवृत्त्या  
च न्यापितमर्थं नावर्भा स्वस्वग्रन्थे सञ्ज्ञिचिपुर्गत्वेव तत्राभिप्रायः ।  
‘द्रमिडभाष्यकारादयो हि पञ्चप्रान्तेषु भास्करेणानसिः प्रन ग्रन्थान्  
व्यरचयन् ।’ इति श्रु० प्र० ग्रन्थेन तत्प्रष्टम् । न हि व्याख्याने परपक्षा-  
नोद्देशः सम्भवो । ‘‘अत्र पूर्वाचार्या ब्रह्मनन्द्यादयः । तत्रिबन्धनः नामात-  
स्तेषां गहनत्व सूचयत—सञ्ज्ञिचिपुरित । सूत्रस्थापिनाक्षेपरैर्ग्रन्थै-  
रित्याशयः’’ इति तत्त्वटीक्या तत् स्पष्टनरोक्तम् । सूत्रस्थापिताक्षेपरैः  
न तु तद्व्याख्यानरूपैर्गति ह्युच्यते ।

पुनराह—वाचस्पतिकारौ निदिशन् भास्करः वंघायनं कुतो न

निर्दिशति । अनिर्देशः बोधायनवृत्तेः शशशृङ्गायमाणतां ज्ञापयतीति । मूलभूतानां सूत्राणां, अर्वाचीनयोः वाक्यवृत्तिग्रन्थयोः कण्ठतो निर्देशं कृत्वा सः तदुभयमध्यवर्तिनां बोधायनार्दग्रन्थानां 'सम्प्रदायतः' इति सामान्यतो निर्देशं कृतवानिति विभाव्यम् । अथवा अतिविस्तृतत्वान् सा कृतिरत्यन्तं दुर्लभा बभूव । अतस्तां भास्करो न ददर्शत्येवास्तु । ततः क्रि. भगवद्रामानुजो हि तां वृद्धानां मुखात् श्रुत्वा अन्विष्यान्विष्य सशिष्यः कृत्स्नं भारतमटित्वा अन्ते कश्मीरेषु एकं कोशमुपलभ्य सूत्राणां तात्त्विकमर्थं, ब्रह्मन्यादीनां बोधायनमतानुसंगितां च बुध्वा प्रजहर्ष । श्रीमद्भाष्यं च बभाषे । प्रत्यक्षदृष्टसकलप्रपञ्चापह्ववधाष्ट्यभाजां एकग्रन्थापह्ववसाहसं न विम्मयाचहम् ।

१४. पूर्वग्रन्थेषु सत्सु किमर्थं नवीनग्रन्थकरणप्रवृत्तिरिति शङ्कां वारयता भगवद्यामुनमुनिना 'यद्यपि' इत्युपक्रम्य तस्मिन् काले प्रचारवन्तो ग्रन्था निर्दिष्टाः । बोधायनवृत्तेः प्रचारलांघादनिर्देशः । तथाऽपि सम्प्रदायक्रमेण सा श्रूयमाणैवासीत् । अत एव तदुपलम्भे भगवद्रामानुजस्य महान् प्रयत्नः । "विवृतानि च तानि परिमितगम्भीरभाषिणा द्रमिडभाष्यकृता" इति आत्मसिद्धावृक्तिः ब्रह्मनान्दवाक्यस्य यद् द्रमिडभाष्यं तद्विषयैव । न तु ब्रह्मसूत्रभाष्यविषया । परिमितभाषत्वकथनेन द्रमिडभाष्यकीर्तनेन च प्रसिद्धद्रमिडभाष्यकारकृतविवरणस्यैव प्रतीतेः । कचिद् 'भाष्यकृता' इत्येव पाठः । तत्रापि वाक्यव्याख्यानानामत्र द्रमिडभाष्यमित्येवार्थः । भाष्यमिति तस्यैव पूर्वं प्रसिद्धेः 'सूत्रस्थापिताथपरैर्ग्रन्थैः' इति पूर्वादाहृततत्त्वटीकाश्रीसूक्त्या अत्रापि तात्पर्यस्यावगतिस्तत्त्वात् । आत्मसिद्धौ "विस्तृतानि च तानि गम्भीरन्यायसागरभाषिणा भगवता श्रीवत्साङ्गमिश्रेणापि" इति यदनन्तरवाक्यं तत्र पूर्ववाक्योक्तद्रमिडभाष्यव्याख्यानं नैवाभिप्रेतम् । वाक्यद्वयेऽपि तानीति ब्रह्मसूत्राण्येव हि परामृश्यन्ते । ब्रह्मसूत्रस्थापितार्थस्य सङ्क्षेपेण प्रातपादनपरो

द्रमिडभाष्यग्रन्थः, सूत्राणां विस्तरेण विवरणपरः श्रीवत्साङ्कग्रन्थः, इत्युच्यते आचार्यैः । अनयोः परस्परं मूलमूलिभावः नैवात्राभिप्रेतः, नैव प्रतीयते । लक्ष्मीपुत्र-श्रीनिवासाचार्योक्तिश्चिन्त्या ।

१५. अभिनवग्रन्थकरणे स्वप्रवृत्तिवैयर्थ्यपरिहाराय “यद्यपि सूत्रात्मको मूलग्रन्थोऽस्ति; संचेतरुचीनां तदनुरूपो द्रमिडभाष्यग्रन्थोऽस्ति; विस्तरापेक्षिणां तदनुरूपः श्रीवत्साङ्कग्रन्थोऽस्ति” इत्येवं भगवद्यामुनमुनिभावे आत्मसिद्धिवाक्येभ्यः निस्तन्देहं सुसष्टमवगम्यमाने ‘दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशने’ इत्यनेन न्यायेन अन्यथा प्रतिपद्यमानः शास्त्री, श्रीभाष्यकारप्रभृतयः सर्वे अस्मदाचार्या धूर्ता इति घोषणे संरम्भी कल्पनापरम्परां महतीं उद्भवति ।

यामुनाचार्योक्तं द्रमिडभाष्यं प्रसिद्धान् वाक्यव्याख्यानरूपाद् द्रमिडभाष्यादन्यन् । अस्य व्याख्यानं श्रीवत्साङ्कमिश्रकृतं विस्तृतं विवरण-क्षिति प्रथमा कल्पना । अस्य श्रीवत्साङ्कमिश्रस्य रामानुजप्रभृतिभिः क्रीतं वा गम्भीरन्यायसागरभाषिणेति यामुनकृतः पुरस्कारो वा न क्रियते । श्रीवत्साङ्के प्रयुक्तं भगवत्त्वविशेषणं एतैः स्वकल्पिते बाधायने प्रयुक्तम् । श्रीवत्साङ्कग्रन्थे उक्तं विस्तृतत्वं स्वकल्पित एव बाधायनवृत्ति-ग्रन्थे उक्तम् । इतीयं द्वितीया सावयवकल्पना । अनयोरांभनवद्रमिड-भाष्यकारश्रावत्साङ्कमिश्रयोः पौर्वापर्यं विपर्यस्य “विस्तारवृत्तिकारो भगवान् बाधायनः पूर्वमासीत् । ततः परं तदुक्तार्थसंचेयकारो द्रमिड-भाष्यकृद्भूदिति रामानुजादयः कल्पितवन्नः” इति परमाद्भुता अनन्य-वृत्तौद्भवाचरीभावार्हा तृतीया कल्पना । इत्थं वस्तुतः नवीनद्रमिडभाष्य-तद्विवरणश्रीवत्साङ्कग्रन्थमूलकत्वे स्थिते सङ्केतेनैव बाधायनमहर्षिटङ्क-द्रमिडाचार्यादिग्रन्थमूलकत्वं स्वसिद्धान्तस्य ऐककण्ठ्येन घोषयन्तीति स्वसिद्धान्तसिद्धिमिथ्याप्रपञ्चगोपुरस्वर्णकलशाचयमाना चरमा कल्पना ।

शिष्टसम्प्रदायबाह्योऽयं शास्त्री अस्मदाचार्याणां स्वरूपस्वभावादिकं

यथावद् ज्ञातुं नेष्ट इति साहजिकमेतत् । अतो वर्णाश्रमधर्मव्यवस्था सर्वा ब्राह्मणखलानां कुमृतिरिति घोषयन्तो द्राविडसङ्घिन इव यद्यमेवं वदति, तन्न गणनीयम् । आत्मसिद्धिश्रीसूक्तेः तात्त्विकार्थस्योक्तत्वात् कल्पना इमाः सर्वा ध्वस्ता एव । महर्षिर्वेधायनः स्वयमेव भगवत्स्व-विशेषणार्हः । नेतरस्थानापत्त्या ! भगवन्नामुनमुनेः प्रशिष्यः श्रीरामानुजः । तत्त्विकस्य औपनिषदार्थस्य तत्कटाक्षविशेषणैव स्वेनाविगतत्वं न तस्मिन् परमा भक्तिः श्रीरामानुजस्य ! अत एव तद्विषयमेव मङ्गलं श्रीमद्गीताभाष्यवेदार्थसङ्ग्रह-रूपक्रमे निबध्नाति । एवं आचार्यैर्कोटिप्रविष्टत्वात् स्वप्रवांशदेतुभूत-तत्प्रत्यकर्तृत्वाच्च तस्य पुरस्कारे कृते तत एव ततः प्राक्तनानामाचार्याणां ग्रन्थकाराणां च आराधितत्वान् तेषां विशिष्य पुरस्कारां न क्रियते ।

अस्मदाचार्याः सर्वे भगवन्नृणांभ्यां भजनरक्षिणः । तत्प्रीणनैरुपराः सत्यनिष्ठाः । 'पान्दोकममयथा' इत्यस्यां स्थितौ प्रान्निविताः । सत्यैस्सालम्बिभाष्यं यतिपतिकथितम्' इति श्रीदेशिकः । श्रीमद्रहस्यत्रयसारान्ते अस्योपदेशः

आस्तिक्यवान् निशितवृद्धिः नभ्यम्युः

सत्सन्प्रदायपरिशुद्धमनाः सदर्थाः ।

सङ्केतर्भानिरहितः स लृणेष्वसक्तः

सद्वर्तनीमनुविधास्यति शाश्वती नः ॥

इति । अन्यत्र 'अस्य ब्रह्मविदःसमः' इति च ।

१६. ब्रह्मनन्दिवःकथं आनन्दितं द्वान्दोग्यधिवरणतत्परम् । सूत्रार्थस्पर्शान्नत्र न मनागाप । द्रभिडभष्ये तु आपेक्षिकरुक्षेपवत्यपि सूत्रनिर्णीता अपि विपद्या विशदं न्दरूपयन्त । अतः श्रीयामुनाचार्यैः 'यन्नापि...इदमर्थान्यत्र सूत्राणि प्रणीतानि' इति सूत्रनिर्देशानन्तरं 'विबु-

तानि च तानि....द्रमिडभाष्यकृता' इति ब्रह्मनन्दिनं विहाय द्रमिड-  
भाष्यकृत्रिर्दिष्टः । अनेन ब्रह्मनन्दी विरुद्धमतावलम्बीति तस्मिन्ननादरो  
दर्शित इति न प्रत्येतव्यम् । द्रमिडभाष्यमूलकारत्वेन तदादरणीयत्वस्य  
सिद्धत्वात् । व्यासपूजायां ब्रह्मनन्दिनः परित्यागात् तस्यानद्वैतित्वं  
सिद्धम् । तर्हि सितासितग्रन्थकारकोटौ तस्य निवेशः कथमिति चेत्  
काऽनुपपत्तिः । सितग्रन्थकारः आचार्यटङ्कः । श्रीवत्साङ्करच । अन्ये  
असितग्रन्थकाराः । एवं प्रामाणिकार्थावबोधकानां अन्यादृशानां च  
विविधानां निबन्धनानां समं लोके प्रचारात् मृदुपज्ञाः सदसद्विचिन्ना-  
क्षमाः तत्त्वनिर्णयं प्रति वञ्चितबुद्धयो भवन्ति । न यथावत्प्रतिपद्यन्ते,  
अन्यथा च प्रतिपद्यन्ते । अतः आचार्यटङ्कद्रमिडाचार्यश्रीवत्साङ्कमिश्र-  
ग्रन्थप्रतिपाद्यार्थानुसारी श्रीमन्नाथमुनिप्रणीतन्यायतत्त्वसम्बन्धी प्रक-  
रणग्रन्थः प्रणीयत इति ह्यत्र भगवद्यामुनमुनिराह । आदरणीयत्वव्य-  
ञ्जनायैव हि टङ्कस्य विशेषणमाचार्येति । न हीदमुत्तरत्रान्वेति । असित-  
ग्रन्थकारेषु बहुमानतात्पर्यायागात् । श्रीवत्साङ्कबहुमानस्य पूर्वमेव प्रकाशि-  
तत्वेन केवलनाममात्रग्रहणात् । कालक्रमानुरोधेन निर्देशकरणात् श्री-  
वत्साङ्कस्य टङ्कानन्तरमकीर्तनात् । तदत्र दौर्जन्यप्रकाशनस्य अगुरप्य-  
वकाशो नास्तीति मन्तव्यम् ।

१७. श्रीवत्साङ्कौ न द्वौ । एक एव तु सः । इति वस्तुतत्त्वस्थितेः  
सितासितवाक्ये श्रीवत्साङ्कस्थाने श्रीकण्ठोत्प्रेक्षणाकाशचित्रं भवति ।

१८. शिवाकर्मणिदीपिकासहितश्रीकण्ठभाष्यप्रकाशकः हालास्यनाथ-  
शास्त्री शङ्कराचार्यादपि प्राचीनः श्रीकण्ठ इत्याह । अयं तु शास्त्री  
तदनिच्छन् "भास्करादपि प्राचीनः श्रीकण्ठः" इति वदन् आशामोद-  
केन वृष्यति । तत्र प्रमाणं दर्शयति—अन्तर उपपत्तोरित्यधिकरणे 'सुख-  
विशिष्टाभिधानादेव च' इति सूत्रविवरणावसरे भास्कराचार्यभाष्यम्—  
'अत्रावसरे अत एव तद्ब्रह्मेति सूत्रमन्ये पठन्ति।' इति । इदं सूत्रं



व्याख्यानावसरे “नन्वेधं दहरविद्यायाः परमेश्वर उपास्य इति निर्णयोऽ-  
नुपपन्नः । नारायणस्यैव तदुपास्यत्वान्” इत्युपक्रम्य “यद्वेदादौ” इति  
मन्त्रस्यायमर्थः ।...तदाद्यन्तयः प्रतिष्ठितः स्वरः ओङ्कारः । तस्य  
प्रकृतिरकारः ।...तस्मिन् स्वप्रकृतावकारे लीनस्य अकारता प्राप्स्य यः  
परो वाच्यः । इदम्परः तत्परः इत्यादौ वाच्ये परपदप्रयोगदर्शनात् ।  
स महेश्वरः । इत्थं सर्वशब्दजालप्रकृतिनया निखिलवाचकोत्कृष्टाकार-  
वाच्यस्य निखिलवाच्योत्कर्षो युक्त इत्यौचित्यमवलम्ब्य अकारवाच्यस्य  
सर्वेश्वरत्वप्रतिपादकोऽयं मन्त्रो नारायणपर एव पर्यवस्यति ।...तस्मा-  
दत्र परमेश्वरस्योपास्यत्वनणयो न युक्त इत्याशङ्कां मनसि निधाय उपक्र-  
मादिभिस्तथा निर्णयस्य युक्तत्वमुपपादयितुमुपक्रमते—अथ खल्विति ।”  
इति श्रीकण्ठेन मनसि निहिततयोक्तायाः शङ्काया विषयः साक्षाद् वेदा-  
र्थसङ्ग्रहतद्व्याख्यानयोः स्थितः ।

“वेदाद्यन्तरूपतया वेदबीजभूतप्रणवस्य प्रकृतिभूताकारवाच्य-  
तया महेश्वरत्वं प्रतिपाद्यदहरपुण्डरीकमध्यस्थाकाशवर्तितया  
उपास्यत्वमुक्तम् । अयमर्थः । सर्वस्य वेदजातस्य प्रकृतिः  
प्रणव उक्तः । प्रणवस्य च प्रकृतिरकारः । प्रणवविकारो वेदः  
स्वप्रकृतिभूते प्रणवे लीनः । प्रणवोऽप्यकारविकारभूतः स्वप्रकृता-  
वकारे लीनः । तस्य प्रणवप्रकृतिभूतस्य अकारस्य यः परः  
वाच्यः स एव महेश्वरः” इति । सर्ववाचकजातप्रकृतिभूताकार-  
वाच्यः सर्ववाच्यजातप्रकृतिभूतो नारायणो यः स महेश्वर  
इत्यर्थः ।

इति तत्रोक्तम् । तत्र विवरणम्—

इदम्परस्तत्पर इत्यादिषु परशब्दस्य वाच्यतार्थत्वादित्यर्थः  
इति । अथेदानीं आनन्दलहरीतद्व्याख्यानयोः का गतिरिति चेत् द्वे,  
अवस्थे, चित्तकालुष्यरहिता तद्धती च । पूर्वा मणिदीपिकारचनाकाले ।

उत्तरा अन्यलेखनकाल इति । अथवा तत्समाननामा अन्योऽयं क्षुद्रो-  
ऽप्ययः । अयमेव पक्षो युक्ततरः । न हि दीक्षितेन्द्रस्य “श्रीऋणैरेव  
आनन्दमयो ब्रह्मनत्प्रतिष्ठा रूप इति स पन्था दर्शितः” इत्येवं अत्यन्तम-  
पष्टु किञ्चिद्वाक्य भवेत् । किञ्च श्रीऋणैरेव ‘ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठंत्यत्र प्रथमं  
‘ब्रह्म प्रवः । तस्य परमेश्वरवाचकत्वात् तदाधारत्वम्’ इति स्वमत-  
मुक्तम् । ततः परं ‘परमा शक्तिः आनन्दमय इत्युच्यते । तद्धर्मित्वेन  
प्रतिष्ठेत्युच्यते परं ब्रह्म’ इति केषाञ्चिन्मतमुक्तम् । तदनन्तरं ‘आनन्द-  
मयः सदाशिवः । तस्यापि कारणं परमशिवाख्य ब्रह्म तत्प्रतिष्ठेत्युच्यते’  
इत्यन्येषां मतमुक्तम् । स्वोपजीव्येषु श्रीभाष्यादिग्रन्थेषु दृष्टां  
साणि परित्यज्य तत्र तत्र स्वतन्त्रं किञ्चिद्भक्तुं श्रीऋणैरेव ईहते । तादृशेषु  
स्थलेषु इदमेवम् । आनन्दमयोऽपि ब्रह्म, पुच्छमपि ब्रह्मति श्रीभाष्यसि-  
द्धान्तं श्रीऋणैरेव नेच्छति । इदमजानन् श्रीऋणैरेवार्थं यथावद्गृह्यन् अयं  
ज्योःस्थाता तत्रभवान् अप्ययदीक्षितः कथं भवेत् । प्राज्ञप्रभः गा वाऽयम् ।

२१. राभानुजांदाभिः श्रीऋणैरेवार्थनामाग्रहणे बीजमन्विष्यन्  
स्वप्रकृत्यनुरूपं किमपि किमप्याह । अप्ययदीक्षितनामाग्रहणे यद् बीजं  
तदेव तत्रापि बीजमिति ऋजुमतानां सुबोधम् ।

२२. सिद्धित्रयदिप्पणांशुगशयनाक्षिपन् ‘तत् स्वसम्प्रदायबोधाय-  
नोपज्ञत्वब्रह्मन्मूलाभिनिवेशवशात्कृतचेतस्कृत्वप्रयुक्तम्’ इत्याह ।

पश्यात् परेषु दाषानसतांऽपि जनः सतांऽपि नैव गुणान् ।

विपरातामिदं स्वास्मिन् माहमा मोहाञ्जनस्यैषः ॥

इतिवत क्रियद्रमणीयं सुभाषितमभाषि आचार्यचरणैः । बोधायनोप-  
ज्ञत्वापह्वयश्रद्धान्मूलाभिनिवेशवशात्कृतचेतस्कृत्वप्रयुक्तं स्वजल्पितं सर्व-  
मिति कुतः प्रमाणाङ्कैः स्वात्मा न शिद्यते । स्वमतग्रन्थेषु कीर्तितत्वात्  
ब्रह्मनन्दिद्रमिदभाष्यकारौ तदपन्थौ च परमार्थत आसन्नत्यङ्गीकृत्य ते  
वामद्वैतनिष्ठं साङ्गन्ते । बोधायनोऽपि तथा कीर्तितश्चेत् तत्रापि

थैवतं ब्रूयुः । तदभावात् स्वरूपमेवापलपाम इति संरभन्ते ।

यामुनाचार्यः कुनो न भाष्यं चकारेति पृच्छति शास्त्री । गौडगदां गोविन्दपादो वा कुनो न चकारेति पृष्ठो यदुत्तरं दास्यति तत्प्रकृतेऽय-  
नुसन्धेयमिति ब्रमः । विमर्शः कथं कार्यः । तत्त्वोपलम्भमार्गः क इत्यादौ  
जात्यन्धः शास्त्री ।

‘यद्ग्रन्थाननुसन्धेयति पतिः’ इत्यादिदेशिकश्रीमृत्कीरेव प्रमाण-  
यन् “रामानुजार्यः स्वीयसम्प्रदायं यामुनेयप्रबन्धमुखेनैव जग्राह” इत्य-  
ङ्कृतं निर्णयं करोति । स्वसिद्धान्तपरमप्रमाणभूतश्रीभाष्यप्रणेतुः सप्रत्या-  
स्वेन स्तूयमानस्य रामानुजस्य आचार्यसम्बन्धात्यन्ताभावं स्वयं देशिको  
घोषयतीति यस्य बुद्धौ प्रतिभानं भवति तस्य अस्मत्सम्प्रदायसम्बन्धि-  
विषयचिन्तायां वा सामान्यतो विषयविमर्शो वा क्रियती योग्यतेति सुग्रहं  
सर्वेषाम् । ‘वयमस्मिन् शारीरकमीमांसाशास्त्रे प्रदर्शयिष्यामः’ इति  
प्रतिजानानः शङ्करः “पूर्वैर्न प्रदर्शितः सांऽर्थः । नाहं गुरुमुखात् इममर्थं  
गृहीतवान्” इति ख्यापयति । ‘प्रतैराचार्यरत्नैरपि पारजगृहे शङ्कराद्यैस्त-  
देव” इति दीक्षितोक्त्या अद्वैतमार्गस्य प्रथमप्रवर्तकः शङ्कर एवेति  
स्पष्टमभिधानात् अयं गुरुमुखात् किमपि न जग्राहेति सिद्धयति । “एवं  
गौडैर्द्राविडैर्नः पूज्यैर्गर्भैः प्रभाषितः” इति नैऋत्यसिद्ध्युक्त्या गौडशङ्क-  
रयोर्मध्ये यः कोऽपि नासीदिति निश्चीयते ।

अनुपदं विचित्रतरं भाषते शास्त्री—अत एव रामानुजार्थेण स्वग्र-  
न्थेषु स्वीयसाक्षाद्गुरुणां पञ्चषाणां मध्ये केषांचिदपि वन्दनं न कृतम्—  
इति । ननु यो गुरुमुखात् सम्प्रदायार्थं न जग्राह तस्य स्वीयाः सप्र-  
दाद्गुरवः पञ्चषाः कथम् । किमिमे भोजने शिन्नाप्रदाः । श्रीदेशिकादि-  
भिरेव साक्षाद्गुरवः पञ्चषा आसन्नित्युक्तमिति चेत् तर्हि एवं कण्ठोक्तौ  
सत्यां यामुनग्रन्थानुसन्धानादिकथनमत्रेण साक्षाद्गुरुमुखात् सम्प्र-  
दायार्थग्रहणाभावानुमानं कथं युज्यते । पञ्चषाणां सत्त्वात् तत्रैकस्य

वन्दनामतरातगृहारे पर्यवेस्येदिनि विभ्यन् स्वस्मिन् कटाक्षविशेषं  
 कृतवतः प्राचार्यस्य वन्दनेन सर्वे ते तुष्येयुरात मन्वाश्च न तेषु  
 कस्यापि वन्दनमकरोदात् वस्तुस्थित्यवगमे किं महान् क्लेशोऽस्ति ।  
 द्वेषाभिनिवेशां तपस्विनं विभ्रमयतः । शङ्करेण स्वगुरुवन्दनानिवन्धनात्  
 तस्यापि समानः गुरुमुखाद् वेद नानार्थवद्वानावसङ्ग इति बोद्धमेनं  
 न मुञ्चतः ।

२३. विस्तृतानि च तानीति श्रीवत्साङ्कप्रन्थं प्रचारे तदा वर्तमानं  
 निर्दिशन् गम्भीरन्यायसगरभाषिणेत्यनेन तस्य स्वावलोकित्वं स्फुटी-  
 कुर्वन् भगवद्यामुनमुनिः तन्नामनिर्देशपूर्वकं तदुक्तीनामनुदाहरणेन  
 अनवलोकिततदप्रन्थ इति कथमनुमीयेत । न हि दृष्टं सर्वं तथा उदा-  
 हर्तव्यमित्यनुमत्तः कश्चिद्भवेत् । विश्वतोमुखानां सूत्राणां समञ्जसानि  
 सिद्धान्तानुगुणान्यर्थान्तराणि स्वयमेव यदि वदन्ति तत्र न कापि  
 चान्यता । यत्र शङ्करेण आनन्दमयत्रह्मवादस्य, 'अविन्न भेदनिर्दे-  
 शात्' इत्युक्तस्य आधिक्यस्य, गुणं प्रविष्टावात्मनावित्युक्तस्यात्म-  
 भेदस्य, कार्याधिकरणपूर्वोत्तगपक्षक्रमस्य, अचिरादिर्गतप्राप्तमुख्य-  
 मन्त्रस्य च सूत्रैः सम्यगवगम्यमानस्य विपर्यासेन जण्डानामकेन स्वोत्प्रे-  
 क्षितार्थोऽन्यः कश्चित् वर्ण्यते तत्र हि पूर्वाचार्यसूक्तयः प्रमाणतयाऽवश्य  
 मुदाहर्तव्याः । न तत्र वाक्यभाष्यवचनं वृत्त्यन्तरवचनं वा किञ्चिदु-  
 दाहृतम् । "विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः" इति सूत्रपक्ष्या पाञ्चरात्र-  
 प्रामाण्यस्य सूत्रकाराभिमतत्वे प्रमाणान्तरं किमपेक्षितमिति चाभि-  
 प्राणः । वाकारः पूर्वपक्षनिवर्तकः श्रूयते । पूर्वाधिकरणेषु तत्प्रामाण्ये  
 प्रतिषेद्धे अत्र 'तदप्रतिषेधः' इति असन्दिग्धसुस्पष्टार्थैरुक्तैः पाञ्चरात्र-  
 प्रामाण्याप्रतिषेधं सिद्धान्तर्याति भगवान् सूत्रकारः । तत्र हेतुमाह 'विज्ञाना-  
 नादिभावे' इति । 'सङ्कर्षो नाम जीवो जायते' इत्यादौ भगवन्  
 एव अवनारूपजन्माभिधानात् जीवोत्पत्तिर्वा ततः करणोत्पत्तिर्वा

नैवोचते । न परमेवं जावोत्तत्त्यनभिधानम् । उत्पत्तिप्रतिषेधोऽप्यस्ति । अतो न वं विराधो मनागप्यस्तीति हेत्वन्तरं 'वि-प्रतिषेधाच्च' इति सूत्रान्तरेणाक्तम् । अयं सूत्रार्थो युक्तो न वा, समञ्जसो न वा । अप्रामाण्यवादाभिन्नच्यमानोऽर्थः एवं स्वारासिकः समञ्जसश्च किं भवति, इति प्रामाणिकत्वमात्मन इच्छद्भिः स्वहृदयमवच्छ्रयद्भिः पर्यायेन वनीयम् । सूत्राननुगुणं वपरीताथर्वणनपरैस्तु पूर्वाचार्यग्रन्थादाहरणमवश्यं कर्तव्यम् । न च पाञ्चरात्राप्रामाण्यं प्रतिपादयन् वाक्यं वा भष्यं वा शङ्करेणान्येन वा हिञ्चिदुदाह्रियते । सूत्राणां स्पष्टसमञ्जसाथर्वणनपरैः पुनः अन्यग्रन्थादाहरणं नातीव आदत्तव्यम् । तेषामेव स्वयं पुष्कलप्रमादत्वात् ।

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः इत्यस्मिन् सूत्रे तदप्रतिषेध इत्यस्य उत्पत्त्यसम्भवस्याप्रतिषेध इति शाङ्करं त्रिवरणं पाञ्चरात्रप्रक्रियानवगममूलमनुपपन्नम् । एकस्यैव हि षाड्गुण्यसम्पन्नस्य ईश्वरस्य पञ्चसङ्घविज्ञानानाशरीरपरिग्रहरूपा उत्पत्तिरुपपद्यते एव । वासुदेवविग्रहाद् विलक्षणः सङ्घर्षविग्रह उत्पद्यते । तस्य च कार्यावशेषः ईश्वरसङ्घर्षाभिनयतः । एवं प्रद्युम्नविग्रहस्य सङ्घर्षविग्रहात् तस्माच्च अनिरुद्धविग्रहस्य विलक्षणस्य विलक्षणकार्यव्यवस्थावतश्च उत्पत्तिरिति पाञ्चरात्रे प्रातिपाद्यते । अत्र कानुऽपपत्तिः : तस्मादुत्पत्त्यसम्भवस्याप्रतिषेधा दुबन्धः । प्रतिषेध्य एव सः । प्रतिषिद्धश्च । अतः तत्प्रामाण्याप्रतिषेध इत्येव सूत्रार्थः । एवं 'विप्रातिषेधाच्च' इत्यनन्तरसूत्रस्यापि शाङ्कराक्तोऽर्थोऽनुपपन्न इति स्पष्टं श्रुतप्रकारिकायाम् ।

२४. "तदेतत् यामुनाचार्यैरागमप्रामाण्ये सम्भावितसमस्तपूर्वपक्षनिराकरणेन प्रपञ्चितम् । तदनुसारेणैव भाष्यकारैः श्रीपञ्चरात्राधिकरणं व्याख्यातम्" इति न्यायपरिशुद्धौ श्रांदेशिकचरणाः । अत्राह शास्त्री—  
"एवं वदन् वेङ्कटनाथः भाष्यकारेणापि बोधायनवृत्त्यनुसारेण पाञ्चरात्रा-

धिकरणं न षगृह्यतं इति सूचयति” इति । वाक्येभ्यः भावमवगन्तुं न सर्वः शक्तः । आप तु वाक्यन्यायव्युत्पत्तिः अथस्वभाववत्स्वभाव-परिज्ञानं च यस्यास्ति म एव । अत्र ‘तदनुसारेणैव’ इत्येवकारेण किं व्यवच्छिन्नमिति प्रथमतः श्रोत्रं चिन्तनीयम् । द्वेषा ह्यत्र भाति । तस्यानुसारेण नान्यस्येति, तस्यानुसारेण न त्वन्नुभरेणेति च । अत्र अद्यै पक्षे अन्यस्य शङ्करादेरित्यथः सङ्गनः । अप्रामाण्यवादिनः परे । तैरुद्धाविता ये दोषाः, मन्माचिन्ताश्च ये, तेषां सर्वेषां परिहारेण प्रामाण्यं यानुनाचार्यैः प्रोच्यते । तेषामनुसारेण नान्येषामनुसारेणेति हि पूर्ववाक्यपर्यालोचनया स्वरसतं ऽर्थः प्रतीयते । अतोऽप्रामाण्यवादिनां शङ्करादानामत्र व्यवच्छेदः । शङ्करादिपक्षप्रतिक्षेपेण हि श्रीभाष्यप्रवृत्तिः । तदनुसारेणैवेत्यत्र तच्छब्देन आगमप्रामाण्यग्रन्थपरिग्रहे शङ्करादिभावव्यवच्छेदः एवकारेण । एवं वाक्यन्याय उक्तः । अथास्वभाव उच्यते । “ताञ्जगत्राधि हरणं भाष्यारैः सिद्धान्तम्” । कथं व्याख्यातम् ? पञ्चमप्रामाण्यस्यापनपरतया । एवं प्रामाण्यस्यापनपरतया व्याख्यानावषयेऽनुसारेण तदनुकृत्यामुनाचार्यैर्नकतयोक्ते तदवधारणायैव व्यवच्छेदः प्रातकूतविषय एव भवतुमहति, नानुकूतविषयः । ‘तदनुसारेण सूत्राकारेण व्याख्यास्यते’ इति श्रीभाष्यकारा बोधायनमतानुसृतित्वं स्वस्य प्रतजानानाः स्वानुकूलत्वं तस्य प्रकृत्यन्ति । इदं ज्ञानन्नः श्रीदेशिकचरणाः भाष्यकृतां बाधायनानुसूत्रित्वं व्यवच्छेदन्तीत्येतन् कावेरी सहाद्रेरेवोत्पद्यत इत्यत्र कावेरी प्रवाहस्य पर्वतस्य पतीवित्वं व्यवच्छेदन्तीतिवदुपहास्यम् ।

अथ वत्स्वभावः । अदेऽथस्य भगवद्रामानुजे कियती भक्तिः, श्रीमद्भाष्ये तं प्रातःस्थापने सिद्धान्ते च कियती श्रद्धा, विद्या-ादरः इति एवमिदं सर्वं वदितम् । स किं भाष्योक्तस्य बाधायनवृत्तमूलकत्वात्प्रतिपत्तिं कुर्वन् सम्प्रदायस्य मूलच्छेदं कुर्यादिति बुद्धिमन्तः

पर्यालोचयेदुः । न हि शुक्रमहर्षिः पगशरस्य वलिष्ठसम्बन्ध प्रतिषेध-  
तीति सम्भाव्यते । एव तस्यानुसारेण. नान्यम्येति व्यवच्छेदपक्षे िसू-  
क्त्यभिप्रायो विवृतः । अथ अनुसारेण, न त्वननुसारेणेति द्वितीयपक्षे  
अननुसारेणव्यवच्छेदः क्रियत इति स्पष्टम् । इदं च अप्रामा यपक्षयुक्त-  
तन्निराकरणप्रतिस्तरापरिभगगमप्रामाण्यं सेवनीयमित्याभेदो-  
क्तम् । 'सम्भावितसमस्तपूवपक्षनिराकरणेन' इत्युक्त्या तद्व्यञ्जितम् ।

श्रीसूक्तो ऽ विररीतान् अथान् वदन् शास्त्री तदवगाहनानधिकारि-  
तामात्मन आविष्टहोति ।

२५. पाञ्चरात्रप्रामाण्यं भास्करभाष्येऽपि समर्थितम् । अतस्तदेव  
साम्प्रदायिकम् । त. प्रामाण्यवादिनो न सम्प्रदायानुगोचिनः, इत्याह ।  
शाङ्करमद्वैतसाम्प्रदायिकम्, स्वकपालकल्पितमित्येतिरूपणमात्रे संर-  
भमाणो भस्करः तदुपयोगविषयेषु केवलं खण्डनमण्डनं कृत्वा अन्यत्र  
शाङ्करमेवान्वसत् । न हि पाञ्चरात्रप्रामाण्यं प्रामाण्यं वा तत्रोपयुज्यते ।  
अतस्तत्र तस्यानादरः । सूत्रकाराशयोपलम्भप्रवणैस्तु भगवद्यामुनाचार्य-  
प्रभृतिभिः प्रत्यधिहरणं प्रतिसूत्रं सावधानं विधित्व्य तस्या उपलभ्यते  
निरूप्यते च । तेन परेषामनूया यदि भवति तत्र तेषां कोऽसराधः ?  
मीमांसान्यायकोशधारः पाञ्चरात्रप्रामाण्यवादी । सः वाक्यभाष्यदर्शी  
तद्भक्तश्च ! अतः प्राचां पाञ्चरात्रप्रामाण्यमेवेष्टमिति निश्चीयते ।

२६. "नन्वत्र भवतां भाष्यकागणां विरुद्धांशाप्रामाण्याभिधानं  
कथमिव" इत्यागमप्रामाण्यवाक्यात् स्वोपजीव्यप्राक्तननाप्यग्रन्थेऽपि  
पाञ्चरात्रप्रामाण्यमेव साधितमिति गम्यते । तद्विरुद्धं प्रामाण्यम्यग्र-  
यामुनाचार्यदीनामित्याह । अत्राप्यव्युत्पत्तिर्भाष्येशातिशयं च प्रका-  
शयति । नान्यन् किमपि । भगवद्यामुनमुनयो हि इत्यागमप्रामाण्य-  
अनुपदं

यद्यपि विरोधः कृत्वाचिन्तया परिहृतः. तथाऽपि गम्भीरन्याय

सागरमत्रगाढुमपरिवृढानां कोमलमनसां वेदानादगो मा भूदि-  
त्येवंपगम् । यथैव हि भगवतो जैमिनेः कर्मणः फलापन्यासः  
कर्मश्रद्धासंवर्धनः च”

इति समादर्धत स्म । न भाष्यकाराः कृत्स्नस्य पाञ्चरात्रस्याप्रामाण्य-  
मनाचन । अपि तु विरुद्धारो । तदपि कचिदंशे विरोधोऽस्तोति कृत्वा ।  
वस्तुतो विरोधो नास्त्येव कचिदपि, इत्येव तेषां मतिः । किमर्थमेवं  
कृत्वा विन्तनर्मानं चेत् वेदेषु मृदुर्धायां अनादानुत्पादायेति जैमिनि-  
कृतकर्मफलोपन्यासपूर्वकं भाष्याविरोधं समर्थयन्ते परमगुरुः । अत्रैवं  
समर्थनमपि ‘विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः’ इति अत्यन्तासिद्धिधा-  
तिस्वप्यर्थसूत्रावष्टम्भात् । सूत्रविरोधे हि अन्येषामुक्त्यस्तदनुगुण-  
तया योजनीयाः । तथा योजयितुमशक्या निरसनीयाः । परमतनिराकर-  
णप्रकरणात् पाञ्चरात्रप्रामाण्यमपि परमतं, न सूत्रकारस्य स्वमतामति  
बहवां भ्रान्ताः । पूर्वत्र सर्वत्र प्रामाण्यं परमतं, अप्रामाण्यं स्वमतम् ।  
अन्तिमे उत्पत्त्यसम्भवाधिकरणे तु अप्रामाण्यं परमतं, प्रामाण्यं स्वम-  
तम् । प्रथमे हि स्मृत्यधिकरणे “स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेत्”  
इति प्रामाण्यं पूर्वपक्षीकृत्य नान्यस्मृतीत्यादिना अप्रामाण्यं सिद्धान्त-  
यित्वा इममेव क्रममुत्तराधिकरणेषु अनुवर्तमानं सूचयित्वा चरमेऽधिक-  
रणे प्रकरणापस्थित्य अप्रामाण्ये ‘उत्पत्त्यसम्भवत्’ ‘न च कर्तुः करणम्’  
इति हेतुद्वयमुक्त्वा ‘विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः’ ‘विप्रतिषेधाच्च’ इति  
तु प्रिरालपरं सूत्रद्वयं भणयन् अप्रामाण्यस्य पूर्वपक्षत्वं अत एव परमतत्वं,  
प्रामाण्यस्य सिद्धान्तत्वं अत एव स्वमतत्वं च संशयस्य अल्पमप्यास्पदं  
विना स्फुटीकरोति । इत्थं सुप्रवलयति श्रुत्या अर्थे प्रमीयमाणे दुर्बलेन  
प्रकरणेन विरतीतमर्थं वदन्तः अप्रामाण्यिकाश्चेत् निरस्यन्ते । प्रामाण्य-  
काश्चेत् सूत्रकारसमानाभिप्रायतया नीयन्ते । पूर्वकाण्डे भेदानरूपणपरि-  
द्वितायेऽप्याये चरमं शाखान्तराधिकरणं अभेदानरूपणपरम् । उत्सर्गा-



पवादाभ्यां भेदनिरूपणस्य विकीर्षितत्वान्नासङ्गतिरिति वदन्ति । तथाऽत्र सुवचम् । अप्रामाण्यरूपानं पादार्थः । तत्र प्रामाण्यनिरूपणमपवाद इति । परन्तु परपक्षप्रतिपक्षेऽप्यैवेह पादार्थत्वात् सर्वेऽधिकरणेषु स स्थित इति न मात्रयाऽप्यम्बरभ्यं किञ्चिदस्ति ।

२७. मीमांसावृत्तिकारः उपवर्षः अद्वैतीति मनोरथं कुर्वन्ति । शरीरातिरक्तात्मसाधनपरतया वक्षिते 'एक आत्मनः शररं भावत्' इत्यधिकरणे उपवर्षः सूत्रभाष्ये कीर्तितः । तावन्ना किं संऽद्वैतीति सिध्यति । शास्त्रतात्पर्यविद इति शबरं निर्दिशति शङ्करः । किं तेन शबरंऽद्वैती ? उपनिषद्ब्रह्मसूत्रधर्मशास्त्रेनिहासपुराणप्रत्यक्षानुमानादि-सर्वप्रना विरुद्धमद्वैतमिति घण्टाघुष्टम् । अहमप्रत्ययविषयविज्ञानव्यतिरिक्तनदाश्रयनित्यनानात्मवादी उपवर्ष इति शबरं तन्मनिरूपणद्वयगम्यते । अतः स नाद्वैतीति निश्चितमेतत् । अत्र उमाश्वेश्वरशास्त्रिणा तत्त्वचन्द्रिकायामुक्तमनुवदति शास्त्री । तत्र 'भगवद्वांघायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः सञ्चिच्छिपुः । तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते' इति स्वयं वांघायनवृत्त्यनुसृतिव्य श्रीभाष्यकृतो यद् वदन्ति तद्दूषणप्रवृत्तः सः प्रथमं श्राभाष्यकृतंऽनाप्रत्वाद-श्रद्धेयं नदित्याह । प्रमाणं विना प्रतिपक्षवगन्विषु अनाप्रत्वोक्तिः नीचप्रकृतितां दर्शयन्ती वक्तारं वादेष्वनधिकारिणं कर्णाति । अथ वांघायनवृत्तिरद्वैतविरुद्धा चेन् अद्वैतग्रन्थकाराः तां कुतो न खण्डयन्ति । भास्करभाष्यादिकं हि खण्डयन्ति, इत्याह । शङ्कराचार्यः खण्डयत्येव ताम् । अर्वाचानास्तु न तदर्शिनः । अतो न खण्डयन्ति । द्वैतपरत्वेऽपि मन्त्रीदिस्मृतिशानविरुद्धा साऽनुपादेयेत्याह । स वादिस्मृतिशतविरोधां न द्वैतस्य अपितु अद्वैतम्येति परेषामेव स्वहृदयसान्निध्यम् । सङ्केतमात्रात् अविरोधं वदन्तो वर्तन्ते । सूत्रभाष्यस्य सूत्रवांघायनवृत्त्यां विरुद्धता तत्खण्डनपरता च श्रीभाष्यादिषु स्पष्टमेव प्रदर्शिता ।

बोधायनग्रन्थस्य विशिष्टाद्वैतपरत्वं श्रीभाष्ये कण्ठन उक्तं अविश्व-  
सनीयं प्रतिज्ञाय स्वयन्नाह—“उपवर्षेण भगवता वृत्तिकृता सूत्राण्य-  
द्वैतपरतया व्याख्यातानि” इति । यदि श्रीशङ्कर एव एवमवदयत्  
तदाऽपि तत्रचन्द्रिकाकारानुसारेण तं प्रति “तव चानामत्वात् । त्वदी-  
यवचनमात्रेण उपवर्षवृत्तेः द्वैतपरत्वस्य निश्चेतुमशक्यत्वं” इत्यस्माभि-  
र्वक्तव्यमभविष्यत् । स तु न तथोक्तवान् । भगवद्रामानुजापेक्षया आत्मा-  
नमाप्रतरं लोका प्रदीष्यन्तीति मन्यत इव तत्रचन्द्रिकाकारः । सूत्र-  
भाष्ये ‘भगवता उपवर्षेण’ इति सविशेषणनामनिर्देशमात्रेण तस्य कृतेर-  
द्वैतपरत्वं प्रतिज्ञायते । तच्चानुपपन्नामत्यवोचाम । उपवर्षेण शारीरके  
यदुक्तं तदेव शबरस्वामिना पूर्वतन्त्रे अभिहितामिति श्रीशङ्कर आह—  
इत एव चाकृष्य आचार्येण शबरस्वामिना प्रमाणलक्षणे वणितम्—  
इति । तत्र च शबरस्वामी आत्मनः अहमप्रत्ययविषयत्वं अहमप्रत्ययस्य  
अव्यामोहत्वं आत्मनो विज्ञानातिरक्तत्वं विज्ञानधर्मित्वमित्यादि  
वदति । न चोपवर्षम्याद्वैतत्वे इदं सर्वं सङ्गच्छते । शबरदाया वेदविदो  
यथा नाद्वैतिनः तथैव तेषां पूज्यतम उपवर्षोऽपि नाद्वैती ।

बोधायनवृत्तिखण्डनं शङ्करेण क्रियमाणं पश्यन्नेव श्रीरामशास्त्री  
बोधायननामग्रहणाभावात् अदूषितत्वं प्रतिज्ञाय क्रुणुपदमाह—

यत् श्रुत्प्रकाशिकाकारस्य कल्पनं ‘रेषामार्षव्याख्यानाति-  
ल-  
ङ्घित्वं ‘उपासात्रैविध्यात्’ ‘सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्’ इत्यादिषु  
स्पष्टतरमिति तत् कुलटायः पतिव्रतःयां दीपागोपमनुक्रोतः ।  
इति ! का कुलटा का पतिव्रतेति नूनं न जानाति शास्त्रां । उप.सात्रैविध्या-  
दित्यत्र भामती—

तदेवं स्वमनेन व्याख्याय प्राचां वृत्तिकृतां मनेन व्याचष्टे—  
अथत्रेति ।...न वाक्यभेद इत्यभिमानः प्राचां वृत्तिकृताम् ।  
तदेतदा गोचनीयम्—कथन्न वाक्यभेद इति ।

इति । अत्र वृत्तिकारमतं निरस्यत इति स्पष्टं पर्यायः । इदं निरसनं “श्रुतप्रकाशिकाकारस्य कल्पनं” इत्याह शास्त्री । न मिथ्यावादाद् भीतिः, न दैवात् । येषां परैः कलहाद्य अद्वैतं दर्शनं, आस्तिनक्याभिनयाय शैवं मतं, अर्थार्जनाय रामायणभागवतादिप्रवचनं, शास्त्रीये क्रिया-विशेषे शून्यललाटता, अथाद्य भस्मनः, अन्यदा चन्दनोर्ध्वपुण्ड्रस्य, कन्यामासास्थिरवासरंशु मृत्तिकोर्ध्वपुण्ड्रस्य धारणात्म्यादि भवात्, ते पातित्रत्यशास्त्रिनः । ये तु भगवत्परमैकगितनः मनोवाक्यायेषु एकरूपतया नियतवृत्तयः ते कुलटापदभाजः । नूनमपारः कलेर्महिमा । देशपाकस्थानिभ्योऽतिरिच्यतेऽयं वेदान्तपाकस्थानी । याः क्रूराः पापवृत्तयः निशङ्कं निर्दयं निस्सनेहं निर्दाक्षिण्यं निष्कम्पं वृकवत् स्वयमाचर्यन्ते ताः सर्वाः परैराचर्यमाणतया घाष्यन्ते ।

“बोधायनस्याद्वैतविरुद्धं व्याख्यानमेव गगनकुसुमम् । भाष्यकारैर्दूषितत्वात्” इत्याह । अनेन न्यायेन औपवर्षमद्वैतपरं व्याख्यानं गगन-कुसुमम् । श्रीभाष्यकारैर्दूषितत्वादिति सुवचम् । वस्तुतस्तु बोधायन-वृत्तिः खण्डितैव श्रीशङ्करेण । उपवर्षवृत्तिरपि तथा । जीवम्य ज्ञानवृत्त-कर्तृत्वे हि तत्सम्भते । शबरस्वामिना तथोपपादनात् । ते च निरम्यति श्रीशङ्करः ‘ज्ञोऽत एव’, ‘यथा च तन्नोभयथा’ इति सूत्रभाष्ये । ‘एक आत्मनः शरीरे भावात्’ इत्यत्र देहातिरिक्तात्मसाधनमात्रपरतया सूत्र-योजनमपि उपवर्षमतखण्डनमेव । न हि भगवानुपवर्षः गुणोपसंहारपादे असङ्गनकेवन्देहातिरिक्तात्मसाधनमात्रपरं सूत्रमयोजयिष्यत् । ब्रह्मवदेव चिन्तनीयस्य आत्मस्वरूपस्य स्वभावविवेको ह्यत्र कर्तव्यः । अद्वैतसिद्धान्तविरुद्धत्वात् तत्सर्वं परित्यज्य देहव्यातिरेकमात्रमात्मनः सूत्रप्रतिपाद्य-माह श्रीशङ्करः । विषयवैमत्येऽपि बहुमानस्य न हानिगिति भगवानुपवर्ष इत्याह । अथवा शास्त्रिप्रदर्शितक्रमेण खण्डनाच्चाच्छादनायैव तथा निर्देश इति ।

२८. श्रीकण्ठस्य श्रीभाष्यचोऽख्यं दुर्गपहवम् । अग्रे निरूपयिष्यते ।

२९. श्रीकण्ठस्यात्यन्तमर्वाचीनत्वे चिन्तामण्युक्ता युक्तयः अप्रक-  
 ष्यन्त्याः । सर्वदर्शनसङ्ग्रहे भास्करदर्शनाऽऽख्यं तत्प्रचारबाहुल्या-  
 भावान् । भास्करादीन् अभिहाय सर्वान् दर्शनकारान् निरस्य सर्वासिद्धा-  
 न्तस्थाने उच्यते । श्रादेशकाऽपि श्रीकण्ठ वा तदयं शिवविशिष्टाद्वैतं  
 वा न निर्दिशान् । न निरस्यति । न च स्वोपज्ञोच्यते तदनिराकरण-  
 मिति युक्तम् । शागीरक वक्ष्याम इति वदना वृत्तिकृतः भात एव शरी-  
 रात्मभवयुक्तविशिष्ट द्वैतस्य प्रसङ्गत्वात् । जगन्निश्चयात्त्वधोनाद्वैतवादः  
 उपवषासम्मत इति शास्त्रतन्मतपपादनेन स्फुटमवगम्यमानत्वेन, अह-  
 म्प्रत्यक्षविषयज्ञानानाजीवसाधनं शुद्धचैतन्यरूपैरात्मत्वप्रमुक्ताद्वैत-  
 स्यापि तदसम्मतत्वावगमेन च विशिष्टाद्वैतमेव तत्सम्मतमित्यवश्यं  
 वक्तव्यमिति । सूत्रकारसिद्धान्तितस्य शरीरात्मभावस्य शङ्करादपि  
 प्राचीनेन शठकोपनृगिणैश्च सुसिद्धमभिहितत्वेन अन्योपजीवनस्यत्यन्त-  
 मनोपेक्षितत्वात् । विलक्षणत्वविशेषेण 'दृश्यते तु' इति सूत्रे पुरुषादभ्य-  
 श्चेतनत्वेन प्रसिद्धेभ्यः विलक्षणानां केशनखादीनामुत्पत्तिं निर्दिशयतः  
 श्रीशङ्करस्यापि जगद्ब्रह्मणः शरीरात्मभावसम्बन्धो मनसि स्थित एव ।  
 अतः सर्वथा श्रीकण्ठो देविकेन नियतं खण्डितोऽर्वाच्यत् यदि स  
 प्राचीनाऽभविष्यत् । "सुदर्शनाचार्यैरपि तात्पर्यसङ्ग्रहे गरुडैक्यभावना-  
 दृष्टान्त एवायं ततः । तदनुवर्तिना श्रीकण्ठाचार्याणां रूपि तथैव मनमिति  
 युक्तम् ।" इति शिवाद्वैतनिर्णये दीक्षितोक्त्या सुदर्शनापरनामकहृदत्ता-  
 न्तरकालिक एव श्रीकण्ठ इति साष्टम् । तदनुवर्ती श्रीकण्ठ इत्युक्तेः ।  
 हृदत्तः द्वादशे त्रयोदशे वा शतके स्थित इति निवारयन्ति । अनस्ततो-  
 ऽर्वाचीनः श्रीकण्ठ इति सिद्धम् । तदनुवर्तिवेनाक्तस्य तद्गुरुत्वं वदन्  
 शास्त्री नूनं परम्प्रामाणिकः !

३०. ब्रह्मनन्दवाक्यं द्रामिडभाष्यं च हटादेवाद्वैते योज्यते ।

संव्यवहारमात्रत्वादित्यस्य मायामयत्वादित्यर्थो न शक्यः । नापि लक्ष्यः । हेवभावत् । सत्कार्यवादमाश्रित्य कार्यावस्थद्रव्यसाध्यस्य कार्यस्य विलक्षणानामधेयपरिग्रहप्रयोज विशेषनिष्ठानरूपसंव्यवहारमात्रत्वात् द्रव्यभेदाभावत् सद्वा कार्यमसद्वेत्यादिविकल्पानां नास्त्यवकाश इति । निषेदनपरं ब्रह्मनन्दवाक्यम् । एवं सव्यवहारमात्रत्वादित्यस्य ऋवस्थान्तर्गपारिरूपपरिणामपरत्वादेव तदनगुणस्थ समुद्रफेनदृष्टान्तस्यपरि प्रदर्शनम् । अस्य व्यवहारदृष्टमूतत्वकल्पनं संव्यवहारमात्रत्वादित्यस्य मायामयत्वपरत्वकल्पनं च अद्वैतग्रन्थकाराणां मन्याय्यम् । अभूत्तम् । केवलपूर्वाचार्यग्रन्थनाशनम् ।

अन्तर्गुणोऽत द्रमिडमध्यत्तौ प्रत्यग्गुणोऽत विवरणं, 'गुणशब्दः स्वरूपपरः' इति कथनं, ततो निगुणत्वाद् इह स्थित इति पथवसानकरणं च यत् क्रियते त सर्वं श्रीमद्रामायणे "राम इति रावण इत्यर्थः । रावण इति, राम इत्यर्थः । तथा च काव्यं सर्वं रावणवित्तप्रतपकम्" इत्यगमात् योतनात् कथमनिगिच्यत इति रामाणि रामानिः स्वात्मानं प्रादुमहन्त । ३१, ३२, ३३. एषु त्रिषु पर्वसु आद्ययोर्द्वयोः श्रीभाष्यश्रुतप्रकाशहावेदार्थतङ्ग्रहतात्पर्यदपिकासु उदाहृतानि यानि वाक्यद्रमिडभाष्यवाक्यानि, यानि तेषां विवरणानि तान्यनूदितानि । तृतीये तद्विमशः क्रियते शास्त्रिणा ।

तत्राह 'रामानुजमात्रसाक्षिकेषु इदानीमपदिदृश्यमानेषु पूर्वोक्तवाक्येषु विश्वासां नाम्नाकम्' इति । अर्धेत्तुमन्त्रेषु वेदवाक्येषु चार्वाकाणां न विश्वासः । द्रमिडसङ्घनां धर्मशास्त्रेषु न विश्वासः । ततः सिद्धे ?

अनन्तरमाह—'रामानुजार्यस्य स्व विपतबोधायनवृत्तिमूलकत्वेन स्वसम्प्रदायमूलत्वेन च टङ्कद्रमिडवाक्यानामभिमतत्वेन स्वाभिप्रायानुगुणं द्रमिडाचार्यादिवाक्यानामन्यथाऽनुवादसम्भवात् ।' इति । ननु शङ्कायस्य अद्वैतस्यानन्तरत्वेन पूर्वग्रन्थवाक्यानामन्यथानुवादः

कुतो न सम्भवा? स चेत् प्रामाण्यः अन्यः कुतो न? अन्यश्चेदप्रामाण्यः स कुतो न? अस्मदीयः रुद्रादी, न दुष्मदीयः इत्यस्माभिरपि सवचम् । वादकरणकौशलमन्यत् दौर्जन्यमन्यादानि त्रिविकरहितानां इयं दुरवस्थाऽवश्यम्भाविनी ।

अन्यदाह—“रामानुजोदाहृतानुभूयैव निर्दिष्टवाक्यसन्त्वेऽपि न विरोधः । तद्वक्त्यानां सद्द्वयायाः सगुणपरत्वव्यवस्थापकत्वाभावात् ।” इति । कथामिदं मत्प्रवाह—“अन्तर्गुणोत्थस्य प्रत्यग्गुणोत्थ इति, गुणशब्दः स्वरूपपर इति, देवतःपदस्य ब्रह्मरूपा परा देवता, इत्यर्थे इति, तथा च प्रत्यगात्मरूपा परा देवतेति द्रविडाचार्यवाक्यार्थ इति वक्षितत्वात् । तथा च ‘अन्तर्गुणामेव देवतां भजते’ इत्यनेन द्रविडाचार्यवचनेन प्रत्यग्ब्रह्मणोरभेदं तत्त्वर्नासवाक्यार्थं विज्ञानातीत्यर्थलाभात्” इति । पुनरपि जाड्यप्रशयानमेव । “घटाऽस्ति” । अत्र घट इति पद इत्यर्थः । तथा चास्य वाक्यस्य पदस्य स्तित्वप्राप्तपादकत्वास्यास्मभिरुक्तत्वात् भवत्तस्मत्त यद् घटास्तत्त्वव्यवस्थापकत्वं तत्रास्तीत्येतद् यावत्समञ्जसं तावदेव हीदं भवद्वचनम् । अन्तर्गुणा अन्तर्गतगुणा, न पृथगनुसंहितगुणा परा देवतेति मुख्ये अवाधिते स्वरसेऽर्थे स्थिते अमुख्यार्थे कल्पनं कुतः क्रियते । न्ययमाणं च कथं सुधियामङ्गीकार्यम् । एवं च ‘अन्तर्गुणामेव देवतां भजते’ इत्येतावन्मात्रालोचनेऽपि जघन्यवृत्तिलभा भवत्तस्मत्तोऽर्थो न परिग्राह्यः । मुख्यवृत्तित्तभ्यस्तु अस्मदुक्तोऽर्थो ग्राह्य इति सिद्धयति । इत्थं सति रुद्रियाया अपि सगुणत्वं तैः द्वाविद्याविकल्पश्च वाक्यकारभाष्यकारोक्तं सङ्गतं भवतीत्यभ्युच्ययाय ‘वाक्यकारेण विद्याविकल्पश्चोक्तः’ उवाच्यातं च द्रविडाचार्येण विद्याविकल्पं वदता’ इति ताभ्यामुक्तौ विद्याविकल्प इति श्रीभाष्यकारा आहुः । प्रत्यग्भेदो ब्रह्मण इहोक्त इत्यर्थं वर्णयानां विकल्पोक्तिरियं प्रतिकूला । अत इमां परित्यजान्त । ‘परिणामस्तु स्यात् दध्यादिवत्’

इत्यत्र 'दध्यादिवत्' इत्येतदिव ।

'परिणामान्' इति परिणामं सूत्रकारे स्पष्टं वदति "इयं चोपादान-परिणामादिभावा न विकाराभिप्रायेण । अपि तु यथा सर्पस्यां पादान्, रज्जुरेवं ब्रह्म जगदुपादानं द्रष्टव्यम् ।" इति स्वकल्पितं स्वकीयं दर्शनं प्रवर्तयन् वाचस्पतिः सूत्रकारं खण्डयति । 'परिणामस्तु स्याद् दध्यादिवत्' इति वदन्तं वाक्यकारं च । इदं वाक्यमुदाहृत्य स्वसिद्धान्तानुगुणं वाचस्पतिर्यत्र योजयति तत्र तस्यायमभिप्रायः । तथा योजनमशक्यम् । प्रफुटार्थत्वात् । निराकरणमनपेक्षितम् । सूत्रकारे निगृह्यते तदनुसारिणां सर्वेषां निरासस्य कैमुतिकन्यायासिद्धत्वात् ।" इति । न हि सूत्रकारखण्डनं शाङ्करं गोप्यं रक्षति वाचस्पतिः । "स्वमतपरिग्रहार्थमेकदाशमतं दूषयति" इति आनन्दमगार्थाधिहरणान्ते "इदन्त्विदं वक्तव्यम्" इतीदं भाष्यवाक्यमवतर्य, उपारं 'सूत्राणि त्वेवं व्याख्येयानि' इत्येतद् भाष्यवाक्यं "वेदसूत्रयोर्विरोधे 'गुणे त्वन्याय्यकल्पना' इति सूत्राण्यन्यथा नेतव्यानि" इत्येवमाशयं स्पष्टं वदति । परिणामवादिनः सूत्रकारप्रभृतयः सर्वे प्राञ्च आचार्याः । तत्खण्डनपुरस्सरं स्वयमभिनवं विवर्तवदं प्रवर्तयान्तं अद्वैतिन इत्येतद् स्पष्टम् ।

स्वमनप्रतिद्वन्द्वत्वात् शङ्करादिभिर्मुदाहृतानि ब्रह्मनन्दद्रमिड-भाष्यवाक्यानि भगवद्रामानुजेन दाहृतानि चिरन्तनसम्प्रदायानुरोधिनोऽर्थस्य ग्राह्यत्वप्रदर्शनाय । तत्र भवत्याचार्ये बहुधा कल्पनादोषानुद्भावयन् शास्त्री स्वयं कल्पनासाम्राज्ये आमानमभिषिञ्चन् उन्मत्तचर्यां चरति । तत् सर्वनुपेक्षामहे । इदमेकमभिज्ञैर्ज्ञातव्यम् ।

"यद्यपि सच्चित्तः न निर्भुङ्गनदैवतं गुणगणं मनसा

ऽनुधावेत् तथाऽप्यन्तर्गुणामेव देवतां भजते"

इति द्रमिडभाष्यम् । अत्र 'यद्यपि सच्चित्तो न' इत्यनेन अन्यचित्तः तथाऽनुधावेदिति गम्यते । किन्तदन्यदिति विमर्शो दहरोपासनमिति

प्रतीयते । तत्रैव देवनातः पृथक् गुणगणोपासनविधानात् । दहरविद्या-  
निष्ठः ब्रह्मणो विभक्तं गुणगणं पृथगुपास्ते । तथा सद्विद्यानिष्ठो नोपास्त  
इत्युक्तं भवति । एवं चेत् निर्गुणोपासनमिदं प्रसज्यते । अस्य चोपास-  
नस्य फलं एतदनु रूपं निर्गुणप्राप्तिरेव भावितुमर्हति । एवं चेत् सगुणप्राप्ति-  
कामानां दहरविद्या, निर्गुणप्राप्तिकामानां सद्विद्येति व्यवस्थितत्वात्  
'विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्' इति सूत्रकारोक्तं विकल्पोऽनयोर्विद्ययोर्न  
भवतीति शङ्का यद्यपीत्युक्ता । अत्र समाधिः तथागीत्यादिनोच्यते ।  
उपासनविषयत्वाभावेऽपि गुणानां उपास्ये ब्रह्मणि विद्यमानत्वात् उक्ताया  
अनुपपत्तेर्नास्त्यवकाशः अनुपासितापहतपाप्मत्वादिगुणापि हि परा देवता  
स्वयमन्तर्गतगुणैव, वस्तुतस्तद्गुणसहितैव । अतस्तद्गुणवत्या एव  
तस्याः प्राप्तिः । अतोऽविशिष्टफलत्वं विकल्पश्चेति सर्वं समञ्जसमिति ।

अन्तर्गुणा भगवतीति सज्ञेयशारीरकरलोकात्रिगद्दे कृत्स्नमेवेदं द्रमिड-  
भ्रष्टं श्रीभाष्यकारेण कल्पितमिति ब्रूयात् । तत्सत्त्वान्तु अद्वैतमेव  
तदर्थं वदयामीति सन्नहति । तत्रेदं सुधीभिर्विर्भाव्यम् । 'युक्तं तद्गुण-  
कोपासनात्' इति वाक्ये मूलभूते उपासनपदप्रयोगात् 'अन्तर्गुणामेव  
देवतां भजते' इति भाष्ये भजिप्रयोगाच्च 'अद्वैतसम्मतं केवलज्ञानमत्रो-  
भयत्र नभिप्रेतमिति स्पष्टम् । दहरविद्यायां निर्भुम्नदैवतो गुणगणः  
पृथगुपासनाविधानात् पृथगनुसन्धानविषय इत्यर्थः । सद्विद्यायां तु  
गुणा अन्तरेव वर्तन्ते । पृथगुपासनविषयभावात् अननुसन्धीयमाना एव  
वर्तन्ते इत्यर्थः । एवं च गुणशब्दः उभयत्र समानार्थः । गुणेषु विद्याद्वये  
उपासनविषयत्वतद्भावान्यां विशेष उच्यते । एवं सति अन्तःशब्दस्य  
प्रत्ययार्थत्वे गुणशब्दस्य स्वरूपरूपविवित्रार्थत्वे च किं मानम् ? यद्यपि  
तथाप्योः साङ्गत्यं च कथम् ? न हि सद्विद्यायां गुणानुसन्धानस्यत्वं  
ब्रह्मणः प्रत्यग्रूपत्वविरोधि । येन तत्र शङ्का भवेत् । न च प्रत्यग्रूपत्वाभि-  
धानमात्रं समाधानं भवति । दहरविद्या सगुणविषया । सद्विद्येय निर्गुण-



विषयेत्येतावन्मात्रं हि वक्तव्यं याद विवेकविवक्षा । एवं त्रुवाचार्यसूक्तय-  
नुरोवि विशिष्टाद्वैतं श्रीभाष्यकारैः स्वबुद्धिकल्पितम्, तद्व्यवहृत्तपरं  
अद्वैतं चिरन्तनाविच्छिन्नसम्प्रदायागतस्मात् शब्दाना स्वसम्मतमाया-  
विशेषसिद्धव्युत्पत्त्यन्तरमाश्रित्य वदतीव ।

“अन्तर्गुणा भगवती पः देवतेति

प्रत्यग्गुणेति भगवानपि भाष्यकारः

आहस्म”

इत्यत्र “भगवान् भाष्यकारोऽपि अन्तर्गुणा परदेवनेत्यनेन प्रत्यग्गुणेत्याह  
स्म” इत्यन्वयाऽर्थश्च । अन्तर्गुणेत्यस्य प्रत्यग्गुणेत्यर्थ इत्युक्तं भवति ।  
मूलस्थस्य पदस्य एवं विवरणं करोति श्लोकारः । अन्यथा प्रथम  
इति शब्दोऽनन्वतः स्यात् । अतःऽत्र प्रत्यग्गुणेत्यपि मूलमेवेति तत्  
स्वसिद्धान्तविरुद्धत्वान् परैः परित्यक्तमित्यादौ रागद्वयाद्रेकापशाचावेश-  
विकृतचेतसाऽपि हतं सर्वं केवलं प्रलापितम् । प्रत्यग्गुणेत्यस्यपि “प्रत्यङ्गः  
ध्यानाविषयत्वात् अप्रकाशमानः, न तु पराङ्गः ध्यानगोचरत्वान् प्रकाश-  
मानाः गुणाः यस्याः तां भजन्ते । तद्गुणैव उपासनाकाले अप्रकाशमानैः  
तैर्गुणैवि शष्टैव देवता प्राप्यते,” इत्यक्तिष्टाश्रवणस्य सुशक्तत्वात्  
अन्यथाकरणं आचार्याः स्वप्नेऽपि न चिन्तयेयुरिति सम्प्रदायगति-  
मानभिज्ञः तद्ब्रह्मः शास्त्री कथं जानीयात् ।

संव्यवहारमात्रत्वादिति ब्रह्मनन्द्युक्तेरर्थः प्रागेव सुनिरूपितः । नात्रा-  
द्वैतिसम्मतस्य मिथ्याव्यवहारस्य गन्धोऽप्यस्ति । संव्यवहारः समी-  
चीनः सत्यरूपो व्यवहारो ह्युक्तः । तदाहुः श्रीमद् भगवत्सङ्गनाथब्रह्मतन्त्र-  
परकालमहादेशिकाः गूढार्थसङ्ग्रहे—“बौद्धस्य व्यवहारः कस्यातात्त्विक-  
त्वोक्तिः अनुचितेति तात्पर्येण ( जैन ) परीक्षामुखसूत्रेषु मुख्यं  
सांव्यवहारिकं चेति प्रत्यक्षविभागः प्रदर्शितः । ‘संव्यवहारः अबाधितो  
व्यवहार इति प्रभाचन्द्रेण प्रमेयकमलमार्ताण्डे निरूपितम् । अयमेवार्थः

‘संव्यहारमात्रत्वात्’ इत्यत्र ब्रह्मनन्दिनोऽपि विवक्षितः ।” इति (७८५ पु) सत्यमिदं वाक्यं ‘वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्’ इति श्रुत्यभिप्रायानुसारि ! परं तु अद्वैतमत्रापि नास्ति, नाभिप्रेतम् । सत्य एव विकारः अवस्थान्तरं, सत्यमेव तदनुगुणं नाम च वाचा व्यवहारेण हेतुना फलभूतेन आरम्भणं उपादानकारणेन द्रव्येण आलभ्यमानं स्पृश्यमानं भवति । मृद्विकारभूतं घटादिशब्दाभिधेयं च किल कार्यवस्तु मृत्तिकेत्येव सत्यम् । न तु मृत्तिकेतराकञ्चिद्द्रव्यत्वेन । अतः कारणमेव कार्यं द्रव्यम् । अवस्थाभेदेन तु कार्यत्वम् । एवं एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रसिद्धयै सत्कार्यवादस्थापनपरेयं श्रुतिः ।

भ्रान्तः इमां घटकश्रुतिं घोषयति । दूषयति च यस्य पृथिवी शरीरमित्यादेर्घटकश्रुतित्वम् । ‘प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्’ इति वाचारम्भणमित्यादेः प्रतिज्ञातार्थोपपादकत्वं सूत्रितं भाषितं च । घटकश्रुतित्वं न केनाप्युक्तम् । अनुपपन्नं च । भेदस्यात्यन्तं तिरस्कारात् । व्यावहारिकमिति भवद्भिः अपारमार्थिकस्यैवांक्तेः । अतो भवद्गीत्या भेदघातुकश्रुतिरेषा, न तु घटकश्रुतिः । यस्य पृथिवीति व्यतिरेकनिर्देशात् । ‘भोक्ता भोग्यं प्रोरतारं च’ इति भेदश्रुतियाथार्थ्यं, शरीरत्वव्यपदेशेन ‘विद्वान् ब्राह्मणः’ इत्यादिवत् अभेदपरस्य ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ ‘इदं सर्वं यदयमात्मा’ इत्यादिसामानाधिकरण्यस्य मुख्यत्वं च समर्थयन्ती ‘यस्य पृथिवी शरीरमित्यादिरेव घटकश्रुतिरित्यास्तां तावत् ।

३४—३५. अत्र भगवद्विग्रहविषये वाक्यकारभाष्यकारवचनान्युद्धाहृत्य वेदार्थसङ्ग्रहे यन्निरूपणं कृतं, यच्च तत्र व्याख्याने उक्तं तदनूच विभृशांत शास्त्री । भगवतः स्वाभाविकाः कल्याणगुणा इव रूपमप्यस्ति । श्रुतत्वादिति श्रीमद्भाष्यकृतां सिद्धान्तः । तत्र वाक्यं प्रमाणयन्तस्ते वेदार्थसङ्ग्रहे

वाक्यकारश्च एतत्सर्वमाह—‘हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यत इति

प्राज्ञः सर्वान्तरः स्यात्, लोककामेशोपदेशात्, तथोदयात्पाप्म-  
नाम्' इत्यादिना । तस्य च रूपस्यानित्यतादि वाक्यकारेणैव  
प्रतिषिद्धम्—'स्याद्रूपं कृतक्रमनुग्रहार्थं तच्चेतसामैश्वर्यान्'  
इति उपासितुरुग्रहार्थः परमपुरुषस्य रूपसङ्ग्रह इति  
पूर्वपक्षं कृत्वा 'रूपं वाऽतीन्द्रियमन्तःकरणप्रत्यक्षं तन्निर्देशात्'  
इति । यथा ज्ञानादयः परस्य ब्रह्मणः स्वरूपतया निर्देशात्  
स्वरूपभूता गुणाः तथा इदमपि रूपं श्रुत्या स्वरूपतया निर्दे-  
शात् स्वरूपभूतमित्यर्थः ।

इत्यवोचन् । 'भाष्यकारेणैतद् व्याख्यातम्' इत्युक्त्वा द्रमिडभाष्यग्रन्थं  
चोदाहृत्य । तत्र 'स्याद्रूपं कृतक्रमनुग्रहार्थं' इति वाक्यग्रन्थं मर्नास  
निधाय तस्य स्वसिद्धान्तानुगुणमर्थं वदन् श्रीशङ्करः सूत्रभाष्ये अन्तर-  
धिकरणे 'स्यात्परमेश्वरस्यापि इच्छावशात् मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम्'  
इत्याह । इदं वाक्यग्रन्थविरुद्धमिति निरूपणाय श्रीभाष्यकृतः वाक्य-  
ग्रन्थं सभाष्यमुदाहृत्य तात्त्विकमर्थं प्रतिपादयन्ति । तत्र 'स्याद्रूपं  
कृतकं' इति कृतकत्वमुक्तम् । कृतकत्वं क्रियया निर्वृत्तत्वम् उत्पाद्यत्वम् ।  
अनित्यत्वमिति यावत् । 'तस्य प्रमा च वचनैः कृतकेतरैश्चेत्' इति  
प्रसिद्धः प्रयोगः । कृतकेतरैः नित्यैर्वेदवचनैरिति ह्यर्थः । अन्योऽप्यर्थः  
मायामयमिति । इन्द्रजालवत् क्रियया निर्वर्त्यमानत्वात् । एतमेवार्थं  
मायामयमिति शङ्कर आह । ऐश्वर्यात् सर्वशक्तत्वात् तच्चेतसां तदुपास-  
कानां अनुग्रहार्थं अभिमतसिद्धयर्थं कृतकं अरूपेणैव सता परमात्मना  
तदानीमेव कृतं सृष्टं दर्शितं वा स्यादिति ग्रन्थार्थः । एवमुक्तं भण-  
वद्रूपस्यानित्यत्वं मायामयत्वं च निराक्रियते 'रूपं वाऽतीन्द्रियमन्तः-  
करणप्रत्यक्षं तन्निर्देशात्' इत्यनेन । वाकारोऽत्र श्रूयमाणः पूर्ववाक्यस्य  
पूर्वपक्षपरत्वं प्रकाशयति । हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यत इति रूपं श्राव्यते ।  
अत्र, अरूपत्वाद् ब्रह्मणः उपदिश्यमानमिदं रूपं उपासकानुग्रहाय ब्रह्मणा

सृष्टमिति गृहोत्वा स्वाद्रूपं कृतकमिति परे प्रत्यजानत । अत्रोत्तरं 'रूपं व ' इति । रूपमात्रं हि श्रूयते । तत्र कृतकमिति विशेषणं कुतो भवाद्भू-  
र्दायने । विशेषणाभावान् स्वाभाविकं नित्यं तदिति प्रत्येतव्यम् । ननु  
रूपं स्वाभाविकमस्ति चेन् अस्माभिर्दृश्येत । नेत्याह—अतान्द्रिय-  
मिति । तर्हि दृश्यत इति कथं श्रूतिराहेति चेदत्रोत्तरं—अन्तःकरणप्रत्य-  
क्षमिति । कृत इदमवगम्यत इत्यत्राह—तन्निर्देशादिति । 'न चक्षुषा  
गृह्यते' 'मनसा तु विशुद्धेने'त्यादिश्रुतेरित्यर्थः ।

'तस्य च रूपस्यानित्यत्वादि वाक्यकारेणैव प्रतिपिद्धम्' इति वेदा-  
र्थसंग्रहश्रीसूक्तौ आदिशब्दग्राह्यं मायामयत्वम् । अनित्यत्वं निराकृत्य  
नित्यत्वे स्थापिते मायामयत्वं सुदूरं निरस्तं भवति । कथमत्र तन्निरास-  
लाभ इत्यत्र द्रमिडभाष्यविवरणमुखेन तात्पर्यदीपिकायां स दर्शितः ।

अञ्जसैव विश्वसृजो रूपम् । तत्तु न चक्षुषा ग्राह्यम् । मनसा  
त्वक्लुषेण साधनान्तरवता गृह्यते । 'न चक्षुषा...विशुद्धेन'  
इति श्रुतेः । न ह्यरूपाया देवताया रूपमुपदिश्यते । यथाभूत-  
वादि हि शास्त्रम्'.....

इत्यादि द्रमिडभाष्यम् । अत्र तात्पर्यदीपिका—

अञ्जसा अव्यवधानेन, स्वाभाविकमित्यर्थः । ऐन्द्रजालिकवत्  
मायाकृतमिति शङ्काव्यावृत्त्यर्थमाह— तत्तु, इति । मिथ्याभूतं  
दुष्टेन्द्रियग्राह्यम् । अदुष्टकरणग्राह्यत्वात् परमार्थभूतमित्यभि-  
प्रायः । पारमार्थ्यमेवोपपादयति—न हीति । अरूपाया रूपोप-  
देशः कथं नेत्यत्राह—यथाभूतवादीति ।

इति । अव्यवधानेन आगन्तुककरणव्यवधानं विना । तेन लब्धोर्थः  
स्वाभाविकमिति । यद्यन्मिथ्या तत्तद् दुष्टेन्द्रियग्राह्यम् । तथा च शाबरं  
भाष्यं—यस्य च दुष्टं करणम्. इत्यादि । इह तु विशुद्धमनोऽवस्थावनु-  
क्तम् । तथा चादुष्टकरणग्राह्यत्वान्न मिथ्यात्वमिति भावः । पूर्वपक्षमि-

प्रायं स्फुटमुक्त्वा निराकरोति भाष्यकारः न ह्यरूपाया इति । अत्र युक्तिः—यथाभूतवादि हि शास्त्रमिति ।

अत्र यदाह शास्त्री—स्याद्रूपमित्यस्य पूर्वपक्षत्वं 'रूपं वा' इत्यस्य सिद्धान्तत्वमित्यनुपपन्नम् । उत्तरत्र अकृतकत्वबोधकशब्दाभावात्, इति, तद् वाक्यव्युद्गारात्तदारिद्र्यनिबन्धनम् । अकृतकत्वं यथा तत्र गम्यते तथोपपादितं प्राक् । अन्यदाह दार्ज्ज्यात् "रूपञ्चातीन्द्रियमित्येव पाठः । वाकारः परंण स्मृतानुगुणाय कल्पितः । चकारश्च निष्कासितः" इति । किं वाक्यग्रन्थो दृष्टो महात्मना, येनैवं सावधारणमुच्यते । चार्वाकः कश्चिदाह—नाभिहात्रं जुहोति, न सोमेन यजेतेति, अनृतं चदेत्, कलञ्जं भक्षयेदिति च अस्मत्सिद्धान्तमूलप्रमाणे वेदे स्थिते धूर्ताः श्रोत्रियमानिनः नवं पूर्वत उद्धृत्य परत्र यांजयामासुरिति । तस्यायं ज्येष्ठा भ्राता ।

परमेश्वरस्य रूपादिकं वयमप्यभ्युपगच्छाम इति शङ्कराचार्यै-  
वाक्यानि बहून्नुदाहरन्नाह । अत एव लोकव्यामोहकत्वमद्वैतिनाम् ।  
बौद्धनिराकरणपराणि सूत्राणि तथैव व्याख्यायन्ते । तेषामेव तु सिद्धान्तोऽङ्गीक्रियते जगान्मथ्येति । अपारमार्थिकत्वेऽपि नासत्त्वं प्राति-  
भासिकत्वं वेत्युच्यते । विमतं मिथ्या दृश्यत्वात् शुक्तिरूप्यवदिता साध्य-  
मानं मिथ्यात्वं सगुणब्रह्मणाऽपि तुल्यम् । तच्च त्रैकालिकात्यन्ताभाव-  
प्रतियोगित्वम् । अयं पटः एतन्तनुनिष्ठात्यन्ताभावप्रातयोगी अंशित्वात्  
पटान्तरवदिति च तर्कान्वापारगश्चित्सुखाचार्यः अनुमानविशेषेणाद्वैतं  
प्रतिष्ठापयति । तथा च यदा परमेश्वरः उपासकानुमहाय रूपमात्मनः  
सृजति तदापि तन्नास्त्येव । कथं यथाभूतवादित्वं शास्त्रस्य । स्वेच्छाव-  
शात् रूपसृष्टेः पूर्वं अरूपैव हि देवता । तत्र 'नह्यरूपाया रूपमुपादिश्यते'  
इति भाष्यस्य कथं सङ्गतिः ।

हिरण्यमयः पुरुष इत्यत्र हिरण्याविकार इत्यर्थे सति कृतकत्वमुक्तं

न्यात् । अतोऽत्र उपमा ग्राह्या हिरण्यतुल्य इति । तदिदं वाक्यकारे-  
णोक्तम् । इदमुपपादयन् द्रमिडभाष्यकार आह--'न मयडत्र विकारमा-  
दाय प्रयुज्यते अनारभ्यत्वादात्मनः ।' इति । परमात्मस्वरूपस्य वा विप्र-  
हस्य वा आरभ्यत्वे, उत्पाद्यत्वे सति तत्र हिरण्यविकारत्वशङ्काया अपि  
वाऽवसरो भवेत् । तत्तु नास्ति । उभयोर्नित्यत्वश्रवणात् । अतोऽत्र  
रूपस्याकृतकत्वमांभमतं सिद्धं च । न ह्यत्र शरीरस्योत्पाद्यत्वं सिद्धं  
कृत्वा तत्र हिरण्यस्योपादानत्वं निषिध्यते, येनाकृतकत्वं न सिद्ध्यते ।  
अनारभ्यत्वादित्युत्पाद्यत्वस्यैव निषेधात् ।

३६. कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी, इत्यत्र कप्यासमित्यस्य वाक्य-  
कारोक्तेषु षट्स्वर्थेषु यो र्यामच्छति स तं गृह्णातु । न मे यत्र कापि  
निर्भर इति श्रीशङ्करो मेने । मर्कटपृष्ठभागरूपेऽर्थे हीनोपमादोषशङ्काप-  
रिजिहीर्षया "कप्यास इव पुण्डरीकमत्यन्ततेजसि । एवमस्य देवस्या-  
क्षिणी । उपमितोपमानत्वात् न हीनोपमा" इत्येतमेकमर्थमभिधाय  
शङ्कनीयदोषपरिहारं कृत्वा विरराम । भगवद्भक्तिरसज्ञो यतिराजः तद-  
नुरूपं चरममर्थत्रयं परिजग्राह । तदनादरव्यञ्जितं प्रथमस्य त्रयस्य  
पूर्वपक्षत्वमुपपादयामास व्यासार्थः । अस्यार्थं स्थितौ श्रीभाष्यकारप्रभृतयः  
हीनोपमादोषं शङ्करे वदन्तीति भ्राम्यन् अभिनिविष्टो दीक्षितः स्वव्या-  
ख्येयमूलग्रन्थमप्याक्षिप्य

"एवं चात्र केषाञ्चित् वेदपरिहरणीयन्यायविरोधमविगण्य  
काव्यपरिहरणीयहीनोपमादोषभयात् कपिशब्दस्य सूर्ये योगा-  
श्रयणमारोपितवृश्चिकभयादाशीविषमुखे निपतनम् । हीनोपमा-  
दोषमेकं परिहर्तुं प्रवृत्तानां च तेषां ब्रह्मोपासनां कुर्वन्ति ( न्तं  
प्रति ) ब्रह्मइत्यां करोनीति वदतामिव अश्लीलनिहतार्थत्वरूपौ  
द्वौ दांशौ प्रसज्येयाताम् । परमेश्वरः हीनोपमादो-  
षादपि च तदाभव्यक्तिस्थाने भगवति सूर्ये मर्कटप्रसिद्धकपि-

शब्दप्रयोगरूपमश्लीलं कष्टतरम् ।”

इत्यादि वदति । परमेश्वरलोचनोपमाने पुण्डरीके मर्कटासनोपमा शङ्करोक्ता हीनोपमेत नैव श्रीभाष्यकारादिभिरुक्तम् । कप्यासनं पुण्डरीकं च साक्षादुपमानमक्षयोरितं पक्षे कप्यासनोपमा हीनोपमेत श्रुतप्रकाशिकायामुच्यते । तस्मादत्रान्यथाग्राही दीक्षितः । तथाप्येतदुद्भावितौ दंपौ परिहरन् श्रीरङ्गरामानुजमुनिः भावप्रकाशिकायामिदमाह—

“ननु हीनोपमया आलङ्कारिकैर्दोषत्वेन परिगणनात् सा त्यज्यते चेत् सिद्धान्तेऽप्यमङ्गलस्य कप्यासशब्दस्य प्रयोगादश्लीलत्वं स्यात् । तथा अप्रसिद्धत्वात् निहतार्थत्वं च स्यादिति दोषद्वयं सिद्धान्तेऽप्यस्तीति चेन्न । अश्लीलत्वस्य सवपक्षसाधारणत्वात् । निहतार्थत्वं तु एतादृशजुगुप्सितार्थस्वीकारापेक्षया ज्याय इति तदेव युक्तमिति भावः ।”

इति । अयं भावः । कप्यासपदश्रवणे कपिपृष्ठभागस्मरणस्य निश्चयभावंत्वात् सर्वेषु पक्षेषु जुगुप्सनीयार्थस्मृतिकारित्वरूपाश्लीलत्वदोषः समानः । अतो ‘यश्चोभयोः समो दोषः’ इति न्यायेन सोऽस्मान् प्रति नोद्भावनीयः । निहतार्थत्वं तु अगत्या अङ्गीक्रियत एव । रविकरविकसितेत्याश्रयान्तरपरेणापि सता कप्यासपदेन जायमानः यस्यार्थस्य स्मृतिरत्यन्तदोषावहेति भवान् मन्यते तस्य साक्षादेव वाच्यतया स्वीकारो हि अत्यन्तमनुचित इति । इत्थं दीक्षितोद्भावितदोषपरिहाराय भावप्रकाशिकोक्तार्थ एव ‘मर्कटजघनसदृशपुण्डरीकसादृश्याद्यर्थान्तरं तु अश्लीलत्वदिदंपदुष्टतया वाक्यकृदनादृतत्वात् भाष्यकारेणाप्यनादृतम् ।’ इति उपनिषद्भाष्ये संक्षिप्तोक्तः । अत्रोक्तं वाक्यकृदनादृतत्वं “तत्रार्थत्रयस्य पूर्वपक्षत्वं तत्स्वभावादेवावगतम्” इति श्रुतप्रकाशिकायामुच्यते । भाष्यकारानादृतत्वं तु तेन तस्यानभिधानाद् ज्ञायते ।

तदत्र श्रीरङ्गरामानुजमुनिं प्रति शास्त्रिणः कोपविष्फूर्जथुरस्थाने ।

३७—४०. परमार्थतो ये अद्वैतिनः तेषां शैवत्वं श्रीकण्ठभाष्य-  
भक्तिश्च नोपपद्यते । अद्वैतविरोधी खलु श्रीकण्ठः । तथा हि । ईक्षत्यधि-  
करणे निर्विशेषवादं खण्डयति । समन्वयाधिकरणे अविधेयज्ञानं निरा-  
करोति । गुणाधिकरणे बुद्धिजीववादं पूर्वपक्षीकृत्य परास्यति । भूमा-  
धिकरणे 'तस्मादिह ब्रह्मणि न द्वैतनिषेधप्रसक्तिः' इत्यवधारयति ।  
अंशाधिकरणे 'ब्रह्मणि एव ज्ञानाज्जीवभावकल्पने बहुश्रुतिवरोधादि-  
दोषप्रसक्तिदुर्वारा' इति जीवब्रह्मैक्यं प्रतिषेधयति । सगुणमेव ब्रह्मस्वरूपं  
मुक्तप्राप्यं फलमिति 'उपस्थितेऽतस्तद्वचनात्' इत्यत्र सिद्धान्तयति ।  
द्वैतनिषेधः, जीवब्रह्मैक्यं, ब्रह्मणो निर्विशेषत्वं चाद्वैतस्य जीवितम् । तदयं  
विध्वंसयति । तस्य पक्षे पतद्भिः कथं वस्तुतः अद्वैतिभिर्भवितुं शक्यम् ।  
एषामद्वैतित्वं वा मिथ्या, शैवत्वं वा ।

तदास्ताम् । "श्रीकण्ठमतं वेदार्थसंग्रहेऽनूद्य निरस्यते । तत्र तात्पर्य-  
दाभिकायां 'व्योमातीतवादं हृदि निधाय...तत्परिपाट'मुपन्यस्यति'  
इति व्योमातीतवादत्वेन निर्दिष्टं तन्मतमेव ।" इत्याह शास्त्री स्वप्र-  
कृत्यनुगुणवाक्यावन्यासवत्या पद्धत्या । अत्रापि सः यथावद् ग्रन्थार्थ-  
परिज्ञानवाटवदाविध्यमेवात्मनः प्रख्यापयति । जगदुपादानभूतः पुरु-  
षात्मा यो दहराकाशः तस्मादतिरिक्तः तदन्तर्वर्ती कश्चिदुपास्यः, न  
त्वयं दहराकाश इति वादः व्योमातीतवादः । श्रीकण्ठस्तु दहराकाशस्य  
तदन्तर्वर्तिनश्च उभयोरुपास्यत्वं मन्यते । अनयोर्वादयोर्मिथः कः  
सम्बन्धः ? व्योमातीतवादः प्राचीनोऽन्यः । श्रीकण्ठप्रवर्तितः अर्वाचानः  
रक्षित्तिशिवविंशष्टाद्वैतवादाऽन्ये इति ग्रहणं अपटुः शास्त्री । व्योमा-  
तीतवादस्य व्योमानतीतवादस्य च प्रस्फुटमपि भेदं न ग्रहीतुमीष्टे ।

"व्योमातीतवादं हृदि निधाय" इति विवरणवाक्यस्य परिहासपर-  
तया वा जाड्यभूम्ना वा बालिशैकभाषणार्हं कञ्चिदभिप्रायं वर्णयति ।  
एवंविधाऽभिप्रायः करवन अत्रयं व.चयरचेन् सः पूर्वमुदाहृते ( २० )



‘इत्याशङ्कां मनसि निधाय’ इति अनुपपत्त्यधिकरणशिवाकर्मणिदीपिका-  
वाक्ये उक्तः सुसङ्गतो भवेत् ।

श्रीव्यासार्थनिगमान्तमहादेशिककाल एव वाक्यद्रमिडभाष्ययोलुं-  
प्तत्वे श्रीकरणस्य तदवलोकनं दर्शानिशीथे पूर्णचन्द्रावलोकनमेव ।  
“ ‘तस्मिन् यदन्तरिति कामव्यपदेशः’ इति वाक्यकारोक्तकामशब्दस्य  
श्रीकरणभाष्याशवाकर्मणिदीपिकापर्यालोचनायां गौण्या वृत्त्या ब्रह्मै-  
वाथे इति लाभात् न वाक्यकारग्रन्थविरोधः । न च श्रुतिवाक्यविरांधः”  
इति गम्भीरं वदन् शास्त्रार्थविमर्शमार्गे स्वस्य पङ्क्त्वन्धभावं भूयोऽपि  
परिपूर्णं प्रकाशयति । “अथातो ब्रह्मजिज्ञासा” इति सूत्रस्थब्रह्मशब्दस्य  
दिङ्नागधर्मकृतिप्रभृतिग्रन्थपर्यालोचनायां गौण्या वृत्त्या शून्यमेवाथे  
इति लाभात् अस्मत्सिद्धान्तस्य न ब्रह्मसूत्रविरोधः न च श्रुतिवाक्य-  
विरोध इति प्रकटसौगतः कश्चन यदि ब्रूयात् तत्र किमुत्तरं प्रतिपद्येत  
शास्त्रीति ज्ञातुं नूनं बहवः कुतूहलिनः स्युः ।

अत्र श्रीकरणभाष्यस्वरूपं प्रति वक्तव्यमुच्यते । तन्त्रमात्रसिद्धः  
केवलनिमित्तकारणमात्रभूतः शिवः प्राचीनैः शैवैः सर्वैरभ्युपगतः । शिव-  
भक्ताः तदर्चनपरा अपि तथैव तं प्रतिपेदिरे । औपनिषदं निमित्तोपादानां-  
भयकारणत्वं यस्योच्यते तादृशब्रह्मभावं तस्य नैव ये केचिदपि शैवा-  
मेनिरे । वैदिके मार्गे विष्णाः पारम्यं स्थितम् । यज्ञेषु पूर्णाहुतिर्हि  
तदुद्देश्यिका । वेदान्तेषु च ऋणोक्तं तस्य सर्वस्मात्परत्वम् । कालक्रमेण  
तत्र विप्रतिपत्तौ जातायां समीचीनैर्यायैः प्राज्ञास्तत् प्रतिष्ठापयामासुः ।  
अथापि केषांचित् शिवस्यापि वेदान्तवेगब्रह्मभावसम्पादने उत्कृष्टैः  
अजायत । तत्फलमिदं श्रीकरणभाष्यम् । अस्य प्रसिद्धिसम्पादनेच्छया  
कैश्चित् प्रार्थितः चिन्नबोम्मो नाम राजा अप्पय्यर्दाक्षितं तद्व्याख्यान-  
करणे न्ययुङ्क्त । कारणविशेषैः क्रमेण तत्रशैवतां प्राप्तः सः तदङ्गी-  
कृत्य शिवाकर्मणिदीपिकामकरोत् । अस्य खण्डनपरा आप ग्रन्थाः

प्रादुरभवन् । अथापि मीमांसकमूर्धन्यत्वात् दीक्षितस्य अनर्गलं तेनाभिवृध्यमाणेषु मीमांसान्यायेषु आकृष्टचेतसो विद्वांसः तं ग्रन्थमार्द्रयन्त । ततः प्रभृति श्रीकण्ठभाष्यं लोके प्रसिद्धमासीत् ।

एवं विद्वन्मण्डलाभिनन्द्यान्यायमालाभाभुरेण व्याख्यानेनापष्टव्यमपि श्रीकण्ठभाष्यं स्वरूपतो निस्सारं, निश्शांभम् । नूनं अर्नातव्युत्पन्नः शास्त्रेष्वनधीती प्रजापतिपशुपतिपुरपतिप्रमुखदेवतान्तरव्यतिरेकेण भगवत्पारम्यप्रतिष्ठापने प्राचीनैः प्राज्ञैरचार्यैः यो मार्गः अनुसृतः तमेवानुसृत्य शिवपारम्यप्रतिष्ठापनपरं अभिनवब्रह्मसूत्रभाष्यं प्रणेतुं प्रवृत्तः श्रीकण्ठः शिवालयरुः कश्चित् । शिवपारम्यवादस्य निगुणब्रह्मजीवब्रह्मैक्यप्रपञ्चमिथ्यात्ववादिनोऽद्वैतिनो नानुकूलाः । उपादानकारणत्वस्य उपनिषत्सु ब्रह्मसूत्रेषु च स्पष्टं प्रतिपाद्यमानस्य द्वैतमते निर्वाहः कष्टसाध्यः । अतो विशिष्टाद्वैतमेव तान्त्रिकस्य शिवस्य वेदान्तप्रवेशे महोपकोशकमिति मन्यमानः सः तदनुसरन् कात्स्न्येन श्रीभाष्यानुकारे परिहास्यता भवेदिति सूत्रपाठाधिकरणभेदादिषु शाङ्करभाष्यमप्यनुसरन् इतः कांश्चन ततः कांश्चन विषयानादाय स्वभाष्यमकरोत् । शास्त्रेषु निरूढपरिचर्याविरहान् विपुलं विचारं परपक्षप्रतिक्षेपं वा न करोति । विशिष्टाद्वैतस्थोपजीव्यत्वात् तत्खण्डनं क्वचिदपि न करोति । देवताविपर्यासातिरिक्तस्य निराकरणीयस्यांशस्य विरहाच्च ।

यथा नाथमुनिप्रभृतीनां महापुरुषाणां तथा श्रीभाष्यप्रभृतीनां उत्तमग्रन्थानां वैशिष्ट्यं यथावदवगन्तुमक्षमः शास्त्री यस्यकस्यापि ग्रन्थस्य वैरूप्यथात्म्यावगमे अप्रगल्भ इति दृढं प्रतीमः । स्वकीयत्वमत्या महत्करणं परकीयत्वमत्या तुच्छीकरणं च पामरलक्षणम् । शाङ्करस्य सूत्रभाष्यस्य श्रीकण्ठभाष्यस्य च शब्दतोऽथतश्च क्रियदन्तरमिति ज्ञातुं यस्यास्त शक्तिः स नूनं श्रीभाष्यस्य श्रीकण्ठभाष्यस्य च क्रियदन्तरमिति ज्ञातुं शक्नुयात् । निष्पक्षपातः परिडितः कश्चित् उभयं

पश्यतु । स तत्र कस्य पूर्वत्वं कस्योत्तरत्वमिति स्वयं निश्चिनुयात् । शास्त्रिणो विवेचनपाठवमत्यन्तशून्यम् । 'भोजनं देहि राजेन्द्र घृतसूप-समन्वितम्' इत्यस्य 'माहिषं च शरच्चन्द्रचन्द्रिकाधवलं दधि' इत्यस्य च विशेषं यो न जानाति स मूढः । यो जानाति स नूनं श्रीकण्ठभाष्यस्य भाष्यान्तरस्य च विशेषं जानाति ।

प्रत्यधिकरणमचमत्कारश्चोतनि । तत्राल्पमेवोदाहरामः । सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणे उपक्रमे "पूर्वत्र निरूपितो नित्यत्वादिगुणस्त्वम्पदार्थः पशुरुपासकः । सवेज्ञत्वादिगुणकस्तत्पदार्थः पतिरुपास्यः शिवश्च । तदिह कथमुपासनमित्याकाङ्क्षायां तन्निरूपणमुत्तरत्राभिवतते" इति वृत्तं वर्तिष्यमाणं चाह । अत्र त्वम्पदार्थतत्पदार्थनिरूपणस्य वृत्तत्वाभिधानं 'इदानीं विरक्तस्य तत्त्वंपदार्थविवेकार्थं द्वितीयः पाद आरभ्यते ।' इति तृतीयाध्यायाद्वितीयपादारम्भे, द्वितीये पादे 'तत्त्वंपदार्थं परिशोधितौ' इति तृतीयापादारम्भे च कल्पतरुक्तयनुसारि । अद्वैते तत्त्वमसिं-वाक्यजन्यपदद्वयलक्ष्यार्थसाक्षात्कारस्य मुख्यमोक्षोपायत्वात् तत्र तथा पदार्थवर्णनं युज्यते । विशिष्टाद्वैते उपासनस्यैव सप्रकारकसाक्षात्कारद्वारा उपायत्वात् जीवपरयोः तत्त्वंपदार्थतया कीर्तनमनपेक्षितमयुक्तं च । केवलं श्रोभाष्यानुसरित्वप्रच्छादनाय कृतम् । 'कथमुपासनमित्याकाङ्क्षायां तन्निरूपणमिति पादार्थवर्णनमयुक्तम् । न हि परिविद्यप्रकारः तृतीयपादार्थः । इत्थमेवायं चतुर्थपादारम्भेऽपि वर्दाति । 'पूर्वत्रोपपादितः परविद्याप्रकारः' इति । चतुर्थाध्यायारम्भे तु एतद्विरुद्धमेव भाष्यते —

“विचारिताः खलु उपासकापास्यापासनभेदाश्रमधर्मादयस्तृतीयाध्याये । इह पुनश्चतुर्थाध्याये प्रथमे पादे उपासनप्रकारः ... निरूप्यते ।”

इति । अथ 'सर्वेषु वेदान्तेषु दहराद्युपासनं विधीयते' इति विषयनिर्देशं करोति । किं सर्वेषु वेदान्तेषु दहराद्युपासनं विधीयते ? सर्ववेदान्तप्रत्यय-

मित्यस्मिन् सूत्रखण्डे विवक्षितमर्थं श्रीशङ्करेण विवृतमप्ययं न गृह्णाति । ततोऽनेन श्रीभाष्यमनुसृत्य 'शाखाभेदेन प्रकरणभेदात्' इति युक्तिमुक्त्वा 'उपासनं भिद्यते' इति सामान्यतः प्रतिज्ञा क्रियते । अनन्तरं दहरविद्यायां गुणभेदाद् भेद उच्यते । शाङ्करे—

'आस्त चात्र वेदान्तान्तरविहितेषु विज्ञानेष्वन्यदन्यत्राम तैत्तिरीयकं वाजसनेयकं कौथुमं शाख्यायनकामत्येवमादि । तथा रूपभेदोऽपि कर्मभेदस्य प्रतिपादकः प्रसिद्धः "वैश्वदेव्या-मिच्छा । वाजिभ्यो वाजिनम्" इत्येवमादिषु । अस्ति चात्र रूपभेदः । तद्यथा कोचच्छांखनः पञ्चाग्निविद्यायां षष्ठमपर-मग्निमामनन्ति । अपरे पुनः पञ्चैव पठन्ति ।'

इति पञ्चाग्निविद्यायामुक्तो रूपभेदः अनेन दहरविद्यायामुक्तः । तत्र सामान्यतः 'विज्ञानेषु' उक्तः नामभेदः अनेन पञ्चाग्निविद्यायामुच्यते—  
छान्दोग्ये पञ्चाग्निविद्यायां कौथुममिति नाम, बृहदारण्यके वाजसने-र्यामिति नाम । तत्र नामभेदादुपासनं भिद्यते' इति । एवं यथा पूर्वपक्षे तथा सिद्धान्तेऽपि भाष्यद्वयावषयं सङ्कीर्णमनुवदति । तत्र 'विद्यात् उपासीत, इति चोदना तावत्' इत्यतः प्रभृत 'आख्याऽपि वैश्वानर-विद्येति' इत्येवमन्तः श्रीभाष्यानुवादः । 'दर्शयति च' इति सूत्रं 'दर्शयति च श्रतिरुपासनस्य सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वम्' इति व्याख्याय छान्दाग्यवि-हितदहरविद्यामुपजीव्य तैत्तिरीयदहरविद्यावाक्यं प्रवृत्तमिति प्रदर्शितं श्रीभाष्ये । अत्र विद्यैक्यप्रदर्शनप्रकारं विपर्ययस्य वदन्नपि श्रीऋणः श्रुतिरेव विद्यैक्यं दर्शयति' इति श्रीभाष्यानुसारेणैव सूत्रं विवृणोति । इत्थं दहरविद्यैक्ये श्रुत्यैव प्रदर्श्यमाने, तद्दृष्टान्तेन विद्यान्तराणामपि ऐक्यसम्भवे प्रतिपाद्यमाने च एतदधिकरणपूर्वपक्षे दहरविद्यायाः गुणभे-देन भेदोद्भावनं चोदनाद्यविशेषेण तन्निरस्य ऐक्यस्थापनं च नैव युज्यते । श्रीभाष्ये नैव तत् कृतम् । श्रीऋणस्तु इदं ज्ञानुमशक्तः स्वतन्त्रं

किञ्चिद्भाषितुमनाः तत्करोति ।

भगवद्रामानुजकुलाद् गृहीतया भिन्नया अतुप्यन् श्रीशङ्करकुलादापि मूयो प्रहीतुं प्रवृत्तः “छान्दोग्यबृहदारण्यकशास्त्रयोः द्युपर्जन्यपृथिवी-पुरुषयोषिदाख्यस्याग्निपञ्चक्रम्य वेद्यतया यत् स्वरूपमात्मनां तदुभय-त्रापि समानम् । अतो न विद्याभेदः ।” इत्याह । पूर्वर्क्षे नामभेदाद् भेदाशङ्का पञ्चाग्निविद्यायाम् । अत्र विद्याया नामग्रहणमपि विना रूप-भेदाभावान्न भेद इति वदति । क्रियत्सङ्गतम् ! व्याख्यातुः कौशलं नाल-मत्यन्तमनिपुणस्य मूलकारस्य दुर्भगतां छादयितुम् । उत्पत्तिशिष्टगु-णावरुद्धे कर्मणि गुणान्तरनिवेशो न भवतीति न्यायः आमिन्नावाक्ये व्युत्पादितः । आमिन्नावारुद्धे वैश्वदेवयागे वाजिभ्यो वाजिनमिति वाक्यान्तरविहितं वाजिनं न निविशत इति । श्रीकण्ठस्तु सर्वत्रप्रसिद्धि-सूत्रे ‘यथा विश्वेदेवावरुद्धायामामिन्नायां वाजिनां न निवेशः’ इत्याह ! अबद्धमिदं क्लेशेनापि समर्थयितुमशक्यमिति पश्यन् दीक्षितः अत्र न किञ्चिदुवाच । स्वयं तु वाजिनामनिवेशमेवोक्त्वा प्रकृतमर्थं सङ्गमया-मास ।

श्रीभाष्यकारप्रभृतयः यद्यपि विशिष्टमेकमौपनिषदं तत्त्वमिति अस-कृद् ब्रवते तथाप्यस्य दर्शनस्य विशिष्टाद्वैतमिति नाम श्रीमन्निगमान्त-महादेशिककालावधि न प्रसिद्धम् । अप्रसिद्धग्रन्थकारेषु यः कार्श्चत् एवं व्यवहृतवान् कामं भवेत् । तथापि दर्शनस्य नाम तदवधि नैवं प्रसि-द्धम् । श्रीकण्ठः पुनः प्रसिद्धं तन्नाम कृत्वा असकृत् तथा स्वसिद्धान्तं व्यवहरन् नवीनस्य स्वोपज्ञस्य विशिष्टाद्वैतस्य प्राचीनाद् व्यावृत्तं शिवपदं घटयित्वा ‘विशिष्टाशिवाद्वैतं’ इति स्वसिद्धान्तमाचष्टे ( भोक्ता-पत्त्यधिकरणे ) ।

यथावन्नावगच्छति चायं श्रीमद्भाष्ये प्रतिष्ठापितं विशिष्टाद्वैतम् ! ‘अधिकं तु भेदनिर्देशात्’ इत्यस्मिन् सूत्रे अयं लिखति—

न वयं ब्रह्मप्रपञ्चयोरत्यन्तमेव भेदवादिनः, घटपटयोरिव । तदनन्यत्वमरश्रुतिविरोधात् । न वाऽत्यन्ताभेदवादिनः, शुक्ति-  
रजनयोरिवैकतरमिध्यात्वेन । तत्स्वाभाविकगुणभेदपरश्रुतिवि-  
रोधात् । न च भेदाभेदवादिनः । वस्तुविरोधात् । किन्तु शरी-  
रशरीरिणोरिव गुणगुणानारिव च विशिष्टाद्वैतवादिनः । प्रप-  
ञ्चब्रह्मणोरनन्यत्वं नाम मृद्धटयोरिव गुणगुणानारिव च कार्य-  
कारणत्वेन विशेषणविशेष्यत्वेन च विनाभावरहितत्वम् । न हि  
मृदं विना घटो दृश्यते । नीलिमानं विना चोत्पलम् ।

इति । 'भावे चोपलब्धेः' इति सूत्रे च

ततो मृद्धटयोरिव ब्रह्मप्रपञ्चयोरपि व्याप्यव्यापकभावादनन्यत्वम् ।

इति । एतैर्वाक्यैः विशिष्टाद्वैतमित्यस्य श्रीकण्ठगृहीतोऽर्थः अयमिति  
ज्ञायते । विशिष्टघटकयोर्विशेषणविशेष्ययोरैकेनेतरस्य व्याप्त्या, कार्य-  
कारणभावेन, अविनाभावेन च यदनन्यत्वं तद् विशिष्टाद्वैतमिति ।  
नायमर्थ उपपन्नः । पृथक्स्थितिविरहेऽपि शरीरशरीरिणोरन्यत्वात्, अन-  
न्यत्वाभावात् । एवं गुणगुणानारपि । मृद्धटयोरैशिशिष्टयं च दुर्वचम् । न  
हि मृदिशिष्टा घटः । तदत्र विशिष्टाद्वैतं नास्ति । एवमेव ब्रह्मप्रपञ्चयो-  
रपि । ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वेन चेतनाचेतनात्मकप्रपञ्चस्य किञ्चिद्द्वैतत्वजड-  
त्वादिना चान्यत्वेन अनन्यत्वाभावात् । न च व्याप्त्याऽनन्यत्वम् ।  
आकाशघटयोरनन्यत्वाभावात् । अत एवात्र मृद्धटदृष्टान्तोऽनुपपन्नः ।  
तत्र द्रव्यैक्यात् । ब्रह्मणः प्रपञ्चस्य च स्वरूपैक्याभावात् । दार्ष्टान्ति-  
कान्तुरोधेन 'मृदयं घट इत्यत्र यथा मृदुव्याप्तिघटे दृश्यते' इति  
व्याप्त्युक्तिरसङ्गता । व्याप्यव्यापकभावस्य विभिन्नद्रव्यद्वयवृत्तित्वात् ।

यत्तु औपचारिकमिदमनन्यत्वमिति मण्डिदोषिकायामुक्तं, तेन  
मुख्यमनन्यत्वं नास्त्येति स्फुटमावेद्यते । परन्तु औपचारिकेण किं नः प्रयो-  
जनम् । सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादिसामानाधिकरण्यनिर्वाहाय मुख्यं हि

अनन्यत्वमुपपादनीयम् । उपपादितं च श्रीभाष्ये । विशिष्टस्य ब्रह्मणः  
अद्वैतं विशिष्टाद्वैतम् । निर्विशेषब्रह्मणोऽद्वैतं न वेदान्तप्रतिपाद्यम् । अपि  
तु चिदर्चाद्विशिष्टस्येति तत्राभिप्रायः ।

अंशाधिकरणसाध्यस्यांशत्वस्योपपादनाय श्रीभाष्ये 'यथा गवाश्वशुक्र-  
कृष्णादीनां गोत्वादीनां गोत्वादिविशिष्टानां वस्तूनां गोत्वादीनि विशेष-  
णान्यंशाः, यथा वा देहिनो देवमनुष्यादिदेहोऽंशः' इति निदर्शनं  
क्रियते । तत्र विशिष्टाद्वैतमुच्यत इति भ्राम्यन् श्रीकण्ठः शरीरशरी-  
रिणोः गुणगुणिनोश्च यथा, तथा ब्रह्मप्रपञ्चयोर्विशिष्टाद्वैतमित्याह ।  
अंशो नानाव्यपदेशादिति सूत्रस्य चार्थं सर्वथा अजानन् असम्बद्धं  
भाषते । अंशत्वे हि नानाव्यपदेशः, अन्यथा च व्यपदेशः, उभयं हेतुः ।  
अयं पुनः 'अंशः मूर्त्येकदेश एव.....इत्यादिषु नानाव्यपदेशात् ।'  
इति भेदव्यपदेशमात्रं तत्र पर्याप्तमिव कृत्वा अन्यथा चापीति सूत्रोक्तमै-  
क्यव्यपदेशरूपं हेतुं ऐक्यनिराकरणपरतया योजयति --

यदुक्तमयमात्मा ब्रह्मेत्यादिना ब्रह्मण एव जीवत्वमिति तत्राह—

अन्यथा । तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, इत्यादिकाद् व्यदेशात्

तयोर्जावब्रह्मणोर्व्याप्यव्यापकभावेनानन्यत्वम् ।

इत्यादिना । भूपालदाक्षिण्येन शैवत्वेन च भाष्यमिदं व्याख्यातुं प्रवृत्तो  
दीक्षितः अस्य सर्वप्रकारमसौष्ठवं जानन् एवमादिस्थलेषु स्वयं वक्तव्यं  
किञ्चिदुक्त्वा अगत्या प्रविष्टं दुस्सहदुर्गन्धमेदुरं लुद्रवीथीमार्गमिव  
लङ्घमानः त्वरितमपयाति । 'असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात्' इति सूत्रे  
श्रीभाष्योक्तमर्थमजानन् अर्थान्तरकथनलोलुपतया परित्यजन् वा श्रीकण्ठः  
स्वयमेवमभाषत—

पुनः शङ्कित्वा परिहरति ।...एवं कार्यकारणयोर्वैलक्षण्यात्  
कारणे कार्यमसदेव । असद्वा इदमग्र आसीदिति श्रुतेः, इति  
चेत् नैवं वाच्यम् । सालक्ष्यनियमप्रतिषेधमात्रपरत्वात् श्रुतेः ।

अतः कार्यकारणयोर्वस्वेकता न हीयत एव ।

इति । अत्र पुनः शाङ्कत्वित्यनेन पूर्वसूत्रोक्तार्थमनुजानीय कृता स्वतन्त्र-  
शङ्केति प्रतीतिर्भवति । कार्यकारणयोर्वैलक्षण्यादित्यनेन पूर्वसूत्रसाधि-  
नार्थमूलैवेयं शङ्केति प्रतीयते । असद्वेति श्रुतेरित्यनेन श्रुत्यर्थानिश्चयमूला  
स्वतन्त्रैवेयं शङ्केति भाति । सलक्षण्यनियमप्रतिषेधमात्रपरत्वात् श्रुते-  
रित्यनेन श्रुतेर्विवक्षितमर्थमुक्त्वा अस्याः श्रुतेरापातप्रतीतार्थमूला सा  
शङ्का परिहृता । अस्याः श्रुतेर्विवक्षितार्थकथनपरं सूत्रमिति अयं भाष्य-  
कारो मन्यत इत्यवगम्यते । सर्वमिदं बाधितम् । श्रुतेरत्र सम्बन्धले-  
शोऽपि हि नास्ति । श्रीभाष्ये स्पष्टमिदम् । अतोऽत्र व्याख्याता सङ्गत-  
भाववर्णनं कथञ्चित् कृत्वा अन्ते इदमाह—श्रुतेरित्यनेन 'दृश्यते तु'  
इति सूत्रश्रवणं विवक्षितम् , इति पूर्वाचार्यैः क्लृप्तं ब्रह्मसूत्रनेत्रं इत्थं  
प्रसादयति श्रीकण्ठः । यद्यमन्ते श्रीभाष्यानुसारेण "कार्यकारण-  
योर्वस्वेकता न हीयत एव" इत्याह तत् आरम्भणाधिकरणे ब्रह्मप्रपञ्चयोः  
व्याप्यव्यापकभावेनानन्यस्वसाधनविरुद्धम् । अस्यानन्यत्वस्यौपचा-  
रिकत्वात् । वस्तुनोरेकत्वाभावात् ।

इदञ्चात्र अन्ते वक्तव्यम् । विशिष्टाद्वैतं स्वसिद्धान्त इति, सूक्ष्मचिद-  
चिद्विशिष्टं ब्रह्म कारणं स्थूलचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म कार्यमिति च श्रीकण्ठे-  
नासष्टदुक्तावपि भगवद्रामानुजसिद्धान्तसिद्धं यद् विशिष्टाद्वैतं न तादृश-  
मनेन प्रतिपाद्यते । पाशुपततन्त्रे यत् स्थितं तदेव वेदान्तसिद्धान् कांश्चि-  
दर्थान् योजयित्वा विशिष्टाद्वैतव्यपदेशेन प्रकाशयते । 'तथाऽन्यप्रतिषेधात्'  
इति सूत्रं नारायणस्य शिवसाम्यनिराकरणपरतया व्याचक्षाणः श्रीकण्ठ-  
आह—

सर्वज्ञात् सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः शिवाद् विश्वाधिकात् प्रथमं  
परप्रकृतिभूता परा शक्तिः प्रादुर्भवति । सा प्रथममोक्तृत्वदशायां  
पुरुष उच्यते, यः 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इति श्रूयते । तदात्मन



एव शिवात् सकलचेतन ( चेतनाचेतन ? ) प्रपञ्चपरिणामः ।  
अत एव 'सर्वो वै रुद्रः' इति परमेश्वरस्य सर्वात्मताऽभिधान-  
मुपक्रम्य, "पुरुषस्य नारायणस्य सर्वात्मत्वम् । उपादानत्वात् ।  
कथमस्य सर्वात्मत्वम् " इत्याशङ्कायां 'पुरुषो वै रुद्रः' इति,  
'पुरुषस्य विद्म सहस्राक्षस्य महादेवस्य धीमहि' इति च  
पुरुषोऽपि परमेश्वरस्य महाविभूत्यात्मा जगदाकार इति निरू-  
पितम् ।

इति । शैवानामेवेयं प्रक्रिया । न चापपन्ना । तथा हि । शिवस्य परा शक्तिः  
किरूपेति विवेचनीयम् । किं धर्मभूतज्ञानरूपा अथवा बह्वे दाहिकर्त्तव्यमव-  
तत्तत्कार्यकरणसामर्थ्यरूपा, यद्वा उभयात्मिका ? आद्ये तथा ईश्वरस्य  
सर्वज्ञत्वं भवेत्, न तु सर्वशक्तत्वम् । द्वितीये ज्ञातृत्वं न सिद्धयेत् । नतरां  
सर्वज्ञत्वम् । तृतीये असम्भवः । ज्ञानस्य विषयप्रकाशमात्रानुकूलत्वात् ।  
अन्यस्याः तत्तद्वस्तुत्पत्त्यनुकूलत्वात् । उभयारैक्यायां गात् । ज्ञानमन्यर्थैः  
शक्तिरन्येति चेत् सुष्ठुक्तम् । न त्वेवं श्रीकण्ठाऽभ्युपगच्छति । अथेय  
शक्तिः ईश्वरवत् जीववच्च किं चेतनभूता अथवा अचेतनभूता ? आद्ये  
अचेतनप्रपञ्चप्रकृतित्वानुपपत्तिः । न हि चिद्वस्तु किञ्चित् चित्तत्वं त्यक्त्वा  
अचिद्भवतीति वक्तुं शक्यम्, प्रमाणं वाऽस्ति । किञ्च ईश्वरतुल्यं वा  
तस्याश्चेतनत्वं, जीवतुल्यं वा ? आद्ये ईश्वरस्य ईश्वरान्तरं विशेषण-  
मिति स्यात् । तुल्यत्वे विशेषणत्वं न घटते । विशेषणत्वे तुल्यत्वं न घटत  
इति व्याघातश्च । तुल्यत्वे अनेकेश्वरप्रसङ्गश्च । जीवतुल्यचेतनत्वे जीवा-  
न्तरवदयमप्येको जीव इति नानेन ईश्वरस्योपादानत्वादिनिर्वाहः  
सुकरः ।

अथेयं शक्तिरचेतनभूतेति चेत् तर्हि 'सा प्रथमभोक्तृत्वदशायां पुरुष  
उच्यते, यः सहस्रशीर्षा पुरुष इति श्रूयते' इत्येतदनुपपन्नम् । अचेतनाया  
भोक्तृतया वा पुरुषतया वा परिणामायोगात् । नन्वचेतना शक्तिः परिणत

शरीरं भवति । तत्र प्रविष्ट आत्मा भोक्ता च पुरुषश्चेति चेत् स आत्मा किं परमेश्वरान्तैव अथवा तद्व्यतिरिक्तः । अद्ये पुरुषराब्दवाच्यो ज्ञारायणः साक्षु दुपादानं, तद्द्वारा तदधिकः परमेश्वर उपादानमित्येतदनुपपन्नम् । अन्ये स किं विभुः अथवा अणुः । आद्ये अनेनैव विभुना सर्वकार्यनिर्वाहे किंमतिरिक्तं परमेश्वरेण ? श्रुतिबलात् सिद्धयतीति चेत् 'किञ्चिद् तदुत्तरः', 'सूर्य आत्मा जगत्स्थुश्च' 'सामा-पूणा जनना रयोणां जनना दिवां जनना पृथिव्याः' इत्यपि श्रवणात् इन्द्रादीनामपि पारमेश्वर्यं स्यात् । एकस्यैव पारमेश्वर्यम् । अत इमाः श्रुतयोऽन्यपरा इति चेत् तुल्यम् । अन्त्ये अर्णार्जगदुपादानत्वं कथं भवेत् । तस्मादिदं सर्वं अत्यन्तवैदिकं वेदपिरुद्धं युक्तिप्रमाणान्तर-विरुद्धं च । तन्त्रवत्सनां हातुमशक्तः वेदान्तं प्रविश्य कालुष्यं जनयति ।

एकमेवाद्वितीयनिर्मात श्रुत्या परं ब्रह्मैकमेव । तत्र अनेन जीवनेति इदं भा निर्वेगत् चेत्तनान्तराणि सर्वाणि सृज्यं कृतौ वर्तन्ते । तेषु केषाञ्चिन् सुकृत्विभोः ब्रह्मशिवेन्द्र दिग्दलामः । “यत्र किञ्चिज्जगत्प्रसिन् हृद्यते श्रूयतेऽपि वा । अन्तर्वेदश्च तत् सर्वं वाच्यं नारायणः स्थितः ।” इत्यत्र तन्त्रं श्रीमतां नागायणस्य सर्वस्मात्परत्वम् । इदं भगवतः सर्वस्मात्परत्वं शिवस्य सम्भादभितुक्तामः शिवस्य जगदुपादानत्वं जीवनाम-गुत्वं मांक्षे शिवसायुज्यमित्यादि पूर्वस्तान्त्रिकैरनभ्युपगतं अयमभ्युप-गच्छति । अन्यत्त्वं तन्त्रसिद्धमेव । अतो वैदिकानामादरोऽत्र न युज्यते ।

४१. “जैवत्रज्ञशोभेद् एव वास्य क्षराभिमतः । न शरीरशरीरि-भावः” इति ऊर्जितं प्रतिजानीते पिना प्रमाणजबलेशम् । महतामधिके-पमात्रेण स्वतिद्वान्तसिद्धिं आत्मनः कृतकृत्यतां चानिमन्यते । भगवता श्रीभाष्यकारेण महानूर्पक्षे निर्विशेषब्रह्मैक्योपष्टम्भकतया “तथा च वाक्यकारः “आत्मेत्येव तु गृह्णीयात् सर्वस्य तन्निगन्तः” इति” इत्युक्त्वा

महासिद्धान्ते शरीरात्मभावलक्षणतादात्म्याभिप्रायकमेव वाक्यं, न तु निर्विशेषब्रह्मात्मैकत्वाभिप्रायकमित्याभिप्रेत्य 'आत्मेत्येव तु गृह्णीयान्' इति च वाक्यकार इत्युपसङ्गहे । 'सर्वस्य तन्निष्पत्तेः' इति हेतुपरस्य वाक्यखण्डस्य पूर्वं पूर्वपक्षे पठितस्य सुखं स्मरणं भविष्यतीति मत्या सिद्धान्ते परित्यागः । वेदार्थसङ्ग्रहे कृत्स्नं वाक्यमुपात्तम् । अङ्गः शास्त्री पूर्वं अद्वैतानुकूलतया उदाहृतमिदं पूर्णं वाक्यमपश्यन्नेव 'वेदार्थ-सङ्ग्रहे च वाक्यकारवचनं किञ्चिदधिकमुपात्तं' इति प्रलपति । खकीय-ग्रन्थेषु क्रीतितत्वात् वाक्यकार आसीत्, वाक्याभिधानस्तद्ग्रन्थश्चासी-दित्ययमङ्गीकरोति । अन्यथा बोधायनतद्भक्तिग्रन्थाविव इमावपि शश-शृङ्गायमाणौ, केवलं अस्मत्पूर्वाचार्यैः कल्पितौ निःशङ्कं ब्रूयान् । खलप्रकृ-तीनां हि न किञ्चिदवाच्यमस्ति । अङ्गीकृत्य जीवब्रह्मणोरभेद एव वाक्यकाराभिमत इति वाश्यते, न तत्र किञ्चिदवाच्यमस्ति इति च प्रतिषेधात् ।

न तावद् वाक्यग्रन्थस्थं वाक्यान्तरमस्मिन्नर्थे प्रदर्शयितुं शक्यते । भगवद्वाक्यं तु वाक्यं किम्परमिति प्रामाणिकैः पारशीलनीयम् । प्रामाणिकामेसरस्तु सः प्रथमं पूर्वपक्षानुसारेणैव तदु-दाहरति—

ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं च 'अथ योऽन्यां' इत्यादिवाक्यसिद्धम् ।  
वक्ष्यति च एतदेव 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च' इति ।  
तथा च वाक्यकारः 'आत्मेत्येव तु गृह्णीयान् सर्वस्य तन्नि-  
ष्पत्तेः' इति ।

इति । अत्र श्रुतप्रकाशिका—

अस्याथेस्य श्रुतिविवक्षितत्वसिद्धये सूत्रं दर्शयति वक्ष्यति चेति ।

...सूत्राभिप्रायविदः वाक्यं दर्शयति—तथा चेति । तन्निष्पत्तेः

तत्र कल्पितत्वादित्यर्थः ।

इति । तत्त्वटीका च—

उक्तस्य सूत्रकृदिष्टत्वमाह—वदन्ति इति । एतदेव, न त्वादि-  
ष्टमिति भावः । आत्मेति । स्वानन्यत्वेनेति यावन् । सूत्राभि-  
प्रेतं तद्विदुक्त्या स्पष्टयति—तथा, इति । भातस्य सर्वस्य  
तस्मिन्नध्यस्तत्वादित्यर्थः । बाधःवस्थायामधिष्ठानभूतब्रह्मात्म-  
तया परिशिष्टत्वादिनि भावः ।

इति । यद्यद्वैतमेव औशनषदं तत्त्वं तर्हि सूत्रं वाक्यं च तत्परमेव भवतीति  
पूर्वपक्षे प्रदर्श्य श्रीभाष्यकृतः सिद्धान्ते विस्तरण शरीरात्मभावविग्रहं  
सामानाधिकरण्यमुपपाद्यान्ते इदं वदन्ति—

इदमेव शरीरात्मभावज्ञानं नादात्म्यं 'आत्मेति तूपगच्छन्ति  
ग्राह्यान्ति च' इति वदयति । 'आत्मेत्येव तु गृह्णीयान्' इति  
च वाक्यकारः ।

इति । अत्र सूत्रं वाक्यं च कथं शरीरात्मभावज्ञाननादात्म्यपरं, न तु  
विग्रहभावेदपरमांत नोपपादितम् । श्रुतप्रकाशिकायामपि

परेण स्वरूपैक्यपरत्वेनोदाहृतं सूत्रं वाक्यकारवचनं च व्या-  
चष्टे—इदमेवेत्यादिना ।

इति पूर्वपक्षे तदनुगुणतयोदाहृतत्वं सिद्धान्ते एतदनुगुणतया व्याख्या-  
यमानत्वं च केवलमुक्तम् । न तु विस्तरं विवरणं कृतम् । तत्रायं भावः ।  
मूत्रवाक्ये अद्वैते क्लिष्टं योजनीये भवतः । न सिद्धान्ते । यथाश्रुतस्यै-  
वार्थस्य ग्रहणादिति । तदत्र स्वरूपैक्यस्य वाक्यकाराभिमतत्वाभिधानं  
लोकायतस्य तदभिमतत्वाभिधानतुल्यमिति स्थितिः ।

“तत्त्वमसीति प्रतीचः ब्रह्मणा सामानाधिकरण्यं स्वरूपैक्यनिबन्ध-  
नम्” इति शास्त्रिणः प्रतिज्ञा शून्यं तत्त्वमिति प्रतिज्ञातुल्या । “ ‘स  
आत्मा जगतः’ इत्युक्तिः जगतः तन्निष्पाद्यत्वेन तदनन्यत्वनिबन्धना”  
इति यदुच्यते तद्युक्तम् । यतः स आत्मेत्युक्त्या जगतः शरीरत्वं  
सिद्धयति । कार्यस्य जगतोऽपि तदात्मकत्वात् तदनन्यत्वं च सिद्धयति ।

यत्तु अनुपदं 'शरीरशरीरिणात्वेन सामानाधिकरण्यकल्पनं परकीयं लिङ्गान्ते नप्यते । अप्रामाण्यकृत्वात्' इत्युच्यते तेन बाह्यशरीरं प्रकाशितम् । यदि चार्वाकं ब्रूयात् "देशतिरेकेण जीवत्रह्यतद्वैम्यकल्पनं परकीयं लिङ्गान्ते नप्यते । अप्रामाण्यकृत्वात्" इति तादृशं खल्वेतत् । "वाक्यभाष्यग्रन्थयोरपि शरीरशरीरभावात्कीर्तनान् । परैरपि तादृशवाक्यदिग्रन्थाः प्रदर्शनान्" इत्यपि पूर्ववदेवं पक्षस्यम् । किं भवता भवदायैर्वा ऐक्यपरो वाक्यदिग्रन्थां दृष्ट्यां दर्शिता वा ? येन तत्र तत्परत्वं सावधारेण उच्यते । अस्मदीयैस्तु दर्शित एव । आत्मेत्येवेत्यनेन इतरस्य शरीरतामिति स्फुटं प्रतीयमानम् । आत्मा हि कस्यचित् भवति । यस्य भवति तन् तस्य शरीरम् । अत्र एव श्रुतौ 'आत्मा च तत्र तनूत्वा श्रीणीताम्' इत्यात्मनः सद् तनूप्रदहणम् । सर्वस्य तन्निमित्तं रति वाक्यखण्डः 'सन्नूलः सांभ्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिपठः' इति शरीरतामिव नतिपदं ऋतुत्यर्थसंग्रहपरं इति स्फुटमवगम्यते । अत इदं वाक्यमद्वैतविरुद्धमित्येतद् रूपह्वयम् । अस्य कल्पितत्वात् एतः उच्छृङ्खलस्य तव शरणम् ।

विधिधिवेदव्याख्याने ( २४ पु ) वाचस्पतिरेवमाह—येऽपि वेदान्तवादिनाऽऽनौरुपेयमङ्गीकृत्य वेदं वेदशरीरिणमन्त्यं निष्णमस्थितं 'अथाधिदैवम् । यः सर्वेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो वेदेभ्योऽन्तरो यं सर्वे वेदानिदुर्यन्त्य वेदाः शरीरं यः सर्वान् वेदानन्तरो यमर्थान् एष त आत्मान्त्याम्यमृतः" इति श्रुतेः—इति । अनेन जगद्ब्रह्मणोः शरीरशरीरिभावो दिनः प्राचीना वेदन्तित इति स्पष्टम् । एते वेदान्तनः बोधायनमतानुसरिणां वाक्यकारप्रभृतय एव । एषामेव तदानीं प्रतिद्धवेदान्तग्रन्थकारत्वम् ।

४२. भगवत्तारम्यवदिनोऽम्मदाचार्याः यथा चतुर्मुखेन्द्रादिद्वेषिणां न भवति तथा शिवद्वेषिणांऽपि न भवति । तत्रानिरूपणमात्रे

तःतर्यान् । इतरस्य सर्वस्य भगवद्विभूतित्वेन सम्मनत्वात् द्वेषप्रसङ्ग-  
विरहान् । शास्त्री तु अद्वैतविरुद्धं शैवत्वमाश्रितः भगवति द्वेष एव शिव-  
भक्तिरिति भ्रमश्च अविवेकी स्वदृष्टान्तेन परेषां भगवति भक्तिः शिव-  
द्वेष एवेति गृह्णन् भगवत्पारम्यस्य बाधायनटङ्कद्रमस्य गृहदेवकर्मदिभा-  
रुचिप्रभृतिभिर्भाङ्गीकृतत्वं वदतः श्रीदेशिकचरणान् प्रति धृष्टाः दुष्टाश्च  
चावो विमुञ्चत । तत्सर्वं स्वस्य शिवाद्यहं परमपावनं च मन्यते  
परिहृतमानी पामरतमः ।

४३. “यथा लोकं राजा प्रचुरदन्दशूके घारे अनर्थसङ्घट्टेऽपि प्रदेशे  
वर्तमानो व्यजनाद्यवधूतदेहः” इत्यादि दृष्टान्त “तथाऽसौ लोकेश्वरः”  
इत्यादिदार्ष्टान्तिकं च वदन् द्रमिडभाष्यकारः सगुणब्रह्मवादीति  
निश्चप्रचम् । तस्य निर्गुणवादत्वे पमाणलेशविग्रहात् अनद्वैतत्वं च  
सिद्धम् । ‘नासता स्तुतिरुपपत्ते’ इति द्रमिडभाष्यानुसरि श्रीभाष्यं  
त्रिनित्योपपत्तिकं वदति दूषणकुतूहली । ‘विराधे गुणवादः स्यात्’ इत्यु-  
क्तीत्या आपाततः असदर्थप्रतिस्थलेष्वपि गुणवादेन सदर्थपगत्वा-  
श्रयणत्वं न क्वचिदसदर्थे अर्थवादानां विश्रन्तिः । यत्तु बालोपख-  
न्दनार्थलौकिकवाक्येष्विव अर्थस्य बाधनत्वेऽपि प्रशंसानातर्यं पञ्चका  
गृह्णन्तीति शिवाकर्मणिदीपिवायामुच्यते तदुक्तम् । वेदस्य भ्रमजनन-  
तात्पर्यायोगात् । बाधतस्थले चावयर्थबोधस्यैवानुदयात् । ब्रीहीणां  
मेधेत्यादिषु तदन्तर्वर्तिनो जीवस्य वा अग्निमानिदेवताया वा परमात्मन  
एव वा सम्बोध्यत्वत् ।

४४. रुद्ररादनाक्तिः भूतार्थवाद इति श्रीदेशिकचरणा वदन्तीति  
कुप्यति मिथ्याशैवः । एकत्वात् सर्वेश्वरस्य तदितरे सर्वे कर्मवश्या  
इत्यभ्युपगमो दुष्टरिहः । तत्र रादनादेः कथमसम्भवः ? बाधाभावे  
कथं गुणवादः स्यात् ? वैदुष्यमन्यत् । वाचाटत्वमन्यादिति नायं ज्ञातुं  
क्षमः । इदं श्लोकं वयमुक्तपूर्विकैः—

वाचाटताऽन्या सुलभा जगत्यां

वैदुष्यमन्यद् विरलोपलम्भम् ।

तयः विशेषग्रहणासमर्थ-

रनात्मनीनः क्रियतेऽद्भुतासः ॥ इति ।

४३. 'नानना स्तुतिरुपपद्यते' इति वाचिनार्थकम् । प्रनापनिगत्मनो वषामुदक्खिददित्याद्यसदर्थवादैरपि स्तुतिर्दर्शनान् । अत इदं न द्रमिड-भाष्यमिति तर्कयति कुमतिः । "कथं पुनरिदं निरालम्बनमन्वाख्यायत इति । उच्यते । नित्यः कश्चिदर्थः प्रजागतिः स्यात् । वायुराकाश आदि-त्यां वा । स आत्मनो वषामुदक्खिददिति, वृष्टिं वायुं रश्मिं व" इत्या-दिना सदर्थवादमेव तं ऋणति शबरस्वामी । प्रजःपनिः स्वकायेन शक्ति-विशेषेण स्ववषामुदक्खिददित्येव च श्रुतेस्तात्पर्यं भवितुमर्हति । अनो नास्यासदर्थवादत्वमिति कुनो वाचितार्थः वं द्रमिडभाष्योक्तेः । अथवा किमन्यैः । द्रमिडभाष्यकारस्य नासता स्तुतिरुपपत्त्या इति स्वकीयं मतमेतन् ।

४६. 'देवतासायुज्याद्दशरीरस्यापि देवतावत् सत्त्वार्थसिद्धिः स्यात्' इति वदन् द्रमिडभाष्यकारः मुक्तौ प्राप्यप्राप्तृभेदं उभयोर्भोगं तत्र साम्यं च स्वाभ्युपगतं स्पष्टमावेदयति । न च इतोऽन्या परा मुक्तिस्तन्य सम्मतेत्यत्र द्विञ्चन प्रमाणमस्ति । न हि अद्वैतसम्मतेषु तत्त्वहितपुरु-षार्थेषु यन् किमपि द्रमिडाचार्याभिमतमिति अद्वैतग्रन्थकारैः तद्वचनो-दाहरणपुरस्सरमिदितमस्ति । यदि स्वसिद्धान्तानुकूलं किमपि तेनांकं स्यात् नदुदाहरणं ते कथमुपेक्षेत् । अतोऽनद्वैती स इत्यत्र नास्ति सन्देहगन्धः ।

अस्य द्रमिडभाष्यवाक्यस्य "अशरीरो मुक्तः कर्मकृतशरीराभावात्" इति श्रुः प्र० विवरणम् । अत्र ह प्राज्ञमानी—

'तन्वनावे सन्ध्यवदुत्पत्तेः' इति सूत्रपर्यालोचने अशरीरस्यपि

भोगसम्भवेन 'कर्मकृतशरीराभावान्' इति व्याख्यानं अकर्म-  
कृतशरीरसद्भावबोधकननपेक्षितम् ।

इति । अस्मन्मते 'अशरीरस्यापि भोगो भवती'ति नास्य सूत्रस्यार्थः ।  
किन्तु स्वसङ्कल्पाधीनशरीराभावे ईश्वरसृष्टशरीरेण स्वप्न इव भोग  
उपपद्यत इत्यर्थः । अशरीरत्वं सशरीरत्वमिति द्वे अवस्थे मुक्तस्य ।  
पूवस्यां निरतिशयानन्दात्मः ब्रह्मसकलतद्विभूत्यनुभवमात्ररूपो भोगः ;  
उत्तरस्यां अचनस्तदनभाषणसगन्धरादिधारणाद्यात्मकः शरीरसाध्यो  
भोगः । एतत्साधनभूतं शरीरं द्वेषा ईश्वरसृष्टं स्वसङ्कल्पाधीनं चेति ।  
अत्र आद्यं तन्वभावसूत्रोक्तम् । अन्त्यं भावे जाग्रद्वदित्यनन्तरसूत्रोक्तम् ।  
यत्तु शरीराभावदशाभोगपरतया तन्वभावसूत्रयाजनं परैः क्रियते तद-  
युक्तम् । सन्ध्यर्वादिति स्वप्नदृष्टान्तानुपपत्तेः । उच्चावचशरीरव्यापार-  
प्राप्तभासवान् हि स्वप्नः । न चैवविधोऽवधार्यः प्रतिभासः 'मनसैतान्  
कमान् पश्यन् गमने' इति श्रुतौ विवक्ष्यते । मुक्तत्वानुपपत्तेः । अस्याः  
श्रुतेरर्थश्चास्मिन् सूत्रे नाभिप्रेतः । 'उपपत्तेः' इति सूत्राणां । उपपत्ते-  
रित्यस्य 'मनसैतान् इति श्रुतेः' इत्यर्थवर्णनं भामतीकृतमवद्वमिति  
बालोऽपि बुध्यते । अगत्या तत्र तथाऽर्थ उच्यते ।

देवतासायुज्यात् देवतादन्तु सर्वार्थासिद्धिः स्यादिति द्रमिडभाष्योक्तौ  
मुक्तिकाले सशरीरानुभाव्यसकलभोग्यवस्तुसम्पत्तिरुच्यते इति स्पष्टम् ।  
अतस्तत्र 'अशरीरस्यापि' इत्येतदनन्वितं भाति । तस्मान् 'मुक्तः' इति  
अत्र विवक्षितमर्थमुक्त्वा व्यासार्थैः 'कथं मुक्तस्याशरीरत्वम् । स एकधा  
भवतीत्यादिना शरीरगमनान्' इति शङ्कापरिहाराय 'कर्मकृतशरीरा-  
भावान्' इत्युपपत्तिरुक्ता । प्रौढग्रन्थार्थावगमपाटवराहित्यादनपेक्षित-  
मिदमित्याह शास्त्री ।

४७-४८. ब्रह्मनन्दिकृतं वाक्यं छान्दाग्यव्याख्यानमेव । द्रमिड-  
भाष्यमपि तद्व्याख्यानमेव । आभ्यां ब्रह्मसूत्राणि व्याख्यातानीति अस्मत्सू-



र्थाचार्यैः कैश्चिदपि नोक्तम् । इदं पूर्वं त्रयांशे पर्वणि अस्माभिः सङ्गी-  
कृतम् । अयं तु भ्रान्तः तथा कैश्चिदुक्तमिति दृढं गृह्यत्वा तथा नेति  
पुनः पुनः वदति, चन्थदिस्तरकामनया वा महत्तस्तत्त्वस्य उद्भवात्वा स्वय-  
मिति दुरभिमानभूम्ना वा । वाक्यकारे स्वकीयत्वमभिमत्य 'अस्मदी-  
याचार्यस्य वाक्यकारस्य' इत्याह । यथा उर्ध्वानपदः तदीयाः, यथा ब्रह्म-  
सूत्राणि तदीयानि, तथा वाक्यकारःऽपि यदि तदीयः तत्र कस्य किं  
प्रतिवक्तव्यमस्ति । खण्ड-यखण्डकमवस्तु अत्र सर्वत्र सम्बन्धः ।  
लोकप्रासङ्गमेतत् ।

'सकृत्प्रत्ययं कुर्यात् शब्दार्थस्य कृत्वान्, प्रयाजादिवन्' इति पूर्व-  
पक्षे कृत्वा 'सिद्धन्तु उपासनशब्दत्' इति सिद्धान्तः वाक्यकारेण कृतः ।  
इतः प्राक्तनेन 'वेदनमुपासनं स्यात् तद्विषये श्रवणात्' इत्यनेन वाक्येन  
वाक्यकारमिप्रायः स्फुटः । मोक्षोपायतया उपनिषत्सु विहितं वेदनं  
उपासनरूपं भवति । अतो वेदनं नाम उपासनान्तरिको मुक्त्यपन्नो  
नास्तीति सिद्धयति । उपासनं यात्रदायुषमावृत्तं वेदनम् । ध्यानमिति  
यावत् । तदत्र 'आवृत्तिसकृदुपदेशात्' इति सूत्रयतो महोर्थेऽन्मतं तदेव  
वाक्यकारस्य । अनावृत्तप्रत्ययस्यैव साक्षान्मोक्षोपायत्वं वदता शङ्करा-  
चार्येण इदं सूत्रकारवाक्यकारयोर्मतं खण्डयते । एवं सति वाक्यकारः  
किमद्वैती उत सिद्धान्तान्तरावलम्बीति निर्णये ऋजुधियां न क्लेश-  
क्लेशो भविष्यति ।

उपनिषत्त्वादुपनिषदिति वाक्यम् । उपनिषदिति नाम्ना निर्व-  
चनमिह क्रियते । तत्र यस्य शब्दराशेरुपनिषदिति नाम तस्यैवापनिष-  
त्त्वं विवक्षितमिति स्वरसनः प्रतीयते । अत एव त्रिमिडभाष्यं 'गहने  
हीयं सन्निविष्टा' इति । अत्र सन्निविष्टेति उपनिषेति स्थाने प्रयुज्यते ।  
स्वरसप्रतीतं इममर्थं नेच्छति श्रीशङ्करः । उपनिषद्वैतत्वं हि एवं सति  
ब्रह्मण उक्तं भवति । निर्विशेषब्रह्मवादिनस्तद्वि रूढम् । अतः तमर्थं परि-

त्यज्य भाष्यकारमप्युपेक्ष्य 'उपनिपरणं वा अस्य परं श्रेय इत्युपनिषत्' इत्यन्यथा वाक्यं योजयति ।

तल्लब्धिविवेकवसोकाभ्यासेत्यादिवक्तव्यवचनावचरणवसरे श्रीमद्भाष्ये अभ्यासप्रिये "निर्वचनं च स्मार्तमुदाहृतं भाष्यकारेण—'सदा तद्भावभावितः' इति ।" इत्युक्तम् । अत्र स्मार्तमुदाहृतमत्येनावन्मात्रे तात्पर्यात् भाष्यकारेणेतदेतदनुवादमात्रम् । विधेयत्वाभावात् व्यवच्छेदकम् । अतः पूर्वोत्तरनिर्वचनान्यपि भाष्यकारोदाहृतान्येवंति व्यासार्था व्याचख्युः । एतदनुसारणैवेदं प्रथमं व्याख्यातवन्तोऽपि श्रद्धेशि चरणः 'निर्वचनञ्च स्मार्तमुदाहृतम् । तदपि भाष्यकारेण न तु वाच्यकारेणैव' इत्यपि श्रीभाष्यश्रीमूक्तेर्व्याख्यातुं शक्यत्वात् "अथवा अन्यत्र वाच्यकारेणैव श्रुतिरुदाहृता । अत्र तु भाष्यकारेणैव स्मृतिः" इत्यर्थान्तरमवोचन् ।

अत्र कुमनिगाह् स्मार्तव्यन्तक्तानि सर्वाणि निर्वचनानि न वाच्यकारेण नापि द्रमिडाचार्येण, अपि तु श्रीभाष्यकृतैवादाहृतातीति भवितुमर्हतीति । वाच्यव्युत्पत्त्यभावाविजृम्भितमिदम् । वाच्यकारो वा भाष्यकारो वा यदि पट्मु स्थलेषु अवश्योदाहृतव्यं निर्वचनं नोदाहरिष्यत् किमिति अभ्यासमात्रे एव स्मिन् भाष्यकारः स्मार्तं निर्वचनमुदाहरिष्यत् । किमिति च 'उदाहृतं भाष्यकारेण' इति भाष्यकारोदाहृतत्वं श्रीभाष्यकारो वदेत् । निर्वचनं च स्मार्तं 'सदा तद्भावभावितः' इत्येतावन्मात्रं हि वक्तव्यम् । तस्माद् भाष्यकारेणोदाहृतमिति वदता भगवता निर्वचनं सर्वपूर्वाचार्योदाहृतमेवेति निस्सन्देहमावेदितम् । तत्र पूर्वोक्तरीत्या एकविधं भाष्यं गृहीत्वा श्रौतान्यपि निर्वचनानि द्रमिडाचार्योदाहृतनीति व्यासार्था अवोचन् । तात्पर्यान्तरस्यापि सम्भवनालोच्य पक्षान्तरमप्याचार्यैरभ्यधायि ।

यत्तु 'निर्वचनञ्च स्मार्तमुदाहृतं भाष्यकारेण' इति हि रामानुजभाष्यम् । तेन तत्पूर्वं पश्चाच्च निर्वचनोदाहरणं स्वकीयमिति गम्यते'

इति तद्वाक्यव्युत्पत्त्यत्यन्ताभावनिबन्धनमिति पूर्वमेवोक्तम् । स्वेनोपगदित-  
स्वार्थस्य प्रामाणिकत्वप्रतीतये हि वाक्यकाराद्युक्तिप्रदर्शनं क्रियते तत्र  
स्वतन्त्रतया किञ्चिद्गुदाहरणस्य कः प्रसङ्गः । ‘निर्वचनञ्च स्मार्तमुदाहृ-  
तम्’ इत्यस्मिन् श्रीभाष्यवाक्ये स्मार्तमित्येतावन्मात्रे यदि तात्पर्यं तर्हि  
अन्यन् सर्वं श्रौतमित्यर्थान् सिद्धयति । तत्र अन्यस्योदाहर्तुर्न व्यवच्छेदः  
‘अत्र य उदाहृतां स एवान्यत्रापीति श्रीभाष्यकृतो मेनिरे’ इति अत्र  
भाष्यकारकीर्त्तनान् प्रतीतिर्भवति । यदि तु ‘स्मार्तमुदाहृतम् । तदपि  
भाष्यकारेण नेतरेण’ इति भाष्यकारपदार्थेऽपि तात्पर्यं तदा इतरां मू-  
कार एव । प्रमाणतया प्रदश्येमानवचनवक्तृतया तस्यैव प्रसक्तत्वान् ।  
उदाहृतं भाष्यकारेणेति वक्तुः श्रीभाष्यकारस्य तत्र तथात्वप्रसक्त्य-  
भावात् । एवं च ‘अत्र भाष्यकारः स्मार्तनिर्वचनप्रदर्शकः न वाक्य-  
कारः’ इत्युक्ते अन्यत्र श्रौतनिर्वचनप्रदर्शकां वाक्यकार एवेति  
सिद्धयति ।

अव्युत्पत्तिमात्मनः प्रकाशयन् अन्यद्व्याह शाब्दी—

श्रुतप्रकाशिकायामपि “इतिशब्दो भाष्यकारीयः । अत्र निर्वचन-  
मिति च भाष्यग्रन्थः” इत्युक्त्या निर्वचनानि सर्वाणि स्मार्त-  
निर्वचनव्यतिरिक्तानि रामानुजभाष्यकारोयाणीति स्पष्टमावे-  
दयति ।

इति । “अत्र निर्वचनं—आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा  
स्मृतिः, इति” इति श्रीभाष्यग्रन्थः । अत्र आहारशुद्धावित्यादेः श्रुतिः  
वाक्यत्वं, आदौ ‘अत्र निर्वचन’मित्यस्य अन्ते इतिशब्दस्य च भाष्यकारी-  
यत्वं च सम्यग् ज्ञायत एव । किमिति व्याख्यात्रा एषां आद्यन्तपदानां  
भाष्यकारीयत्वमुच्यते । किञ्च ‘पूर्वोक्तनिर्वचनान्यपि द्रमिडभाष्योक्ता-  
नीति ज्ञायते’ इति वदन् व्याख्याता कथमत्र तद्विरोधेन श्रीभाष्यकारो-  
क्तान्येव तानि निर्वचनानीत्यभिप्रेयात् । एतत्पर्यालोचने नास्ति शक्तजं-

दस्य । 'अत्र निर्वचनं 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' इत्येवंरूपं भाष्यकारेण प्रदर्शितमिति श्रीभाष्यार्थे इति व्याख्यातुरभि-  
प्रायः । "अत्र निर्वचनं भाष्यकारेणोदाहृतं "आहारशुद्धौ..." इति"  
इति वक्तव्ये 'भाष्यकारेणोदाहृतं' इत्येतदिहानुक्तवानपि "निर्वचनं च  
स्मार्तमुदाहृतं भाष्यकारेण' इत्युपरि भाष्यकारनिर्देशेनैव सर्वत्र भाष्य-  
कारोदाहृतत्वं ज्ञापयामास श्रीभाष्यकार इत्युक्तं भवति ।

यदपि "पञ्चमहायज्ञानुष्ठान शक्तितः क्रिया" इति क्रियास्वरूप-  
कथनानन्तरं 'क्रियावनेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' 'तमेतं वेदानुवचनेन  
ब्रह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति तन्निर्वचनोदा-  
हरणमसमञ्जसम् । 'ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इति हि तत्त्वज्ञानी उक्तः न  
तूपासकः । तस्य च पञ्चमहायज्ञानुष्ठानं न सम्भवति । ज्ञानकर्मसमु-  
च्चयनिषेधात् । विविदिषन्तीत्यत्र च वेदनं तत्त्वज्ञानं, न तूपासनम्"  
इति, तद्विदुषां विस्मयावहम् । वादमार्गे जनुषान्धत्वप्रकाशानात् । उपा-  
सनातिरिक्तं वेदनं परममुक्तसाधनमिति श्रीशङ्करः । नेति भगवद्रामा-  
नुजः । अत्रायं 'वेदनमुपासनं स्यात् तद्विषये श्रवणात्' इत्यादिवाक्य-  
वचनमुदाहृत्य यत्र यत्र मुक्त्युपायतया वेदनं श्रूयते तत्रतत्र तद्वेदनमु-  
पासनात्मकमेवेति वाक्यकारासिद्धान्तमुक्त्वा तद्दृढीकरणाय 'वाक्य-  
कारश्च ध्रुवानुस्मृतेः विवेकादिभ्य एव निष्पत्तिमाह--तल्लब्धिः'रित्युपक्रम्य  
वाक्यकारवचनमुपन्यस्यति । तत्र 'क्रियावनेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इत्यत्र  
ब्रह्मवेदनं उपासनात्मकमेव वाक्यकारमते । वेदनमुपासनं स्यादिति  
तेन सिद्धान्तितत्वात् । एवमेव विविदिषन्तीत्यत्रापि । एवं पञ्चमहायज्ञा-  
दिक्रियाङ्गकोपासनात्मकमेव मुक्त्युपायतया वेदान्तावहितं वेदनमिति  
वाक्यकारादिसिद्धान्तस्थितेः तद्विरुद्धः शाङ्करः केवलज्ञानवादाऽप्रामा-  
णिकः प्रामाणिकैरुपेक्षणीय इति समञ्जसं निरूपणे क्रियमाणे शङ्करमत-  
विरुद्धत्वात् न तद्वाक्यकारमन्मिति प्रत्यवतिष्ठमानस्य क्रियती बुद्धि-

मनोति विद्वांसः कथं न विस्मयेरन् ?

स्वमौढ्यातिशयस्थाननयैव अपरं डिण्डिममेव शास्त्री ताडयति । क्रियानिर्वचनोदाहरणे वाक्यद्वयमुपात्तम्—क्रियावानेप इति, तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिपन्तीति च । अत्र अस्मदाचार्याणां सर्वेषां स्वभावसिद्धां सूत्रमेतिकां स्वयमपि कुर्वन् व्यासार्थः 'क्रियावानेप इति सन्निहन्वाक्यम्' इत्याह । इदमयं नहःप्राज्ञः 'सङ्ग्रहवचनम्' इति शोधयति । अस्य शोधनस्य कोऽर्थे इति नूनं सोऽपि न वेद । वाक्यद्वये उत्तरं विविदिपन्तीति सम्प्रत्ययसहितम् । पूर्वं तु 'क्रियावानेप' इत्येतत् तद्रहितम् । इति वाक्यद्वयस्य विशेषमाह व्यासार्थः । इदं 'न हि ब्रह्मविविदिपूर्वामत्युत्तम्' इति स्वयं श्रुतप्रकाशिकाचार्यः विशदीचकार । एवमपि अजातबोधः ग्रन्थस्यान्यथाकरणसाहसमवलम्बते । ईदृशं साहसमेव तदीयग्रन्थे आरम्भात् प्रभृति आवसानं दृश्यते । 'प्राज्ञमन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन् खलः खेलतु' इति श्रीहर्षकृष्णमुपदेशं बुध्वाऽनुनिष्ठेनेन शास्त्री ब्रह्मविदपचारफलतया भाविष्यतो नरकाचिर्मादन्धनीभवनादात्मानं त्रातुं प्रभवेत् । विविदिपन्तीति सन्श्रवणमालम्ब्य वाचस्पतिना वाचनकल्पना कृत्वा । तदृशं विशेषकत्वं सनो नास्तीति व्यञ्जनाय सन्निहन्वाक्यस्याऽनुदाहरणमिति तत्त्वटीकाभावप्रकाशिवयं व्यक्तम् ।

२६. श्रीसुदर्शनसूरिः श्रीमद्वेङ्कटनाथश्च रवकीयं सिद्धान्तं साम्प्रदायिकत्वेन वाक्यद्रामिडभाष्यमूलकत्वेन च पुनः पुनः स्वग्रन्थेषु यद्युद्धोपयतः, तत् उद्देश्यम्परया तदवगमात् ; श्रीभाष्यवेदार्थसङ्ग्रहादिग्रन्थेषु वाक्यद्रामिडभाष्योक्तार्थान्तरूपणाच्च । 'पूर्वाचार्याः सर्वास्त्ररूपुः । तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते' इति भगवद्रामानुजाक्तिः किं न पर्याप्ता अस्मांसिद्धान्तस्य साम्प्रदायिकत्वपूर्वाचार्यग्रन्थमूलकत्वोद्धोषणाय । दुष्मदस्यत्प्रत्ययगोचरयोरित्युपक्रम्य अप्रतिष्ठतदुव्रततर्काव-

एम्भेन कश्चिदर्थमुक्त्वा 'यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयं  
 प्रदर्शयिष्यामः' इति प्रतिज्ञापुरस्सरं कृतं भाष्यं चे परिगृह्णन्ति तेषां  
 तथा उद्धोषणमशक्यम् । 'वयं प्रदर्शयिष्यामः' । पूर्वाचाया हि सर्वे  
 अन्यनेवार्थं प्रदर्शयन्ति इति पूर्वेषां निरस्कारान् । "तदिदं गीताराखं  
 समस्तवेदार्थसारसङ्ग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थम् । तदर्थविवरणाय अनेकै-  
 विवृतपदवार्थवाच्यवाक्यार्थन्यायमपि अन्यन्तविरुद्धानेकार्थत्वेन लौकिकै-  
 कैर्गुणमाणुसुजभ्य विवेकतः स्थानिवारणार्थं संज्ञेयतो विवरणं करिष्यामि"  
 इति गीताभाष्यारम्भे स्पष्टमाह । पदवदार्थवाक्यवाक्यार्थवधारणोप-  
 यगिन्यायपञ्चासपुरस्सरं अनेकैर्विवरणे कृतेऽपि तत्पर्यायस्य तैः  
 अथवायथमुक्तत्वात् अत्यतविरुद्धान् अनेकान् अथान् लौकिका  
 गृह्णन्ति । परतत्त्वं सगुणं गृह्णन्ति । ततो भिन्नान् मिथश्च भिन्नान्  
 जीवान् गृह्णन्ति । प्रकृतिं तत्कृतं जीवानां बन्धं च पारमार्थिकत्वेन  
 गृह्णन्ति । तन्निवृत्त्युपायं च कर्मतनुच्चितं भक्तिरूपं गृह्णन्ति । अतोऽहं  
 तत्तत्रैव निरस्य अद्वैतपरं विवरणं करिष्यामि, इति हि तत्राभिप्रायः ।  
 स एवात्राप्यभिप्रायः । न च श्रीराङ्गरः स्वस्य ग्वानन्वयं पूर्वाचार्यान्नु-  
 रोपित्वं च संपरोनुनिच्छति । धोरः ऋजुवकृतिश्च सः । स्वर्निश्चतेऽर्थे  
 तथा तस्य दृढः प्रत्ययः यथा तद्विरुद्धमपि पूर्वाचार्याणां खण्डने  
 कर्मणं वा सङ्कोचं वा मनागपि न भजते । 'तर्कप्रतिष्ठाऽनादपि' इति  
 सूत्रं त्तं तर्कस्य फलपुत्रं यथावद् गृह्णन् प्रमाणैः शरणां भवन् तद्विरो-  
 धिनं तर्कमवलम्बमानरव भवद्गामानुजः साक्षात् तद्विपरीतशीलो  
 भवति । सूत्रभाष्ये प्राचीनवृत्तिग्रन्थानां बहुलं खण्डनदर्शनान्तु श्रीभाष्ये  
 तदत्यन्तःभावाच्च द्वयोरनयोराचार्ययोः स्वभावभेदः उक्तविधः प्रस्फुटः ।  
 तत्त्वभिदनज्ञानन् शान्तां असाध्यसाधने प्रवृत्तः आत्मनं विवेकिनां  
 परिहासभाजनतां नयति ।

ओसुदर्शनविवेकतनाथौ आत्मनो दृष्टवाक्यमिडभाष्यत्वं

न ब्रूतः । नापि व्यञ्जयतः । प्रत्युन श्रीभाष्यवाक्यादभ्यूहं कुर्यन्तौ  
तदद्रष्टृतामेव ख्यायतः । एवं सति ताभ्यां तददर्शित्वमात्मन उक्तमिव  
कृत्वा तद् बहुकृत्य ततः स्वसामर्थ्येन तद्व्यतिरेकः उपलब्धः, लोकाय  
प्रदर्शितश्चेति मन्यमानः शास्त्री स्वभ्रान्तिसिद्धचोरविद्रावणप्रहृष्टो बाल  
इव अथवा उन्मत्त इव विकृत्यमानो नृत्यति ।

५०. पूर्वोत्तरवत् श्रौतनिर्वचनं अनुदाहृत्य स्मार्तं कुत उदाहृत  
भाष्यकारेणेति चेत् तत्र हेतुमाह व्यासार्थः—

अथ मुनिरिति श्रौतं निर्वचनम् । तस्य न्यायोपन्याससापेक्षत्वेन  
सहकार्यन्तरविविधित्यधिकरणे व्याख्येयत्वात् स्मार्तनिर्वचनस्य  
स्पष्टार्थत्वाच्च स्मार्तनिर्वचनमुदाहृतम् ।

इति । अत्र सुस्फुटं प्रतीयमानमपि भावं प्रहीनुमन्तमः 'अत्र यदामः ।  
सहकार्यन्तरविविधित्यधिकरणे केन व्याख्येयत्वमभिमतम्' इत्युपक्रम्य  
गम्भीरमिव अत्यन्तमसमञ्जसं किञ्चिदाह । अथ मुनिरित्येतत् स्वार्थ-  
वैशद्याय न्यायोपन्याससापेक्षम् । अत एव तत् सहकार्यन्तरविविधित्यधिकरणे  
भगवता वादरायणेन व्याख्येयं भवति । अत्र उदाहरणार्हतया स्पष्टार्थं  
न भवतीति यावन् । तथा च श्रौतनिर्वचनस्यास्पष्टार्थत्वात् स्मार्तनिर्वच-  
नस्य न्यायोपन्यासनिरपेक्षतया स्पष्टार्थत्वाच्च श्रौतनिर्वचनं ब्रह्मनन्दिनो-  
दाहृतं विहाय, अथवा स्वयं पूर्वोत्तरवत् श्रौतमनुदाहृत्य स्मार्तमुदाहृत-  
मिति ग्रन्थार्थः । अत्र केन किं वक्तुं शक्यम् ?

५१. ब्रह्मनन्दिनो वाक्यग्रन्थमिव द्रमिडाचार्यस्य भाष्यग्रन्थमिव  
च एतद्भाष्यविवरणरूपां वामनटीकामपि व्यासार्थः श्रीदेशिकश्च कीर्त-  
यतः । अत्र शास्त्री यथाशीलं असम्बद्धमेव बहु साटोपमाह । "अत्र  
सुदर्शनेन वेङ्कटनाथेन च वामनटीकेति काचन द्रमिडभाष्यटीकापि स्वयं  
दृष्टेति घुष्यते । का नामेयं वामनटीका ? किं गुह्यदेवकृतटीकातो मित्रा  
उत सैव ?" इत्यादि । उपरि च 'परेषां गुह्यदेवटीका वामनटीकेत्यादयः

अप्रसिद्धा अपि ग्रन्था उपलभ्यन्ते' इत्यादि । नूनमन्धः संवृत्तः शास्त्री,  
येन स्फुटं प्रकाशमानमर्थं यथावन्न पश्यति । श्रुतप्रकाशिकायां

‘ब्रह्मण्युपनिषण्णेत्युपनिषन् । उपनिषण्णः चोपनिषदिति हि  
वाक्यम् । ‘गहने हीयं विद्या सन्निविष्टा’ इति तद्विषयं द्रमिडभा-  
ष्यम् । ‘गहने ब्रह्मण्युपनिषण्णा’ इति भाष्यविषया वामनटीका ।”

इत्युक्तं दृश्यते । तत्त्वटीकायामपि ईदृश्येवांक्तिः । अत्र किं वामनटीका-  
न्वयं दृष्टेति योपो वर्तते ? अप्रसिद्धा ग्रन्था उपलब्धा इति किं सूचन-  
मपि वा क्रियते । असम्बद्धैकभाषणदीक्षां कृत्वा विदुषां शिरश्शूलजनन-  
मंगम्भं कुतोऽयं वहतीति न विद्वः ।

“उपनिषण्णं वा अस्यां परं श्रेय इत्युपनिषन्” इति शङ्करोक्तिं दृष्ट्वा  
कदाचिन् श्रुतप्रकाशिकाकारः तत्समानार्थकं वाक्यग्रन्थमभ्यूह्य द्रमिड-  
भाष्यवाक्यवामनटीकावाक्यद्वयमपि कल्पयित्वा व्यवहृतवान् स्यात्”  
इति तर्क्यते इत्यत्यन्तपामरदुर्जनसरणिमाश्रित्य निशशङ्कं लिखति । ननु  
कुतोऽयं तर्कः ? श्रुतप्रकाशिकावचनान् द्रमिडभाष्यस्य वामनटीका-  
वाचिद्विदिति ग्रहणे काऽनुपपत्तिः । द्रमिडभाष्यस्य या काऽपि टीका  
नासीदिति किं कुतश्चिदवधृतम् । अनुपलम्भान्नासोदिति चेत् वाक्यद्रमि-  
डभाष्ययोरप्यनुपलम्भः समानः । अस्माकमिदानीमनुपलम्भेऽपि  
आग्रन्थेषु तदुदाहरणान् तयोः स्थितत्वं ज्ञायत इति चेन् इदमपि  
तुल्यम् । वाक्यद्रमिडभाष्ये श्रीसुदर्शनसूरिणा स्वयं साक्षान्न दृष्टे । तेन  
वामनटीकाऽपि तेन दृष्टा भवितुं नार्हतीति चेत् काममेवमस्तु । तथापि  
इमानि वाक्यानि तेन स्वयं कल्पितानीति वादस्य कोऽवकाशः । तेन  
दृष्टेषु प्राचीनग्रन्थेषु केषुचित् इमानि ब्रह्मनन्द्यादिवाक्यानि उदाहृता-  
न्यासन् । तान्येवायमुदाहरार । एवं ऋजुमार्गेण उपपत्तौ सम्भवन्त्यां  
अनार्यपद्धतिमनुमृत्य कल्पकत्वं तस्य कुतः कल्प्यते । श्रीमन्नगान्त-  
महादेशिककालावधि स्थिताः न्यायतत्त्वं, प्रमेयसङ्ग्रहः तत्त्वरत्नाकरः,



षडर्थसंक्षेपः, प्रज्ञापरित्रायां इत्यादयः सुबहवो ग्रन्थाः पश्चान्नष्टाः ।  
तेषु तथाविधेषु वा ग्रन्थेषु कचिदुदाहृतानि वाक्यानि इमे आचार्याः  
स्वयमप्युदाहरन्ति । तत्र का वाच्यता ?

एवं स्वदृष्टेषु केषुचिद् ग्रन्थेषु 'हिरण्य इति रूपसामान्यत्, चन्द्र-  
मुद्गवन्' इति वाक्यं वाक्यकारीयत्वेनोक्तं पर्यन् श्रुतप्रकाशिकाचार्यः  
स्वयमपि तन् तथा आह । अन्येषु केषुचित् त्रिमिडभाष्यवाक्यत्वेनोक्तं  
तत्पर्यन् श्रीदेशिकः एवमत्र द्वैतमस्तीति ज्ञापनाय 'यथाऽऽहुर्द्रुमिडा-  
चार्याः—हिरण्य इति' इत्याह । 'अत्र ब्रूमः सदुक्तो न वयमिह मुया  
बाधितुं किञ्चिदहं' इति सङ्कर्षणार्थं विप्रतिपत्तिं प्रदर्श्य  
तत्रास्माभिः कर्तव्यां दृष्टिं हि अयमुपादष्टवन् ।

मैसूरु-मुद्रिते भाष्यवृत्तिसहिते आत्मब्रह्मसूत्रे ( II. १-६ पु० )

आराद्भिन्म्य इत्यत्र अरण्यावसाने ग्रामलीमान्तप्रभृति छदि-  
दर्शनम् । ब्रह्मज्ञप्रकरणे अद्यदिर्दरा इत्यस्य व्याख्यानवसरे  
गुहदेवस्वामिनोक्तत्वात् ।

इति रामाग्निचित्तवृत्तौ दृश्यते । अनेन गुहदेवनामा वेदभाष्यकार  
आसीदिति स्पष्टम् । वेदभाष्यकाराश्च मन्त्रब्रह्मसूत्रव्याख्यानवसरे  
सत्त्वां प्रसक्तौ वेदान्तवेद्यपरब्रह्मन्तस्म्यन्धिप्रियन्तराचन्तामपि वृत्त-  
न्ति । उदाहृतं वृत्तग्रन्थे 'ब्रह्मज्ञप्रकरणे' इत्युक्त्या निर्दिश्यमानं गुहदेव-  
भाष्यं तैत्तिरीयारण्यादिवरणरूपमिति गम्यते । तत्रार्थं नूनं जगद्ब्रह्मणोः  
शरीरात्मभावावलम्बिवशिष्टाद्वैतसिद्धान्तं प्रतिपादितवान् । अत एव  
हि तदनुसारी उक्तवृत्तिकारः तत्र 'ननु कथं 'आत्मने ब्रह्मणे' इत्युच्यते'  
उच्यते । 'य आत्मनि तिष्ठन्नःत्मनोऽन्तरः... इत्यतः यस्य आत्मा शरीरं  
स आत्मा' इति जीवशरीरक्रेऽन्तर्यामिणि आत्मशब्दप्रयोगात् । तस्य  
च परमात्मत्वान् । परमात्मनो ब्रह्मत्वेन सर्वशाखाप्रसिद्धत्वात् ।  
'नारायणः परं ब्रह्म' 'आत्मा नारायणः परः' इति नारायणपरब्रह्मस-



यत् व्यासवन्दनं कुतो न कृतमिति तत् व्यासस्य साक्षात्पुत्रह्य-  
भूतविष्णुरूपत्वात् तद्वन्दनेनैव एतद्वन्दनस्यापि लिङ्गविधायिभ्याःदिति  
समाधेयम् । व्यासाय विष्णुरूपत्वेति हि स्थितिः । यच्च जैमिनेर्ब्रह्मसूत्र-  
सम्बन्धिनः कुतो नमनमिति । तेन अत्यन्तानभिज्ञता केवलं प्रकाश्यते ।  
वेदान्तेषु ब्रह्मन्तस्सम्बन्धिविषयविशेषावधारणमात्रोपयोगिनो हि न्यायाः  
भगवता बादरायणेन ब्रह्मसूत्रेषु निबद्धाः । वैदिकपदार्थवाक्यार्थावधार-  
णोपयोगिनस्तु न्याया जैमिनिना निबद्धाः । ते यथा कर्मभागेन तथा ब्रह्म-  
भागेनपि अत्यन्तं सम्बद्धाः । अत एव हि सूत्रकारेण भाष्यकारैः व्या-  
ख्यातृभिश्च इमे न्यायाः पदे पदे उपजीव्यन्ते । तदत्र जैमिनेर्ब्रह्मसूत्रा-  
सम्बन्धित्वाभिधानं पण्डितस्य न गौरवावहम् । सुसम्बन्धित्वं नमनवाक्य  
एव 'वेदसम्पुटनिगूढविष्कारयित्रे न्यायप्रज्वलितचेतसे' इत्याभ्यां पदाभ्यां  
सुव्यञ्जितम् । सर्वोऽपि हि वेदान्तो वेद एव । तदर्थावधारणोपयुक्ताश्च  
न्याया जैमिन्युपज्ञानि । अतश्छान्दाग्यविवरणप्रवृत्तो जैमिनिं प्रणम-  
तीति सुश्लिष्टमेतत् ।

अथ कथं द्रमिडभाष्यमङ्गलस्य मीमांसान्यायकोशे दर्शनमिति चेत्  
सत्यमयं प्रश्नः समाधेयः । समाधानं चेदम् । इदानीं रक्ष्यमाणस्य तन्मूल-  
भूतस्य वा पुस्तकस्य ये लेखकाः ते श्रुतप्रकाशिकादिषु पठितमिदं मङ्गलं  
श्रुत्वा तद्रामणीयकेन आकृष्टाः तस्याविस्मरणाय अस्य पुस्तकस्य प्रथमे  
पत्रे लेखनमकुर्वन् । अकारयन् वा । अत इदं तत्र आदौ दृश्यते । 'नमः  
प्रवर' 'नमो जैमिनये' इत्यनयोर्मध्ये दृश्यमानः 'नित्यादार' इति  
श्लोकोऽपि अन्यस्यैव यस्य कस्यचित् तत्र लिखितः । नायं द्रमिडभाष्य-  
कारस्य । नापि कोशकारस्य । ब्रह्मविषयतया जैमिनिवन्दनवाक्यात्  
पूर्वं लिखितः । किञ्चायं मीमांसान्यायकोशकारः ख्यातिविचारे

'तस्मान्निविषयत्वख्यातिरेव भ्रान्तिः । इयमेव ख्यातिः ब्रह्मन-  
न्दिद्रमिडाचार्याभ्यां स्वीकृता'

इति वदति । अनेनायं वाच्यभाष्योभयदर्शीति ज्ञायते । एवं च द्रमिड-  
भाष्यारम्भस्थं मङ्गलं स्वग्रन्थे स्वयमेव निर्वाशनवानित्यपि युक्तम् । सा  
हि रमणीया रचना कस्य मनो न कर्षेत् ।

५३. सेश्वरमामांसायां श्रीदेशि चरणैः “उभयाभिप्रायवेदी भग-  
वान् बोधायनः विंशतिलक्षणीं मांसांसां परस्परसङ्गमार्थं विस्तरेण व्याख्य-  
दति वृद्धा विदामासुः इति यदुक्तं तत्रायमाह—वित्तथैतिह्यवर्णन-  
मिदम् । वस्तुतस्तु बोधायनः ब्रह्मसूत्रवृत्तिमेव कृतवानित्युक्तं रामानुजा-  
र्येण । ‘भगवद्बोधायनकृतां विस्नोर्णां’ ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्योः सञ्चि-  
क्षिपुः’ इत्येव किल रामानुजार्यो वदति—इति । अपभाषणे चक्षुरन्धं  
भर्वादिति दैवदण्डो वा, शतं दाप्य इति राजदण्डो वा यदि स्यात् नून-  
मीदृशं पाण्डतनामधारी यः कोऽपि न भाषेत । बोधायनकृतां ब्रह्मसूत्र-  
वृत्तिमित्यनेन बोधायनः ब्रह्मसूत्रवृत्तिमेव चकारेति कथं लभ्यते । न हि  
भ्रूल्लिनाथकृतं रघुवंशव्याख्यानमेते अध्यापयन्तारित्युक्ते मल्लिनाथः रघुवंश-  
व्याख्यानमेवाकरोदित्यर्थो भवेत् । अधश्शीर्षं तिष्ठनाऽपि श्रीमद्रेङ्कटनाथो-  
क्तस्य ऐतिह्यस्य अप्रामाण्यमापादयितुमशक्यमिति दृढं गृह्यतु भवान् ।

५४. प्रतिवादिभयङ्करस्वामिनोऽपि ‘स भगवान् महर्षिः बोधा-  
यनो ब्रह्ममीमांसाशास्त्रस्य सुविस्तृतां वृत्तिं कुर्वन्’ इति वदतः सूत्रान्तर-  
वृत्तिकरणव्यवच्छेदे नैव तात्पर्यम् । भगवद्बोधायनकृतार्थमिति श्रीभाष्यो-  
क्तिप्रतिपन्नार्थानुवादमात्रे तात्पर्यात् । शाबरे उपवर्षं धीर्तनेन पूर्वकण्ड-  
वृत्तिकर्तृत्वं तस्य स्फुटमवगतमिति विंशतिलक्षणीवृत्तिकारत्वेन तस्य  
नेदेशः ।

५५. बोधायनमहर्षिकृता विंशतिलक्षणीवृत्तिर्वा ब्रह्मसूत्रमात्रवृत्तिर्वा  
नैवासीत् । विशिष्टद्वैतानां कल्पनामात्रसिद्धा सेति स्थापने संरभमाणः  
बहु लिखति । तत्रोपवर्षवृत्तिरासीदिति सर्वाभ्युपगतत्वान् बोधायनस्योप-  
वर्षादनन्यत्वे बोधायनवृत्तिसत्ता सि चेदिति बिभ्यत् प्रथमं तस्य तद्-

न्यत्वसाधने प्रवृत्तः तदनन्यत्वाभिधायिवाक्यघटितं तत्प्रतीकाग्रन्थमा-  
दाय स्वकीयं कल्पनाकौशलं प्रकटयति ।

वृत्तिकारोपज्ञं स्वमतमाह—शब्दस्येति । अत्र शावरम्—गौरि-  
त्यत्र कः शब्दः । गकारोकारविसर्जनीया इति भगवानुत्पर्वः ।

वृत्तिहारम्य बाधायनस्यैव ह्युपवर्ष इति स्यान्नाम ।

इति स ग्रन्थः । अत्रान्तिमं वाक्यं बाधायन उपवर्ष एवेति ज्ञापयत्  
शास्त्रिणः अरुन्तुदं भवति । अतः स्वप्रतिभां सन्धुक्ष्यन्, 'नयं श्रीदे-  
शिकाक्तिः । किन्तु केनाचन् कृता टिप्पणो । वृत्तिकारोपज्ञं स्वमतमित्यत्र  
वृत्तिकारो हि भगवद्बाधायनकृतामिति श्रीभाष्यकारेण सवहुमानं  
कीर्तितो बाधायन एव भवितुमर्हति । तत्र 'इति भगवानुपवर्षः' इति  
शवरानदिष्टोपवर्षमतोदाहरणं न सङ्गच्छते । अतः कश्चिन् सङ्गतत्वाय  
अयमुपवर्षः बाधायन एवेति टिप्पणीं लिलेख । सा क्रमेण ग्रन्थान्तर्गता  
बभूव' इत्युक्त्वा अतिनिगूढानन्यामलभ्यपरमार्थोपलब्धामिमानजनित-  
विस्मयाध्मानचेता इत्थं मुखरीभवति—

अथाश्चर्योऽयं माहमा टिप्पणीकारस्य, तत्केशलेखकस्य, तद्-  
ग्रन्थमुद्गणकारस्य च, येनाविच्छिन्नतया पश्चात्तन्पुरुषाणां  
भ्रमपरम्परा समजनि । जानिष्यते च ।

इति ।

५६. अथ कथं तस्य वाक्यस्याग्रन्थत्वं टिप्पणीत्वं चाध्यवसीयत  
इत्यत्राह—अत्र प्रथमं निर्दिष्टो वृत्तिकारः मीमांसावृत्तिकारः उपवर्ष  
एव । तद्वाक्यम्यैवोपरि प्रदर्शयाम् । तत्र बाधायनस्यैव उपवर्ष इत्यपरि-  
नामेत्युक्तेः कः प्रसङ्गः, कथमन्वयः । अतस्तथा नियाय इति । अत्र बुद्धि-  
मन्त एन पृच्छेयुः—ननु वृत्तिकारेति सामान्यशब्दाऽयम् । स मीमांसा-  
वृत्तिकार एवाति कथमुच्यत इति । स प्रतिवदेत्—अनन्तरवाक्ये  
तत्कीर्तनादित्युक्तमिति । ते पुनर्बुधुः—तृतीयवाक्यानुवाधेन स वृत्ति-

कारो बोधायन एव । ग्रन्थश्चैवं व्याख्येयः । बोधायनोपज्ञं स्वमतमाह-  
शब्दस्यैकरूपत्वमपि न साधीय इति । तदुपज्ञमिदं मतमिति कथं  
ज्ञायत इत्यत्राह अत्र शावरमिति । नन्वत्र उपवर्षमतमुच्यते, न बोधायन-  
मतमित्यत्राह—वृत्तिकारस्य बोधायनस्यैव ह्युपवर्ष इति ग्रन्थानामेति ।  
अत्र का असङ्गतिः ? कोऽनन्वयः ? तस्मात् प्रतिपर्व मौढ्यदौर्जन्ये विना  
नान्यत् किमपि शास्त्रिणा प्रकाश्यत इति तत्त्वमस्मान्निर्गत्या वक्तव्यं  
भवति । बोधायनोपवर्ष-योगनन्वयपक्षोपक्षे-नत्पराऽयं तत्त्वटीकाग्रन्थः ।  
अन्यथा श्रुतप्रकाशिशङ्काग्रन्थवदेव स्यात् । इदं ज्ञातुं सर्वथा अक्षमं  
शास्त्री ।

५७. ननु सेश्वरमीमांसायामुपवर्षं खण्डयति श्रीवेङ्कटनाथः । स  
चेत् बोधायन एव, भगवद्बोधायनेति श्रीभाष्यकारबहुमतस्य तस्य  
खण्डनं कथमयं कुर्यादिति चेत् स्वस्यात्यन्तबहुमतस्य सूत्रकारस्य  
खण्डनं श्रीशङ्करो यथा करोति तथेति ग्रहणे कः क्लेशः । प्रामाणिक  
इति दृढगृहीतार्थविषये प्रतीपभाषिणां महतामपि मतं प्रौढा आचार्या  
निरस्यन्ति । परन्तु प्रैडिवाद् इति अन्वारुह्यवाद् इति त्रुवाणा आत्मनो  
घिनयं रक्षन्त्येव । न तेषां तिरस्कारे अल्पाऽपि मतिः ।

अथोपवर्षस्य विशातिलक्षणीवृत्तिकारत्वेन प्रसिद्धत्वात् तस्यैव  
बोधायनत्वे 'बोधायनो विशातिलक्षणी मीमांसां व्याख्यादाति वृद्धा विदा-  
मासुः' इति वृद्धोक्त्या तद् ज्ञायत इति सेश्वरमीमांसायां साधनं किम-  
र्थमिति चेत् श्रूयतम् । उपवर्षस्य तथात्वं कुतः प्रसिद्धम् ? न हि शबर-  
रङ्गीरकालादनन्तरं उपवर्षवृत्तः प्रचारे अवर्ततेत्यत्र सिद्धित् प्रमाण-  
मस्ति । शबरशङ्करोक्तयैव तत्प्रसिद्धिरिति चेत् तदेवोक्तं श्रीदेशिकचरणैः  
'वृद्धा विदामासुः' इत्यनेन । बोधायननाम्नैव तस्य तादृशवृत्तिकारत्वं  
प्रार्चानैरन्यैर्ग्रन्थकारैः स्वग्रन्थेषूक्तं स्यात् । तच्च कर्णपरम्यं चाश्रूयमाण-  
मभिप्रेत्य वृद्धा विदामासुरित्युक्तम् ।

अत्र पुनरप्युन्मत्तडिण्डिमं ताडयति शास्त्री । उन्मत्तेनैव तत्र प्रति-  
पट्टस्ताडनीयः । स्यान्नामेति पक्षभेदमात्रं ज्ञापितं श्रीदेशिकैः । उपवष-  
बोधायनयोर्भेदपक्षो न निरस्तः । भेदपक्षेऽपि बांधायनः उपवर्षवत् विश-  
तिलक्षण्याः स्वर्गीयवृत्त्यन्तरकार इत्यभिप्रेत्य च तत्र प्रमाणतया वृद्धा  
विदामासुरित्युक्तिः ।

५८. दण्डकृता अर्वान्तसुन्दरकथा श्रीमत्यनन्तपुरे मुद्रितप्रका-  
शिता उपलभ्यते । अस्यां कथायां कविः स्वस्य सवज्ञतां प्रकाशयन्  
लोकशास्त्रकलासम्बन्धिनः सर्वान् विषयान् यथोचितं तत्र तत्र घटयित्वा  
वर्णयति । तत्र सः दृष्टं बांधायनं नाम्ना कीर्तयन् तस्यैव उपवर्षत्वं  
ज्ञापयति ।

स्वामिगृहे सुब्रह्मण्यं ब्रह्मविद्याहेताः अभ्यधार(रा)धयम् । आज्ञप्तं  
च देवेन, एनमेतत्सखं पुरस्कृत्य बांधायनपाश्वमेगमत् । अन-  
म्भावी चायमर्थः । भाजनं च दिव्याध्ययनस्यैव दोर्वायुः । अतो  
विस्तृतप्रमदासुलभं स्नेहकातरत्वमिदमस्मासु पुरुषत्वं  
निक्षिप्यताम् । कृते चार्थे हस्त एव ते प्रत्यपेक्षिष्याम इति ।

इतीन्द्रदत्तनाम्नः कस्यचिद्वाक्यं तत्रास्ति । अत्र बांधायनपाश्वमेगमनोक्तिः  
स्पष्टा । इयं दुस्सहं शिरःशूलं शास्त्रिणो जनयति । अतोऽस्या विध्वं-  
सनमेव ताच्चक्रित्सेत्यवसाय तत्करोति ।

“आदिष्टं च स्वामिना श्रुतधरमादाय उपवर्षं भजस्वेति व्या-  
डिवाक्यच्छ्रुत्यामनुसृत्य “आज्ञप्तं च देवेन एनमेतत्सखं  
पुरस्कृत्य बांधाय नः उपवर्षभजनम् । भावी चायमर्थः” इति  
इन्द्रदत्तवाक्यस्य शाधनं कर्तव्यम् । नः व्याडीन्द्रदत्तवरु-  
चीनां बांधाय साङ्गवेदग्रहणाय उपवर्षभजनं देवेन आज्ञप्त-  
मित्यर्थः ।” इति ।

५९. एवं कृत्वाऽनुपदं वदति—“अत्र केचिन्नवीनाः, ग्रन्थविष-

र्यासं वा शोधनं वा मध्ये प्रक्षेपं वा निष्कासनं वा सर्वं धाष्टर्थेन कर्तुं कुशलाः इत्यादि ।

“श्रुतश्रेणीचूडामदवहुमने लक्ष्मणमते

स्वपक्षस्थान् दाषान् वितथमतिरारोपयति यः ।

स्वहस्तेनोत्क्षिप्रैः स खलु निजगात्रेषु बहुलं

गलाद्भिर्जम्बालैर्गगनतलमालिम्पति जडः ॥”

इति श्रीसूक्तेः प्रथमांदाहरणतामयं भजने । बोधायनेति रूढः संज्ञाशब्दः श्रूयते । तं ‘बोधाय नः’ इति विपर्यासयति । ‘न’ इत्येतन् ‘नः’ इति शोधयति । उपवर्षभजनमिति मध्ये प्रक्षेपं कराति । गमनं श्रुतं निष्कासयति । एवमर्तधाष्टर्थेन सर्वं कुबंजयं परान् एवंविधधर्ष्ट्यभाजोऽभिशांसति । यद्यथाऽवगम्यते तत् तथा नास्ति । यद्यथा नावगम्यते तत् तथाऽस्ति, इति यत्र साधयितुमिष्यते तदद्वैतदर्शनमिति अस्य लक्षणमाहुः । जगदस्तीति सर्वैः प्रमाणैरुपलभ्यते । तन्नास्तीति साधने व्यग्रा भवन्ति । निविशेषं वस्तु किञ्चिदस्तीति न येन केनापि प्रमाणेनोपलभ्यते । तदस्तीति साधनाय बहु प्रयस्यन्ति । एतदर्शनाभ्यासजनितरूढमूलवासनाविसरवासिनान्तःकरणोऽयं परमसार्त्त्विकान् प्रामाणिकमूर्धन्यान् पापभारून् महतः साहसकारिणो घाषयति । सर्वं साहसं बुद्धिपूर्वं दौर्जन्यकाष्ठायां स्थित्वा कुर्वन् प्रामाणिकमिव परमार्थवादिनमिव आत्मानं दर्शयितुं यतते । वाक्यग्रन्थवाक्येषु ईदृशं साहसमनेन कृतं पूर्वं प्रादश्याम । अद्य दाण्डवाक्ये एकत्र समुच्चित्य सर्वं करोतीति विशेषः ।

नारिकेलापार्जहार्षया तद्वृक्षमारूढः चोरः काश्चन कुत एवमारूढ इति पृष्टः वत्सस्य घासग्रहणायेत्यवोचदिति अस्ति कश्चिदाभाणकः । तथा रीत्या स्वकीयस्य दुःशोधनस्य हेत्वाभासान् उपन्यस्यति । तत्र “इन्द्रदत्तवाक्ये ब्रह्मविद्याहेतोरिति वेदान्तविद्यापरं न भवितुमर्हति । पूर्वं साङ्गवेदविद्याया एव प्रस्तुतत्वात् । व्याडीन्द्रदत्तवररुचीनां वैया-



करणत्वेनैव प्रसिद्धत्वाच्चे”ति यदुच्यते तद् बालभाषितम् । पूर्वं “चतुर्भिर्वेदैर्ङ्गैश्च पट्टिभः” इत्याह कविः । तत्र किं वेदान्तभागवज्जमेव चत्वारो वेदा विवक्षिताः । ओमित्यपि वदेदर्निर्वाणः । तत्र नास्माभिरुत्तरं वक्तव्यम् । विद्वत्कुलपगिहास एव तं प्रतिबोधवन्तं करिष्यति । महावैयाकरणत्वप्रसिद्धिः किं तेषां वेदान्तविद्याज्ञानत्वे तदध्येतृत्वे च विरुध्यते । ‘ब्रह्मणा वाच सर्वे वेदा महीयन्ते’ ‘सर्वे वेदा यत्पदसामनन्ति’ ‘वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः’ ‘स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठां’ इत्यादिभिः प्रतिपाद्यं महान्तमर्थं मनसि निधाय प्रथमं चतुर्भिर्वेदैरिति निर्दिष्टानेव वेदान् पुनः ब्रह्मविद्यात्वेन निर्दिष्टानीति कविः रसमयं भावं ग्रहीतुमनुभवितुं च ‘दम्भो दर्शयतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च । अज्ञानं च’ इति भगवदुक्तां आसुरीं सम्पदमभिजातस्यास्य नास्ति प्रसङ्गः ।

पूर्वं व्याडिवाक्ये उपवर्ष इत्येवोक्तम् । उपरि च उपवर्ष इत्येव प्रोच्यते । मध्ये परं बोधायन इति विचक्षणानामकरणम्य श्रोतुः पूर्वापरानुसन्धानवतः कोऽयमिति संशयावहस्य प्रसक्तिर्नास्ति ।

इति यदुच्यते तन् म्थूलदृष्टेः कविहृदयानभिज्ञतानिबन्धनम् । कविर्हि प्रथमं ‘वररुचिं नाम सुतमसून’ इति, उपर्यपि ‘तेनैव वररुचिमुखेन’ इति वररुचिनाम निर्दिशन्नापि मध्ये ‘श्रुतधरमादाय’ इति, ‘एकेन वात्सायनः’ इति च वररुचिमेव श्रुतधरेति वात्सायनेति द्वाभ्यां नामान्तराभ्यां निर्दिशति । वररुचेः एवमापि द्वे नाम्नी आस्तामिति स्पष्टोक्तिं कविमार्गानुसूपां कालव्यवहारेण तद्व्यञ्जयति । एवमेव उपवर्षस्य बोधायन इति नामान्तरमासीदिति व्यञ्जनायात्र बोधायननामनिर्देशः एतद्वद्वष्टम्भेनैव ‘वृत्तिकारस्य बोधायनस्यैव ह्युपवर्ष इति स्यान्नाम’ इति तत्त्वटीकायामुच्यते । कवितार्किकसिंहो हि स्वकालविद्यमानसर्वग्रन्थदर्शी । ‘नामूलं लिख्यते किञ्चित्’ इति च प्राचां व्रतम् ।

अथ यत् ‘बोधाय, नः, इति पदद्वये एकपदत्वभ्रान्तिः परेषाम्’

इति, तत्र ब्रूमः । सुरापायी किल कश्चिदुवाच--न न सुरां पिबेदिति नकार-  
द्वयवति श्रुतिवाक्ये एकनकारभ्रान्तिः शठानामिति । 'बोधायनपार्श्वम-  
गमत्' इत्यन्वितं वाक्यमिति सत्यमेतत् । "बोधाय नः उपवर्षं भजनं  
इत्येव शुद्धः पाठः" इति तु 'न न सुरां पिबेत्' इत्येव शुद्धः पाठः इत्येत-  
त्तुल्यम् । आज्ञप्तमित्यस्य विशेष्यमपेक्ष्यते । यवता तल्लाभः तावत्  
शोधनं कर्तव्यम्, न त्वधिकम् । अनाकाङ्क्षित्वात् ! तत्र बोधायनेति  
पार्श्वेति च पदद्वयमपेक्षितविशेष्यसमर्पणे अज्ञमम् । तदनन्तरश्रुतगम्यर्थो  
गमनं तत्त्वमम् । तत्र लुङ्गर्थो भूतत्वं नान्वेति । अतस्तन्मात्रं परित्यज्य  
गमनमिति शोधनमपरिहार्यतया कर्तव्ये भवति । तथा च "आज्ञप्तं  
च देवेन बोधायनपार्श्वगमनम्" इत्यन्वयाथयाः सामञ्जस्यात् अन्यत् यत्  
किमपि कल्प्यमानमप्रामाणिकम् ।

एवमपि 'अनम्भावी चायमर्थ' इत्युपरि दृश्यमानमनवगतार्थमेव  
श्रवतिष्ठते । तदर्थं 'बोधायनपार्श्वगमनमनु भावी' इति वा 'बोधायन-  
पार्श्वगमनेन भावी' इति वा शोधनं साधोयः । अत्र 'आज्ञप्तं च देवेन'  
इति प्राक्तनं उत्तरत्र नान्वेति । स्वतन्त्रवाक्यमेव भवति । कृता च  
कर्तव्यविषये आज्ञा देवेनेत्यर्थः । कर्तव्यं च व्याडिवाक्यज्ञातमेवेति  
पुनरिह स्पष्टं नोच्यते । किन्तु उत्तरवाक्येन व्यज्यते । बोधायनपार्श्व-  
गमनेन भावी चायं ब्रह्मचरः प्रनिर्गमोऽर्थः' इत्युक्त्या हि तत्पार्श्वं  
गन्तव्यमित्येवंरूपा सा आज्ञेति अक्लेशं प्रतीयते युक्तं च । आवश्यकं च  
आज्ञप्तं चेत्यस्य पृथग्वाक्यत्वम् । 'आदिष्टं च स्वामिना श्रुतधरमा-  
होपवर्षं भजेति' इति व्याडिवाक्य इवेह इतिशब्दाश्रवणान् । 'कृते  
चार्ये हस्त एव ते प्रत्यर्पयिष्याम इति' इतीन्द्रदत्तवाक्यावसान एव  
तच्छ्रवणान् । अतः एनमेतत्सखमित्यादि इन्द्रदत्तस्य स्ववाक्यमेव । न  
त्वाज्ञाभिन्नापकम् ।

एवं प्रमाणप्रतिपन्नार्थैकवादिनो विशिष्टाद्वैतिनः । अणुमात्रमपि न

स्वयं किमपि कल्पयेयुरिति स्थितम् । अन्ये तु नैवम् । तदिदं किञ्चिदत्र निदर्शनीयं प्राप्तं मन्यामहे । महोपनिषदि नारायणानुवाके

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।

इत्यस्मदीयः पाठः । अत्र सेन्द्र इत्यतः परं 'स हरिः' इति स्मार्तपाठाऽधिको दृश्यते । पूर्वत्र नारायणं विष्णुं परमात्मैत्याभिधेयं तद्विभूतिभूतानां देवानामत्र निर्देशात् विभूतिमतः परमात्मनो विष्णोरिह ग्रहणे नास्त्यौचित्यम् । अपि च अनुष्टुप्छन्दोबद्धोऽयं मन्त्रः । सांख्ये लापे चेत् पादपूरणमिति पाणिनिमूत्रानुरोधेन सुलापं कृत्वा सेन्द्र इति संहितया अक्षरनियमोऽत्र रक्ष्यते । तस्मात् विष्णुपारम्यासहैः छन्दोभङ्गमप्यगर्णाद्यत्वा धाष्ट्याद् वैदिकमन्त्रेऽपि स हरिरिति प्रक्षेपः कृत इति सुस्पष्टं पश्यामः । अथाप्येवं वदतोऽस्मान् प्रति 'भर्वाङ्गरेव सहरिरित्यस्योद्गापः कृतः' इति परे प्रत्यवतिष्ठेरन् । तैः

अत्र विष्णोरग्रहणेऽपि कैवल्योपनिषदि श्रूयते —

इत्यनुपपत्त्यधिकरणश्रीऋगठभाष्यं, तत्रत्या

नारायणानुवाके विष्णोरुमास्यविभूति ( त्व ) विवक्षायामपि तदनभिधाननुपासकः निदेशेनैव तल्लाभात्

इति शिवार्कमणिदीपिका च यथावद्वगन्तव्ये । दीक्षितादप्यर्वाचीनैः कल्पितोऽयमावाप इति स्पष्टम् । न चात्र भाष्ये 'विष्णोरग्रहणेऽपीत्यपिश्रवणात् ग्रहणपक्षोऽप्यस्तीत्याभिप्रायो गम्यत इति शङ्क्यम् । अत्र अग्रहणेऽपि कैवल्योपनिषदि ग्रहणात् नारायणस्य परमेश्वरविभूतित्वं सिद्धयतीति प्रतिपादनेन अपेक्षारोधार्यत्वात् । पक्षान्तरसमुच्चयार्थत्वाभावात् व्याख्यानग्रन्थे स्पष्टमेतत् ।

६०. कथासरित्सागरविसंवादात् अर्वान्तसुन्दरीकथा न प्रमाणमिति वदति । स्वतन्त्रनानाग्रन्थसंवादात् तत्त्वविषये इयमेव प्रमाणतया ग्राह्या । काव्यप्रतिभाधीनकल्पनविशेषवन्तः कथासरित्सागरादयो

ग्रन्थाः । न हि अनर्घराषवादिवशेन रामायणकथा शोधनीया भवति ।  
ग्रन्थपातादिदुस्स्थिताऽप्यवन्तिसुन्दरी प्रकृतावषये स्पष्टार्थैव ।

६१. विशिष्टाद्वैतदूषणाभिनिवेशसंज्ञपातज्वराभिभूतबुद्धिः पुन-  
र्जल्पति—

किञ्च अशुद्धमुद्रितदण्डकृतावन्तिसुन्दरीग्रन्थानुसारेण बांधा-  
यन एव उपवषं इति कथञ्चिदवगतावपि भक्तितेऽपि लयुन  
इत्याभाणकरीत्या न परेऽसिद्धः । यतस्तत्र दण्डग्रन्थे  
बांधायनाभिमतस्यापवर्षस्य शिवकुमारसुब्रह्मण्यभक्तत्वमवग-  
तम् । पराभिमतश्च बोधायनः परमैकान्ता देवतान्तरस्मरण-  
मात्रमभ्यसहमानः.....

इत्यादि । 'काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः । क्षिप्रं हि  
मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ।' इत्युक्तीत्या विद्याप्रप्त्यर्थं स  
स्कन्दमाराधयामास शास्त्रफलासिद्धयर्थम् । ब्रह्मविद्याधिगमानन्तरं स पर-  
मैकान्त्येव । परब्रह्मभूतविष्णुपरमैकान्त्यपि स्वपितृवदेव परमवैष्णवे  
स्कन्दे आचार्यप्रतिपत्तिं न विजहौ । न खलवाचार्यभक्तिः पारमैकान्त्य-  
विरुद्धा । प्रत्युत व्यतिरेके अनर्धकरी । विद्यार्थिजनसाधारणीः शङ्काः  
अयं प्रौढवादि जनोपक्षेप्यमहाप्रश्नवदाविष्करोति ।

६२. मणिमेखलानाम्नि प्राचीने प्रौढे द्रविडभाषाकाव्यग्रन्थे 'वेद-  
व्यासः कृतकोटिः जैमिनिरित्येते आचार्याः दश अष्टौ पट् च प्रमा-  
णानि स्वस्वमतेन अबाचन्' इत्युक्तम् । अयं कृतकोटिः बोधायनापर-  
न्नामा उपवर्ष इति दण्डवाक्यं स्मरतां निश्चिता धीनं नाश्रियात् ।  
एवं चेत् अहो वत विशिष्टाद्वैतासिद्धान्तप्रवर्तकमूलपुरुषः प्राचीनो  
वस्तुसन् सिद्धो भवतीति समुत्थितासूयानलज्वालामालाप्रदीपसर्वाङ्गः  
अयमन्यः कृतकोटिरिति प्रदर्शने यतते । ननु वेदव्यासः सूत्रकारः ।  
तथा जैमिनिरपि । अनयोर्मध्ये वृत्तिकारस्य कथं गणना भवेत् । न चार्थं

वृत्तिवारः वेदव्यासजैर्मिनिमतविरुद्धां प्रमाणसङ्ख्यां वदेन् इति युक्ति-  
माह । 'अतः कृतकोटिरिति वञ्चनाचार्यः बादरायणजैर्मिनिवदेव कस्य-  
चित् सूत्रग्रन्थस्य कर्ता प्रमाणसङ्ख्याविषये तद्विरुद्धवादी भवितुमर्हतीति  
प्रतीयते' इति सिद्धान्तमाचष्ट । प्रतीयत इत्याह । निश्चीयत इति  
तत्प्रकृत्यनुगुणं वक्तव्यम् । तत्तस्य हृदयमेव नूनं नानुमेने ।

अत्र धीमद्भिरयं प्रष्टव्यः—सूत्रकारां वेदव्यासः कुत्र प्रमाणानि  
दशेत्याह ? जैमिनिः कुत्र षडित्याह । आचार्यमतविरुद्धं कथं जैमिनिः  
षडिति ब्रूयात् । अतोऽत्र कीर्तितो व्यासजैमिनी अपि अन्यावेव यत्कि-  
ञ्चिद्ग्रन्थकारौ, न प्रसिद्धर्मांसाकः षड्व्यस्तुत्रकर्तारिति कुतो न  
भवतीति । न जानीमः तपस्वी किमुत्तरं प्रतिपद्येतेति । अत्रेदं तत्त्वम् ।  
अनुपलब्ध्यन्तैः षड्भिः प्रमाणैः सह ऐतिह्यसम्भवचेष्टाः कल्पितान्यत्वा-  
दश प्रमाणानीति मतं पौराणिकानामिति प्रसिद्धम् । 'अष्टादशपुराणानां  
कर्ता सत्यवतीसुतः' इति भगवतो व्यासस्य सर्वपुराणकृत्वंप्रसिद्धे  
प्रमाणविषयं तत्पौराणिकमतं व्यासप्रोक्तत्वेनैवात्रोक्तम् । चेष्टालिपी  
वर्जयित्वा अष्टौ प्रमाणानि पूर्वोत्तरर्मांसावृत्तिकारणं कृतकोटिना  
अभ्युपगतानीति तदनुसारेण अष्टानां कृतकोटिप्रोक्तत्वात् । शबर-  
दिग्भिः षण्णामेव प्रतिपादनान् एतदुक्तमपि पदत्वं सूत्रकारजैमिनिमत-  
मिति कृत्व तत्प्रोक्तत्वात् । कृतकोटिवृत्तेः विशतिलक्षण्यात्मककृत्स्न-  
र्मांसाव्याख्यानरूपत्वत् न तन्मतं जैमिनीयत्वेन वा बादरायणीयत्वेन  
वा वक्तुं शक्यम् । अतस्तस्य विशिष्य निर्देशः । शबरोक्तस्य षट्कस्य तु  
'सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद्वाप्ये यच्च वार्तिके' इति न्यायेन जैमिनीयत्वेनैव  
भिधानं सुशक्यमिति तथाऽभिधानम् । दश अष्ट षडिति क्रमेण सङ्ख्या-  
निर्देशो कर्तव्ये, तदनुगोधेन च आचार्यनिर्देशे क्रियमाणे सूत्रकारवृत्ति-  
कारत्वकृतो विशेषो न कस्यचिद् गणनापदं भवेत् विना दोषान्वेषण-  
श्रद्धोन्मेषकलुषीकृतशेषमुषीकमेनं अस्थानतः इन्द्रामोद्यमोद्धततीक्ष्णलोच-

नीशस्त्रिणं शास्त्रिणम् । तदयं मणिमेखलाग्रन्थोऽपि कृतकौटिनामकस्य  
मीमांसाग्रन्थकारस्य प्रचानस्य स्थितत्वे अत्राधितं प्रमाणमेवेति ।

६३. उक्तस्य द्वाविडकाव्यग्रन्थस्य मुद्रणाय साधने प्रवृत्तः प्रोढः  
परिडतः कश्चिन् उक्तप्रमाणसङ्ग्रहपराणां पङ्क्तीनां भावं जिज्ञासमानः  
तदवगन्तमान् अभिज्ञान् काश्चिदुपेत्य पृष्ठा प्रामञ्चद्वयमिदानीं ग्रन्थं  
प्रमाणोक्तस्य तैरुक्तान् अर्थान् टिप्पण्यां प्रकाश्य ग्रन्थः मुद्रयामास ।  
स्वमनप्रचारसमयवर्तान्निष्ठः विशिष्टाङ्गैः नः एवं तस्य बोधनं कृत्वा  
महदन्वयार्थं चक्रुरिति सन्तापमेष भजते । नूनमयं स्वप्नेषु विशिष्टा-  
ङ्गैर्नव्याद्यन् उत्पत्य स्वोपरं पततः पश्यति ।

६४. स्वकीयायां श्लोकर्वर्तिकव्याख्यायां काशिकायां सुचरित-  
मिश्रः शास्त्रभाष्ये वृत्तिकारमतनिरूपणप्रकरणे उपमानानन्तरं अर्थोक्त-  
निरूपणे हेतुमाह—“ततः पाराशर्यमनेनार्थागतहता । तदुत्तरकालमेव  
तन्मनानुसारिणा कृतकौटिना उक्तवन्” इति । गद्यकारो दण्डो,  
द्वाविडकाव्यकारः तद्भाषाकविः मीमांसाग्रन्थकारः सुचरितमिश्रः  
इत्येते सर्वे यथा विद्युः तथा प्रसिद्धः कृतकौटिकाचार्य इति निस्सन्देह-  
मवगच्छामः । अर्थोक्तव्यवहाराणामा उच्यते इति दण्डिवाक्यान्निश्चयते ।  
अत्र शास्त्राचार्यं मीमांसावृत्तिकार उपवर्षः कृतकौटिकः । अपि तु शास्त्रा-  
न्तरग्रन्थकारोऽन्यः कश्चिदिति साधनाय प्रयस्यति ।

काशिकाकारः ‘ननु वृत्तिकारमने’ इत्युक्तस्य प्रत्यज्ञानन्तरं शास्त्र-  
मेव निरूपणीयम् । कुतोऽनुमानेन तद्व्यवहारेण’ इत्यत्रिप्य “सत्यमे-  
वम् । अथ तु तन्वान्तरानुसारेण क्रम आश्रित” इत्यादिना न्यायवेशे-  
षि शब्दमतनिर्देशपूर्वकं समाधानमाह । अत्र प्रथमनिर्दिष्टो वृत्तिकारः  
उच्यते : ‘अथ तु, तन्वान्तरे’ति निर्दिष्टं तन्वान्तरं मीमांसातन्त्रादन्वयेव  
तन्त्रम् । ईदृशतन्त्रान्तरानुसारिकमनिरूपणप्रकरणे च पाराशर्यमतानु-  
सारी कृतकौटिकः । तदिमौ पाराशर्यकृतकौटिको मीमांसको यौ

कौचित् । एवं सति कृतकोटिरेव बांधायनः स एव चोपवर्ष इति कथं भवेत्, इति पृच्छति । अत्राप्ययं भ्रान्तः । यदुक्तं तन्त्रान्तरप्रकरणे. पाराशर्यकृतकोटो निदिष्टः इति तत्रास्ति । 'तेनेहापि तावत् प्रत्यक्षानन्तरमनुमानमुक्तम्' इत्यनेन तत्प्रकरणस्य समाप्तवान् । 'ततो महाविषयतया ऽकृतत्वेन पुरुषार्थोपधिःत्वेन च शास्त्रम्' इत्यत्र क्रमे तन्त्रान्तरानुसारस्याभावादनुक्तत्वाच्च । महाविषयतया प्रकृतत्वं हि 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति सूत्रोक्तलक्षणघटकृतया उपस्थितत्वमभिप्रेत्योच्यते । न्यायविस्तरे अनुमानानन्त-मेधोभगःनगिरूपणात्तदनुसारोक्तिरत्र न सम्भवति च । शब्दानन्तरं उपमाननिरूपणे तन्त्रान्तरप्रसिद्धिः पुनर्हेतुतयोक्ता—'तदनन्तरं च यत्रक्वचन वाच्ये बहूनां प्रसिद्धमित्युपमानमुक्तम् । न्यायविस्तरे हि प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानमित्युक्तम्' इति । इति बहूनां, न केवलमस्मदीयानां, अपि तु परेषामपीत्यर्थः । शब्दोपमानयोः अत्र अद्वैतस्य क्रमस्य तन्त्रान्तरप्रसिद्धत्वाभावेऽपि स्वरूपतस्तावत् इमे द्वे अपि तत्र प्रसिद्धे एव । अर्थापत्तिस्तु स्वरूपतोऽपि तत्र न प्रसिद्धा । न हि चतुर्भ्योऽधिकप्रमाणवादिनः तन्त्रान्तरकाराः केचन सन्ति । अतः स्वकोय एव तन्त्रे प्राचीनेषु ग्रन्थेषु प्रसिद्धत्वमाह—ततः पाराशर्यमनेनार्थापत्तिरुक्ता' इति । पाराशर्येणातिरिक्तप्रमाणतया अङ्गीकृता या अर्थापत्तिः सा उपमानादनन्तरं भाष्यकारेणोक्तैत्यर्थः । पाराशर्यो व्यास इति सर्वत्रिदितम् । अर्थापत्तेः पाराशर्यसम्मतत्वे उपमानानन्तर्ये च किं मानमित्यत्राह—'तदुत्तरकालमेव तन्मतानुसारिणा कृतकोटिनोक्तत्वान्', इति । उपमाननिरूपणानन्तरं 'अर्थापत्तिरपि प्रमाणमिति भगवान् पाराशर्यः' इत्येवमर्थकं किञ्चिदुक्तत्वात्तन्निरूपणं कृतकोटिना कृतम् । अतः भाष्यकारेण वृत्तिकारमतानुसारिविवरणावसरे तथैव कृतमित्यर्थः । एवमभावोऽपि कृतकोटिश्रयोक्तत्वादेव भाष्यकारेणोक्त इति सुचरितमिश्रस्याभिप्रायः । मणिमेखलोक्तिमनु-

सृत्य सम्भवैतिह्ये अपि कृतकोटिना पृथक्प्रमाणतया अङ्गीकृते इति, भाष्ये तयोरनुक्तेः शबरस्वामी नाङ्गीचकारेति च ज्ञायते । अत्र भाष्य-काराभिप्रायमाह वातिककारः—

इह भवति शतादौ सम्भवाद् या सहस्रा-

न्मतिरवियुतिभावात् साऽनुमानादभिन्ना ।

भवति बहु न सत्यं नित्यमैतिह्ययुक्तं

भवति तु यदि सत्यं नागमाद् भिद्यते तत् ॥

इति । एवं प्रत्यक्षशब्द-विनिर्गमप्रमाण-विनिर्गमं तन्त्रान्तरानुसारे-  
णेत्युक्त्वा तदनुसरणस्य प्रयोजनमाह— किं पुनरित्यादिना । अत्र तन्त्रा-  
न्तरेत्येव नत् समानतन्त्रग्रन्थान्तरस्याप्युपलक्षणम् । उपपत्तेरुक्तत्वात् ।  
अन्यथा ग्रन्थकारस्य शून्यहृदयत्वापत्तेः । तस्मात् मीमांसाग्रन्थकारः  
कश्चिन् कृतकोटिनामाऽभवदित्यत्र काशिका प्रमाणं भवत्येव ।

६५. प्रपञ्चहृदये मीमांसाशास्त्रस्य पूर्ववृत्तं सुस्पष्टमुच्यते ।

तत्र त्रिंशत्यध्यायनिबद्धस्य मीमांसाशास्त्रस्य कृतकोटिनामधेयं  
भाष्यं बोधायनेन कृतम् । तद् ग्रन्थबाहुल्यभयात् उपेक्ष्य  
किञ्चित् संक्षिप्तं उपवर्षेण कृतम् ।

इति कृत्स्नमीमांसाशास्त्रव्याख्यातृत्वं बोधायनस्य सन्देहगन्धलवलेशाना-  
स्पदसुविशदसुनिश्चितार्थैरक्षरैरवेद्यते । वृद्धा विदामासुरिति यत्  
श्रीदेशिकचरणैरुक्तं तदनेन सत्यापितं भवति । अत्राप्रामाण्यं वक्तु-  
शक्नुः पाठान्तरं शरणीकृत्य किञ्चिदाह । 'कृतकोटिना भाष्यं बोधाय-  
नेन कृतम्' इति पुस्तके अधस्तात् पाठान्तरं दर्शयते । उपरितनपाठे  
भाष्यस्य नाम कृतकोटीति । अन्यत्र कतुर्बोधायनस्य नाम । तथा च  
सन्देहाभादकपाठभेददूषितं प्रपञ्चहृदयमिदमप्रमाणमित्याह । ननु कृत-  
कोटिनामकत्वं कर्तुर्वा ग्रन्थस्य वेति कामं सन्देहोऽस्तु । मीमांसाशास्त्रस्य  
कृत्स्नस्य व्याख्याता बोधायन इत्यत्र तु न सन्देहगन्धः । कृतकोटिनाम-



धेयमित्यत्र लेखकप्रमत्तेन वा, कर्तृनामेति कुतश्चिदाकर्ण्ये शोधनं कार्य-  
मिति मत्या वा 'मधेयं' इति त्रीण्यक्षराणि परित्यक्तानि । अतः 'कृत-  
कोटिना' इति पाठप्रवृत्तिः । अथवा 'कृतकोटिना' इति स्थिते ग्रन्थनाम-  
धेयमिति श्रुतवता केनचित् 'मधेयं' इत्यक्षरत्रयं योजितमिति पाठान्तरो-  
पलम्भः । इतः पाठभेदो ग्लम्भोपपत्तिः । तत्रावान्तिमुन्दर्यनुरोधेन कर्तृना-  
मत्वं निश्चीयते । कर्तृनामैव ग्रन्थानामपि व्यवहारस्य 'मायं पठामि,  
भारविं पठामि' इति बहुलमुपलम्भान् प्रकृतेऽपि तथाव्यवहार आसी-  
दिति दुक्तमभ्युपगन्तुम् । कथमापि नायं पाठभेदः प्रपञ्चहृदयस्याप्रामा-  
ण्यापादकः । अन्यमपि पाठभेदमवलम्ब्य किञ्चिदाह । प्रथमं बोधायनः  
ततः उपवपश्च कृत्स्नमांसांसाशास्त्रव्याख्याता । अनन्तरं जैमिनीयषाड-  
शलक्षणीमात्रं देवस्वामी भवदासश्च व्याख्यातवन्तौ । ततः परं द्वादश-  
श्लक्षणीमात्रस्य शाबरं भाष्यमिति एकस्मिन् पाठे उच्यते । पाठान्तरे तु  
बोधायनानन्तरमेव शाबरस्याभिधानम् । पूर्वस्मिन् पाठे कृतकोटिवोधा-  
यनः द्विभिरुपवर्षः । उत्तरास्मिन् न तथा प्रतीतिः । एवं संदेहकारिणा  
अनेनापि पाठभेदेन प्रामाण्यं प्रपञ्चहृदयस्यैतत् । पूर्ववदेव इदमपि  
दूषणमन्वकाशमिति न विस्तरेण वक्तव्यम् । कृत्स्नमांसावृत्तिकारो  
बोधायनः आसीदित्येतन् गोपुराग्रजाग्रत्प्रदीपार्चिरव प्रकाशते । स  
बोधायन कृतकोटिनासा भवतु वा मा वा । उपवर्ष एव भवतु वा मा वा ।  
किमनेन अस्माकम् । ये तु भगवद्बोधायनकर्तारमिति भाषितवतः भग-  
वद्रामानुजस्य धूतंतां स्थापयितुमुद्युञ्जते तेषां शिरसि गाढं प्रहारं दत्त्वा  
सञ्चूर्णनहृदयनासापादयतीदं प्रपञ्चहृदयम् ।

“उपवर्षस्य बोधायन इति नान्नि विप्रतिपत्तिरस्माकम्” इत्युच्यते ।  
अवन्तिसुन्दरी अत्र भावकोटिमवलम्बते । प्रपञ्चहृदये एकः पाठः  
अभावपक्षम् । कालविप्रकर्षात् मतिभेद उत्पन्न आसीत् । तेन एको  
ग्रन्थकारः स्वेनाकर्णितं पदमभ्रयति । अपरः स्वेनाकर्णितमन्यम् ।

ग्रन्थानुपलम्भेन निर्णयस्य कर्तुमशक्यत्वाद्वास्माभिरुदासीनैर्भाव्यम् ।  
उपवर्षवाधायनौ याद् मित्रां मित्रौ तर्हि उभाभ्यां कृते वृत्ती बभूवतुरिति,  
यदि न मित्रौ तर्हि एकैव वृत्तिरासीत् । सा एकैव उपवर्षवृत्तिरिति  
कैश्चित् बोधायनवृत्तिरित्यन्यैश्च व्यवहृता बभूवतुः तु निश्चप्रचमिदम् ।  
'न बोधायन आसात् । नापि तत्कृता वृत्तिरिति शास्त्रिणा यदभिमतं  
तत् साधायितुं सर्वशक्तोऽपि न शक्तः ।

अत्यद्भुतं । लक्ष्मी-“पाठभेदबहुलाप्रामाण्यास्कन्दितप्रप-  
ञ्चद्वयमात्रानु निश्चेतुं न शक्यम् । यतः 'कृतकोटिना भाष्यं बोधायनेन  
कृतम्' इति स्थाने 'कृतकोटिना भाष्यं कृतम्' इति बोधायनपदं विहाय  
पाठः स्यादिति ऊहितुं शक्यते ।”

“'कृतकोटिना भाष्यं' इति अधो मुद्रितं पाठान्तरमेव तस्य ज्ञाप-  
कम् । बोधायन इत्यपि पदं यदि स्यात् 'कृतकोटिना बोधायनेन भाष्यं'  
इति किल पाठान्तरं प्रदर्शनीयम् । न तु कृतकोटिना बोधायनेन इति  
समानाधिकरणपदयामध्ये भाष्यमिति निवेशः समञ्जसः ।”

“तेन ज्ञायने 'कृतकोटिना भाष्यं कृतमित्येव पाठः । परैः रन्ध्रान्वे-  
षिभिः बोधायनेनेति अस्थाने योजितं पदमिति ।”

“परेषु च कोचन् बोधायनोपवर्षभेदकल्पकाः । अपरे ऐश्वर्यकल्पकाः ।  
उभयेऽपि क्रमेण पूर्वनिर्दिष्टं उपरि अधश्च मुद्रितं बोधायनोपवर्षभेदग-  
मकं तद्गमकं च पाठद्वयं कल्पयामासुः ।” इति

इदं पठन्तः शास्त्रिणि पत्रपातिनाऽपि भक्ता अपि च भवन्तः प्रज्ञावन्तः  
नूतनमयमत्यन्तमस्वस्वबुद्धिः इति अनुपजातप्रत्यथा भवितुं न शक्त्युः ।

अधस्तने पाठे बोधायनेनेति पदं किञ्चास्यति । “अस्माकं श्रुत-  
ज्ञानाश्रुतकल्पनाविकारः परिपूर्णः । अतो नास्मासु यथेच्छं यतिक्रमपि  
कुर्वन्सु काचन वाच्यते”त्यभिमन्यत इव । श्रुतपदोद्घापो यदि कर्तव्यः  
तर्हि 'कृतकोटिना' इत्येतदेव कृतो न परित्यज्यते । बोधायनेनेत्येतत्

परित्याज्यमिति कुतः, इति ह्यत्र धीमन्तः पृच्छेयुः ? 'तथा सति मया क्रियमाणस्य परदूषणस्यावकाशो न स्यात्', इत्येव जडेन निर्लज्जं प्रतिवक्तव्यम् ।

अथ परपरित्यागस्य हेतुः समानाधिकरणयोः पदयोर्मध्ये भाष्यपद-निवेशां न युज्यत इति । इदमयुक्तत्वं कृतकोटिनेत्यस्य परित्यागेऽपि परिहृतं भवति । 'मःमांसाशास्त्रस्य भाष्यं बोधायनेन कृतम्' इति पाठ-निष्पत्तेः । अथवा न किञ्चित् परित्याज्यम् । पाठान्तरानुरोधान् अक्षरत्र-ययोजनेन 'कृतकोटिनामधेयं भाष्यं बोधायनेन कृतमित्येव शोधनस्य युक्तत्वात् । समानाधिकरणपदमध्ये पदान्तरनिवेशनमसमञ्जसमिति च वाक्यशैलीविशेषसंस्तवशून्यस्य वचनम् । वाक्यशोभां मन्वाना हि ग्रन्थकाराः बुद्धिपूर्वमेवं पदानि पदान्तरैर्व्यवदधति । यथा—

तस्माद् यथाऽनधीयानस्येष्टौ निषादस्थपनेरधिकारो वचनान्  
इति भामत्यां अपशूद्राधिकरणपूर्वपद्धान्ते । यः पुनरन्ते परिवादः  
तेनावश्यकर्तव्य एव । अभिज्ञहृदयङ्गमाभिर्युक्तिभिरभिमतमर्थं साधयितु-  
मक्षमस्य कोपेनैव पूरणस्य कर्तव्यत्वात् । पाठद्वयमपि कल्पितत्वं  
वदति । अन्यतरपाठेनापि हीनं कर्ता प्रथमं लिलेखेव । पाठद्वयकल्पनं  
च किं मःतृक-वस्थानःमेव, उत मुद्रणावसरे । मुद्रणकाराः के शोधन-  
काराः के । ग्रन्थकारः कः । मातृका कुत्र स्थिता । कैः रक्षिता ! कुत्र  
लब्धा । किं तत्र विशिष्टाद्वैताभिर्निविष्टाः केचिद्गच्छन्, इत्यादि पर्या-  
लोच्य हि कल्पनापह उत्प्रेक्षणीयः । लोकशास्त्रमर्यादयोः अत्यन्ता-  
नभिज्ञोऽयं

वृश्चिकानां विषं पुच्छे मक्षिकाणां शिरस्पदे ।

दुजेनानां पुन्तलोके सर्वाङ्गीरमवस्थितम् ॥

इति बर्णितानां व्यक्तिविशेषाणामप्येसरः दुर्भाषते ।

६६. अवन्तिसुन्दर्या उपवर्षकृतकोटिवोधायनसंज्ञावान् एक एवं आचार्य इत्युच्यमानं सूक्ष्ममिदं त्र्युपपत्तमः । मांमेखलायामुक्तः कृतकोटिरपि स एवेत्यदीदृशाम । एवं सुचरितमिश्रकीर्तिनः कृतकोटिरपि स एवेति । प्रपञ्चद्वयेऽपि कृतकोटरेव बोधायनत्वं, 'तस्थोपवर्षादन्यत्वे पृथग् वृत्त्यन्तरकर्तृत्वं च स्फुटं प्रतीयत इति न्यरूपाम । अतः उपवर्षादन्यो वा अनन्यो वा कृतकोटीनां संज्ञाः बोधायनो नाम महात्मा आसीदित्यप्रकम्प्यमेतत् । "नास्तीत्येवास्माकं निश्चय इति सिद्धम्" इति यदुपसंह्रियते तत् कामं युक्तम् । शान्निष्ण एवं निश्चय इति हि सिद्धमेव । द्वेषपारवश्यकृतेन आन्ध्येन सतोऽपि वस्तुनः वीक्षणान्मत्वात् । अनेनानुसृतया नीत्या भेदश्रुतयः घटकश्रुतयश्च रन्धान्वेषिमिः विशिष्टाद्वैतभिः कल्पयित्वा उपनिषत्सु प्रज्ञिप्राः, न वस्तुतः श्रुतयः इत्युक्त्वा सुखमद्वैतं प्रतिष्ठापयितुं शक्यते । प्राञ्चाऽद्वैतिनः किल न तथा बुद्धिमन्तः यथाऽयं शास्त्री । अयं नूनमचिरान् तथापि वक्ष्यति ।

६७. परेषामयोग्यत्वनिरूपणसंरम्भान् पुनरपि 'हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यत इति प्राज्ञः सर्वान्तरः स्यात्' इत्यादिवाक्यतद्भाष्यग्रन्थविषयं वेदान्तसारादिकं प्रति किञ्चिदाह । अयं वेदान्तसारग्रन्थः—

तदेतद्वाक्यकारश्चाह—'हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यत इति प्राज्ञः सर्वेश्वरः स्यात् लोककामेशोपदेशात्, तथोदयात्पाप्मनाम्' इत्युक्त्वा, तद्रूपस्य कार्यत्वं मायामयत्वं वेति विचार्ये 'स्याद्रूपं कृतकममुग्रहार्थं तच्चेतसामैश्वर्यान्' इति निरसनीयं मतमुपन्यस्य 'रूपं वाऽतीन्द्रियमन्तःकरणप्रत्यक्षनिर्देशान्' इति ।

व्याख्यातं च द्रमिडाचार्यैः - 'नवा मायामात्रम् । अञ्जसैव विश्वसृजो रूपम् । तत्तु न चक्षुषा ग्राह्यम् । मनसा त्वक्लुषेण साधनान्तरवता गृह्यते.....'

इति । अत्र 'न वा मायामात्रम्' इति द्रमिडभाष्यस्थतया पठ्यमान-  
मसहमानो बहु लिखाति । अत्र भगवतोऽप्राकृतान्तरूपतत्त्वसाधकतया  
वाक्यभाष्ये अद्वैतप्रतिकूले एवेति सम्यङ्निरूपितम् । अथापि ते अप्रति-  
कूले इति कुर्वन् 'न वा मायामयं' इत्येतत् प्रक्षिप्तमिति प्रतिजानीते ।  
सगुणब्रह्माविषयं रूपवचनमित्येतत् पर्यायेन मिथ्यात्वप्रतिपादनमेवेति  
पूर्वमेवात्मम् । लालायां वत्सव इतिवत् शब्दभेदमात्रमिति तत्र भवान्  
वातिककारः । न वा मायामयमित्येतद्विनाऽपि मायामात्रत्वनिरासपरं  
भाष्यमिति दर्शितमेव श्रीसुदर्शनसूत्रिभिः ।

एन्द्रजालिकवस्तुवत् मायाकृतमिति शङ्काव्यावृत्त्यर्थमाह—  
तत्तु इति । मिथ्याभूतं दुष्टेन्द्रियग्राह्यम् । अदुष्टकरणग्राह्यत्व-  
श्रवणात् परमार्थभूतमित्याभिरायः ।

इति हि तेषां विवरणम् । पञ्चत्रिंशो पर्वणि इदं विवरणमुदाहृत्य शास्त्री  
अलिखत्—'तत् त्रिंशोऽध्यायेन भगवतः परमार्थपरिज्ञाननिवन्धनम्  
इत्यादि । अत्र धीर्माद्भिरिव विवेचनीयम् । भाष्ये अतीन्द्रियमित्वाद्वा-  
न्द्रियाग्राह्यत्वमुक्त्वा 'अकलुषेण मनसा साधनान्तरवता गृह्यते'  
इत्युच्यते । अत्रत्येन विशेषणद्वयेन केवलं मनसा ग्राह्यत्वं व्यवच्छि-  
द्यते । तत्र अकलुषेत्यनेन सर्वदोषहानिरुक्ता । 'साधनान्तरवता'  
इत्यनेन भक्तिवृत्तयोग्यताविशेषविशिष्टत्वमुक्तम् । एवं सर्वदोषावनिर्मुक्त-  
समग्रयोग्यतासम्पन्नान्तःकरणं ज्ञानतत्त्वव्यवपचे अपारमार्थिकत्वस्य  
सर्वथाऽसम्भवान् पारमार्थिकत्वं साधु प्रतिपादितं भवति । अथमाह—

भाष्यवाक्यं तु "भगवद्रूपं चक्षुषा न गृह्यते । किंतु विशुद्धमनसा  
गृह्यते," इति वस्तुनत्त्वं बोधयति । न तु चक्षुरग्राह्यत्वेन विशु-  
द्धमनोग्राह्यत्वेन च पारमार्थ्यं साधयति ।

इति । इदमयुक्तम् । चक्षुरग्राह्यत्वेन पारमार्थ्यसिद्धिर्न कस्यचिदभिमतता ।  
विशुद्धमनोग्राह्यत्वेन तत्सिद्धिरित्येतत्तु दुरपलपम् । अदुष्टकरणजन्य-

प्रत्यययाथाथ्याय तद्विषयतयात्वाय च अपेक्षणीयान्तःगभावात् । अद्वैतं  
ध्वस्तं भवेदिति भवतां भीतिरप्रातिराक्रोशो वा प्रमाणस्वभावं प्रमेय-  
स्वभावं वा विपर्यसितुं नालम् । यदुच्यते

अञ्जसेति पदेनोक्तं यथाभूतत्वं न हीनि वाक्येन शास्त्रस्य यथा-  
भूतवादिद्वेनोपपाद्यते

इति. तत् तथा । यथाभूतत्वं च पारमार्थिकत्वमेव । न मायामात्ररूप-  
त्वम् । मायया प्रदर्शितस्य अयथाभूतत्वात् । यथाप्रतीति सत्त्वं हि  
यथाभूतत्वम् । यत्तु “यथाभूतत्वमसत्त्वाभावमात्रं, न पारमार्थिकत्वम्”  
इति, तत् घटत्वं घटाभिन्नभेदमात्रं, न तु जातिविशेष इति बहुपहास्यम् ।  
असत्त्वाभावस्य सत्त्वरूपत्वान् । सत्त्वस्यैव पारमार्थिकत्वशब्देनोक्तेः । नन्व-  
द्वैतनामस्माकं नैवमिति चेत् कामं तथा । पारिभाषिकसत्त्वासत्त्वादिकल्प-  
नान् । द्रमिडभाष्यवाक्यानां तु लोकप्रसिद्धार्थस्यैव वक्तव्यत्वान् । यदपि

पारमार्थिकत्वार्थत्वाभिप्रायेण च परकीयमद्वैतवद्दूषणं, “पर-  
मेश्वरस्यापि सर्वशक्तत्वात् उपासकानुग्रहाय रूपोपादानसम्भ-  
वत् । किं मायामयं रूपम् । नेति ब्रूमः । पारमार्थिकमेवै-  
तत् । यथाभूतार्थज्ञापकं हि शास्त्रम् ।” इति भास्करग्रन्थार्थ-  
चौर्यरूपम् ।”

इति चौर्यत्रयपदेशेन निन्दनं, तेन दूषणस्य क्रः परिहारः । द्रमिडभाष्य-  
ग्रन्थं मनसि निधायैव हि एवं भास्करो भाषणे । अनेन ‘स्याद्रूपं कृतक’  
मिति पूर्वज्ञवाक्यं सिद्धान्ततया स्वीकृत्य तत्र कृतकमित्यस्य माया-  
मर्थमिति शाङ्करं यद् विवरणं तद् द्रमिडभाष्यविरुद्धं. अत एवापेक्ष्य-  
मिति हि भास्कराभिप्रायः स्फुटीभवति । यो हि कामनोपहनः कश्चित्  
शङ्कपीतिमवादी तं प्रथमं ‘तात, शङ्को न पीतः अपि तु पारुड्य एव’  
इति प्रतिबोध्यापक्रान्ते देवदत्तो, यदि यज्ञादत्तोऽपि तथा प्रतिबोधयेत्  
तत्र यज्ञदत्तो देवदत्तोक्तार्थचोरत्वाभिधानमात्रेण शङ्कपीतिमा न जानु

सेत्स्यति । नापि यज्ञदत्तवाक्यस्याप्रामाण्यम् ।

एवं 'न वा मायामात्रं' इत्यस्य द्रमिडभाष्ये असत्त्वेऽपि तस्य मायामयरूपनिरासपरत्व स्थितमेवेति प्रत्यपादि । तेन वृथैव शास्त्री तत्र तदसत्त्वानरूपणवैयग्र्यमवलम्ब्य मलिनमात्मानं मलिनतरं करोति । श्रीवेदान्तसारे

'कार्यत्वं मायामयत्वं वेति 'स्याद्रूपं कृतकमनुग्रहार्थं तच्चेतसामैश्वर्यात्' इति निरसनीयमतमुपन्यस्य'

इति शुद्धः समीचीनः पाठः । कार्यत्वं मायामयत्वं वेति यत् निरसनीयं मतं तत् 'स्याद्रूपं' इत्यनेन वाक्येनोपन्यस्येति योजना अर्थश्च । कृतकं क्रियया निष्पादितम् । तत्त्वं च घटादेः कार्यत्वे पर्यवसितम् । ऐन्द्रजालिकवस्तुनः मायामयत्वे पर्यवसितम् । द्विविधमपीदं कृतकत्वं निरसनायम् । 'रूपं वा' इति सिद्धान्तवाक्यस्य साक्षाद्विवरणपरं भाष्यं 'अञ्जसैव विश्वसृजां रूपम्' इति । ततः पूर्वं अर्थसिद्धं पूर्वपक्षनिराकरणं 'न वा मायामात्रं' इत्येवं क्रियते । इतः प्राक् 'न कार्यं' इत्यपि पठितं स्यादिति भाति । कार्यत्वं मायामयत्वं वेति कोटिद्वयं हि निरसनीयस्य मतस्य प्रागुक्तम् । तत् द्रमिडभाष्ये "न कार्यं न वा मायामात्रं, अञ्जसैव विश्वसृजां रूपम्" इति स्थितं बुद्धौ कृत्वैवाकमिति हि युज्यते । 'न कार्यं' इत्येतदेव कथञ्चित् 'विचार्य' इति विकृतं सत् पङ्क्तिभेदेन 'मायामयत्वं वेति' इत्यस्यानन्तरं पठितमासीदित्यपि भाति ।

मायामयत्वं पूर्वपक्षतयैवाक्तं द्रमिडभाष्ये इति भास्करभाष्यवेदार्थसंप्रहाभ्यां स्पष्टम् । तत् श्रीशङ्करः सिद्धान्ततयैव परिजग्राह । द्रमिडभाष्यविरोधं जानन्नपि अगत्या तच्च वाक्यं च उपेक्षणीयं मेने । अत्र शास्त्रिणः विपरीतसाधनप्रयासो वृथा ।

६८. यथा द्वेषभूम्ना तथा रागभूम्नाऽपि मिथ्याकल्पनासु प्रसितः शास्त्री । सूत्रभाष्यसमन्वयाधिकरणान्ते 'गौणमिथ्यात्मनाऽसत्त्वे'

इत्यादि श्लोकत्रयमुदाहृतं सुन्दरपाण्ड्यवार्तिकस्थिति चिरात्पूर्वं  
 अस्मद्द्वितीयमीमांसागुरवः म० म० श्री कुपुस्वाभिशास्त्रिवयोः निरू-  
 पितवन्तः । इदं श्लोकत्रयं द्रविडाचार्यकृतमिति श्रीबालकृष्णानन्दसर-  
 स्वतीनामा अत्यन्तमर्वाचीनः कश्चित् स्वकीये ग्रन्थे वदति । अतो  
 द्रविडाचार्यः अद्वैतीति ज्ञायत इत्याह । इदं श्लोकत्रयं सुन्दरपाण्ड्य-  
 कृतमित्याप्तरेण माधवाचार्येण विशिष्योक्तत्वात् स द्रविडाचार्यः सुन्दर-  
 पाण्ड्य एव, न वाक्यभाष्यकारो द्रविडाचाये इति सुस्पष्टमेतत् । तदपेक्ष-  
 यैव अयं अभिनवद्रविडाचार्यः । यदि त्वयं बालकृष्णानन्दसरस्वती  
 द्वांमडभाष्यकारमेव अभिप्रैतीति गमकं किञ्चित् स्यात् तर्हि स भ्रान्त  
 इति सद्योऽवधारणीयम् । 'तथा सुन्दरपाण्ड्यवार्तिकमपि देहात्म-  
 प्रत्यय ...इति' इति विशिष्य सुस्पष्टं माधवाचार्येणोक्तत्वात् । सुन्दर-  
 पाण्ड्य इत्यभिधा अस्य द्रविडदेशीयत्वमवगमयति । अतोऽयमेव  
 द्रविडाचार्यत्वेन अभिनवद्रविडाचार्यस्याभिमत इति ग्रहणे माधवाचार्योक्ति-  
 विरोधोऽपि परिहृतो भवति । सुन्दरपाण्ड्यग्रन्थस्य वार्तिकमिति  
 नाम । बालकृष्णानन्दसरस्वत्यापि स्वग्रन्थं वार्तिकमित्येवाचष्टे । अतोऽ-  
 यमभिनवसुन्दरपाण्ड्यः सन् अभिनवद्रविडाचार्यो भवतीति सुसङ्ग-  
 तमेतत् ।

सुन्दरपाण्ड्या इति प्रसिद्धाः प्राचीनाचार्याः उभयमीमांसा-

चार्याः अद्वैतसम्प्रदायस्य प्रवर्तका इति स्फुटमवगम्यते

इत्यग्रह स्वयमेव शास्त्रो । उभयमीमांसाचार्यत्वं न प्रवचनेन । अपि तु  
 ग्रन्थकरणेन । कुमारिलेन शङ्करेण च तद्ग्रन्थोदाहरणादेव तत्सत्ताया  
 अवगम्यमानत्वात् । द्वांमडभाष्यकारस्य तदितरग्रन्थकर्तृत्वं न केनापि  
 प्रमाणेनावगम्यते । इदं शतकत्व आम्नेडयामास शास्त्रो । एवमपि  
 "द्रविडाचार्याणामेव सुन्दरपाण्ड्या इत्यपि नाम स्यादिति कल्पने  
 माधवाचार्यवचनं च अविरोद्धं भवेत्" इति स्वमतानुरागातिशयेन



कल्पनप्रमोदानुभवे प्रवर्तते । 'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि' ;  
किं पुनरितरः । एवं कल्पनमुपक्षिप्य अनुपदं

“सवेथा द्रविडाचार्याः श्रद्धैतसम्प्रदायप्रवर्तका इत्यत्र नाक्षेपले-  
शस्याप्यवकाश इति सुधीरमुद्धोपयामः । इत्यलम् ।

इत्युपसंहरति । यावत् कण्ठानरोधं, यावद् वाग्वन्धं घोषणं सुकरम् ।  
प्राज्ञास्तु प्रमाणमपेक्षेन् । न खलु परगर्हामात्रेण ऋर्थासिद्धिर्भवेत् । किं  
तावद् द्रामिडाचार्यस्य तद्वाक्यं यत् तस्याद्वैतित्वं बोधयति ?

१. व्यधसंबन्धितराजकुमारविषयं
२. मधुविद्याफलभोगकालविषयं
३. शूद्रशब्दव्युत्पादनविषयं
४. ब्रह्मोपनिषद्पदविवरणपरं
५. संवर्गपदव्युत्पत्तिप्रदर्शनपरं वा

द्रामिडभाष्यवाक्यं छान्दोग्यभाष्यसूत्रभाष्यभासनीषु उदाहृतं न द्रामिड-  
चार्यस्य अद्वैतसिद्धान्तावलम्बित्वबोधनक्षमम् । तत्त्वबोधनपरत्वाभावात् ।

६. अन्तर्गुणमेव देवतां भजते ।

इत्येतत् अन्तर्गुणमित्यस्य अपार्थकरणेन अद्वैतानुगुणतया हठात्  
योजितमिति, तत्र शक्तिराः क्रियमाणा प्रत्यग्गुणामित्यधिकपदप्रक्षेपो-  
ऽप्रामाणिक इति चोक्तम् । अतो यथास्थितं तत् तद्वैतपरमिति स्पष्टम् ।  
वाक्यान्तराणि चास्मद्ग्रन्थोदाहृतानि सगुणविषयतया योज्यन्ते ।  
पाठशोधनं च तत्र क्रियते । एवं सङ्कोचान्यथाकरणाद्यनुकूलं किञ्चिदपि  
वाक्यं नास्ति । तस्मात् यथास्थितं अद्वैतपरं एकमपि वाक्यं द्रामिड-  
भाष्यस्थं स्वग्रन्थेषु परग्रन्थेषु वा उदाहृतं दर्शयितुं न शक्यते । एवं च  
तस्य अद्वैतत्वघोषणं ऊर्मिमाल्यूमिमालाघोपनिविशेषम् ।

६६. एवं अद्वैतपरं एकमपि ब्रह्मनन्दवाक्यं वा द्रामिडभाष्यवाक्यं  
वा नास्तीति सुविशदं निरूपितम् । निविशेषं ब्रह्म नास्ति, जगते

निश्चयात्वं नास्ति. इति परमतस्य ऋणोक्त्या निरसनविरहेऽपि ब्रह्मणो-  
रूपगुणमहिमादप्रतिपादनात्. अद्वैतनिरसनमर्थसिद्धम् । निगुरेणवाक्य-  
सत्त्वे हि वाक्यान्तराणां सगुणपरत्वेन सङ्काचः सिद्ध्यते. तदभावात्  
रुगुणमेव तेषां मते आर्पानपदं परमं तत्त्वमिति निर्धायते. अद्वैतस्य  
ततोऽर्वाचीनतया तयोः काले असत्त्वादेव ताभ्यामनिराकरणम् ।

'आत्मेत्येव तु गृह्णीयान सर्वस्य तन्निष्पत्तेः' इत्येतत् ब्रह्मनन्दिवाक्यं  
तद्वैज्ञान बहु स्यां प्रजायेयेति छान्दाग्यापदिष्टसर्वसृष्टिपगामार्शः । तत्र  
बहु स्यां प्रजायेयेति उपादानत्वस्य तद्वैज्ञानेति निमित्तत्वस्य चोपदेशात्  
पुनः 'तत्तज्ज पेक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजतेति निमित्तत्वोपा-  
दानत्वोपदेशालुवर्तनात् तन्निष्पत्तेरिति वाक्ये तस्मादुपादानभूतात् निमित्त-  
भूनात् च उक्तं स्थित्यर्थो विवक्षित इति स्पष्टम् । तत्र निमित्तत्वेन भेदस्य  
उपादानत्वेन अभेदस्य च प्रतीतेः शरीरशरीरिभावाऽर्थात् सिद्ध्यति ।  
स उपादानत सम्मूलाः साम्येत्यादिना स्पष्टीक्रियत इति च वाक्याभि-  
प्रायः । अतः शरीरात्मभाव एव जगद्ब्रह्मणोर्वाक्यकारविवक्षितः । न  
त्याधिष्ठानविवर्तभावः । अस्य वाक्यस्य तदुक्त्याभिधानं वाक्यान्तरस्य  
भवदायैरप्यप्रदर्शनात् । प्रत्युत शरीरशरीरिभावप्रत्यायनेन तस्यार्थतः  
प्रतिक्षिप्तत्वात् । सर्वस्य तन्निष्पत्तेरिति परैः कल्पितमिति, अन्यथात्वेऽपि  
विवर्तपरतया नेयमिति भवदुक्तेः प्रलापमात्रत्वात् । तस्मात् वाक्य-  
भाष्यग्रन्थौ अद्वैतप्रतिक्षेपकौ विशिष्टाद्वैततत्परावित्येतत् सुप्रतिष्ठितम् ।

७०-७१. श्रीमद्भाष्ये ब्रह्मसूत्रवृत्तिकारं भगवान् बोधायनो नाम्ना-  
कीर्तितः । तदीयानि वाक्यानि चोदाहृतानि । सप्तस्वेव स्थलेषु तद्वा-  
क्योदाहरणमिति गणयित्वा कुतोऽधिकानि वाक्यानि नोदाहृतानीति  
जडप्रश्नं करोति पामरः । वाक्यद्रमिडभाष्याभ्यां त्रिचतुराण्येव  
वाक्यानि बुद्धौ कृत्वा श्रीशङ्करः तत्र तत्र किञ्चिदुक्तवान् । तत् कुत.  
इति तं पृष्ट्वा तस्मात् यदुत्तरं लभ्यते तदेव प्रकृतेऽपीति प्रतिबोधनादधिकं.

किमपि वक्तुं नेच्छामः । अथवाऽत्यन्तं प्रतिकूलत्वान् वाक्यद्रमिडभाष्य-  
योरनुदाहरणं शाङ्करग्रन्थेषु । चोःचनगृन्सु विशिष्टाद्वैतैकपरा ।  
तस्याः प्रतिपदमुदाहरणे श्रीभाष्ये ग्रन्थविस्तरौ भूयान् भवेदिति  
तद्वर्जनम् ।

७२. 'सुमनसो भौमाः पिबन्त्वन्वहं' इति श्रीभाष्यर्लोकव्याख्या-  
नावसरे भौमपदवृत्त्यं विवृण्वन्तो व्यासार्थाः 'देवादीनां वृत्तिकारग्रन्था-  
दिभिः सुगमत्वाद् भौमा इत्युक्तम्' इत्याद्याहुः । एवं श्रीदेशिका अपि  
"स्वतो विदुषां स्वर्गादिभुवां प्रायो न सूत्रव्याख्यानापेक्षा । सत्यामपि  
तस्यां विशालधीयोग्यैः वृत्त्यादिभिस्ते चरितार्थाः । अतो न वृथाऽत्र  
भौमत्वोक्तिः ।" इति । अत्र अनभिज्ञो बहु जल्पति । एवं वदद्भिः वृत्ति-  
ग्रन्थः स्वर्गादिलोक एव वर्तते, न भूलोक इति स्पष्टमुक्तं भवतीत्याह ।  
अतिविस्वृतत्वात् अतिसङ्क्षिप्तत्वाच्च वृत्तिवाक्यादयो ग्रन्थाः विशिष्ट-  
बुद्धिशक्तिमतां देवादीनामुपयोगार्हा भवन्ति । अतो न तेषां अभिनव-  
भाष्यापेक्षा । अतादृशानां मनुष्याणां तु एतदपेक्षा विद्यत इति भौमपदा-  
भिप्रायं आचार्या वदन्ति । अत्र वृत्तिग्रन्थस्य भूलोकावृत्तित्वं कथमुक्तं  
भवति । यद्युक्तं भवति तर्हि वाक्यद्रमिडभाष्यग्रन्थयोरपि तदुक्तं भवति ।  
अतिविस्वृतस्येव अतिसङ्क्षिप्तस्याप्यत्र व्यावर्तितत्वात् । तत्र वृत्तिमा-  
त्रस्य भूलोकावृत्तित्वं स्वयमेव एतैः स्पष्टीकृतमित्युक्तिः अज्ञत्वदौरात्म्य-  
प्रकाशनमात्रफला ।

यच्च स्वयं प्रतिभातवेदतदर्थं देवा इति तत्र वक्तव्यं, कथं देवेन्द्रः  
शरीरातिरिक्तस्मविज्ञानाय एकशतं वर्षाणि प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवासेति ।  
मनुष्यापेक्षया पटुतरकरणा अपि आत्मज्ञाने आचार्यशास्त्रसापेक्षा एव  
देवः । 'सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ती'ति श्रुतिव्यञ्जितया रीत्या ब्रह्म-  
विन्मनुष्येऽपि देवानां पूज्यो भवति ।

"बाधायनवृत्तिः शशशृङ्गायमाणा कुत्रापि नास्ति ।" सत्यं नास्ति ।

वाक्यद्रयिडभाष्ये अपि न स्तः । ननु ते आस्ताम् । ननु साऽप्यासीत् । कुत इदं ज्ञायते । तत् कुतः । आचार्यनिर्दिष्टत्वात् इति चेत् तुल्यम् । अस्मदाचार्यनिर्दिष्टे उदाहृते च ते । वृत्तिस्तु न तथा । अतो न सा आसीदिति चेत् । किं यज्ञदत्तस्य पित्राः अनिर्दिष्टत्वात् देवदत्तस्य पिता-महो नासीदिति निश्चयो भवितुमर्हति । ननु बोधायनवृत्तेः स्थितत्वे किं प्रमाणम् । ननु “भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मपूत्रवृत्तिं” इति भगवद्रामानुजोक्तिरेव प्रमाणम् । न सा प्रमाणम् । स्वमतस्यार्षत्व-प्रकटनाय कल्पनया तेन तथाक्तेरिति चेत् सा कल्पनेत्यत्र किं प्रमाणम् ? कल्पितत्वनिश्चयो हि प्रमाणसापेक्षः । विशिष्टाद्वैतं वैष्णवैः स्यापितं दूषणी-यमित्याभिवेशं विना न खलु किमपि तत्रोपपन्नभक्तं वक्तुं शक्यते ।

यथेदं भवद्भृदयज्ञनं भवंत् तथा किञ्चिद् ब्रूमः, श्रूयताम् । सूत्रभाष्ये समन्वयाधिकरणान्ते अपि चाहुरित्युक्त्वा पठितं श्लोकत्रयं शङ्कराचार्येण रचयं कल्पितम् । स्वकीयमद्वैतं पूर्वमप्यासीदिति प्रकटनार्थम् । तत्रान्यस्य कर्तुः शशशृङ्गायमाणत्वान् ‘अत्रैव ब्रह्मविदां गागामुदाहरति’ इति सामान्येनाह वाचस्वतिः । शङ्करकृतां वञ्चनां छादयितुकामः माधवा-चार्यः ‘तथा सुन्दरपाण्ड्यवार्तिकमपि’ इत्युपक्षेपपूर्वकं तत् श्लोकत्रयं पपाठ स्वक्यायां सूतसंहितान्यख्यायाम् । कुमारिलवार्तिके निःश्रेण्या-रोहणप्राप्त्यभिःयादिश्लोकादाहरणान् तत्कर्ता सुन्दरपाण्ड्यः पूर्व-मीमांसाग्रन्थकार इत्येतद्युक्तम् । अद्वैतपरं उत्तरमीमांसाग्रन्थमपि स चकारेति तु केवला कल्पनाऽद्वैतस्य प्राचीनत्वख्यापनाय कृता । अत एव कल्पतरुकारेण वेदाधिकरणे सुन्दरपाण्ड्यनामनिर्देशपुग्स्वरं एत-दीयान् श्रुतिलिङ्गाधिकरणश्लोकान् पठताऽपि समन्वयाधिकरणे गौण-मिथ्यात्मन इत्यादिश्लोकाः सुन्दरपाण्ड्यवार्तिकस्था इति नोक्तम् । अवश्यवक्तव्यं ह्येतत् । यस्मान्नोक्तं तस्मान्निश्चीयते “नैते श्लोकाः सुन्द-रपाण्ड्यस्ये”ति स मेने, इति । यदि श्रीरामानुजसुदर्शनसूरिप्रभृतयः

अनुजवः अयोग्याः, वञ्चनपराः, शङ्करमाधवप्रभृतयो नेति कः प्रत्ययः ।  
 वस्तुतस्तु बोधायनवृत्तिं निर्दिशत्येव शङ्कराचार्यः । 'नन्विह कर्मा-  
 वबोधानन्तर्यं विशेषः' इत्यनेन निरसनाशोपात्तं हि मतं 'वृत्तात् कर्मा-  
 धिगमादनन्तरं ब्रह्मविविदिषा' इति वदतो बोधायनस्यैव । 'अपरे तु  
 वादिनः पारमार्थिकमेव जैवं रूपमिति मन्यन्ते, अस्मदीयाश्च केचित्'  
 इति दहराधिकरणे केचिदित्युक्तो बोधायन एव । तस्य पारमार्थिक-  
 जीवस्वरूपस्येष्टत्वात् । वेदान्तित्वेन तं 'अस्मदीयाः' इति विशिनष्ट ।  
 श्रीभाष्ये यत्र यत्र वृत्तिकार उदाहृतः तत्र तत्र बोधायनमतानुसारित्वं  
 तन्निराकरणपरत्वं च शङ्करस्य ज्ञापितम् । अतो बोधायनस्य स्वकीय-  
 ग्रन्थेष्वनिर्दिष्टत्वात् तद्वृत्तेः कल्पितत्वं सुवचमिति वृथा मनोरथं कुर्वन्  
 शास्त्री खलजनक्षणे पथि सुदूरं गत इति शोचनीयमेतत् ।

७३. ब्रह्मसूत्रवृत्तिकारस्य बोधायनस्य शश्टृङ्गायमःणतामुप-  
 पादयितुकामः प्रथमं नस्य श्रौतगृह्यधर्मनृत्रकारबोधायनमहर्षेर्व्यतिरिक्ततां  
 साधयितुं प्रवृत्तः अथ महर्षिः परमाद्वैती शिवभक्तश्चेति प्रतिजानीते ।  
 तस्याद्वैतत्वे प्रमाणं किमपि न प्रदर्शयति । शिवभक्तस्याद्वैतित्वं स्वतः  
 सिद्धमिति मन्यत इव । तत् न । शैवसिद्धान्ते जगत्सत्यत्वस्य जीवाना-  
 मीश्वरात् अन्योन्यं च भेदम्य चाभ्युपगमात् । शिवाद्वैतादेरत्यन्तमर्वा-  
 चीनत्वात् । शाङ्करस्याद्वैतस्य गौडोपज्ञत्वेन ततः प्राक् सर्वथा अप्रसिद्ध-  
 त्वाच्च । ऋषीणां काले यद्यप्यात्माद्वैतं ब्रह्माद्वैतमित्येवमात्मकं विद्विद-  
 द्वैतं स्थितं तथाऽपि तस्यैकस्यात्मनो ब्रह्मणो वा निर्गुणत्वं केवलचैतन्य-  
 रूपत्वं जगन्मिथ्यात्वं च न येन केनापि ऋषिणा अनृषिणा वा मूर्खसा-  
 ऽपि चिन्तितमासीत् । सर्वमिदं सौगतप्रतिभाविलसितं गौडपादेन  
 परिगृहीतम् । तस्मात् अस्मात्प्राचीनो यः कोऽपि अद्य विशमानाद्वैति-  
 तुल्योऽद्वैती बभूवेत्येतदसम्भवदुक्तिकम् ।

शिवभक्तत्वं च किं शिव एव भक्तत्वं अथवा शिवेऽपि भक्तत्वमिति

विन्तनीयम् । अत्र आद्यपक्षांपयुक्तं न किञ्चिदुक्तम् । 'रुद्रपुरुषसूक्तयो-  
स्तुल्यं पावनत्वं बोधयति' इति उभयभक्तत्वं तु ज्ञापितम् । द्वितीयपक्षे  
तु सूर्यइषेष्ठादिकलाविधानान् तद्भक्तत्वमपि प्रसज्यते । मांक्षप्रदस्य  
सर्वेश्वरस्य एकत्वान् नानादेवताभक्तत्वे स न मांक्षार्थीति परतत्त्वज्ञान-  
शून्य इति च वक्तव्यं स्यात् । यत् त्रिपुण्ड्रधारणं भस्मसम्पादनतद्धा-  
रणप्रकारं च बोधायनो विवक्षते इति ततः किम् ? "होमपूजादिसमये  
सायं प्रातः समाहितः । ऊर्ध्वपुण्ड्रधरो विप्रो भवेच्छुद्धो न चान्यथा"  
इत्यूर्ध्वपुण्ड्रधारणं सविशेषतो विवक्षते । तेन एकजातप्रायाणां द्विजातीनां  
त्रिपुण्ड्रधारणं व्यवर्तितेति । इदं वचनं स्मृतिरत्नाकरं वैदिकसार्वाभौमे-  
नाप्युदाहृतम् । इदं वचनं कल्पितमिति चेत् भवता प्रयुक्ताऽयं बाणः  
भवन्तमेव प्रहरति—'अथातो द्विजातीनां त्रिपुण्ड्रधारणावधि' इत्यादि  
शैवैः कल्पितमिति ।

श्रीसञ्चारित्रज्ञायां देशिकचरणैरुदाहृतस्य, 'होमपूजादिसमये' इत्यादि-  
श्लोकस्य स्वेनारोपितं कल्पितत्वं द्रढयितुमना जडः अन्यदप्याह—

एवमेव वेङ्कटनाथः स्वीयाभिनिवेशेन 'अथातो महापुरुषस्या-  
हरहः परिवर्त्यावधिं वक्षस्यास्यामः' इत्यादिवांशायनवचने  
"इदं त्रिष्णुर्वचक्रमे" इत्येतया चरुं प्राश्नायात्" इति अहं  
वैष्णवांस्मृतिं यः प्रतिब्रूयात् तस्मै शेषं प्रदद्यात् । एतैरेव  
मन्त्रैः प्राश्नायात् ।" इति अधिकमप्यंशं कल्पितवान् । स  
चाधिकभागः स्मृतिमुक्ताफलादिनिबन्धेषु न दृश्यते । वैदिकः  
बोधायनमहर्षिश्च कथं तान्त्रिकं निर्माल्यभक्षणं विद-  
ध्यात् । तस्मात् तत् वेङ्कटनाथकल्पितमेव । एवं च प्रसिद्धो  
बोधायनमहर्षिः परमाद्वैती शिवभक्तश्च ।

इति । अत्र तत्त्वमनुपदं विशदीकरिष्यामः । द्रमिडात्रेयदर्शनाभिवाने  
अभिन् निबन्धने कामक्रोधादिप्रबलान्तःशत्रुवर्गोपहतचेताः शास्त्री

जायमानकटाक्षविशेषधन्येषु आर्जवनिधिषु प्रामाणिकमूर्धन्येषु अपार-  
नीतिसागरपारगेषु वेदान्तवित्तमेषु ब्रह्मवित्सु अस्मदाचार्येषु असह्याप-  
चारपरम्परां महतीमाचरितवान् तत्त्वामिदं विज्ञाय आत्मत्यागपर्यन्त-  
मात्मनः प्रायश्चित्तं यदि व्यवस्येत् तर्दापि पर्याप्तं न वेति संशेमेहे ।  
'जिह्वामुत्थात्र्य सपदि मर्तव्यं ननु मानिना' इत्यन्यत्र क्वचिदस्माकं  
वक्तव्यमासीत् । तदिदानीं स्मृतिपदमायाति । अस्मदाचार्याः सत्यैक-  
निष्ठाः सत्यैकबलाः । अहिंसा प्रथमं पुष्पमित्यारभ्य 'सत्यमष्टविधं  
पुष्पं विष्णोः प्रीतिकरं भवेत्' इत्युपदिष्टैरष्टाभिः पुष्पैः भगवदर्चनपराः ।  
तैरुदाहृतं वचनं यद्याकरे न दृश्यते तर्हि तत्र ग्रन्थपात इति वा अभि-  
निविष्टैः कैश्चिदुद्वापः कृत इति वा सर्पादि अध्यवसातव्यम् । न त्वाचा-  
र्येषु अनार्जवं मनागपि शङ्कनीयम् । तेषां स्वभावस्यात्यन्तविरुद्धत्वात् ।  
इदं विष्णुविचक्रम इत्येतया चरुं प्रश्नीयादित्यादि सञ्चरित्ररक्षाया-  
मुदाहृतं बोधायनवचनं तदीये गृह्यसूत्रे अस्ति च दृश्यते च । तत्तु  
न महापुरुषानित्यपरिचर्याविधिप्रकरणे । अपि तु तत उत्तरं विष्णुकल्प-  
विधानप्रकरणे । तत्रान्ते एवं पठ्यते—

इदं विष्णुविचक्रम इत्येतया चरुं प्राश्नाति । एवं घोषयेत्—  
यो वैष्णव इत्याह । वैष्णवोऽस्मीति यः प्रतिब्रूयान् तस्मै शेषं  
दद्यात् । एतैरेव मन्त्रैः प्राश्नाति । प्राश्याप आचम्य....द्वादशा-  
क्षरं जपित्वाऽश्वमेधफलमाप्नोति सक्वादिष्ठा सनातनमिति ।

[ मैसूरु मुद्रणे २७५--६ पुटयोः ]

इति । शिवविष्णुपूजयोरुभयोरपि विधानेऽपि शिवस्योत्कर्षं सूचयन्ति  
बोधायन इति

बोधायनश्च शिवपूजाविधौ ब्रह्मावष्णवोस्तदावरणे निवेशात्  
देवतान्तरपूजाविधिषु शिवस्यावरणदेवतास्वनिवेशाच्च तस्य  
सर्वोत्कर्षं सूचयामास ।

इति शिवतत्त्वविवेके दीक्षितोक्तमुदाहरन्नाह । स्पष्टार्थैर्वचनैः सुप्रतिष्ठितैः समीचीनैर्न्यायैश्च देवतापारमार्थ्ये आचार्यैरवधार्यमाणे पामरैकहृद्याभिः श्वासमात्रविधूननीयाभिरिन्द्रशीभिः लुद्रयुक्तिभिः किं भविष्यति । शिवः स्वरूपेणः शिवः । अतः तस्य रुद्र इति स्वनाम्ना कीर्तनं कीर्तयनामशिवावर्हामिति स शिवशब्देनोच्यते । यथा नालवर्धनमिति छेदनं वर्धनशब्देनोच्यते तथा । अत एव 'रुद्रः पशूनामधिपतिः' 'मानः स्तोके तनये' इत्यादिभिर्मन्त्रैः रुद्रहोमे ऋते 'अप उपस्पृश्य' इति वदन्तः अपामुपस्पर्शनं कुर्वन्ति । रुद्रो बहुशिरा बभ्रुरिति भगवत्परतया प्रयुज्यमानस्य रुद्रनाम्नः रुद्रावकत्वव्युत्पत्तावपि शिवपरतया प्रयुज्यमानस्य हि रोदिति वा रोदयतीति वा व्युत्पत्त्या ऋशुगाः प्रदत्तः च त्वं भवति । 'एषा वा अस्य घोरा तनूर्यद्रुद्रः' इति च श्रुतिः । अतो यत्र तस्य पूजा क्रियते तस्य देशस्याप्यशुद्धिप्रसङ्गान् तत्परिहाराय 'पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्' इति प्रथितप्रभावस्य विष्णोः तदावरणे निवेशनम् । विष्णुपूजास्थलस्य स्वयं पूतत्वात् अशुद्धिप्रसङ्गस्य परिहार्यत्वाच्च न शिवस्य तत्र निवेशनमिति विभाव्यम् । शिवनिर्माल्यं सर्वं प्रतषिद्धम् । विष्णवे समर्पितं तु सर्वं 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः' इत्युक्तीत्या परमपावनम् । विष्णवे असमर्प्यं उपयुज्यमानं तु सर्वं पापाय । शास्त्रैः प्रतिषिद्धम् ।

अत्रेदं बोध्यम् । "कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः । तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ।" इत्युक्तीत्या नानाप्रकृतीनां ज्ञानानां तत्तदधिकारानुगुणविविधक्रियोपदेशं कुर्वाणा ऋषयः स्वग्रन्थेषु विहितं सर्वं स्वयमप्यन्वतिष्ठन्निति ग्रहणं मूढकृत्यम् । यो यो यां यां तन् भक्तः, न बुद्धिभेदं जनयेत्, इत्यादिनीत्या अप्रबुद्धानामनुग्रहाय तदवलम्बितस्यैव मार्गस्य सम्यगनुवर्तनप्रकारं प्रदर्शयन्ति । भगवन्नारायणोत्तरभजनपराः सर्वे 'तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्' इति



भगवदुक्तकर्मण अविधिपूर्वककर्मकारिण इति जनन्ता महर्षयः 'अन-  
न्यारिचिन्तयन्तो माम्' इत्येतद्रीत्याः स्वयं परमैकान्तिन एवाभवन् ।  
षण्मत्स्वामनाचार्योऽपि श्रीशङ्करः स्वयं परमैकान्तयेव । स खलु गीता-  
भाष्ये एवमाह—

याति मयाग्निनः मद्यजनशीला वैष्णवाः मामेव याति ।

समानेऽप्यायाते मामेव न भजन्ते अज्ञानान् । तेन ते अल्प-

फलभाजा भवन्तीत्यर्थः ।

इति । एवमुक्तवान् स किमज्ञानां पन्थानमनुसृतवान् भवेत् । आहुश्च  
श्रीदेशकाः सर्वत्रमानिति श्लोकविवरणान्ते तात्पर्यचन्द्रिकायाम्—  
मिशा चरन्ति देवगुप्रशङ्करयादवप्रकाशभास्करनारायणार्यैयज्ञस्वामिप्रभृति-  
भिः स्व स्वं मतमास्थितैः परशतैर्भाष्यकर्तृभिः अस्मत्सिद्धान्ततार्थैर्करैश्च  
भगवद्यामुनाचार्यभाष्यकारादिभिः अविगीतपरिगृहीतोऽयमत्र सारार्थः—  
“भगवानेव परं तत्त्वम् । अनन्यशरणैर्यथाधिकारं तदेनाध्वर्यं परम-  
धर्मः ।” इति । इति । प्राञ्चाऽद्वैतग्रन्थकाराः प्रायेण वैष्णवा एव ।  
शङ्करमठसन्न्यासिनोऽपि 'नारायणस्मृतिमेव' सदा कुर्वन्ति, न  
शिवस्मृतिम् । मोक्ष । श्रमो हि सन्न्यासः । मोक्षप्रदश्च जनादेनः । “ब्रह्माणं  
शितिकण्ठं च यश्चान्या देवता स्मृताः । प्रतिबुद्धा न सेवन्ते यस्मात्परि-  
मितं फलम्” इति पञ्चमे वेदे भगवान् व्यासः देवतान्तरभजनमप्रतिबुद्ध-  
विषयमवधारयति । गृहस्था अपि स्मार्ताः पूर्वं शैवत्वेनाभिहिताः क्रुद्धा  
अभवन् । चन्दनाध्वपुण्ड्रधारिण आसन् । भस्मधारिणोऽपि श्राद्धकाले  
तद्धारणं वर्जयन्ति स्म ।

शास्त्राण्ये सर्वजनविषयणि । तत्र यस्त्वाधिकारानुरूपं तत् तेन तेन  
ग्राह्यम् । 'यावानर्थं उदधाने, त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्या भवार्जुन'  
इति भगवदुपदेशं जानद्धिः निश्श्रेयसकामैः तत्परमैकान्तिभावादन्यन्म-  
नसाऽपि न चिन्तनीयम् । परब्रह्माभिधानः सर्वेश्वर एक एवेति वेदा

उपदिशान्ति । तस्य लक्षणं जगज्जन्मास्वितिलयकारणत्वम् । परन्तु इद-  
मन्यत्र परब्रह्मलक्षणं बहुत्र श्रूयते । इन्द्रसोमसूर्यादिषु । अथाप्येषां  
सृष्टिवचनात् योगेन वा अपर्यवसानवृत्त्या वा एषां शब्दानां परब्रह्मा-  
भिधायित्वं वक्तव्यं भवति । अत इन्द्रादीनां न परब्रह्मता । एवमेव  
रुद्रस्यापि । सृष्टिश्रवणात् । विष्णोः सृष्टिश्रवणं अवतारपरम् । अजाय-  
मानां बहुधा विजायत इति श्रुत्यैव विवरणात् । न च शिवस्य अवताराः  
केनविदिष्यन्ते ज्ञायन्ते वा । न ब्रह्मा नेशान इति प्रत्ये तदभावश्चा-  
म्नायते । न च भगवत एवं क्वचिदसत्त्वश्रवणमस्ति । नारायणानुवा-  
केन, अग्निरवमां देवतानां विष्णुः परम इत्यनेन च कण्ठाक्त्या भगवतः  
परत्वं सिद्धम् । साक्षादुपादानकारणस्यैव परब्रह्मभावमुपनिषदः श्रावयन्ति ।  
तन्त्रोक्तं शिवपारम्यं वैदिकं चिकीर्षन्तांऽपि साक्षादुपादानत्वं शिवस्य  
नेच्छन्ति । सृज्यमानो रुद्रोऽन्यः । परमेश्वरो रुद्रोऽन्यः । अयं विष्णु-  
द्वारा उपादानमिति कल्पयन्ति । उपादानव्यतिरिक्तः परो नास्तीति  
ओपनिषदः सिद्धान्तः । अतो रुद्रस्य परत्वश्रवणं इन्द्रादिपरत्वश्रवणव-  
दुपपद्यत इति रुद्रान्तरकल्पने न किञ्चित् प्रमाणमस्ति । तस्मात् विष्णु-  
रेव परं तत्त्वमिति महर्षीणां सर्वेषां प्राचामाचार्याणां च एकः  
सिद्धान्तः ।

“गीतिज्ञो यदि योगेन नाप्नोति परमं पदम् ।

रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते ॥”

इति योगप्राप्त्यात् परमपदस्थात् अन्यः अर्वाचीनो देवो रुद्र इति  
स्रष्टृमाह याज्ञवल्क्यः । न चायं सिद्धान्तः यैः कैश्चिदप्यन्यथाकर्तुं  
शक्यः । एवं तत्त्वनिर्णयं कृतवन्तः प्राज्ञाः तत्प्राप्तिरूपपरमपुरुषार्थकां-  
क्षिणां तदनुस्थां वृत्तमभि व्यवस्थापयामासुः । तदवगमाय वृद्धहारीत-  
स्मृतिश्लोका इमे इहोदाह्रियन्ते—

द्वितीयेऽध्याये—

शुभ्रेणैव मृदा पश्चाद् विभृयात् सुसमाहितः ॥५७  
 त्रिसन्ध्यासु सदा विप्रो यागकाले विशेषतः ।  
 श्राद्धे दाने तथा हांमे स्वाध्याये पितृतर्पणे ॥५८  
 श्रद्धानुरूर्ध्वं पुण्ड्राणि विभृयाद् द्विजसत्तमः ।  
 तद्धारयेद्धरेर्नित्यमूर्ध्वपुण्ड्रविधानतः ॥५९  
 श्राद्धं होमस्तथा दानं स्वाध्यायः पितृतर्पणम् ।  
 भस्मीभवति तत्सर्वमूर्ध्वपुण्ड्रं विना कृतम् ॥६०  
 ऊर्ध्वपुण्ड्रं विना यस्तु श्राद्धं कुर्वीत स द्विजः ।  
 सर्वं तद्राक्षसैर्नीतं नरकं चाधिगच्छति ॥६१  
 ऊर्ध्वपुण्ड्रविहीनं तु यः श्राद्धे भोजयेद् द्विजम् ।  
 अश्नन्ति पितरस्तस्य विष्णुत्रं नात्र संशयः ॥६२  
 तस्मात्तु सततं धार्यमूर्ध्वपुण्ड्रं द्विजन्मना ।  
 धारयेन्न तिर्यक्पुण्ड्रमापद्यपि कदाचन ॥६३  
 तिर्यक्पुण्ड्रधरं विभ्रं चण्डालामिव सन्त्यजेत् ।  
 सोऽनर्हः सर्वकृत्येषु सर्वलोकेषु गर्हितः ॥६४

अष्टमेऽध्याये—

नारायणः परं ब्रह्म विप्राणां दैवतं सदा ।  
 तस्य भुक्तावशेषं तु पावनं मुनिसत्तमाः ॥७१  
 हरिभुक्तोऽभितं दद्यात् पितृणां च दिवानिशम् ।  
 तदेव जुहुयाद्ब्रह्मै भुञ्जीयात्तु तदेव हि ॥७२  
 हरेरनर्पितं यत्तु देवानामर्पितं च यत् ।  
 मधुमांससम प्रोक्तं तद् भुञ्जीयात् कदाच न ॥७३  
 हरेः पादजलं पाश्र्वं नित्यं नाभ्यद् (?) दिवोकसाम् ।  
 सुराणामितरेषां तु फलपुष्पजलादिकम् ॥७४

निर्माल्यमशुभं प्रोक्तमस्पृश्यं हि कदाचन ।

विधिर्ह्येष द्विजातीनां नेतरेषां कदाचन ॥७५

शिवार्चनं त्रिपुरदं च शूद्राणां च विधीयते ॥

हरिर्यस्य गृहे भुङ्क्ते तस्य भुङ्क्ते जगत्त्रयम् ॥६०

स्कान्दे वैष्णवखण्डे मार्गशीर्षमासमाहात्म्ये पञ्चदशाध्याये स्थिता इमे

श्लोकाः—

भोक्तव्यं मम चोच्छिष्टं मम भक्तिपरायणैः ।

पवित्रकरणं पुत्र पापिनामपि मुक्तिदम् ॥२५

अनर्पयित्वा यो भुङ्क्ते अन्नं पानं च यत् ( मम ) ।

श्चानविष्टासमं चान्नं पानं च मदिरासमम् ॥२८

तस्मान्ममामर्पयेत् पुत्र अन्नपानादि चोषधम् ।

भक्षयेत्परया भक्त्या अशुचेः शुचिकारणम् ॥२६

तीर्थयज्ञादिकफलं कलिदोषविनाशनम् ।

मयोच्छिष्टं सुगतिदमपि दुष्कृतकर्मणाम् ॥३०

अन्येषां दैवतानां च न गृह्णीयाच्च भक्षितम् ॥

( कल्कत्ता-मनसुखराय मोर-प्रकाशने ५ ७५-६ पु )

अतः परापरतत्त्वयाथात्म्यवित् सूत्रकारो महर्षिर्बोधायनः श्रीमन्नारायण-  
परमैकान्त्येवेति तदपह्वेन तस्य वृत्तिकारादन्यत्वसाधनमशक्यमिति  
सिद्धम् । महादेवप्रतिष्ठादिकं विदधानोऽपि हि सः प्रथमं महापुरुष-  
शक्तिश्चादिकं विधाय तदनन्तरमेव विधत्ते । उपरिक्ल्पविधाने वाचकत्वेन  
प्रणवकल्पं प्रथमं, तत्प्रसङ्गादन्यानं काञ्चन कल्पान् अनन्तरं, विदधा-  
नोऽपि ततः परं विष्णुकल्पं विधाय ततः परमेव रुद्रकल्पं विधत्ते ।  
अतस्तस्य रुद्रादुत्कर्षं स्वाराध्यदेवत्वं च स्पष्टमेव ज्ञापितवान् बोधा-  
यनः । इति ।

७४ : २५ एषु दशाधिकेषु पर्वसु सङ्कर्षः ऋण्ड इति व्यवहियमाणं

मीमांसाशास्त्रस्य काण्डविशेषं ३.स्तुत्य अस्मदाचार्यदूषणानि कुर्वन्  
महान्तं कोलाहलं वितनाति । अत्र चत्वारिंशतो वत्सरेभ्यः पूर्वं अस्म-  
दीये मीमांसाभ्युदयनाम्नि विमर्शग्रन्थे यद्वयमवोचाम तदुदाहरामः :-

“एषामपि कर्ता भगवान् जैमिनिरिति बहवः । कर्त्तृचल्लिखन्ति  
काशकृत्स्न इति ४ । अत्रान्यतरावधारणमस्मच्छर्त्तकमतीत्य  
वर्तत इति प्राञ्च एवाशरते ५ । अस्ति पुनरभ्युदितुमवकाशः  
काशकृत्स्नेन कृत एकां देवताकाण्डः जैमिनिना चापर इति  
देवताकाण्डद्वयमासोदिति । ६ ( १२३ पुटे )

६. “यः खलु जैमिनिः साध्यधर्मविचारार्थं द्वादशाध्यायीं  
प्रणीय तत्राविचारितोऽपि क्रियानंशोऽस्तीत्यालोच्य तद्विचा-  
रार्थं पुनः सङ्कर्षणाख्यां चतुरध्यायीं प्रणिनाय ”,

[ शिवाकर्मणिदीपिकाप्रथमसम्पुटे ३५. पुटे ]

“सङ्कर्षणकाण्डोऽप्यविचारितकर्मविशेषविषय एव । जैमि-  
निर्द्वाद्वादशलक्षणीं प्रणीय तत्राविचारितानंशमालोच्य पुनरपि  
चतुर्लक्षणीं प्रणिनायेति प्रसिद्धिः । अत एव हि साहितमेतच्छा-  
रीरकं जैमिनीयेन पौडशलक्षणेनेति वृत्तिग्रन्थोऽपि सङ्गतः ।  
अत एव प्रदानवदेवेत्याधिकरणे भाष्ये यत् संवादतयोक्तं ‘नाना  
वा देवता पृथक्त्वत्’ इति, तत् जैमिनीय एव दृश्यते, न  
तु देवताकाण्डे काशकृत्स्नीये । अनोऽपि सङ्कर्षः कर्मविषय  
एव । तत्रैव केषाञ्चिद् देवताकाण्डव्यवहारोऽप्यस्तीति ।”

[ श्रीरङ्गरामानुजमुनिविरचितायां ग्रन्थाक्षरमुद्रितायां

श्रुतप्रकाशिकाव्याख्यायां भावप्रकाशिकायां ४४ पु० ]

काशकृत्स्नसम्बन्धो मीमांसाया आसीदिति ‘भितश्च तत्प्रत्य-  
यान् ( ४. ३. १५५ ) इति सूत्रमहाभाष्यग्रन्थेनाप्यनेन  
ज्ञायते—

काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी ।

तामधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणीति ।”

अनेन वस्तुस्थितिरियमत्र प्रदर्शिता भवति । तत्त्वरत्नाकरे काशकृत्स्न-  
कृतो देवताकाण्डः कीर्तितः । मेघनादागिसूरिणा ‘देवताकाण्डस्तु अम्मा-  
भिरदृष्टचरः । अतस्तत्प्रक्रिया मृग्या’ इति वदता स्वस्य तद्दर्शनं  
ज्ञापयतःऽपि नत्सत्ता ज्ञापितैव । प्रपञ्चहृदये चायं काण्डः देवताकाण्ड  
इत्येव निर्दिष्टः । एवं श्रीदेशिकोऽपि ‘तन् उपरि चतुर्लक्षणी देवनार्था’  
इति देवताकाण्डसंज्ञां युद्धौ कुर्वन्नेव इदमाह । एवमेवामैककण्ठ्यात्  
देवताकाण्डः कश्चिदासीदित्यत्र न सन्देहः । परन्तु शबरदादिभिर्यव-  
हृतत्वात् सङ्कर्षकाण्डः कश्चिदासीदित्यत्रापि न सन्देहः । तत्त्वरत्नाकर-  
कारप्रभृतयः कुमारवरदाचार्यपर्यन्ता आचार्याः सङ्कर्षकाण्डं वा देवता-  
काण्डं वा स्वयमनवलोकितवन्तः स एक एव द्विनामा काण्ड इति  
मेनिर इति स्पष्टं ज्ञायते । अतः सम्प्रदायतः पूर्वाचार्यग्रन्थेभ्यश्च ये  
विषयाः यानि च सूत्राणि सङ्कर्षस्थतया वा देवताकाण्डस्थतया वा  
अवगतानि तानि ते तत्र एकत्रैव स्थिततया अग्रहणम् । “तदुक्तं सङ्कर्षे  
‘नाना वा देवता पृथक्त्वात्’” इति, इति भाष्योक्तेः इदं सूत्रं, ग्रन्थान्त-  
रेषु ‘अन्ते हरौ तद्दर्शनात्’ ‘स विष्णुराह हि’ ‘तं ब्रह्मेत्याचक्षते तं ब्रह्मे-  
त्याचक्षते’ इत्येषां सूत्राणां देवताकाण्डस्यान्ते स्थितत्वेन प्रतिपादनात्  
एतानि च तथैवेति जगृहुः । एकस्य ग्रन्थस्य जैमिनिऋतत्वकाशकृत्स्न-  
कृत्वत्वावप्रतिपत्तौ क्वचिदुपचरितत्वं कृत्वा निर्वाहः कार्य इत्यप्यवोचन् ।  
ऋषिपतरुकारोऽमलानन्दसरस्वत्यपि सङ्कर्षं देवताकाण्डं च एकं मत्वा  
‘देवताकाण्डाधिकरणस्य प्रदानभेदविषयस्य पूर्वपक्षं सिद्धान्तं चाह’  
इति भामतीग्रन्थमवतारयति । अप्पय्यदीक्षितकाले तु सङ्कर्षकाण्डः  
देव ( भव ) स्वामिभाष्येण सह उपलब्ध आसीत् । तेन सः सङ्कर्ष-  
काण्डं सभाष्यं स्वयमवलोक्य तस्य देवताकाण्डत्वानुपपत्तिं, तेन कल्प-

तरुक्तेरनुपपन्नतां च पश्यन् तत्परिहाराय

यद्यपि सङ्कर्षकाण्डो न देवताविचारार्थं प्रवर्तितः...तथापि  
...इत्यादि देवताविचारभूयस्त्वान् भूमना सङ्कर्षकाण्डस्यैव  
देवनाकाण्ड इत्यपि व्यवहारोऽस्तीति तस्य तेनोपादानम् ।  
इति शङ्कासमाधाने अकरोत् । अनया रीत्या द्वादशलक्षण्यपि देवता-  
काण्डो भवितुमर्हति । बहुष्वधिःकरणेषु देवताविषयविचारसत्त्वान् ।  
अतः कल्पतरुक्तिसमर्थनाय कर्मशेषविचारपरस्यैव सङ्कर्षस्य देवता-  
काण्डव्यवहारौचित्यमुपपादयन्नपि दीक्षितः देवताविचारतत्परग्रन्थान्त-  
रसत्तायां न विप्रतिपद्यत इति स्फुटं ज्ञायते । अस्मिन् काले सङ्कर्षकाण्डः  
पुनः प्रचारमलभन । तत्र 'वचनात् सर्वेषां सहावदीयेत' इति परिमलो-  
दाहृतं सूत्रं 'सहावदीयेरन्' इति बहुवचनान्ततया चण्डमारुते दृश्यते ।  
एवं 'तेषां पृथक्प्रदानमवदानैकत्वान्' इति तत्र स्थिते अत्र 'तेषां सह  
प्रदानं' इति दृश्यते । अयमेव पाठः सङ्गतः । तेषामपृथक्प्रदानमिति  
सार्धान् पाठ उपलब्धः । नयमयूगलमिति कायां दीक्षितः

“जैमिनिना तु उदाहृतं देवताध्यानविधानं तत्र देवतावाचि-  
शब्दध्यानविषयमिति निरूपितं सङ्कर्षे”

इति जैमिनीयं सङ्कर्षकाण्डं पृथगवाचन् । ततः परं-

वृत्तिकारेण संहितमेतत् जैमिनीयेन षोडशलक्षणेनेति कर्मविचा-  
रार्थया द्वादशलक्षण्य देवताविचारार्थया चतुर्लक्षण्यया च  
ऐकतन्त्र्यं प्रतिपादितमित्युदाहृतं भाष्ये । तत्र कर्मविचारभागे  
द्वादशानां लक्षणानां धर्मप्रमाणतद्भेदतच्छेषशेषिभावार्थभेद-  
सुलभसिद्धः । देवताविचारभागे चतुर्णां लक्षणानामर्थभेदं  
इत्यमाहुः—स्वरूपमादौ तद्भेदस्तदुपासनपूर्वकम् । फलं च  
देवताकाण्डे देवतानां तु कथ्यते ॥” इति ।

इत्याह । अत्र देवताविचारभागः कश्चिदस्ति । स तु भागान्तरवत् न सुलभः । अतस्तदर्थः पूर्वाचार्यसूक्त्यैवावगन्तव्यः, इति दीक्षितो वदतीति स्पष्टम् । अत्र अधिकप्रसङ्गो 'देवताकाण्डः शशशृङ्गायमाणः' इति दार्ढ्यतः स्पष्टं सूचयतीति कल्पनां करोति । तस्य काण्डस्य प्रचार-विरहात् 'तत्प्रतिपाद्योऽर्थः साक्षात् ज्ञातुं न शक्यत इत्येतावद्ब्राहेति अनभिनिविष्टानां सुगममेतत् । देवताविचारार्थया चतुर्लक्षण्या' इति वदन् हि तत्सत्तामङ्गीकरोति । सङ्क्षेपकाण्डः देवताकाण्डश्च एक एवेति मतिं तु व्यावर्तयति 'जैमिनिना तु निरूपितं सङ्क्षेपं' देवताविचारार्थया चतुर्लक्षण्या' इति विभज्य वदन् । यत् 'देवताविचारार्थया चतुर्लक्षण्या च ऐक्यतन्त्र्यं प्रतिपादितमित्युदाहृतं भाष्ये' इत्ययमाह । तन्न तथेति भावप्रकाशिकाकारा वदन्ति । 'जैमिनीयं षोडशलक्षणेन' इत्येतावन्मात्रं हि तत्रोक्तम् । तत्र चरमा चतुर्लक्षणी देवताकाण्डरूपेति भाष्यकाराभिप्राय इति कथं लभ्यते । जैमिनिभूतकर्मविचारपरसङ्क्षेपकाण्डोपलम्भात् पूर्वं यद्यपि तस्यैव देवताकाण्डत्वं पूर्वं व्याख्यातारो मेनिरे तथापि तदुपलम्भात् परं तेनैव षोडशलक्षणेऽप्युपपत्तेः ततः पृथग्भूतस्य काशकृत्स्नकृतस्य देवताविचारपरस्य अत एव मुख्यवृत्त्या देवताकाण्डस्य तत्रान्तर्भावो न युक्तः कर्तुम् । तदिदं पूर्वोदाहृतात् भावप्रकाशिकाग्रन्थात् स्पष्टम् ।

जैमिनीयः सङ्क्षेपकाण्डः काशकृत्स्नीयो देवताकाण्डः उभावपि मन्त्रप्रचारावभवताम् । अतः कालक्रमेण तयोरैक्यबुद्धिरुदभवत् । तत्र सङ्क्षेप इत्येतदपेक्षया देवताकाण्ड इत्येव व्यवहारो निरूढ आसीत् । अत एव तत्त्वरत्नाकरकारः आनन्दतीर्थः प्रपञ्चहृदयकारः अमलानन्दः श्रीवेङ्कटनाथः कुमारवरदाचार्य इति सर्वे इमे तथैव व्यवहरन्ति । देवताकाण्डस्य काशकृत्स्नकृतत्वप्रसिद्धिं 'काशकृत्स्निं प्रोक्ता मामांसा' इति महाभाष्याक्तिः प्रामाणिकीं करोति । स्वयमनवज्ञाः कृतदेवताकाण्डा अपि



वृद्धानां मुखान् पूर्वग्रन्थेभ्यो वा तत्रत्यानि सूत्राणि कानिचित् अध्या-  
यानामर्थाश्च स्वग्रन्थेषु न्यबध्नन् । अतः अन्ते हरौ तद्दर्शनादित्यादीनि  
सूत्राणि देवताकाण्डस्थानीत्येतत् 'स्वरूपमादौ' इत्युक्ताः देवताकाण्ड-  
ध्यायार्था इत्येतच्च सूपपन्नम् । इमे च प्रपञ्चहृदये संवादमृच्छन्ति ।  
यस्तु यथाशीलं प्रपञ्चहृदयस्याप्रामाण्यप्रतिपादनप्रयासः शास्त्रिणः  
स मुधा ।

यदुच्यते विरुद्धबहुविधपाठभेदयुतं तदिति तत्रोक्तं अपेक्षितप्रामा-  
ण्यंशे न स पाठभेदो विरोधीति । एतेन विरुद्धनानार्थबोधकं तदित्येत-  
दपि प्रत्युक्तम् । अपेक्षितांशे प्रामाण्यविघटकविरोधाविरहात् । यदप्य-  
ज्ञातनामधेयेन कृतामिति तत् अज्ञातकर्तृकत्वस्य अप्रामाण्यानापादकत्वा-  
दनुपपन्नम् । यास्कनिरुक्तव्याख्येयस्य पदसमाम्नायस्य तैत्तिरीयप्रति-  
शाख्यस्य च कर्ता क इति न ज्ञायते । तौ च सर्वैरत्यन्तमादृतौ महा-  
ग्रन्थौ । यच्च आधुनिकेन कृतमिति तत्र आधुनिकत्वमेव अप्रामाण्यं  
हेतुरचेत् भवतः सर्वं वाक्यं अप्रामाण्यमिति स्वयमभ्युपगतं भवता ।  
अप्यप्यदीक्षितार्थान्तराद्यन्वयप्रसङ्गः स इत्यत्र च न सन्देहः । श्रीशङ्करं  
भगवत्पादेति व्यवहरन् सः अद्वैती । विशिष्टाद्वैतिभिः स जातसमागम  
इत्यत्र न किञ्चित् प्रमाणम् । अतो यदुत्प्रेक्ष्यते 'प्रायशः तदनुसारेण  
देवताकाण्डप्रमेयं प्रपञ्चहृदये उपवर्णितमिति तद्भवतः अप्रामाणि-  
कार्थकल्पनाशीलत्वस्यापरं निर्दर्शनम् । अत्र देवताकाण्डप्रमेयवर्णन-  
प्रकारः वस्तुतः स्वतन्त्रमूलान्तरानुसारित्वं सुस्पष्टमावेदयति ।

अन्यदिदमत्यन्तमवधेयम् । अखण्डं कूरमाखण्डं अन्ने पिधातुमिच्छति  
शास्त्री । माण्डूक्योपनिषत्कारिकाविवरणे "अग्नीन्द्रादयो देवास्तत्क-  
लदातारः, नेश्वरस्तथा, इति देवताकाण्डाद्याः" इत्यानन्दगिरिणा उक्तं  
देवताकाण्डपदमपि प्रसिद्धं सङ्कर्षकाण्डमेवाभिप्रैति । न पराभिमतं  
देवताकाण्डमिति बोध्यम् ।' इत्याह । किमानन्दगिरिवाक्यादेवं बोद्धं

परिणतः कश्चिदलम् ? शब्दमयी देवता, अपूर्व फलप्रदमिति हि जैमि-  
निमतं सुप्रसिद्धम् । “जैमिनिना तु उदाहृतं देवताध्यानविधानं तत्तद्देव-  
तावाचिशब्दध्यानविषयमिति निरूपितं सङ्कर्षेः” इति नयमयूखमालि-  
कायां दीक्षितेनोक्तं स्वयमयं सप्तसप्ततितमे पर्वणि उदाहरत् । तादृशे  
जैमिनीये सङ्कर्षकाण्डे अग्नीन्द्रादिदेवानां फलप्रदत्वप्रतिपादनं कथं  
भवेत् । कथं सङ्गतं स्यात् । अनेन “बोध्यम्” इत्युक्ते सर्वैः तदाज्ञावशंबद्धैः  
अविचार्य तथैव बोद्धव्यम्, तथैव भोत्स्यन्ते सर्वे इति अत्युच्छ्रिताह-  
ङ्कारमहीधरोत्तुङ्गशिखारूढो नूनं मन्यते ।

आनन्दगिरिवाक्यमिदमेकं पर्याप्तं देवताकाण्डस्थितिपारमार्थ्ये-  
प्रत्यायनाय । सुस्पष्टोक्तिमिमां स्वाभिमतसिद्धिपरिपन्थिनीं यथावदव-  
गन्तुमक्षमः महतामधिक्षेपे उद्युक्त इति जितं कलिना ।

८६. ‘तस्य निमित्तपरीष्टिः’ इति पूर्वमीमांसासूत्रं नवध्याहारेण  
उपवर्षवृत्तौ व्याख्यातम् । तद्युक्तमिति श्रीदेशिकः सेश्वरमीमांसाया-  
माह । अतो वृत्तिकारभक्ता अपि तत्खण्डनपरा एते, इति परिवादं  
करोति । ‘नवमध्याहृत्यातिमहता क्लेशेन व्याख्यातम् । तदप्यनेन  
निरस्तम्’ इति निरासं कृतवताऽपि अनुपदं ‘अतो भगवानप्युपवर्षोऽप-  
रीक्षणीयत्वपूर्वपक्षमन्वारुरोह’ इति तास्मिन् स्वबहुमानातिशयमाविष्कु-  
र्वता तस्य वस्तुतोऽनभिमत एव नवध्याहारपक्ष इति प्रत्यपादि । अत्राह  
शास्त्री ‘बहिर्मधुरवचोविन्यासेन खण्डनं न कृतवानिव चाभिनयति ।  
अहो महामायित्वं वेङ्कटनाथस्येति । स्वबहुमतेषु ग्रन्थेषु तत्र तत्र  
व्याख्यातारः ‘अयं प्रौढिवादः’ ‘अभ्युपेत्यवादः’ इति वाक्यानि योज-  
यन्तीति सर्वसाधारणमेतत् । न ते मायिनः । अयं तु सम्प्रति जनान  
मोहयितुं अवस्तुनि घोरां पिशाचीं, इङ्गाले भास्त्रत्स्वरूपं च प्रदर्शयिष्या-  
मीति सङ्कल्प्य मायाकलामभ्यस्यति ।

प्राचोऽनवृत्तिकारखण्डनं बहुधा करोति शङ्कराचार्य इति पदे पदे

प्राज्ञाः प्रदर्शयन्ति । तेष्वपि तं दोषं दर्शयिष्यामिति मतिं कृत्वा शास्त्री श्रीदेशिकः उपवर्षखण्डनकार इत्यवांचत् । उपवर्षादन्य एव ब्रह्मपूत्र-वृत्तिकारो बोधायन इति पक्षे अस्य दूषणस्य प्रसङ्ग एव नास्तीत्यास्ता-मेतत् । अथान्यदाह—

भूमज्यायस्त्वाधिकरणे श्रीभाष्ये 'ज्यायस्त्वं प्रामाणिकत्वमित्यर्थः' इति, श्रु० प्र० यां 'ज्यायस्त्वशब्दश्रवणात् व्यस्तोपासन-पक्षोऽपि सूत्रकाराभिमत इति चेन्न । वाक्यभेदादिप्रसङ्गात् । ज्यायस्त्वशब्दस्तु प्रामाणिकत्वाभिप्रायेणाप्युपपन्नः । इति च वृत्तिकारमतखण्डनं कृतम् । भगवत्पादभाष्येऽपि वृत्तिकारमत-मेतत् खण्डनम् । कोऽयं वृत्तिकारः वृत्तिकारमतानुसारी वृत्तिकारभक्तः पर एव प्रष्टव्यः ।

इति । ज्यायस्त्वशब्दस्वारस्यमाश्रित्य व्यस्तोपासनस्यापि सूत्रकारा-नुमतत्वशङ्कातत्परिहारौ शङ्करभाष्ये स्थितौ श्रीमद्भाष्ये व्याञ्जितौ, श्रु० प्र० यां कण्ठोक्तौ । प्राचीनवृत्तिकारेण केनाचित् स्ववृत्तिग्रन्थे तथोक्तमिति न शङ्करेणोच्यते, न वाचस्पतिना, नाप्यन्येन केनचित् । शङ्करसमकालिक एव काश्चित् परिहृतः एवं कथितवान् भवेत् । अथवा तच्छिष्येष्वेव काश्चित् पृष्टवान् भवेत् । अथवा ईयमुन्प्रत्ययबलात् तथाऽ-प्यर्थः प्रतीयत इति स्वयमेव इमां शङ्कां कृत्वा अधिकरणेषु पूर्वपक्ष-कल्पनन्यायेन 'केचित् कथयन्ति' इति श्रीशङ्करः 'काश्चित्' कल्पयित्वा-ऽवदादित्युपपद्यते । शङ्कराचार्योक्तोऽयं शङ्कापरिहारः उपपन्नत्वात् अवश्य-वक्तव्यत्वाच्च श्रीभाष्यश्रुतप्रकाराशङ्कयोरप्याहतः । अत्र स्वकीयपरकीय-ग्रन्थजातं सर्वं महता श्रमेणान्विष्य अवलोक्य इमान् 'काश्चित्' वृत्तिका-रत्वेन स्वयं व्यपदिश्य तत्खण्डनकरणात् वृत्तिकारखण्डनकारित्वं विशिष्टाद्वैतव्यवस्थां प्रदर्शनाय शास्त्री यं प्रयासं वृथैव अङ्गीचकार-तत्र नूनमयमनुकम्पनीयः ! कोऽयं वृत्तिकार इति पृच्छति । यः कोऽपि

नेत्येव समञ्जसमुत्तरम् । अथापि ब्रूमः । अत्यन्तापशदः कश्चित् । न भगवान् बोधायनः । नापि तादृशोऽन्यः कश्चिदिति ग्रहणे कः क्लेशः ।

८७. प्राचीनवृत्तिकारखण्डनं बहुधा करोति श्रीशङ्कर इत्येतदप्रत्याख्येयम् । तत्र प्राचीनवृत्तिकारा बहवः । तेषु ये सम्प्रदायानुसारिणः तानाद्रियत एव शङ्करः । अन्यान् निरस्यति । तत्र का वाच्यतेत्याह शास्त्री ।

सम्प्रदायावदां उपवर्षसुन्दरपाण्ड्यब्रह्मनन्दद्रविडाचार्यगौडपादप्रभृतीनामुक्तयः बहुत्र भगवत्पादैः प्रमाणीक्रियन्ते । 'वेदान्तार्थगहनसम्प्रदायहीन' इत्येव भास्कराचार्यः पञ्चपादिकाविवरणादिषु तिरस्क्रियते ।

इति च । अत्र भगवानिति विशेषणदानमात्रेण उपवर्षस्य अद्वैतित्वं न सिध्यतीति पूर्वमेवाक्तम् । शबरोऽप्याह भगवानुपवर्ष इति । किं तेन तस्य निरीश्वरमीमांसकत्वं भवितुमर्हति । न चाद्वैतपरं उपवर्षग्रन्थं कंचिदुदाहृतवन्तः । अतस्तस्याद्वैतित्वमप्रमाणिकम् । “न चाहम्प्रत्ययो व्याप्ताह इति शक्यते वक्तुम् । बाधकप्रत्ययाभावान् ।” “तस्मान्न विज्ञानमात्रम्” इति शबरेण उपवर्षमते आत्माऽहम्प्रत्ययविषयः विज्ञाता च न तु विज्ञानमात्ररूप इति प्रतिपादनात् उपवर्षस्य अद्वैतित्वं बह्वैः शीतत्वमिवेति ज्ञेयम् । सुन्दरपाण्ड्यस्याप्यद्वैतग्रन्थकारत्वं नास्तीत्येव निश्चेतव्यं भवति । कल्पतरुकृता हि समन्वयाधिकरणे 'गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे' इत्यादि श्लोकविवरणावसरे तन्नाम अवश्यं कीर्तनीयं अर्द्धस तेषां कर्ताऽभविष्यत् । अतः अवश्यकीर्तनीयस्य कीर्तनाभावः तस्य तदकर्तृत्वमेव प्रत्याययति । माधवाचार्योक्तिस्तु अनाप्तवाक्यश्रवणाद्वा सम्भावंनामात्राद्वा भवन्मार्गानुसारेण कल्पनामात्राद्वा । तस्य तदकर्तृत्वं कृत्वा चिन्तायामपि तस्य आत्माद्वैतित्वमेवोदाहृतैः श्लोकैः सिध्येत्, न विश्वमिथ्यात्ववादित्वम् । ततोऽप्रतीतेः ।

ब्रह्मनन्दिद्रविडाचार्ययोरेकमपि वाक्यमद्वैतपरं नोदाहृतमिति सुनिरूपितम् । अतो गौडपाद एकः परिशिष्यते । एतदुपज्ञं शङ्कराद्वैतसम्प्रदायः । एतत्सम्प्रदायहीनत्वेनैव भास्कराचार्यनिर्गकरणं पञ्चपादिकादिषु ।

गौडब्रह्मानन्दशिष्यः अभिनवद्रविडाचार्यपदभाक् बालकृष्णानन्दसरस्वती उपवर्षादिप्राचीनवृत्तिकारानुरोधेन सूत्रभाष्यमार्याचतर्मितस्वकीये वार्तिके वदतीत्याह । वाचस्मृतिभृतिभिरदृष्टा उपवर्षवृत्तिह्यस्तनो बालकृष्णानन्दः किल साक्षात् दृष्ट्वा एवं वदति । तस्मान्नूनं परमं प्रमाणं तस्य वाक्यम् । अहो अहो अस्यद्भृता, सर्वथा दुर्निरसा इयं युक्तिः । अयं किल महान् वार्तिककारः जन्मादिसूत्रभाष्यं त्रिविधमिति विभागमुक्त्वा “प्रथमं प्राचीनवृत्तिकारमताभिप्रायेण लोकसिद्धलक्षणपरम् ।” इत्याह । लोकसिद्धलक्षणपरमिदं सूत्रमिति, इदं प्राचीनवृत्तिकारमतमित च ज्ञापकं भाष्ये न किञ्चिदस्ति । श्रुतिसिद्धमेव लक्षणं विलक्षणब्रह्मसद्भावसम्भावनासिद्धये शास्त्रमनुपादायोक्तम् । इदं एतदाधिकरणारम्भ एव ‘श्रुतिनिर्देशस्तावत् यतो वा इमानि’ इत्यादिना, शास्त्रयोनिवाधिकरणे ‘पूर्वसूत्राक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्यानुपादानात्’ इत्यादिना च भाष्येण स्पष्टम् । न च शास्त्रैकवेद्यस्य ब्रह्मणः लोकसिद्धं लक्षणं भावितुमर्हति । वृत्तिकारप्रस्तावस्तु न भाष्ये न च व्याख्यानेषु । अतः श्रोतृणां प्राचीनसम्प्रदायानुरोधित्वधीजननाय कल्पनामात्रमिह स्थितम् । व्युत्पत्तिसिद्धे अर्थे अक्षरश उच्यमाने वृत्तिकारमतस्य कः प्रसङ्गः ? ।

२८. शङ्करात् पूर्वं विशिष्टाद्वैतमतावलम्बी वृत्तिकारो यः कोऽपि नासीत् । सत्त्वे ऋथमनेन खण्डनं न कृतम् । स्वमतविरोधसर्वखण्डनकारोह्यम् । अखण्डनादसत्त्वं सिद्धयतीत्याह । अत्र प्रतिबोधनं कुर्मः । परस्य ब्रह्मणः निर्गुणत्वं साधयन् सगुणत्ववादः खण्डयति । तेन पूर्वं

सगुणपरब्रह्मवादिन आसन्नित्येतत् सिद्धम् । जीवब्रह्मभेदं जीवनानात्वं च खण्डयति । तेन एतद्वादिन आसन्नित्येतत् सिद्धम् । विश्वस्य तदुपादानभूतायाः प्रकृतेश्च पारमार्थिकत्वं खण्डयति । तेन तद्वादिन आसन्नित्येतत् सिद्धम् । इतः परं विशिष्टाद्वैतिनां प्रति तन्त्रसिद्धान्तभृतस्य शरीरशरीरिभावस्य खण्डनादर्शानात् तद्वादिनः पूर्वं नासन्निति प्रतिज्ञायेत । तत्रेदं तत्त्वम् । 'यस्य पृथिवः शरीरं, जगत्सर्वं शरीरं ते, 'सोऽभिध्याय शरीरान् स्वात्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिषु जगतः परमात्मशरीरत्वस्य स्पष्टमभिधानात्, जगत इव शरीरशरीरिभावस्य व्यावहारिकस्य अद्वैताविरोधत्वाच्च एतत्खण्डनमकर्तव्यं शङ्करो मेने । शुद्धचैतन्यस्य सर्वज्ञत्वादि कारणतया जडद्रव्यस्य शरीरत्वव्यवहारमुपादर्यात् च प्रकरणग्रन्थं कस्मिंश्चित् । तदन्यत्रोदाहृतवन्तः स्मः । अतः अखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानं परं ब्रह्म, ततो भिन्नान् नाना जीवान्, सत्यां त्रिगुणां, अर्चिरादिगम्यां परमां मुक्तिं, तत्साधनं भक्तिं चाभ्युपगच्छन्तः वादरायणीयब्रह्मसूत्रवृत्तिकाराः वेदान्तग्रन्थान्तरकाश्च प्राञ्चः सर्वे जगद्ब्रह्मणोः शरीरशरीरिभावाभ्युपगन्तारो विशिष्टाद्वैतिन एवेत्यत्र न सन्देहगन्धः । अर्वाचीनास्त्वद्वैतिनः परैरुक्तं सर्वं निराकरणीयमिति मूढग्रहेण जगतो ब्रह्मशरीरत्वनिराकरणे सम्भ्रमं विभ्रति ।

बौद्धताकिरुपरिवृद्धाः वेदवेदान्तसिद्धान्तविध्वंसने बद्धपरिकरा अभवन् । तानभिद्योद्धुं प्रवृत्ताः नैयायिकाः तेषां प्रसरं निरुन्धाना अपि वेदान्तसिद्धान्तपरिपालने न श्रद्धामकुर्वन् । नापि तत्र ते समर्था आसन् । अतो वेदान्तदर्शनस्य आत्यन्तिकलोपदशा उपास्थता बभूव । अस्यां स्थितौ गौडपादः तत्परिरक्षणाय किञ्चित् कर्तव्यं मेने । वेदान्तसम्प्रदायस्तदानीं ग्रन्थमात्रशरण आसीत् । प्रवचनकाराः प्रसिद्धा आचार्या नासन् । तस्मात् स्वबुद्धिबलेनैव उद्देश्यनिर्वर्तनं तस्य कर्तव्यमभवत् । तत्र वेदान्तविद्यासाध्यस्य मोक्षस्य

नित्यत्वोपपादनं प्रथमकर्तव्यं कष्टतमं चासीत् । क्रियासाध्यां हि मोक्षः स्वर्गवदनित्य एव स्यात् । एकविंशतिदुःखध्वंसो मोक्ष इति नैयायिकाः, पुण्यपापात्मकसर्वकर्मध्वंसो मोक्ष इति मीमांसकाश्च प्रति-  
 पेदिरे । एकैकस्मिन्नपि जन्मनि उत्तरोत्तरं शुभाशुभकर्मणां क्रियमाणत्वात्  
 अवर्जनीयत्वाच्च उक्तोभयावधोऽपि ध्वंसोऽसम्भवीति परमार्थः एषः ।  
 अतः अज्ञानेन संसारः तत्त्वज्ञानेन तन्निवृत्तिर्मोक्ष इति, एतत्परमेव  
 वेदान्तदर्शनं भवितुमर्हतीति च गौडपादो निश्चिन्नाय । सबंशाशापेक्षया  
 वरमर्धत्याग इति नीत्या शुद्धचैतन्यात्मकं ब्रह्म रक्षन् विश्वमिध्यात्वमूरी-  
 चकार । इममर्थं कारिकासु निबध्य तदनुगुणं प्रस्थानत्रयं योजयितुं,  
 इमं सिद्धान्तं लोके सर्वत्र प्रथयितुं च समर्थं कञ्चन महापुरुषमन्विज्य-  
 न्नास्त । तस्य प्रशिष्यः नैसर्गिकबुद्धिबलसम्पन्नः श्रुताढ्यस्तेजस्वी  
 धीरः श्रीशङ्करः तां धुरं बभार । प्राचार्यमवन्ध्यमनोरथं चकार । अव-  
 लोकितप्राचीनविविधवेदान्तग्रन्थोऽपि भगवतः स्वरूपरूपगुणविभवैश्व-  
 र्यशीलादिषुश्रुति स्मृतशताधिगतेषु यत् किमप्यनपह्युत्य वेदान्तदर्शनं  
 प्रतिष्ठाप्य मोक्षनित्यत्वं चोपपाद्य सर्वनिर्वाहक्षमे चिरन्तने सम्प्रदाये  
 शिक्षां प्राप्तुं अलब्धावसरः गौडपादोपादिष्टवर्त्मनैव प्रवचनं ग्रन्थनि-  
 र्माणं चाकरोत् । गुरुभजने वा सम्प्रदायानुसरणे वा श्रीशङ्करस्य  
 श्रद्धावैकल्यं न कश्चिन्मेने, न कश्चिदवोचत् । नवीनसम्प्रदायनिष्ठां  
 गतस्य तस्य प्राचीनसम्प्रदायसिद्धार्थप्रतिक्षेपः अगत्या कर्तव्य  
 आसीत् । तं निष्कम्पं चकार । श्रुतिवाक्यान्यापि हठात् स्वाभिमतार्थे  
 योजयामास । ब्रह्मसूत्राण्यपि स्वच्छन्दं व्याचख्यौ । भूयिष्ठेषु स्थलेषु  
 खण्डनमेव भाष्यव्यपदेशोनाकार्षीत् ।

एतद्दर्शी भास्करः अतीव हृदयसन्तापं भेजे । परन्तु तस्यार्थापि  
 चिरन्तनसम्प्रदायपरिचयो दुर्लभो बभूव । अतः स्वबुद्धिबलमात्राश्रयेण  
 वेदान्तदर्शनं परिष्कृतं प्रावर्तत । तथा यादवप्रकाशोऽपि । अस्य

सकाशे चिरं विद्यार्थिभावं गतः श्रीरामानुजः अनेन, शङ्करभास्कराभ्यां च कृतैः वेदान्तवाक्यार्थविवरणैः अत्यन्तमदृष्टः विषण्णः दैवात् भगवद्यामुनमुनिशिष्यमहापूर्णसेवासमधिगतप्राचीनसम्प्रदायाथः परम-सन्तुष्टः न परं बहुसहस्रसङ्ख्येभ्यः शिष्येभ्य उपदेशेन आप तु श्रीभा-ष्यादिग्रन्थप्रणयनेनापि चिरन्तनं त्रय्यन्तसिद्धान्तं लोके पुनः प्रवर्तया-मास । एषां ग्रन्थानां विशेषमित्थं वर्णयन्ति श्रीदेशिकचरणाः—

लक्ष्यं बुद्धेर्ललितरसनालास्यर्लालानिदानं

शुद्धास्वादं किमपि जगति श्रोत्रदिव्यौषधं नः ।

लक्ष्यालक्ष्यैः स्थिरजलविवद् भाति तात्पर्यरत्नै—

र्लक्ष्मीकान्तस्फटिकमुकुरो लक्ष्मणार्योपदेशः ॥

आकर्षणानि निगमान्तसरस्वतीना—

मुञ्चाटनानि बहिरन्तरुपल्लवानाम् ।

पथ्यानि घोरभवसञ्ज्वरपीडितानां

हृद्यानि भान्ति यतिराजमुनेर्वचांसि ॥

इति । एवमुपनिषदां तात्त्विकोऽर्थः सर्वलोकवन्द्यः कृतः । अस्य खण्डन-मशक्यम् । न हि सूर्ये सूर्यत्ववादः खण्ड्यत इत्यास्ति सम्भवः । वस्तु-तन्त्रे एवं स्थिते असूयादुष्पशाचीग्रहपरवशः शास्त्री उच्चावचं जल्पति ।

८६. उन्मत्ताक्तीनामनुन्मत्तैरुत्तरं न देयम् । तथापि शास्त्रिणः उन्मत्तैतामजानन्तः केचिन्मा भ्रमिषुरिति अवश्यवक्तव्यमुच्यते । यामु-ताचर्ल्लप्रभृतीनां श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य च अपारा भक्तिः श्रीमन्नाथमुनौ । वेदान्तगुरुरम्परायां प्रथमत्वात् । यद्यपि ततः पूर्वं शठकोपसूरिरस्ति । तथाऽपि तस्मिन् चिरात्पूर्वं मुक्तिं गते श्रीमन्नाथमुनिः योगमहिम्ना तं साक्षात्कृत्य तदुपदिष्टं औपनिषदं तत्त्वं विज्ञाय स्वशिष्यपरम्परया लोके प्रकाशयामास । यदि नायमेवमकरिष्यत् तर्हि लोके प्राचीन-



वेदान्तविद्यासम्प्रदायस्य पुनः प्रवृत्तिर्नैव अभविष्यत् । अतो नाथोपज्ञं प्रवृत्तमिदं दर्शनमित्याहुः ।

श्रीमन्नाथमुनिभिः कृतः न्यायतत्त्वाभिधानो ग्रन्थः न ब्रह्मसूत्राणां उपनिषदां वा विवरणपरः । अपि तु वेदान्तदर्शनानुगुणतया प्रमाण-प्रमेयव्यवस्थापनपरो न्यायशास्त्रग्रन्थः । आक्षेपादे न्यायसूत्रे वेदान्त-विरुद्धांशा बहवः सन्ति । तान् विमृश्य न्यायशास्त्रपरिष्कारोऽत्र कृतः । आर्षत्वेऽपि न्यायशास्त्रस्य वेदविरुद्धांशाः स्मृत्याधिकरणन्यायेन अनाद-रणीया इति श्रीदेशिकचरणा आहुः । ब्रह्मसूत्राणां आर्षाणां आर्षमेव अविरुद्धमनुकूलं च व्याख्यानमस्तिचेत् तदेव ग्राह्यं, मन्वाद्युपबृंहणवत्, न तु विरुद्धमनार्षं च शाङ्करादिकमिति श्रु० प्र० यामुक्तम् । उभयमिदं सुसङ्गतम् । इत्थं न्यायशास्त्रपरिष्कारस्य श्रीमन्नाथमुनिभिः स्वग्रन्थेन कृतत्वेऽपि तैः कृतं वेदान्तप्रवचनं बादरायणसूत्रतत्कालस्थिततद्वृत्ति-विशेषादिग्रन्थमुखेनैव श्रीमन्नाथमुनेः शिष्याः अष्टौ परिगणिताः श्री आत्मसिद्धौ यामुनाचार्यैर्निर्दिष्टः श्रीवत्साङ्कमिश्रः शङ्करानन्तरकालिकः न नाथमुनिशिष्यः । अयं श्रीवत्साङ्कमिश्रः सूत्राणां साक्षाद्व्याख्यानकारः, न तु द्रमिडभाष्यव्याख्यातेत्यादि प्रागुक्तम् । तदत्र 'ऊहः' इत्युपक्रम्य असंबद्ध बहूक्त्वा निश्चप्रचमित्युपसंहरन्तपस्वी दुश्चिकित्सचित्तविकारः शोच्यः ।

६०. बोधायनवृत्तेः अतिविस्तृतत्वात् सम्यक्प्रचारविरहात्, सर्वत्र प्रचारे वर्तमानानामेव ग्रन्थानां कीर्तनस्यादिष्टत्वाच्च भगवन्नामुनमुनिः बोधायनं न निर्दिष्टवानित्युक्तम् । एतन्मतानुसारिणोः ब्रह्मनन्दद्रमिडभाष्य-चार्ययोः निर्देशादेव तस्मिन्नपि उपकारस्मृतिः कृतैव । अथात्र पूर्वं षोडशे पर्वणि कृतां अद्भुतां काञ्चन कल्पनां उपबृंहयन् वदति—आत्मसिद्धौ 'द्रमिडभाष्यकृता' इति निर्दिष्टः न ब्रह्मनन्दिवाक्यभाष्यकारो द्रमिडा-चार्यः । द्रमिडाचार्य इत्येव निर्देशे कर्तव्ये द्रमिडभाष्यकृदिति तस्य

निर्देशायागात् । किन्तु शठकोपकृतं यद् द्राविडगाथासहस्रं तद् द्रमिड-  
भाष्यम् । तस्य कर्ता शठकोप एव द्रमिडभाष्यकृत् । अस्मिंश्च महती  
भक्तिर्यामुनाचार्यस्य । प्रतीकग्रहणपूर्वकं ब्रह्मसूत्राणां विवरणाकरणेऽपि  
तत्तात्पर्यस्य गम्भीरतया विवरणकरणात् गाथासहस्रं तद्भाष्यं भवतीति  
स मेने । 'विवृतानि च तानि ( ब्रह्मसूत्राणि ) परिमितगम्भीरभाषणा  
द्रमिडभाष्यकृता' इति ह्याह यामुनाचार्यः । सूत्राणां साक्षाद्भाष्यमिद-  
मिति हि प्रतीयते । वाक्यभाष्यग्रहणे 'वितथवादी स्याद्यामुनाचार्यः ।  
यदि च वाक्यभाष्यकार एवेहाभिप्रेतः स्यात् तर्हि तदीयं वाक्यं किञ्चिद्  
ग्रन्थे उदाहृतं स्यात् । तद्भावात् स नाभिप्रेत इति स्पष्टम् । शठकोप-  
वाक्यमपि एकमपि नादाहृतमिति युक्तम् । तस्य द्राविडभाषामयस्य  
संस्कृतग्रन्थे उदाहरणानौचित्यात्—इति ।

अस्मत्सम्प्रदायबाह्यानां बुद्धिर्नपरीत्यस्य ईदृशमुदाहरणान्तरं  
मृग्यम् । केपुचिदपराधेषु जिह्वाच्छेदं क्रशाघातं च दण्डं विदधाति ।  
दैवात् एवमादिकिञ्चित्करणे वयमत्यन्तमशक्ता इति प्रमोदामहे ।  
अन्यथा हि 'यथाशक्ति निगृह्णीयान् देवतागुरुनिन्दकान्' इति तादृशे  
घोरे कर्मणि प्रवर्तयितुं पर्याप्तपारुष्या इमा दुरुक्तयः । ननु, भो द्रमिडा-  
चार्य इति वक्तव्ये द्रमिडभाष्यकृदित्युक्तिर्भावगर्भेति गाढमवगाह्य  
उच्यते । 'रामानुजभाष्यकारः' ( ६६. पु ) इति, 'रामानुजभाष्यकारैश्च'  
( १०६. पु ) इति च वदतस्तव को भावः । किं रामस्यानुजं भाष्यं  
किञ्चित् । तत्कर्तेति । द्रमिडभाष्यमिति ग्रन्थस्य रूढं नाम । अतस्तत्क-  
र्तृत्वेन आचार्यं निर्दिशन्ति । भवानीपतिः मृडानीपतिरित्यादिवत् तत्र  
कुकेल्पनायाः कोऽवकाशः ? बाधितं च शठकोपार्थत्वम् । न हि शठकोप-  
गाथासहस्रं कस्यचिन्मूलग्रन्थस्य भाष्यमित्यस्मत्सम्प्रदाये कैश्चि-  
दिष्यते । अपि तु वेद इति उपनिषदिर्दितं च । तथा च नाथमुनिकृतः  
मधुरकविस्तुतिश्लोकः—

अविदितविषयान्तरः शठारूपनिषदामुपगानमात्रभोगः ।

इति । श्रीशठकोपस्तुतिश्लोकश्च—

भक्तामृतं विश्वजनानुमोदनं

सर्वार्थदं श्रीशठकोपवाङ्मयम् ।

सहस्रशाखोपनिषत्समागमं

नमाम्यहं द्राविडवेदसागरम् ॥

इति । एतेन 'तत्पूर्वतनो यामुनस्तु शठकोपभक्त्याऽपि सन् 'उपनिषन्' इति उद्धोषणमतिप्रसङ्गादनुचितं मन्वानः' इति पामरजल्पितं पराम्तम् । तत्पितामहेनैव तथा घोषणस्य कृतत्वात् । एवंविधेषु विषयेषु औचित्यानौचित्यविवेचने महिषप्रायाणामनधिकारित्वात् । यदपि साक्षाद्भाष्याग्रहणे वितथवादी स्यादाचार्य इति तद् ब्रह्महत्याशीलस्य मशकवारणसन्त्रासकल्पम् । आचार्याणां प्रतारकत्वमुच्यते । अत्र तस्य वितथवादित्वापत्तेः का भीतिः । 'सप्तमे पर्वणि 'छान्दोग्योपनिषद्भाष्यकारः' इति नृसिंहाश्रमोक्तौ 'अत्र छान्दोग्योपनिषद्भाष्यमिति पदेन 'छान्दोग्योपनिषद्वाक्यभाष्यमित्यर्थो ग्राह्यः' इत्युपादष्टवता त्वया आत्मसिद्धौ 'तानि च विवृतानि' इत्यत्र तथाऽर्थग्रहणासम्भवादिव वितथवादित्वापत्तिः कथमुद्घान्यते । इदं हि नृशंसत्वं नाम । अथ यत् द्रमिडभाष्यवाक्यं न किञ्चिदुदाहृतमिति, उदाहरणीयमिति को निर्बन्धः । अथवा सूत्रेषु, वृत्तिषु, वाक्ये, तद्भाष्ये च स्पष्टमुक्तानेवार्थान् उपेक्षमाणाः खण्डयन्तश्च अवमन्यन्ते परे । तर्कबलमेवाश्रित्य विपरीतं सिद्धान्तं साधयितुमुद्युञ्जने । तान् प्रति किं पूर्वाचार्यग्रन्थोदाहरणेन तर्कबलेनैव तान् निरस्यित्वाऽपि यामुनाचार्यो मेने । अनेनैव हेतुना द्राविडवेदसूक्तीनामपि अनुदाहरणम् । न तु द्राविडभाषामयत्वेन । संस्कृतेन परिवर्त्य उदाहर्तुं शक्यत्वान् । तथा करोति च श्रीवेङ्कटनाथगुरुः यातयामं गतरसमित्यत्र तात्पर्यचन्द्रिकायाम्—

एतेन परमाप्तस्य भक्ताङ्घ्रिरेणोर्भाषागाथाऽपि निर्व्यूढा । एवं हि सा संस्कृतेन विपरिणंस्यते—“दिव्यैरवेणविभवांत यदि ब्रवन्ति माध्वीमनोज्ञतुलसीक यदीति चाहुः । अनक्रिया अपि परानपि कारयन्तो भुक्ताधिकं ददाति चेन्ननु तन् पवित्रम् ।”

इति । ‘यदन्त्या मीमांसा श्रुतिशिखरतत्त्वं व्यवृणुत । तदादौ गाथाभिः’ इत्यभियुक्तश्लोकेनापि ब्रह्ममीमांसया निर्धारिता यः उपनिषदर्थः स गाथाभिः प्रतिपाद्यत इति उपनिषदर्थप्रतिपादकत्वमेवाच्यते, न तु ब्रह्मसूत्रव्याख्यानरूपत्वम् । अतः अत्रापि ‘सम्भावने’त्युपक्रन्त्य ‘मनागपि नाक्षेपावकाशः’ ‘असन्दिग्धमावेदयती’त्युपसंहारः शास्त्रिणः अस्वस्थचित्ततामेव प्रकाशयति । आत्मसिद्धौ द्रमिडभाष्यकृतेत्यत्र ‘भाष्यकृता’ इत्येव पाठो दृश्यते । अत्र शास्त्रिणः कुकल्पनाया नैवावकाशः ।

६१. महत आचार्यान् प्रति अन्तरमातः पदेपदे परिवहतः इयतः क्रोधस्य द्वेषस्य च मूलकारणमत्र प्रकटयति शास्त्री । श्रीदेशिकः शतदूषण्यां ‘अतः तद्वचनकारिषु व्यासादिसमास्यां सङ्केतेन प्रक्षिप्य धर्मसूनुर्गिरव सत्यवादी भव’ इत्याह । अतः ईदृशं दांषं न परं देशिके अपि तु सर्वेष्वेव विशिष्टाद्वैताचार्येषु वक्ष्यामीति सङ्कल्प्य तदनुसारेण आस्मिन् ग्रन्थे सर्वं वदामीति वदति । मार्जारः क्रिल व्याघ्रं दृष्ट्वा स्वाङ्गेषु तापानकरोदिति कश्चिदाभाणकः । सोऽत्र स्मर्यते । शतदूषणीशातनं कृतवानस्मीति लिखति । द्रविडात्रेयदर्शनग्रन्थादेव शास्त्रिणो वैदुष्यं विमशद्भ्राटवं आजवं प्रामाणिकत्वं लेखनचातुर्यं सर्वं सुव्यक्तम् । अथापि तद्दृष्टिपथमागच्छेच्चैनं कर्तव्यमवश्यं करिष्यामः ।

बोधायनवृत्त्यपह्नवस्य स्वेन साभिनिवेशं क्रियमाणस्य कारणान्तरमपि ज्ञापयति । शाङ्करे सूत्रभाष्ये बहुषु स्थलेषु बोधायनवृत्तिविरोधः श्रीभाष्यकारैः प्रदर्शितः । स विरोधः परिहर्तुमशक्यः । नास्तीति वक्तुं

न शक्यते । अतः “बोधायनवृत्तिरेव नासीत् । भवद्भिः कल्पिता काचन वृत्तिः सा । तद्विरोधो न परिहरणीयः” इत्युक्त्वा सङ्कटादात्मानं मोचयिष्यामीत्यध्यवस्यति स्म । अतः गम्भीरमिव लिखति—

एवं च यानि वृत्तिग्रन्थवचनानि सप्त सप्तसु स्थलेषु गमानुजभाष्ये निर्दिष्टानि ताति नार्थाशध्यश्रीवत्साङ्गमिश्रकृतवृत्तिग्रन्थस्थान्येवेति न तद्विरोधः परिहरणीयोऽस्माकम् ।

इति । साक्षात् सूत्रकारमेव खण्डयति शङ्करः आनन्दमयाधिकरणे गुहाधिकरणे इतरव्यपदेशाधिकरणे कार्याधिकरणे चेत्युक्तम् । अनो वाचस्पतिस्पष्टोक्तिरीत्या श्रुतविरोधान् सर्वमिदमन्यथाकरणं सङ्गमिति शङ्करो मन्यत इति ऋजुप्रकृतिभिरङ्गीकर्तव्यम् । तदनुगुणहृदयगाम्भीर्यस्य धैर्यस्य च विरहात् परपरिवादमार्गोऽवतीर्णः शास्त्री मलिनमात्मानं मालिनतरीकरोति ।

६२. “वृत्तात् कमाधिगमादनन्तरं ब्रह्मविविदिषा” इति वृत्तिकारवाक्यमुदाहृतं श्रीभाष्ये । इदं शङ्करानन्तरकालिकस्य कस्यचिद्वाक्यम्, न तु प्राचीनवृत्तिकारस्य, इति कथमपि प्रदर्शनीयमिति प्रबला आशापशाची शास्त्रिणं जग्राह । अतो विलक्षणं स्वप्रतिभां तीव्रं व्यापारयन्नाह—“नान्वह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः” इति भगवत्पादभाष्ये आशङ्क्य निरस्तोऽर्थः प्राचीनः साम्प्रदायिकः स्यादिति भ्रान्त्यैव भास्क्रेण भगवत्पादप्रद्वेषिणा खग्रन्थे निबद्धः—‘तस्मात् पूर्ववृत्तात् धर्मज्ञानादनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासेति युक्तम्’ इति । अत्र ज्ञानपदस्थाने अधिगमपदं जिज्ञासापदस्थाने विविदिषःपदं च घटयित्वा भास्करभाष्यपण्डित्तरेषु बोधायनत्वाभिमतनाथशिष्यश्रीवत्साङ्गमिश्रवृत्तावनूयते ‘वृत्तात् कर्माधिगमादनन्तरं ब्रह्मविविदिषा’ इति, भास्करोक्तार्थः सम्प्रदायागतः स्यादिति भ्रमेण”-इति । एवं भास्करं श्रीवत्साङ्गमिश्रं यामुनाचार्यं भगवद्रामानुजं अन्यांश्च भ्रान्तान् अयोग्यान् घोषयति शास्त्री स्वयमयो-

ग्यानामग्रताम्बूलग्राहो सन् । 'नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः' इति शङ्करेण स्वयमाशङ्कितोऽर्थः, न तु साम्प्रदायिक इति, तस्य साम्प्रदायिकत्वं असन्दिग्धं सुनिश्चितं च सम्यग् जानन्नपि स्वान्तरात्मानं वञ्चयन् लोकवञ्चनार्थं लेखित्वा मुद्रयित्वा प्रकटयति, अभीतोऽनृतवादात्, अभीतो दैवान् । २७ तमे पर्वणि शङ्करात् पूर्वं बहवो वृत्तिकारा आसन्, इति निरूपणाय अनेन

पञ्चपादिकायामपि 'तथा च वृत्त्यन्तरे वर्णितम्' 'अन्यैरपि स्ववृत्तौ वर्णितम् ।

इति पञ्चपादिकाग्रन्थः प्रदर्शितः । तत्र 'तथा च वृत्त्यन्तरे वर्णितम्' इत्यतः परं "...आनन्तर्यवचनोऽथशब्दः । आधिगतानन्तरम् ।" इत्यस्ति । "अन्यैरपि स्ववृत्तौ वर्णितम्" इत्यतः परं "अथेति पूर्वप्रकृतां धर्मजिज्ञासामपेक्ष्य अनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासाप्रारम्भार्थः ।" इत्यस्ति । एवं ब्रह्मजिज्ञासासूत्रे अथशब्दः कर्मावचारानन्तरपर इत्येतत् चिरन्तनसम्प्रदायसिद्धम् । अस्य सम्प्रदायस्य प्रवर्तकः बोधायनः । तस्योक्तिः—वृत्तात् कर्माविगमादनन्तरं ब्रह्मविदिदधेति इमां बुद्धौ निधायैव 'अधिगतानन्तरं' इत्येको वृत्तिकार आह । 'पूर्वप्रकृतां धर्मजिज्ञासामपेक्ष्य अनन्तरं' इत्यपरः । "पूर्ववृत्तात् धर्मज्ञानादनन्तरं" इति भास्करः । एवमेषु किञ्चित् किञ्चिद्विपर्ययस्य स्वोक्त्या तमेवार्थं वदत्सु श्रीभाष्यकृतः तामेव शब्दानुपूर्वमुदाजह्नुः । इत्थं चिरन्तनसम्प्रदायसिद्धं अथशब्दस्यानन्तर्यार्थत्वं मुक्तिसाधनतया स्वाभिमतज्ञाने कर्मनैरपेक्ष्यवादी शङ्करः अनुचितं असङ्गतं च मन्यमानः प्रतिक्षिपति । शास्त्री तु प्रामाणिकाः पर्यालोचयन्तु, सहृदयाः पश्यन्तु इति निष्पत्तपातत्वतस्त्रोपलम्भवैयग्रथपरमसात्त्विकभावादिक स्वस्य 'पदे षदे घोपयन् स्वकीयं विप्रलम्भकत्वं न कोऽपि ज्ञास्यतीति गार्ढविस्रम्भः अवशात् स्वस्वरूपमिह सम्यगाविश्चकार । सूत्रभाष्ये कृता शङ्का प्राचीन-

वृत्तिकारोक्तार्थविषयेति पञ्च पादिकायां स्रष्टमुच्यत इति जानन्नैव भाष्य-  
कारेण स्वयं कृतेयं शङ्केति शुद्धमनृतं वदन् मरेषु भ्रान्तिं विप्रलिप्सां च  
आरोपयन् अयं शार्ङ्गा क इति वाच्य इति स्वयं प्रामाणिकाः परिशील-  
यितुमर्हन्ति ।

६३. अत्यन्तजुगुप्सावहाः कल्पनाः पुनरप्यत्र प्रकाशयति । ताः  
सर्वाः पूर्वं कृतैरेव निरूपणैर्विध्वस्ता इति न किञ्चिद्दिह वक्तव्यं  
पश्यामः । श्रीवत्साङ्गमिश्रः द्रमिडभाष्यविस्तृतव्याख्यातृत्वेन यामुना-  
चार्यैः कथित इति भ्रमं पुनरत्र प्रकृतयति । द्विः कीर्तितं श्रीवत्साङ्गमिश्रं  
एकत्र 'श्रीकण्ठ' इति पाठं परिष्कुर्वन् अन्यत्र नाथमुनिरेव श्रीवत्साङ्ग-  
मिश्र इति प्रमत्तैर्लिखित इति कल्पयन्त्र अभ्रावसान् कराति । न्यायतत्त्वं  
नाम नाथमुनिग्रन्थः न्यायशास्त्रग्रन्थः वेदान्तदर्शनानुकूलतया प्रमाण-  
प्रमेयव्यवस्थापक इत्युक्तम् । अस्येदृशं स्वरूपं श्रीदेशिकचरणैः न्याय-  
सिद्धाञ्जनादिषु ग्रन्थेषु असकृदुदाहृतैस्तद्वाक्यैरपि स्फुटमवगम्यते ।  
इदं न्यायतत्त्वं शठकोपकृतद्रमिडभाष्यस्य विस्तृतं व्याख्यानमिति अयं  
महानुभावः अत्यत्यतिसम्पन्नं नितान्तात्यन्तानिकामप्रकामरमणीयं च  
वाचयते । ज्ञानसम्बन्धनाम्नः शिवभक्तस्य द्राविडगाथामालिकैव  
द्रमिडभाष्यम् । तस्य विस्तृतव्याख्याता गौडदेशं गत्वाऽधीत्य निवृत्तः,  
तेन हेतुना गौडपाद इति प्रथितो द्राविडः कश्चित् । तदुपजीवनेन स्वग्र-  
न्थानकरोत् शङ्कर इत्यन्यो महानुभावः कथयति । तदयं परिशीलयतु ।  
एतदानुगुण्येन सर्वपरिवर्तने सर्वकल्पने च सति इदं तत्त्वं कुतो च  
स्यात् ? अत्रापि तर्क्याम इत्युपक्रमः । तत्त्वं सर्वे परिशीलयन्तु,  
इति उपसंहारः ।

६४. द्रमिडभाष्यकृतेति पाठेऽपि द्रमिडभाष्यमिति शठकोपगा-  
थासहस्रं नैव मेने यामुनाचार्यैः । गाथाः पठन् यः कोऽपि इदं भाष्य-  
मिति भ्रममपि न प्राप्नुयात् । अयमुन्मत्तः तत्स्वरूपस्य अत्यन्तानभिज्ञः

तथा स मेने, इति कल्पयित्वा प्राक् बह्वचोचत् । अथात्र यामुनाचायः  
यत् तथा आह तत्र युक्तम् । स्वतन्त्रग्रन्थ एव शठकोपद्राविडग्रन्थः, न  
ब्रह्मसूत्रभाष्यमिति तस्य खण्डनं करोति । अन्यदप्याकुलं बहु जल्पति ।

उभयमीमांसेत्यत्र मीमांसाशब्दोऽवयवपरः । उभयी मीमांसेति ।  
उभयविधा मीमांसेति वा विवक्षा । अत एव हि कर्मकाण्डः ब्रह्मकाण्ड  
इति व्यवहारः । अत एव चोभयोरैकशास्त्र्यम् । नैवं उभयवदान्त  
इत्यत्र । न हि संस्कृतकाण्डः द्राविडकाण्ड इति व्यवहारोऽस्ति । अतो-  
ऽत्र पार्थक्यमेव, उपनिषदामन्योन्यामिव तत्र एकप्रबन्धस्य कः प्रसङ्गः ।

गुरुपरम्पराश्लोके ब्रह्मसूत्रकारव्यासादीनामप्रवेशे न्यूनतां पश्यति ।  
गुरुत्व ग्रन्थकारत्वं च नैकम् । गुरुपरम्परायां अन्येषां कथं प्रवेशः स्यात् ।  
अधीयमानमहाग्रन्थकारा अपि वन्दनीया एव । वन्दन्ते च । “सम्यङ्  
न्यायकलापेन महता भारतेन च । उपवृंहितवेदाय नमो व्यासाय  
विष्णवे ।” इति श्रु० प्र० आरम्भे स्थितः श्लोकः श्रीभाष्याध्ययनकाले सर्वै-  
रेवानुसन्धीयते । ‘विभूषणं मौनमर्पाण्डतानां’ इत्येतद् विस्मृत्य शब्दा-  
यते शास्त्री ।

६५. पूर्वं ६१ तमे पर्वणि अद्वैतभाष्ये प्राचीनवृत्तिग्रन्थविरोधान्  
श्रीभाष्यकारैः प्रदर्शितान् प्रति श्रीवत्साङ्गमिश्रवृत्तिविरोधा इमे  
नास्माभिः परिहरणीयाः इति गम्भीरमुक्तवानपि “कार्यते ह्यवशः कर्म  
सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः” इत्युक्तरोत्या पुनस्तत्र चापलं करोति । ‘संहितमेत-  
च्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेनेति शास्त्रैकत्वसिद्धिः’ इति वृत्ति-  
ग्रन्थबोधितं पूर्वोत्तरमीमांसयोरैकशास्त्रत्वं अभ्युपगतमेवास्माभिः । अतो न  
तद्विरोध इत्याह । एवं वदन्नेव ‘भगवत्पादभाष्यटाकयोरपि प्रौढ्या  
तदभ्युपगतमेव’ इत्युपस्करोति । परमार्थत एव तत्र तदभ्युपगतम् । अप्पय-  
दीक्षितः तद्विपर्यासे अभिनिर्विष्टः । एवमेकशास्त्रत्वे स्थिते ‘अथ  
कर्मविचारानन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा’ इत्यानन्तर्यार्थत्वमथशब्दस्य स्वरसतः



सिद्धयति । इदं तु नेष्टम् । अत इदं प्रतिषेधनाह—एकशास्त्र्यस्याभ्यु-  
पगमेऽपि न कर्मावचारानन्तर्यस्य ब्रह्मावचारे प्रसक्तिः । 'भाष्योक्तरीत्या  
ब्रह्मावचारे कर्मानुष्ठानस्यापेक्षानियमाभावेन तदप्रसक्तेः' इति परिमले  
व्यक्तम् ।—इति । अत्र परिमलवाक्ये कर्मानुष्ठानस्येत्येतत् कर्मावचार-  
स्येति वा कर्मावगमस्येति वा शोधनीर्यामात भाति । 'धर्मजिज्ञासायाः  
प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तः' इति भाष्यस्यैवात्र अभिप्रेत-  
त्वात् । ब्रह्मावचारे कर्मानुष्ठानापेक्षायाः केनाप्यनुक्तत्वाच्च । एकशास्त्रत्वे  
अथशब्दस्य कर्मावचारानन्तर्याथत्वं स्वरसतः प्राप्नोति । परन्तु करिष्य-  
माणस्य ब्रह्मावचारस्य नियमेन तदपेक्षावरहात् तदानन्तर्यपरत्वं परि-  
त्यज्यते । कर्मावचारात् पूर्वमपि ब्रह्मावचारस्य कर्तुं शक्यत्वात् तदपेक्षा  
नास्तीति हि स्पष्टमेतत् । एवं प्रथममुक्तवान् परिमलकार एव अपेक्षा-  
नियममुपरि स्वयं दर्शयति—

ननु सगुणज्ञानानन्तरं तदुपासनानिष्ठस्य कर्मानुष्ठानं सम्भ-  
वात् । फलभूयस्त्वार्थं सहकारित्वेन तदपेक्षितं च भवति ।  
तत्रैव चाचार्यैः आग्निहोत्रादि तु तत्कायायैव तद्दर्शनादित्यधि-  
करणे वक्ष्यते । सगुणतदुपासनात् सगुणोपासना फलविचार-  
आत्रैव शास्त्रे महता प्रबन्धेन कारिष्यते । तद्विचारसाध्यं च  
तदनुष्ठानम् । अतः सगुणोपासनासहकारिकर्मानुष्ठानापेक्षितः  
कर्मावबोध इति तदाजन्तयैमथशब्दार्थः कुतो न भवेत् ।

इति । कर्मकः एडोक्तन्यायापेक्षानियमं चास्मदाचार्या आहुः ।—

कोऽसावुपयोग इति चेत् । न्यायोपजीवनं तावत् । तथा हि ।  
बाह्यान्तरनिमित्ताप्रामाण्यनिराकरणेन प्रमाणलक्षणं तावत्  
कृत्स्नोपयुक्तम् । भेदलक्षणोपजीवी च गुणोपसंहारपादः । तार्ती-  
याश्च श्रुतिलिङ्गादयः सार्वत्रिकाः । प्रयुक्तिश्च वर्णाश्रमधर्माणं  
विद्याप्रयुक्तत्वाश्रमप्रयुक्तत्वादिविमर्शं निविशते । गतिचिन्तायां

पाञ्चमिकः क्रमः । कर्ता विद्याधिकारिचिन्तने विशेष्यते ।  
 अतिदेशाद्यश्च 'तदेव रूपं यदमुष्य रूपम्' इत्यादिषु ।  
 इति शतदूषण्याम् ।

'कर्मविचारोक्तकृत्स्नन्यायसापेक्षत्वाद् ब्रह्मविचारस्य' । 'एत-  
 न्यायसापेक्षत्वं सङ्कर्षसापेक्षत्वं च ब्रह्मविचारे तत्र तत्र  
 द्रष्टव्यम्'

इति श्रु० प्र० याम् । एवं ब्रह्मविचारस्य नियमेन कर्मविचारसापेक्षत्वात्  
 शङ्करोक्तं तन्निरपेक्षत्वमनुपपन्नमिति परिमलकार एवाह । अथाप्ययं  
 भाष्यानुरोधेन अथशब्दस्य साधनचतुष्टयसम्पत्त्यनन्तर्यपरत्वमेव  
 समर्थयन् "यः प्रधानविचारः तदपेक्षितमेव पूर्ववृत्तं वक्तव्यम् । निर्गुण-  
 विषयश्च प्रधानविचारः । अतस्तदपेक्षितमेव पूर्ववृत्तं वाच्यम् । न त्व-  
 प्रधानसगुणविचारापेक्षितः कर्माधिगमः' इत्याह । अत्र कश्चिदाक्षेपः ।  
 साधनचतुष्टयसम्पन्नाः परमविरक्ताः निर्गुरौर्कनिष्ठाः । ते सगुणोपासनां  
 नैव कुर्युः । ये तु इमां कुर्युः तेषां साधनचतुष्टयसम्पत्त्यभावात् अनधि-  
 कारित्वेन ब्रह्मविचारप्रसङ्गविरहान् सगुणोपासनोपयुक्तज्ञानाभावान्  
 तेऽपि इमां कर्तुं न क्षमन्ते । तथा च सगुणोपासनविधिवैयर्थ्यप्रसङ्ग  
 इति । अत्र दीक्षितस्य समाधानम् । ब्रह्ममीमांसाविद्भ्यः उपदेशेन सगु-  
 णोपासकैः स्वापेक्षितं ज्ञानमधिगन्तव्यमिति । अनया विधया अन्ये अपि  
 आक्षेपसमाधाने इह वक्तव्ये । ननु ब्रह्मविचारप्रवृत्ताः तत्र सूत्रनिर्दिष्टानां  
 अन्येषां च उपयुक्तानां सुबहूनां कर्ममीमांसान्यायानां ज्ञानमपेक्षन्ते ।  
 कर्माङ्गोपासना विचारोपयोगितया तत्तत्कर्मतदङ्गादि ज्ञानं च । तत्  
 तैः कथं सम्पाद्यमिति चेत् धर्ममीमांसाविदां सकाशादुपदेशेनेति ।

अत्र प्रामाणिकाः पर्यालोचयन्तु । वेदार्थविचाररूपत्वेन उभयोर्मीमां-  
 सयोरेकशास्त्रत्वं स्वरसप्राप्तं परित्यजन्ति । भाष्यटीकोक्तमपि प्रौढिवाद  
 इति कल्पयन्ति । एकशास्त्रत्वं कृत्वाऽपि स्वरसप्राप्तं अथशब्दस्यः

कर्मविचारानन्तर्यपरत्वं प्रतिज्ञापन्ति । प्रार्चनेषु वृत्तिकारंषु यःकश्चि-  
 देकोऽपि स नास्ति यः कर्मविचारस्य पूर्ववृत्तत्वं नेच्छति, अन्यस्य वा  
 कस्यचित् पूर्ववृत्तत्वं त्रयीति । अद्वैतग्रन्थेषु वा, प्रतिज्ञेपाय विशिष्टाद्वैता-  
 दिग्रन्थेषु वा अनुदाहरणान् । श्रीशङ्कर एकः स्वार्थिमतसिद्धान्तप्रति-  
 कूलत्वान् तथा करोति । निर्विशेषचैतन्यमेकं पारमार्थिकम् । अन्यत्  
 सर्वं मिथ्या । तद्भावापत्तिरेव मुक्तिः । तत्साक्षात्कारः साधनम् । अनयोः  
 साध्यसाधनयोः क्वचिदापि कर्मणो नोपयोगः । प्रत्युत विरोधि तत् ।  
 अतः शङ्करः तद्विचारानन्तर्यरूपमर्थं साग्रहं निराकरोति । एवं च कर्म-  
 विचारानन्तर्यरूपोऽथशब्दाथः अद्वैतसिद्धान्त इत्युभयमिदं परस्पर-  
 विरुद्धम् । तेन तदानन्तर्यार्थवादिनः प्राञ्चः सर्वे नाद्वैतिन इति अतद्वादी  
 शङ्करः प्राचीनसम्प्रदायाननुरोधी तद्विरोधी चेति स्पष्टम् । न हि  
 उपवर्षः साधनचतुष्टयानन्तर्यार्थमवोचत् । न च ब्रह्मनन्दी त्रिविडा-  
 चार्यो वा तमर्थं ज्ञापयामास । तस्मात् तेषां अद्वैतस्य च कृतयुगा-  
 रम्भस्य ततः परं कालयुगारम्भस्य च यावदन्तरं तावदन्तरमिति  
 ज्ञेयम् ।

समञ्जसस्य वक्तव्यस्याभावान् मुखमस्तीति भाषमाणः शास्त्री  
 'वक्ष्यति च कर्मब्रह्ममीमांसयोरित्यत्र जल्पति—कुत्र वक्ष्यति ? कां वा  
 तद्वेदेत्यादि । यत्र क्वाप्युक्तवान् भवतु । किं प्रदेशविशेषेण ज्ञातेनाज्ञातेन  
 वा । किं नाम संहितमेतज्जैमिनीयेनेति वृत्तिवाक्यं सन्दिग्धार्थं, येन  
 निर्णयाय प्रकरणापेक्षा भवेत् ।

शारीरकं ब्रह्ममीमांसाशास्त्रम् । शारीरः सर्वशारीरः परमात्मा ।  
 तत्प्रतिपादकत्वान् । अत्राह—'इदं सूत्रकृतोऽनभिमतम् । 'अनुपपत्तेस्तु  
 न शारीरः' इत्यादिषु जीवस्यैव शारीरपदेन तेनोक्तेः' इति । इदमपि  
 सूत्रकारानभिमतमेव । ब्रह्मजिज्ञासेति सूत्रणात् । शारीरजिज्ञासेति वा  
 जीवजिज्ञासेति वा असूत्रणात् । श्रुतिविरुद्धं च । 'तस्यैव एव शारीर

‘आत्मा’ इति परमात्मन्येव शारीरपदप्रयोगात् । अतः सूत्रेषु प्रकरणानु-  
 रोधेन कर्मकृतशरीरवद्ग्रहणेऽपि अन्यत्र असङ्कोचन्यायेन सर्वशरीर-  
 कस्यैव ग्रहणं न्याय्यम् । अन्यथा जीवमीमांसेति प्रतीतिप्रसङ्गात् ।  
 जीवस्य अयन्वर्णनं न्याय्यं कल्पनायां गौरवात् । प्रक्षालनाद्धि-  
 पङ्कस्योक्तं न्यायान् । अद्वैतिनिर्वाणस्वमतानुरोधेनोच्यमानस्यास्यार्थस्य  
 प्राचीनवृत्तिग्रन्थोक्तिषु बाधितत्वाच्च । ऐतदात्म्यमिदं सर्वमित्यनेन अस्य  
 सर्वस्य तच्छरीरत्वमर्थोऽसद्भवम् । इदं ‘यस्य पृथिवी शरीर’मिति स्पष्ट-  
 माम्नायते । अतः तस्यैष एव शारीर इति परमात्माऽभिधीयते । एतदनु-  
 सारेणैव वृत्तकृता शास्त्रं शारीरकमिति व्यवहृतम् । अतस्तस्य जग-  
 द्ब्रह्मणोः शरीरशरीरभावसम्बन्धत्वादित्वं स्फुटमनेन ज्ञायते । शारीरक-  
 मित्येषा शास्त्रसंज्ञा प्राचीनेषु सिद्धैव श्रीशङ्करेणाप्युपयुक्ता । तस्याः  
 स्वकीयनवानाद्वैतसिद्धान्तानुगुणाय शारीरस्य जीवस्य प्रत्यगर्थाभेद-  
 बोधकशास्त्रमिति सूत्रभाष्यव्याख्याताराऽर्थवपर्यासं चक्रुः । सूत्र-  
 कारस्तु हेयसम्बन्धस्फारणाय जीवं शारीरपदं प्रयुञ्जानः प्रकरणदि-  
 वशात् जीवपरत्वं ज्ञास्यन्त श्रान्तारः, न परमात्मपरत्वभ्रमं प्राप्स्यन्तीति  
 मेने ।

६६. विशिष्टाद्वैतमतस्य नवीनत्वं वेङ्कटनाथ एव वदतीति प्रति-  
 ज्ञाय ‘यतिदमाभृद्दृष्टं मतमिह नवानं तदपि किम्’ इति यतिराजसप्रति-  
 श्लोकस्य प्रथमपादमात्रं पठति ।

ततः प्रागेवान्यद् वद तदपि किं वर्णनिकषे ।

निशाम्यन्तां यद्वा निजमततिरस्कारनिगमा-

त्रिरातङ्काष्टङ्कद्रमिडगुहदेवप्रभृतयः ॥

इत्यवशिष्टं पादत्रयम् । वादतां ग्रन्थतो वा विशिष्टाद्वैतं चेत्त्वं अद्वैतं  
 स्थापयितुं च अशक्ताः केचित् प्रतिपक्षिणः श्रीशङ्कररामानुजयोः कालतः  
 पार्वार्यमाश्रित्य अस्मन्मतं प्राचीनं युष्मन्मतं नवीनमिति वदन्त

आसन् । तत्र प्राचीनत्वनवीनत्वे साधुत्वासाधुत्वयोः सर्वथा अप्रयो-  
जके । न हि प्राचीनां मृत्पिण्डः उत्कृष्यते, नवीनः स्वर्णापिण्डः अप-  
कृष्यत इति भवति । अतः दर्शनयोः प्रमाणातो युक्ततश्च सामीचीन्या-  
सामीचीन्यविवेकः क्रियताम्, इति विवेकजननाय प्रथममभ्युपेत्य वादः  
पूर्वार्धे । वस्तुतः प्राचीनत्वनवीनत्वे उक्तं न स्तः । विशिष्टाद्वैतं हि  
टङ्कद्रमिडगुहदेवप्रभृतिभिराहतं स्वस्वग्रन्थेषु निबद्धं च मतम्, इति  
तत्त्वोद्घाटनं उत्तरार्धे । अत्रात्तरार्धमुपेक्ष्य पूर्वार्धप्रथमपादमात्रमादाय  
स्वमतस्य नवीनत्वं वेङ्कटनाथेनैवाभ्युपगतामिति लिखति । अनभिज्ञप्रता-  
रणमात्रोद्देश्यम् । अपि वा मातरं गच्छेन्न गच्छेद् देवदारिकामित्यत्र  
प्रथमपादः स्वार्थमनुमन्यत एवेत्येष नूनं वदति ।

सङ्कल्पसूर्योदये नवीनत्वमुपनिषत्प्रम् । न च तत्प्रतिज्ञप्तमिति  
ब्रवीति । यतिराजसप्ततौ कृतः प्रतिज्ञेयः पर्यात्र इत्यभिप्रायः । अथवा  
'गुरुः—भद्र, क्रिमेतैः क्रिम्पचानैः । अपरे पुनरर्थसंस्पर्शिशिदोषवादिनः  
प्रतिज्ञिष्यन्ताम्' इत्यनेन अर्थशून्यशब्दमात्रेण दूषका नवीनत्ववादिनः,  
इति, वस्तुतो नवीनत्वं नास्तीति च तत्प्रतिज्ञेयः कृत एव । उपरि

नाथाश्लेषसनाथनात् श्रुतिवधूवैधव्यखेदाच्छब्दं

प्राचीनां नयपद्धतिं यतिपतिः प्राचीकशश्रैष चेत् ।

इत्यादिभिः प्राचीनत्वं ख्यापितमेव ।

तदेवं बोधायनस्य वा तदीयवृत्तिग्रन्थस्य वा अपलपितुमशक्यत्वान्,  
तस्य तदनुयायिबहुवृत्तिग्रन्थजातस्य चात्यन्तविरुद्धत्वात्, शङ्कर-  
सन्निकृष्टानन्तरकाले स्थितेन भास्करेण 'सूत्राभिप्रायसंवृत्या स्वाभिप्राय-  
प्रकाशनात्' इति वस्तुस्थितेः स्पष्टमभिहितत्वाच्च बादरायणोपज्ञस्य  
वेदान्तसम्प्रदायस्यात्यन्तप्रतीपं गौडादिभिः स्वकपोलकल्पितमद्वैतमिति  
सिद्धम् । वाक्यभाष्यकारयोर्ब्रह्मनन्दिद्रमिडाचार्ययोरपि निर्गुणब्रह्मवा-  
दित्वे जगन्मिथ्यात्ववादित्वे च प्रमाणलेशाभावात् प्रत्युत परिणामवाद-

भगवदैश्वर्यं, रूपं, जगत्कारणत्वाद्यभ्युपगमस्य तद्वाक्यैस्त्वगम्यमानत्वाच्च तन्मतविरुद्धमेव नवीनमिदमद्वैतमित्यापि सिद्धम् ।

६७. 'यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदावदां मतम्' इति श्रीभाष्यश्री-सूक्तौ वेदविदामित्यस्य व्यासार्थाणां विवरणं—भगद्वांशधायननाथमु-निमिश्रादीनामित्यर्थः, इति । अत्र सम्प्रदायवाह्यत्वात् विषयानभिज्ञः शास्त्री यथाशीलं कुकल्पनाः करोति । वांशधायननाथमुन्योर्मध्ये ब्रह्मनन्द-द्रमिडाचार्ययोरकीर्तनं अनयोः विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायाप्रवर्तकत्वाभिप्राये-णैव । अत इमौ अस्य सम्प्रदायस्य पूर्वाचार्यौ न भवत इति विवरण-ग्रन्थेनानेन स्फुटमवगम्यत इति । अत्र तन्त्वमिदम् । उपदेशेन ग्रन्थप्रण-यनेन च विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायप्रवर्तकानां आचार्याणां परम्परे द्वे । भगवद्वांशधायनोपक्रममेका । अत्र ब्रह्मनन्दद्रमिडाचार्यश्रीवत्सांकमिश्रा-अन्तर्भवन्ति । योगे शठकोपमुनिं साक्षात्कृत्य उपदेशं लब्ध्वा श्रीमन्नाथ-मुनिभिः प्रवर्तिता अयरा । अनयोरुभयोः परम्परयोः प्रथमप्रवर्तकौ द्वौ नाम्ना निर्दिश्य व्यासार्थाः इतरान् आदिपदग्रह्यान् अमन्यन्त । अतोऽत्र दुर्भाषणस्य न काश्चिदवकाशः ।

६८. व्यासपूजाकाले अद्वैतभिः द्रविडाचार्यः पूज्यते । तेन सः अद्वैतीति निश्चीयत इत्याह । व्यासः पूज्यते । किं तेन सः अद्वैती । सूत्रैस्तथाऽनव-गमात् । न च द्रमिडभाष्यवाक्यादेरस्मात् तस्याद्वैतित्वं ज्ञायते । अतो-ऽद्वैतस्य प्राचीनत्वप्रख्यापनाय केवलं तस्य पूजेति निस्सन्दिग्धमिदम् । किञ्च ब्रह्मनन्दनोऽपूजनात् स नाद्वैतीति निश्चितमिदम् । न च तस्य स्वख्यानकारः अद्वैती भवितुमर्हति । अतोऽयमन्यः शङ्करवत् गोविन्द-पादशिष्यो वा एतद्वत् गौडपादशिष्यो वा द्रविडाचार्यः । न द्रमिडभाष्य-कारः । गौडपादशिष्यपरम्पराघटकत्वात् । शङ्कराचार्य एव वा स्वाचार्य-प्राचार्याभ्यां प्रशिष्याभ्यां च सह पुनः पूज्यत इति युक्तम् । शिष्यमात्र-साहित्यमेकत्र । आचार्यप्राचार्यव्यवहितशिष्यसाहित्यमपरत्र । भाष्या-

दिप्रणयनेन वादेषु वादिनां विजयेन च सम्प्रदायप्रतिष्ठापकत्वात् स्थान-  
द्वयपूजा शङ्करस्य युज्यत एव । अनेनैव हेतुनाऽस्य मध्ये निवेशनमपि ।

अन्यदत्रोक्तं पूतिगन्धि । अनुवादस्याप्यनहम् ।

आपूर्य वक्तुं लशुनैर्विधाता

किं निम्बसारैः कुधियामसिञ्चन् ।

नो चेत् कथं वाचि ततः क्षरन्त्यां

स पूतिगन्धः स च तिक्रभावः ॥

इति नीलकण्ठीया उत्प्रेक्षा साधिष्ठा ।

६६. अद्वैतखण्डनपरायाः शतदूषणयाः स्थाने विशिष्टाद्वैतप्रवर्त-  
काचार्यपरम्पराकुत्सनपरां अभिनवां शतदूषणीं करिष्यामीति सङ्कल्प्य  
सम्बद्धमसम्बद्धं वाच्यमवाच्यं पुनरुक्तं बाधितं विप्रतिषिद्धं सर्वमुक्तत्वाऽपि  
शतसंख्यायाः पूरणमभ्यन् कथञ्चित् पूरणाय श्रन्ते आचार्यवन्दनं  
अद्वैतदर्शनस्य सर्वोपास्यत्वप्रतिपादनं च प्रतिज्ञाय वन्दनानन्तरं

“अद्वैतदर्शनं भुवि गौडद्रविडाद्विज्ञैः सेव्यम् ।”

इति सर्वोपास्यत्वमवोचत् । आन्ध्रकर्णाटिकादिद्विजसेव्यत्वव्यवच्छेदे न  
तात्पर्यमिति मन्यामहे । सर्वोपाम्यत्वप्रतिज्ञानान् । अथापि विशिष्य  
गौडानेव द्रविडानेव चाभिप्रैतीति उत्तरार्धेन प्रतीयते—

“द्रविडादि द्रविडान्तं प्रथितं गौडादि गौडान्तम् ।”

इत्यनेन । अद्वैतं गौडादि । तदुपज्ञत्वात् । गौडान्तम् । गौडस्य ब्रह्मा-  
नन्दस्य प्रौढग्रन्थकारेषु चरमत्वात् । इदं प्रथितं प्रसिद्धम् । तद्वदेव  
द्रविडादि द्रविडभाष्यकारादि । द्रविडान्तं अप्पय्यदीक्षितान्तम्, इत्यपि  
प्रसिद्धिः, इत्याह । प्रथमा प्रसिद्धिरास्त । जानीमो वयम् । चरमाऽपि  
शास्त्रमुखादिदम्प्रथमं श्रूयते । द्रमिडाचार्यस्य अद्वैतित्वस्यापनोपयोगि-  
तया अयं कल्पयति । अनुपपन्ना त्वयं अप्रसिद्धा प्रसिद्धिः । मूलकारं  
ब्रह्मनन्दनं विहाय कथं भाष्यकारस्य आदित्वम् । न च वाक्यस्य  
द्रमिडभाष्यमेकं प्रस्थानमद्वैतपरम् । मतान्तरपरमन्यत्रस्थानमासीत्,

येन अद्वैतप्रस्थानस्य द्रमिडाचार्य आदिभवेत् । तस्मात् द्रमिडा-  
दित्वमनुपपन्नम् । तदन्तत्वमपि तथा । गौडब्रह्मानन्दान्तत्वे स्थिते  
ततः प्राक्तनं दीक्षितमादाय तदन्तत्वकथनानुपपत्तेः । अन्यथा  
ततोऽपि पूर्वं विद्यारण्यमादाय आन्धान्तत्वस्यापि वक्तुं शक्यत्वात् ।  
स्वसिद्धान्तानुरागातिशयवृत्तेन आन्ध्येन स्वोक्ता प्रथमा प्रसिद्धिरेव  
प्रासिद्धयन्तरकल्पनापरिपन्थिर्नाति शास्त्रो न पश्यति । गौडादित्वप्रासि-  
द्धिर्हि ततः प्राक्तनस्यादित्वकल्पनवकाशं निरुन्धे । अत एव गौडपादस्य  
शुक्राशयत्वमपि केवलकल्पनामात्रम् । तथा प्रासिद्धिविरहात् । शुक्रस्य  
सर्वासिद्धान्तसाधारण्याच्च । तस्य पूजा तु व्यासपुत्रत्वात् भागवतप्रव-  
क्तत्वाच्च । न ह्याचार्यकौटौ निवेश्यास्य पूजा क्रियते । अतः अद्वैतस्य  
गौडोपज्ञत्वप्रासिद्धिबलादपि द्रमिडाचार्यस्य नाद्वैतित्वम् ।

१००. अन्तिमेऽस्मिन् पर्वाण एतद्ग्रन्थप्रधानकर्तव्यं अस्मदाचा-  
र्यदूषणं शांकरसूत्रभाष्ये मङ्गलं प्रति यन्तैरुक्तं तदाश्रित्य करोति ।  
श्रीभाष्ये उपक्रमस्थौ द्वौ श्लोकौ न भाष्यत्वमर्हतः । तल्लक्षणाभावात्,  
इत्युक्तेषु समाधानं प्रवृत्ताः व्यासार्थाः—

किञ्च मङ्गलाचरणं प्रारिप्ततग्रन्थाविघ्नपरिसमाप्त्याद्यधतया  
तदुपयोगीति तदन्तर्भाव्येव । शाबरशांकरादिभाष्येषु नम-  
स्कारादर्शनादत्र नमस्कारकथनमयुक्तमिति चेन्न । नमः प्रवर-  
गुणास्वदायेति द्रमिडभाष्ये देवतागुरुनमस्कारश्रवणात् । शाब-  
रशांकरयोस्तु ईश्वरानभ्युपगमात् जीवब्रह्मभेदानभ्युपगमाच्च  
नमस्कारानादरः । अत्र तु सिद्धान्तानुरूप्यान्नमस्यात्यन्तोप-  
पन्ना । शांकरग्रन्थोपक्रमे च व्याख्यातृभिः नमस्काराद्यभावात्  
कुग्रन्थत्वमाशंक्य युष्मदित्यादिग्रन्थेन प्रत्यगर्थानुसन्धानेन  
अर्थान्मङ्गलाचारः कृत इति परिहृतम् ।

इत्याहुः । अत्र शङ्करभाष्यदूषणं न किमपि दृश्यते । समाधानं तु



उक्तम् । जीवस्यैव शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावब्रह्मभेदबाधकं शास्त्रमिति प्रति-  
पादयन् शङ्करः तद्विरोधेन नन्तुनन्तव्यभावेन भेदगर्भं नमस्कारकरणं  
ग्रन्थारम्भे अनुचितं मेने । तस्मादवश्यकर्तव्यमपि न चकारेत्येकं समा-  
धानम् । आरम्भवाक्ये प्रत्यगर्थानुसन्धानेन मङ्गलं कर्तमिति व्याख्यातृ-  
भिरुक्तं अपरं समाधानम् ।

तत्त्वटाकायां श्रीदेशिकचरणस्तु “स च मङ्गलाचारः केषुचिद्  
ग्रन्थेषु अष्टाऽपि निमित्तफलाभ्यामुन्नेयः” इति प्रथमं मङ्गलमनुमेय-  
मुक्त्वा तदनन्तरं ‘अथवा शबरशङ्करयोः’ इत्यादिना श्रुतप्रकाशिकोक्तं  
प्रथमं समाधानमभिदधुः । ततः परं कृतस्य मङ्गलस्य ग्रन्थे निवेशनम-  
प्यावश्यकमिति प्रतिपादयन्तः तदुपष्टम्भकप्रदर्शनावसरे ‘अत एव  
युष्मदस्मदित्यादौ कुग्रन्थत्वमाशङ्क्य प्रत्यकूत्त्वानुसन्धानेन (स)मङ्गल-  
त्वमाचख्युर्व्याख्यातारः’ इति द्वितीयमपि समाधानमन्ववदन् । परन्तु  
वस्तुतः इदं समाधानमयुक्तमिति मत्वा

‘तच्च मन्दम् । युष्मदर्थानुसन्धानस्यैव तत्रापि प्राथम्यात् ।

मध्यलघुत्वेन बहिर्देवत्यस्य रगणस्य निवेशाच्च’

इत्यत्रुवन् । बहिर्ग्रन्थं मङ्गलमाचरितम् । औचित्यविरहात् ग्रन्थे अनि-  
बन्धनमित्येव वाच्यमित्येषामभिप्रायः । तदेषामपि सूत्रभाष्यदूषणा-  
भिप्रायो नैव लक्ष्यते । अत्र मङ्गलादर्शनात् श्रीभाष्ये दृश्यमानं मङ्गलं न  
युक्तमित्याक्षेपपरिहाराय तत्रापि मङ्गलमाचरितमेव । ग्रन्थेऽनिवेशनं तु  
औचित्यविरहात्, इत्येतावन् ते वदन्ति । तदवगन्तुमक्षमः शास्त्री कृथा  
अपराधोति ।

उपनिषदो भिन्नाः । वेदभेदेन शाखाभेदेन च पृथक् पृथगाग्नानात् ।  
अतस्तद्भाष्याण्यपि भिन्नान्येव । वेदान्तपदवाक्यभाष्यरूपस्य सर्वस्य  
एकग्रन्थत्वाभिधानं केवलमज्ञत्वनिबन्धनम् । सूत्रभाष्यस्य मङ्गलवत्त्व-  
सिद्धौ उपनिषद्भाष्याणां प्रथमरचितत्वं, तेष्वपि तैत्तिरीयभाष्यस्य

प्राथम्यं, तत्र केनापि लेखकेन लिखितस्य श्लोकद्वयस्य शाङ्करत्वमित्यादि-  
कल्पनासाम्राज्ये परिवर्तते शास्त्री । एकस्या एव कस्याश्चिदुपनिषदः  
पदभाष्यं वाक्यभाष्यमित्युभयमस्ति । अतः सूत्रभाष्यस्य वाक्यभाष्यत्व-  
मित्येतदनुपपन्नम् । यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानामिति सूत्रभाष्य-  
वाक्ये 'उपनिषद्भाष्यमुखेन च विवृत्तो योऽयमर्थः' इति शास्त्रिणा  
योज्यमानोऽर्थो नैव प्रतीयते । स्वकीयमुत्स्कारमप्रामाणिकं नापेक्षते  
तद्वाक्यमिति ज्ञातुमर्हति सः । उपनिषद्भाष्याणां पूर्वप्रणीतत्वे वक्तव्ये  
व्याख्येयानामुपनिषदां भाष्यं प्रथमम्, व्याख्यानभूतानां सूत्राणां भाष्यं  
पर्यादित्थुचितमिति औचित्यं हेतुतया वक्तुं युक्तम् । किमनया कुक्ल्प-  
नया । उपनिषद्भाष्येषु तैत्तिरीयभाष्यं प्रथमत्ययि प्रमाणान्तराभावे  
शास्त्रिणः कुक्ल्पनैवेत्यवसेयम् । प्रसिद्धक्रमानुरोधे ईशावास्यं प्रथमम् ।  
महत्त्वप्राधान्यानुरोधे छान्दोग्यं बृहदारण्यकं वा । तैत्तिरीयप्राथम्यस्य  
तु कः प्रसङ्गः । यत्तु श्लोकद्वयं, तस्य भगवत्पादकृतत्वप्रत्याशा न कार्या ।  
अद्वैतस्थापनधुरन्धरस्य, जीवस्य शुद्धचैतन्यात्मकब्रह्माभेदनिरूपणेदम्प-  
रस्य तस्य वस्तुतो भेदगर्भस्य नमनस्य ग्रन्थारम्भे निवेशने औचित्य-  
लेशस्यापि विरहात् । तदन्यैस्तु स्वस्य व्यवहारदर्शानतिलङ्घित्वपर्या-  
लोचनेन तादृशमङ्गलनिबन्धनात् । श्लोकस्वरूपमेव अन्यकर्तृकत्वं  
प्रख्यापयति । पारमार्थिकं हि कारणत्वं धारकत्वं च प्रथमश्लोक आह ।  
तृतीयपादे च पूरणक्लेशमनुभूतवता कविना एवकारो व्यर्थः प्रयुक्तः ।  
न च श्री शङ्करे एतदुभयं सम्भाव्यते ! द्वितीयश्लोके च सर्ववेदान्त-  
व्याख्यातारो गुरवो नम्यन्ते । किं नाम शङ्कराचार्येभ्यः प्राक् सर्ववेदान्त-  
व्याख्यातारः केचन गुरव आसन्, यानेते नमस्कुर्युः । पुस्तकस्वामिनो  
लेखका वा स्वयमुपनिषत्प्रतिपाद्यं कारणत्वं पुरस्कृत्य दैववन्दनं सर्वोप-  
निषद्भाष्यकारशङ्कराचार्यं वन्दनं च कृत्वा श्लोकद्वयं पुस्तके व्यतिखन् ।  
एतद्विबेचनात्मयोऽयं "महिपः प्रसूतः" इति वाचं श्रुत्वा 'साधु ।

वत्सं रत्न' इति सद्यो दत्तप्रतिवचनो जड इव तदुपरि बह्नुभूमं प्रासादं निर्मातुं प्रवर्तते ।

सूत्रभाष्ये मङ्गलं नास्तीति साधने न कस्यचित् प्रवृत्तिरित्युक्तम् । प्रन्थात् बहिः कृतं तदुभेयमिति श्रीदेशिकाः । अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति सूत्रानुसन्धानपुरस्सरं भाष्यस्योपक्रान्त्यान् समङ्गलत्वमिति शास्त्रिणा उच्यमानं साध्वं च स्यात् यदि भाष्यमेतदनुमन्येत । तत् नैतदनुमन्यते । शाबरे अथातो धर्मजिज्ञासेति सूत्रपाठानन्तरमेव 'लोके येष्वर्थेषु' इति भाष्योपक्रमः । तत्र सूत्रपाठ एव मङ्गलमिति सम्भवति । शाङ्करे तु उपोद्धातं समाप्य तदनन्तरं व्याचिख्यासितस्य वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य इदमादिमं सूत्रमित्यवतरणिकां दत्तवैव सूत्रपाठः । अतो न तत्सम्भवः । उपोद्धातात्पूर्वमेव इदं सूत्रं पपाठेति चेत् इदं सूत्रमेव पठितम् । न तु शुक्ताम्बरधर श्लोकादिकमिति कथं निश्चयः ? 'अनालोच्यैव यत् किञ्चिदसम्बद्धं वदतः किमुत्तरं देयम्' इति श्रीमद्वेङ्कटनाथं प्रत्याह । 'यदन्तरं वायसवैनतेययोः' इत्युक्तमन्तरं स्वपरयोर्बत तपस्वी न वेद ।

अथ यत् 'युष्मदस्मत्' इत्यत्र प्रत्यगर्थानुसन्धानात्मकं मङ्गलमस्तीति, तद्देशिका न रोचयन्त इत्युक्तम् । भाष्यं मङ्गलयुक्तमेवेति पक्षद्वयेऽपि समानम् । उभेयमेव मङ्गलम् । न प्रत्यगनुसन्धानरूपं तत् । प्रथमश्रुतेन युष्मत्पदेन सर्वोपसवस्यैवाशुभस्योपस्थापनात्, इत्येते वदन्ति । 'निष्प्रत्यूह मुपास्महे' इति मुरारि श्लोके निष्प्रत्यूहपदवत् अखिलपदं अशुभव्यावृत्तं बोधयत् न मङ्गलविधाताय भवति । प्रकृतं युष्मत्पदं तु प्रथमश्रुतं हेयमुपस्थापयति । निवर्तनायैव एतदुक्तावपि अस्य प्रथमोपस्थितिर्न शोभनेति मन्यन्ते । अविनीतः शास्त्री

'अखिलहेयप्रत्यनीक निखिलकल्याणगुणाकरो भगवान्' इति भगवदनुसन्धानस्थलेऽपि हेयस्यैव प्रथमानुसन्धानान्न मङ्गलाचरणं सम्पद्येत ।

इत्युद्धृतं लिखति । यदि ग्रन्थारम्भे कचिदेवमुच्येत, निश्चितं तत् न सम्पद्येतैव मङ्गलम् । श्रीमद्गीताभाष्ये प्राचार्यवन्दनात्मकमङ्गलाचरणानन्तरमपि “श्रियः पतिर्निखिलहेयप्रत्यनीक” इति ग्रन्थमारभते भगवान् भाष्यकारः । शरणागतिगद्ये च श्रीप्रपत्तिदत्तवरप्राप्तिनिबन्धनानन्तरमेव ‘अखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतान’ इति भगवत्प्रपदनमारभते । सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्रीसूक्ति गौरवमजानन् शास्त्री विवृत्य धृतात् आतपत्रात् ग्रामीणशकटवृषभ इव सम्भ्रान्तः अपथे दूरं धावति । युष्मत्पदस्य हेयोपस्थपकतया अमङ्गलत्वे स्थिते वह्निदेवत्यरगणरूपत्वमपि तत्राभ्युच्चययुक्तितया कथितम् । अग्निमीले इत्यादौ तु अग्रनयन समर्थमहाप्रभावशालि देवताविशेषस्मरणात्मकोत्तममङ्गलेन सर्वलुद्रदोषनिवृत्त्या रगणरूपत्वं न गणनीयम् । ‘मा निषादेति न ग्रन्थारम्भश्लोकः । ननु स एव लौकिक श्लोकेषु प्रथमः । रामायणे मध्ये निबद्धोऽपि स यव हि वाल्मीकिवदनात् प्रथमं निर्गतः, इति चेत् तर्हि मानिषादेति महालक्ष्मीनिवासभूतवृक्षःस्थलस्य भगवतः परममङ्गलस्योपस्थापनेन ‘मा’ इत्यनेनैव महालक्ष्म्याः मङ्गलदेवताया उपस्थापनेन च सर्वाशुभनिवृत्तेः सिद्धत्वान्नानुपपत्तिः काचित् ।

भगवत्पादानां भाष्यं निःश्रेयसकामैरुपास्यम् । अद्वैतानुभवश्च सम्पादनीयः । तेन परां च शान्तिमृच्छेत् ।

इत्यव्युत्पन्नवाक्येन दूषणपुस्तकमवसाययति शास्त्री । उपास्यं, सम्पादनीयः, इति बहुकर्तृकः कर्मणि प्रयोगः । अथ ऋच्छेदिति अश्रु तैककर्तृकः कर्तरि प्रयोगः । अतोऽव्युत्पन्नतां ब्रूमः । अतिलुद्रमेतन् । नायं दोषः अस्माकमुद्भावनाहः । अथापि एवमेतं लेखयन् सर्वेश्वरः ‘तानहं द्विषतः क्रूरान्’ इति स्वयमेवोक्तरीत्या आसुरीषु योनिषु क्षेपायैव एवमेतं ग्रन्थं लेखयामासेति इदं स्वलितं सूचयतीति ज्ञायनाय इदं प्रदर्शनीयमभूत् । आस्तामेतत् । निःश्रेयसकामैः भगवत्पादानां भाष्यमुपास्य-

मित्याह । इदं अयं अन्यो वा अद्वैतज्ञो महात्मा सम्यङ् निरूपयेत्ते  
 अस्माकं परमः सन्तोषः म्यात् । संसारनिवृत्त्यनन्तरं यद् भवति तद्  
 भवतु । तन्निवृत्तिः निःश्रेयसमित्यत्र नास्ति विप्रतिपात्तः । तत्कामस्य कथ-  
 मुपकरात् इदं भाष्यम् । एकजीववादे शुक्रवामदेवार्दान् पूर्वमेव मुक्ततया  
 प्रसिद्धानपि अमुक्तान् करोति । तदास्ताम् । त्वं असंसारं शुद्धचैतन्य-  
 मिति श्रोतारं बोधयति । प्रत्यक्षमहं संसार्यस्मि । कथमसंसारीति स  
 पृच्छति । भ्रमसिद्धोऽयं संसारः न वस्तुसन् । अतस्त्वमसंसार्येवेत्युत्त-  
 रम् । कस्य भ्रम इति पुनः प्रश्नः । यस्त्वं पृच्छसि तस्य त इत्युत्तरम् ।  
 अहमसंसार्यात्मा उक्तः । कथं मे भ्रमः इति पुनः प्रश्नः । एवं प्रबोधे  
 नास्ति कस्यचिद् भ्रम इत्युत्तरम् । अनेन प्रष्टुस्त्वार्त्तं भवति । पूर्वं  
 भ्रम आसीत् । स पश्चान्निवृत्त इति वाऽभिप्राय ! पूर्वमपि नासीदिति वा ।  
 आद्ये भ्रान्तः संसार्येवायम् ॥ अहमसंसार्यात्मेति प्रत्यक्षबाधितमनुसन्धानं  
 नैव भवेत् । अन्त्ये नित्यमुक्तोऽयम् । न मुक्तिः काम्या साध्या वा । नित्य-  
 सिद्धत्वात् । नापि तत्साधनमन्वेषणीयम् । अनुष्ठानस्य का कथा ।  
 अत्र भाष्यं किं ब्रवीति ? इदमेव ब्रवीति, नान्यादित्याह तत्र भवान्  
 वाचस्पतः—

परमाथंस्तु न विभ्रमो नाम कश्चित् । न च संसारो नाम ।  
 किन्तु सर्वमेतत् सर्वानुपपत्तिभाजनत्वेन अनिर्वचनीयमिति  
 युक्तमुत्पश्यामः । तदनेनाभिसन्धिनोक्तम्—यद्येवं प्रतिबुद्धोऽसि  
 नास्ति कस्यचिदप्रतिबोध इति । अन्येऽप्याहुः—‘यद्यद्वैते न  
 तोषोऽस्ति मुक्त एवासि सवेदा’ इति ।

इति आत्मेति तूपगच्छन्तीत्यत्र । अद्वैततत्त्वमिह निस्सन्देहं सुस्पष्टं  
 प्रतिपादितम् । मुमुक्षुया वेदान्तश्रवणे प्रवृत्तिः । श्रवणानिश्चिततात्पर्या  
 वेदान्ताः किं वदन्तीति चेत् वस्तुवृत्त्या मोहस्य तदर्धानसंसारस्य  
 चाभावात् नित्यमुक्त एवात्मा । मुक्तिकामना वा तदर्थं प्रवृत्तिर्वा न

कर्तव्या । तर्हि शास्त्राणि किमर्थं मुक्तिसाधनमुपदिशन्तीति चेत् शास्त्राणि, तत्कृता उपदेशाः, सर्वमिदं मिथ्या । सर्वमनुपपन्नमनिर्वचनीयम् । अत एवात्मनो नित्यमुक्तत्वे लोकरुच्यवहारः सधः किहेतुक इत्यादि-प्रश्नानामनवकाशः । सर्वस्यानुपपन्नत्वेन अयं हेतुः अयं स्वभावः इत्यादे-र्निर्वक्तुमशक्यत्वात् । अनुपपन्नतैकस्वभावे उपपत्त्यन्वेषणस्यायोगात् । ननु वस्तुतत्त्वं एवं स्थिते शास्त्रमेव व्यर्थमिति चेत् कामं तथा । अथ कथं तदादर इति । स्वप्रवन् । एवं च अद्वैतं न निःश्रेयसार्थम् । तस्य नित्यप्राप्तत्वात् । न त्रिवर्गार्थम् । साक्षाद्विरोधित्वात् । वध्यघातुक भाव एव हि लोकस्याद्वैतस्य च सम्बन्धः ।

इत्थं निष्फलमद्वैतमथवा सप्रयोजनम् ।

इतरैः कलहार्थत्वाज्जीविकालम्भनेन च ॥

न च शक्यमिदं वक्तुं विशिष्टाद्वैतदर्शने ।

ऐहिकामुष्मिकश्रेयोहेतुभक्तिविवर्धने ॥

भगवद्गुणचिन्तोत्थपरमानन्ददायिनि ।

अस्मिन् कालेऽपि सर्वेषां प्रपत्त्या मुक्तिसाधने ॥

सर्वेषामपि मानानां न्यायानामपि सर्वशः ।

श्रुतीनामपि सर्वासामेकानुग्रहभाजने ॥

इत्युक्तमन्तरं किञ्चित् स्वपक्षपरपक्षयोः ।

द्वैवाद् भीतेन ऋजुना सौजन्ये दत्तदृष्टिना ॥

सात्त्विकदूषणघोषः

शास्त्रिकृतः स्वात्मदूषणैकफलः ।

दृषदि हि मुष्ट्यभिवातां

मुष्टिरुजाहेतुरभिहन्तुः ॥

अज्ञानावप्रलिप्साकामक्रोधभ्रमोपहतबुद्धेः ।  
दूषणशक्तो महतां मलिनीकरणोद्यमो विद्यतः ।

विहाय नृप्यां परदूपणेषु  
तत्त्वोपलम्बेषु निधाय द्वाण्टम् ॥  
विमर्शमार्गं प्रतपन्नते यः  
सभाजनीयः स सतामर्ताव ॥



## अनुबन्धः २.

(भूमिका)

शतसङ्ख्येषु पर्वसु विस्तरेणोक्तान् अपार्थान् सङ्गृह्णन् काञ्चिद् 'भूमिकां' लिखितवान् शास्त्री । तत्रापि वक्तव्यं किञ्चिद् ब्रूमः ।

१-२. ट्कारपरनामा ब्रह्मनन्दी छान्दोग्योपनिषद्ः अतिसङ्क्षिप्त-विवरणकारः । तस्य विवरणस्य वाक्यमिति नाम । अस्य वाक्यस्य व्याख्यानं द्रमिडाचार्यकृतं भाष्यमिति प्रसिद्धम् । उर्भाचमावाचार्यौ ग्रन्थौ च विशिष्टाद्वैतपरौ । ग्रन्थेषु उदाहृतेभ्यो वाक्येभ्यस्तथा प्रतीतेः । न त्वद्वैतपरौ । श्रीशंकरप्राचार्यगौडाचार्यात् प्राक् जगन्निध्यात्वनिर्गुण-ब्रह्मवादिनोऽद्वैतस्य अत्यन्ताभावात् । वाक्यग्रन्थात् भाष्यग्रन्थाद्वा तथाविधाद्वैतगमकस्य एकस्यापि वाक्यस्य अद्वैतभाष्यकारेणान्येन वाऽनुदाहरणाच्च ।

३. छान्दोग्योपनिषदि नानाफलानि बहून्युपासनानि विधीयन्ते । तत्र प्रथमाध्यायप्रभृति उपदिष्टाः अन्तरादित्यविद्या, शाण्डिल्यविद्या, मधुविद्या, वैश्वानरविद्या, उपश्लोसलांविद्या, पञ्चाग्निविद्या, सद्विद्या, भूमिविद्या, इतीमाः सर्वा ब्रह्मविद्याः मुक्तिफलाः । विद्या उपासनरूपा एकविधैव । न तु उपासनातिरिक्तं ज्ञानं नाम मुक्त्युपायोऽस्ति । ब्रह्म च सविशेषमेकमेव । न तु निर्विशेषं ब्रह्म किञ्चिद् अस्ति । षष्ठसप्तमाध्याययो-रिव अष्टमाध्यायस्य एकविद्यापरत्वे वक्तव्ये विद्याद्वयपरत्वकल्पनं, उत्तमाधिकारिविषयनिर्विशेष ब्रह्मविद्यापरतयाऽभिमतं चरमेऽध्यायत्रये मध्ये मध्यमाधिकारिविषयदहरविद्योपदेश कल्पनं च अद्वैतस्य उपनिष-दभिप्रायवर्हिर्भूतत्वं सुस्पष्टं प्रकाशयति । सविशेषमुपास्यमेकमेव सर्वासूपनिषत्सु उपादिश्यमानं ब्रह्म । निर्विशेषं ज्ञेयमित्येवंरूपमन्यत् किमपि कुत्रापि नास्ति ।



४. “वाक्यभाष्ये उभे अपि नष्टे, अदृश्यतां गते” इति वदन्नेव “तयोरुभयोरपि ‘उभयविधमपि ब्रह्म स्पष्टं प्रकाशितम्” इति प्रतिजानीते शास्त्री । केवलं माहसमेतत् ।

५. अद्वैतविशिष्टद्वैतग्रन्थेषु यादृशानि वाक्यग्रन्थभाष्यग्रन्थवाक्या-  
न्युदाहृतानि तानि सर्वाणि आलस्यं विना बहु परिश्रम्य उपलभ्य गण-  
यित्वा दर्शितानीति अभिनन्दनीयमेतत् । किन्तु परानन्दान्तरतयैव  
तत् कृतमिति शोकस्थानं तद्भवति । वाक्यग्रन्थे अष्टौ, भाष्यग्रन्थे नव,  
आहत्य सप्तदश वाक्यानि अद्वैतग्रन्थेषु उदाहृतानि । वाक्यग्रन्थे द्वावि-  
ंशतिः, भाष्यग्रन्थे एकादश, आहत्य त्रयस्त्रिंशद्वाक्यानि द्विंशष्टाद्वैत-  
ग्रन्थेषु उदाहृतानीत्याह । तत्र ‘सिद्धन्तु निवर्तकत्वात्’ इत्येतत् ध्वान्दो-  
ग्यवाक्यकार ब्रह्मनन्दिवाक्यमिति कैश्चिदुक्तमपि व्याकरणवाक्यकार-  
कात्यायनवाक्यमिति साभिसन्धि वदन मधुसूदनसरस्वती प्राचासुक्तिः  
कात्यायनग्रन्थादर्शनजनितभ्रान्तिमूलंति स्फुट्यावेदयति । श्रीभाष्येऽनु-  
दाहरणात् नेदं ब्रह्मनन्दिवाक्यमिति शक्यमध्यवसानुम् ।

६-७. श्रीशंकरेण वाक्यकारनामनिर्देशः कचिदपि न कृतः ।  
भाष्यकारनिर्देशोऽपि अनेकेषु स्थलेषु ‘सम्प्रदायविदः’ इत्यादिप्रकारेण  
सामान्यतोऽपि न कृतः । अथापि वाक्यभाष्यग्रन्थवाक्यानि बुद्धौ कृत्वा  
तत्सचञ्चायानि वाक्यानि शंकराचार्यो लिखतीति श्रीभाष्ये वाक्यकार-  
भाष्यकारनामनिर्देशपूर्वकं साक्षात् तद्वाक्योदाहरणादेव ज्ञायते ।

८. कथ्यासं पुण्डरीकमित्यत्र षडर्थं वाक्यकारेणोक्ता इति, न्य-  
‘आदित्यक्षिप्तं वा श्रीमत्त्वात्’ इति अन्यतमार्थप्रतिपादकं वाक्यग्रन्थ-  
वाक्यमिति च सुदर्शनसूखिचनादेव ज्ञायते । स्वयं वाक्यग्रन्थमदृष्ट-  
वतोऽपि पूर्वाचार्यकृतग्रन्थविशेषोन्त्यादेव तस्य तद् ज्ञातमासीदिति  
वक्तव्यम् । षट्सु अर्थेषु एकस्मिन्नपि स्वस्य आदरं श्रीशङ्करो न प्रदर्श-  
यति स्म । एकस्मित् अर्थे प्रसक्तं हीनोपमादोषपरिहारमात्रमुवाच ।

एवमप्यत्र सद्गुरुणा देवोऽस्मिन्नि पूर्वपक्षत्वं वदन्ति । अत्र यदुच्यते योगापेक्षया रुढिपूर्वकलक्षणा वरमिति तन्न । कपिशब्दरूढ्यनुसारेण कप्यासशब्देन वानरजवनोपस्थितौ समभिव्यङ्गतं पुण्डरीकपदार्थं तदनन्वयान्, आसशब्देन तदन्वयोग्ये क्षिप्तं विकसितमित्यर्थे शक्त्या उपस्थिते लक्षणाया सदृशग्रहणायोगात् तदानुगण्येन कपिशब्दस्य यौगिकादित्यपरत्वाश्रयणस्यैव युक्तत्वान् । योगापेक्षया रुढिपूर्वकलक्षणा वरमिति च नास्ति । न हि शूद्रशब्दस्य स्वर्घाटितचानुर्वर्त्यघटकत्वेन क्षत्रिये लक्षणा आश्रीयते । अत्रि तु यौगिकत्वमेव । शुगस्येति सूत्रकरणान् । कपिपदस्य यौगिकार्थेषु क्वापि अलमर्मापि क्लिष्टत्वं नास्ति ।

६. 'स्याद्रूपं कृतकमुग्रहार्थं तच्चेतसामैश्वर्यात्' । 'रूपं वास्तीन्द्रियमन्तःकरणप्रत्यक्षं तन्नर्देशान्' इति ब्रह्मनन्दिवाक्यद्वयं भगवद्रामानुजेनादाहृतत्वादेव ज्ञायते । अत्र वाक्यद्वये प्रथमं पूर्वपक्षात्कम् । अत एवात्र द्रमिडभाष्यम्—'नानित्यं, न मायामयम् । अञ्जसैव विश्वसृजो रूपम् । तत्तु न चक्षुषा ग्राह्यम् । मनसा त्वकलुषेण साधनन्तरवताः गृह्यते ।' इति ।

१०. कार्याधिकरण इवात्र वाक्यग्रन्थेऽपि पूर्वपक्षमेव स्वमतानुरोधेन सिद्धान्तं करोति श्रीशङ्करः । तद् विपरीतार्थवर्णनमिति प्रदर्शनायैव भगवद्रामानुजमुनिः वाक्यभाष्यग्रन्थमुग्रन्थस्य पूर्वोत्तरपक्षा विभज्य दर्शयति । बुद्धिपूर्वं श्रीशङ्कर इह वाक्यभाष्यग्रन्थविरुद्धं भाषणे ।

११. "रूपं वा" इति वाक्यं 'रूपं च' इति विपर्यस्यति शास्त्री । माहसमेतत् । वितत्येदं निरूपितं प्राक्तने पञ्चत्रिंशो पर्वणः ।

१२-१४. 'यथाभूतवादि हि शास्त्रम्' इति द्रमिडाचार्योक्तौ यथाभूतमिति पारमार्थिकमित्येवार्थः । लोकव्युत्पत्तिसिद्धत्वान् । व्यावहारिकमित्यपि तदेकार्थम् । अपारमार्थिकस्य व्यवहारानुयुक्तत्वान् । व्यावहारिकस्य अपारमार्थिकत्वायोगान् । अद्वैतिभिः क्रियमाणस्य व्यावहारि-

कत्वपारमार्थिकत्वयोर्भेदकल्पनस्यात्यन्तमर्वाचीनत्वेन वाक्यद्रामिडभाष्य-  
काले अप्रसिद्धत्वात् । 'न । संव्यवहारमात्रत्वात्' इति वाक्यस्य सत्का-  
र्यवादस्थापकत्वमेव, न तु मिथ्यात्वसाधकत्वमिति निरूपितत्वात् ।  
वाचारम्भणं विकारो नामधेयमिति श्रुतिवाक्यार्थानिरूपणेनैव एतद्वा-  
क्यमपि सुनिरूपितार्थमिति एतद्विवरणे पूर्वाचार्याणामप्रवृत्तिः । संव्य-  
वहारशब्दश्रवणात् अद्वैतानुकूलमेतदिति मत्या अमलानन्दप्रभृतयः  
पूर्वग्रन्थेषु पठितमिदं स्वयमपि पठन्ति ।

१५-१६. 'युक्तं तद्गुणकोपासनात्' इति वाक्यं तस्य द्रामिडभाष्यं च  
हठादद्वैतं प्रति कर्षन्ति संक्षेपशारीरकादिकारा इति पूर्वं ३० प्रभृति  
षट्सु पर्वसु निरूपितवन्तः स्मः । अन्तर्गुणेति भाष्ये गुणशब्देन सर्व-  
विद्यानुयायिनः सत्यज्ञानातन्वामलत्वरूपाः पञ्च स्वरूपनिरूपकगुणाः, सर्व-  
जगत्कारणत्वादयः तत्तत्प्रकरणप्रतिपाद्या विशेषगुणाश्च विवक्षिता इति  
ग्रन्थेषु स्पष्टमुक्तम् । "परे तु कोऽसौ गुण इति प्रश्नस्य प्रतिवचनमनुक्तत्वेव  
गुणस्यान्तर्विद्यमानत्वमात्रं वदन्तः" इत्यादि लिखति शास्त्री । 'न  
ह्येष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति ।"

१७. सिद्धन्तु निवर्तकत्वादिति व्याकरणवाक्यं, न तु छान्दोग्य-  
वाक्यमित्यवोचाम । तस्य च, प्राप्तिविरोधिकर्मनिवर्तकत्वादुपासनात्मकस्य  
वेदनस्य मोक्षानित्यत्ववादिशास्त्रप्रामाण्यं स्थितमेवेत्येवमर्थकत्वात्  
नास्ति अद्वैतसम्मतमिध्यासंसारनिवर्तकत्वपरत्वम् । अस्य ब्रह्मनन्दि-  
वाक्यत्वाभावादेव सङ्गतार्थन्वेऽपि श्रीभाष्यकारैरनुदाहरणम् । व्याधकुल-  
वृद्धराजकुमार दृष्टान्तः श्रीभाष्यकारैः समन्वयाधिकरणे श्रंदेशिकचरणौ  
श्रीसारशास्त्रे च सुानरूपितः ।

१८. 'आत्मेत्येव तु गृहीयात्' इति वाक्येन परमात्मनः जीवा-  
भिन्नतया चिन्तनमुदितं वाक्यकारैः, इत्याह । केन शब्देनात्र परमात्मनो  
जीवाभेदो बोध्यते ? उपासकः परमात्मानं स्वस्य आत्मेति गृहीयात्,

इति हि अस्य वाक्यस्यार्थः । सः स्वस्य आत्मेत्युक्ते स्वयं तस्य शरीर-  
मित्यर्थास्लभ्यते । अभेदस्य तु क्रः प्रसङ्गः । 'सर्वस्य' तन्निष्पत्तेरिति हेतु-  
निर्देशाच्च भेद एव प्रस्फुटः । अद्वैतसम्प्रदायविरुद्धं चेद् परमात्मनः  
जीवाभिन्नतया चिन्तनाभिधानम् । यदाह श्रीशङ्करः 'न ह्येश्वरस्य संसा-  
र्यात्मत्वं प्रतिपाद्यत इत्यभ्युपगच्छामः । किं तर्हि ? संसारिणः संसा-  
रित्वापोहेन ईश्वरात्मत्वं प्रतिपिशादयिषितमिति ।' इति आत्मेति  
तूपगच्छन्तीत्यत्र ।

१६. सगुणपराणि ब्रह्मनन्दिवाक्यानि बहूनि सन्ति, उपलभ्यन्ते  
चेति सम्प्रतिपन्नम् । एकमपि तु निगुणपरं वाक्यं नास्ति । न केनचिदु-  
दाहृतम् । तत्र 'अद्वैतिभिरनूदितं निर्गुणपरवाक्यभाष्यग्रन्थवाक्यजातन्तु'  
इत्यादिलेखनं विस्मयाय कल्पते । निगुणग्रन्थोऽपि नाघ्रातां वाक्यभा-  
ष्यकाराभ्याम् । निर्गुणवादस्य अत्यन्तमर्वाचीनत्वात् ।

२०. 'अञ्जसैव विश्वसृजो रूपम्' इति सिद्धान्त भाष्यम् । इतः  
पूर्वं पूर्वमक्षनिराकरणपरं भाष्यम्—'न कार्यं न वा मायामयम्' इति ।  
'तस्य च रूपस्य अनित्यतां वाक्यकारेणैव प्रतिषिद्धम्' इति हि  
वेदार्थसंग्रहश्रीसूक्तिः । 'तद्रूपस्य कार्यत्वं मायामयत्वं वेति....निरसनीयं  
मतमुपन्यस्य' इति सारश्रीसूक्तिश्च । एवं च 'न कार्यं न वा मायामयं,  
अञ्जसैव विश्वसृजो रूपम्' इत्येव भाष्यग्रन्थ इति स्पष्टम् । अत्र 'न  
मायामयम्' इत्यस्य कल्पितत्वकल्पनं कल्पकस्य अल्पतां कल्पयति ।

२१. 'नमः प्रवर गुणैकास्पदाय' इत्यादि द्रमिडभाष्यस्थमेव मङ्ग-  
लम् । द्रमिडभाष्यकारभक्तः मांसांसान्यायकोशकारः तदेव वाक्यरूपं  
मङ्गलं तत उद्धृत्य स्वग्रन्थारम्भे निवेशयामास । एतल्लेखका वा  
कश्चित् । भास्करादनन्तरकालिकेषु वेदान्त ग्रन्थकारेषु विना भगवद्रा-  
मानुजं अन्यो यः कोऽपि वाक्यग्रन्थं वा भाष्यग्रन्थं वा नैव अवलोकित-  
वानिति निश्चोयते ।

२२. छान्दोग्यं वा अन्या वा उपनिषन् अद्वैतपरा न काचिदस्ति । अतएव तद्विवरणपरं वाक्यं एतद्विवरणं भाष्यं च नैवाद्वैतप्रतिपादकम् । विस्तृत ब्रह्मसूत्रं वृत्तकारबोधायनमनानुसारिणां इमे द्वे चिरन्तनवैदिकसम्प्रदायसिद्धं त्रिषणुविशिष्टाद्वैतनिष्ठे । ब्रह्मनन्दद्रामिडाचार्यौ ब्रह्मसूत्रवृत्तिकाराविति प्रोच्यः केऽपि न वदन्ति ।

२३. यामुनाचार्यः आत्मसिद्धौ द्रामिडभाष्यकार इति शठकोपमुनिमाहेति विकटकवीनां भणितुमुचितम् । न गम्भीरविमर्शनप्रवणानां विचक्षणानाम् । आत्मसिद्धौ भाष्यकारेणेत्येव शठ उपलभ्यते । तत्र हास्यपरतयाऽपि अन्यार्थकथनमशक्यम् ।

२४. जात्यन्धां रूपविशेषविषयं सिद्धान्तमिव शास्त्री शठकोपमुनिकृतदिव्यप्रबन्धविषयं उपहास्यं कल्पनाजालं करोति । शठकोपगाथासहस्रस्य श्रीवत्सांकारमिश्रकृतं व्याख्यानं नैवासीत् । अत्र वक्तव्यं सर्वं पूर्वं ६० पवादिषु सविस्तरमुक्तम् ।

२५. पाञ्चरात्रस्य प्रामाण्ये अप्रामाण्ये वा औपनिषदस्य विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तस्य न कश्चन विशेषः । न ह्ययं सिद्धान्तः पाञ्चरात्रप्रामाण्यावष्टम्भेन प्रवृत्तः । न हि श्रीमद्भाष्ये पाञ्चरात्राधिकरणं विनाऽन्यत्र क्वापि पाञ्चरात्रवचनं प्रामाण्यं दाहृतम् । अयापि परमतप्रतिक्षेपपरेपादे विचारात् पाञ्चरात्रप्रामाण्यमपि प्रतिक्षेप्यमिति केषाञ्चिद् भ्रमं सूत्राणां यथावद्व्याख्यानेन निवर्तयन्तः यामुनाचार्यं प्रभृतयः पाञ्चरात्रप्रामाण्यमेव प्रतिक्षेप्यं, न तु प्रामाण्यमिति सूत्रकारमिमत्तं वस्तुतत्त्वं निरूपितवन्तः । श्रीवत्साङ्कमिश्राक्तं विरुद्धांशे अप्रामाण्यं कृत्वा विन्तत्त्वेन व्याचक्षत । बोधायनवृत्तेरत्यन्तं विरलप्रचारत्वाद् भास्करादिभिर्नुदाहरणम् ।

२६. अतिविस्तरभीरुभिः यत्र अवश्यं मूलग्रन्थवाक्यमुदाहृतव्यं भाति तत्रोदाह्रियते । अन्यत्र तदुक्ता अर्थाः तन्नामनिर्देशं विना स्ववा-

क्यैरेव प्रतिपाद्यन्ते । 'तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते' इति प्रतिज्ञाय अभिहिताः सूत्रार्थाः सर्वे पूर्वाचार्योक्ता एवेति हि स्पष्टमवगम्यते । अथशब्दस्य कर्मविचागन्तर्यार्थत्वं, मुक्तिमाधनतया वेदान्तविहितस्य वेदनस्य उपासनरूपत्वं, उपासनस्य च कर्मापेक्षत्वं, अचिरादिमार्गेण देशविशेषे मुक्तेः प्राप्यत्वं च वृत्तिवाक्यभाष्यग्रन्थोदाहरणपूर्वकं विस्तरेण निरूपितवाद्भिः सर्वपूर्वाचार्यमतविरुद्धत्वमद्वैतस्य सुप्रदर्शितम् । प्रथमसूत्रे प्रथमपदस्य स्वरूपप्राप्तं कर्मविचारानन्तर्यार्थत्वं प्रतिक्षिपन्तः स्वबुद्ध्या अर्थान्तरं कल्पयन्तश्चाद्वैतिनः चिरन्तनवेदान्तसम्प्रदायप्रनीषणाः मन इति सर्वसुग्रहमेतत् । एतद्ज्ञापनायैव श्रीभाष्ये अथशब्दार्थविरणावसर एव अद्वैतस्य विस्तरेणापन्यस्य निरसनम् ।

२७. श्रीकण्ठः सुदर्शनसूरिवेङ्कटनायादिभ्यः अर्वाचोन इति सम्यङ् निरूपितवन्तः स्मः ।

२८. विशिष्टाद्वैतमतचोरः श्रीकण्ठ इति कैश्चिदुच्यमानं पारमार्थिकमेव । न तत् केनापि प्रतिक्षेप्तुं शक्यम् । स्वसिद्धान्तस्य मूलं इत्थं प्रकाशयति भगवद्रामानुजमुनिः—

तदेतन् नानाविधानश्रुतिनिकर शिष्टपरिगृहीततद्व्याख्यानपरिश्रमादवधारितम्, इति, भगवद्बोधायन टंक द्रमिड गुहदेव कपर्दि भारुचि प्रभृति अविगीत शिष्टपरिगृहीत पुरातन वेदवेदान्त व्याख्यान सुव्यक्तार्थं श्रुतिनिकर दर्शितोऽयं पन्थाः, इति च ।

अत्र प्रथमवाक्ये तत्त्वविषये सामान्यत उक्तमेव द्वितीयवाक्ये उपायविषये विशेषत उक्तम् । भगवद्बोधायन टंक द्रमिडाः पुरातन वेदान्त व्याख्यानकाराः । गुहदेवः कपर्दी च पुरातनवेदव्याख्यानकारौ । तत्र गुहदेवः साक्षाद् वेदव्याख्यातेति रामाण्डारवृत्तितो ज्ञायते । कपर्दी आपस्तम्बश्रौत सूत्र व्याख्यातेति एतद्भाष्यस्याद्योपलम्भाद् ज्ञायते ।

स साक्षाद् वेदव्याख्याननमन्यन् कृतवानिति न ज्ञायते । श्रौतसूत्र-  
भाष्यमेव बहूनां वेदभागानां विवरणात्मकतया वेदव्याख्यानमित्युक्त-  
मिति ग्रहीतुमुचितम् । भारुचिरपि वेदव्याख्यानकार इति भाति ।  
वेदव्याख्यातारः सर्वे वेदान्तविद् एव आसन् । वेदभागा अपि हि  
बहवः वेदान्तार्थगर्भा भवन्ति । अतो व्याख्यातृभिः वेदान्तबोध्या  
अर्थास्तत्र प्रतिपादनीया भवन्ति । तस्माद् वेदान्तव्याख्यानानीव वेद-  
व्याख्यानान्यपि तत्त्वं जिज्ञासमानानां उपकारकाणि उपजीव्यानि च  
भवन्ति । अद्वैतप्रादुर्भावात् प्राक् वेदान्तदर्शनं विप्रतिपत्तिरहितं एक-  
रूपमासीत् । पदार्थवाक्यार्थविषये भेदः कश्चित् कामं स्थितः स्यात् ।  
तत्त्वहितपुरुषार्थेषु तु एकरूपा सर्वेषां मतिः । विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेद-  
इत्युक्तीत्या ब्रह्मसूत्राणामपि वेदान्तेऽन्तर्भावात् तेषां प्रथमव्याख्यानका-  
रान् भगवद्बोधायनात् प्रभृति प्रवृत्तः वेदान्तदर्शनसम्प्रदायः टङ्कद्रामिडा-  
दिगुरुपरम्परया चिरमनुवृत्तः कापि सन्तस्थे । ततः श्रीशठकोपमुनि-  
द्वारा पुनः प्रावर्तत । एतत्कृतप्रबन्धानां द्वाविडभाषारूपत्वेऽपि तैः वाचा  
च तेनोपदिष्टार्थाः चिरन्तनसम्प्रदायप्राप्ता वेदान्तार्था एव । मनार्गाप  
भेदो नातीत् । 'एवमेकरूपतया अनुवृत्तं वेदान्तदर्शनं शांकराद्वैतप्रादुर्भा-  
वानन्तरं अत्यन्तलोपावस्थाऽसक्तिमलभत । तदात्वे यामुनाचार्याः  
सिद्धित्रयादिग्रन्थकरणेन प्रवचनेन च पुनः प्राचीनसम्प्रदायप्रतिष्ठापने  
अयतन्त । तेषां प्रशिष्या भगवद्रामानुजमुनयश्चश्रीभाष्यादिप्रणयनेन तं  
प्रतिष्ठापयन्ति स्म । तस्माद् विशिष्टाद्वैतमिति पश्चाल्लब्धसंज्ञामिदं  
वेदान्तदर्शनं चिरन्तनमिति ज्ञेयम् ।

२६--३०. भगवद्बोधायन तत्कृतवृत्तिग्रन्थादिर्विषये शास्त्रिणा  
कृताः कुत्सितविपरीतवादाः सर्वे विध्वस्ताः ।

३१. मीमांसायां देवताकाण्डो नाम कश्चिद् भाग आसीदिति  
वेदान्तग्रन्थकारैः प्रायः सर्वैः तन्निर्देशात् अवगम्यते । तथा सङ्कर्षकाण्ड

इत्यपि । उभयनामाऽयं एक एव भाग इति बहूनां मातः । परन्तु अद्य संङ्कर्ष इत्येवमिति नान्यत् तत्र देवताकाण्डप्रतिपाद्यतया ये अर्थाः प्रसिद्धाः तेषामदर्शनात्, संङ्कर्षस्य जैर्मानिकृतत्वेन देवताकाण्डस्य च काशकृत्स्नकृतत्वेन प्रसिद्धत्वाच्च मिथो भिन्नौ द्वाविमौ काण्डौ । तत्र देवताकाण्डोऽत्यन्तं लुप्त इति वक्तव्यं भवति ।

३२. 'वृत्तात् कर्माधिगमादनन्तरं ब्रह्मविधिदिषा' इति वृत्तिकारवाक्यं श्रीभाष्ये उदाहृतं वस्तुतो न वृत्तिकारवाक्यम् । भाष्यकारभाष्यं दृष्ट्वा कल्पितमित्याह शास्त्री । अस्य विप्रलम्भकत्वं ६२ पत्रेण प्रदर्शितम् ।

३३. सम्प्रदायवाह्योऽयं श्रीसुदर्शनसूरिवाक्यं यथावदवगन्तुं न क्षमत इत्युक्तवन्तः स्मः । सूत्रभाष्ये समन्वयाधिकरणान्ते पठितं श्लोकत्रयं सुन्दरपाण्ड्यापरनामधेय द्रमिडाचार्यकृतं, यद्वा शङ्कराचार्यैरेव कृतमित्यत्रुम ।

३४. व्यासपूजाकाले अद्वैतिभिः पूज्यमानो द्रमिडाचार्यः ब्रह्मनन्दिचिनाकृतत्वान् न भाष्यकारद्रमिडाचार्यः अपि तु श्रीशङ्कर एवेति प्रत्यपादयाम ।

३५. अद्वैतं औपनिषदं न भवति । जगद्ब्रह्मणोर्भेदस्य, सृज्यमानतया जगतः सत्यत्वस्य, जीवभेदस्य, मुक्त्युपायतया उपासनस्य, देशविशेषे प्राप्यस्य सगुणब्रह्मप्राप्तिरूपस्य. फलस्य च तत्रोपदेशात् । एषां त्रिशदीकरणाय प्रवृत्तं ब्रह्मसूत्रमपि अद्वैतं नानुगृह्णाति । ज्ञानवासिष्ठं केवलकर्मठानां ज्ञाने आभिमुख्यजननाय प्रवृत्तं अर्थवादरूपं न तत्त्वनिर्णयपरम् । उपवर्षस्य अद्वैतस्य च कालिकसम्बन्धोऽपि नास्तीत्युक्तम् । गौडपादोपज्ञं प्रवृत्तमिदमिति परमार्थोऽयम् । श्रीशंकरादिभिः प्रौढैर्बहुभिरपि ग्रन्थकारैः अद्याप्यलब्धप्रतिष्ठं तु तत् । सहस्रच्छिद्रतया अतिदुर्बलत्वान् । 'अनाद्यविच्छिन्नसम्प्रदायागत' मिति मिथ्या । जग-



न्मिथ्यात्ववादस्य सुगतोपज्ञत्वात् । गौडभादेन ततो गृहीतत्वात् ।  
परमानन्दावहमित्याप मिथ्या । अहमर्थं विनाशधियो दुःखावहत्वात् ।  
परमशान्तिप्रदमित्याप तथा । तद्विगतवतस्तव धारणापकर्मानर्गत-  
दर्शानात् । 'अद्वैतदर्शनं यथार्थकारं संसेव्य' इत्यर्थशून्यं वचः । इहा-  
मुत्र फलभोग्याः शमदमादि सम्पन्नस्य स्तः स किल तत्सेवना-  
धिकारो । किन्तु यमार्थकारस्तवास्ति । अथवा अयस्य कस्याचल्लोके  
नित्यनुक्तस्य अद्वैत-कृत्यं च कश्चिन्न्यास्त, प्राप्य च । तत्र कृत-  
कृत्याः प्राप्तप्राप्याश्च भवन्ति किं प्रार्थ्यते ?

३३. 'ऋषेरभिप्रायं ऋषिरेव च वेदितुमर्हति, न तु जडमार्तरितरो  
जनः' इत्यादि वदन्तः न अद्वैतादिषु दर्शनान्तरेषु असूयालवः । न हि  
साङ्ख्यसौगतार्थं निरस्यन् भगवान् बादरायणः तस्मै असूयातः अपि  
तु लौकानुग्रहाय वेदान्तदर्शनस्य यथावत् प्रतिपादने यथा बादरायण-  
तथैव इमे श्रद्धालवः । नहिनिन्दान्यायः प्रसिद्धः । तत्र क्रोधः पामर-  
लक्षणम् ।

३७. जगद्गुरुपदे स्थिता अपि अवशात् पक्षे यतन्ति । अद्वैतं  
तेषां स्वसिद्धान्तः । तेन तेषां तत्र आदरो । न्याय्यः आचश्यकः परं  
तु तस्य यथावत् अवगमे, प्रतिष्ठावने, तदुपयोगतया मतान्तरविमर्शं  
च परं पण्डिताः प्रोत्साहनीयाः । न तु तत्सर्वं विज्ञाय पाकिस्थानिप्रक्र-  
यया निष्कारणपरपरिवादमात्रे । एतद्विहाय अन्यत् किमपि न कृतं  
द्रमिडात्रेयदर्शनकृता । स्वकीयत्वाभिमानेन मिथ्याप्रशंसामात्रं कृत्वा  
अद्वैतस्य परित्राणं दुष्करम् । अद्वैतज्ञाः सम्प्रति विरलाः । तेन स्वमती-  
पपादनादपि, न्याय्येन मार्गेण परमतखण्डनादपि पामरवृत्त्या परम-  
ग्रन्थकाराणामाचार्याणां परिवादिषु रमन्तेतराम् । शमप्रधानैः लोकाहित-  
कामैः ईदृशवृत्तिनिरोधे परमो यत्न आस्थेयः ।

३८. शास्त्रो अद्वैती तद्ग्रन्थाध्यायो । विशिष्टाद्वैतग्रन्थेषु अद्वैतस्य

खण्डनात् तत्र तस्य प्रबलो द्वेषोऽजायत । ब्रह्मसूत्राणां प्रथमवृत्तिकाराद् भगवद्बोधायनादारभ्य प्रवृत्तस्य सम्प्रदायस्यानुरोधे स्वयं अत्यन्त-श्रद्धाप्रकाशनेन अद्वैतस्य तदननुरोधित्वप्रदर्शनेन च महतामाचार्याणां विषये महती अप्रुया अजनि । अस्यामवस्थायां प्रेतसाहनमपि किञ्चिद-लभ्यत । एषामनुरूपं विमर्शं ग्रन्थं च कर्तुं प्रावर्तत । तत्र अनुसृता पद्धतिरियम्—१ प्राचीनाचार्येषु येषां नाम अद्वैतग्रन्थेषु निर्दिष्टं ते अद्वै-तिनां वक्तव्याः । २ येषां नाम न निर्दिष्टं ते गगनकुसुमायमनाः परैः कल्पिता वक्तव्याः । ३ ग्रन्थान्तरेषु तन्नामनिर्देशदर्शने यथाकर्थाञ्चत् तेषां ग्रन्थानामप्रमाणं अत एवानुपादेयत्वं प्रतिपादनीयम् । ४ यानि पूर्वाचार्यवचनानि अद्वैतग्रन्थेषु अनुदाहृतानि विशिष्टाद्वैतग्रन्थेषु उदाहृतानि तानि परैः कल्पितानि वाच्यानि । ५ उभयत्रोदाहृतेषु वचनेषु यत्र अद्वैतग्रन्थोक्तार्थविरुद्धपरतयार्थयोजनं क्रियते तत्र वचनविपर्या-सादिकं परैः कृतमिति कृत्वा अद्वैतानुकूलतया अन्यथाकरणमावश्य-कम् । अद्वैतविरुद्धोऽर्थो नैव ग्राह्यः । ६ परकीयाः सर्वे पूर्वाचार्याः अनृत-वादिनः वञ्चनपराः अयोग्याः प्रकटनीयाः । ७ यावच्छक्ति तेषां गद्दो कर्तव्या ।

इत्थं सप्रलक्षणां पद्धतिमाश्रित्य मतद्वयसम्बन्धिषु ग्रन्थेषु अन्वेषणं बहु कृत्वा तत्त्वं अतत्त्वमिव अतत्त्वं तत्त्वमिव प्रदर्शयन् द्रमिडात्रेयदर्शनं शास्त्री प्रकटयामास । एतेनास्य ग्रन्थस्य गौरवं सुव्याख्यातम् । “नारा-यणावतारस्य व्यासमहर्षेः अभिप्रायं शङ्करावतारो भगवन्पाद एव त्स्वतां वेदितुमहति” इत्याह । सत्यम् । कुर्मस्तावदेवम् । स वेदैव । श्वरं तु तदनुसारेण ग्रन्थान् न चकार । ‘त्वं हि रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय’ इति भगवदाज्ञावशंवदः दुष्कृद्भिनाशाय मोहग्रन्थानेव चकार । कथमिदमवगम्यत इति चेत् उपनिषद्ब्रह्मसूत्रखण्डनरूपत्वान् तद्ग्रन्था-नाम् । सर्वपूर्वाचार्यमतविरुद्धमतप्रवर्तकत्वात् । वेदबाह्यसुगतमतपरि-

अहाच्च । पाद्मोत्तरखण्डस्य २३५. २३६ अध्यायौ इह पठितव्यौ ।

२३६ अध्यायस्थाः केचन श्लोका उदाह्रियन्ते—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते ।  
 मयैव कथ्यते देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा ॥  
 अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयन्नोक्तगर्हितम् ।  
 कर्मस्वरूपत्याज्यत्वं यत्र वै प्रतिपाद्यते ॥  
 परेशजीवयोरैक्यं मयाऽत्र प्रतिपाद्यते ।  
 ब्रह्मणोऽत्र परं रूपं निर्गुणं वक्ष्यते मया ॥  
 सर्वस्य जगतोऽप्यत्र मोहनार्थं कलौ युगे ।  
 वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम् ॥  
 मयैव वक्ष्यते देवि जगतां नाशकारणम् ॥

( कलकत्ता—मनसुख राय मोर—प्रकृतितायाः गुरुमण्डलग्रन्थ-  
 मालायाः अष्टादशे पुष्पे ८१६ पुटे । )

३६. विप्रलम्भपदवीवैदेशिकैर्देशिकैः निराडम्बरसमस्तसार्थवाक्य-  
 विन्यासतत्परैः प्रतिपादिते वस्तुतत्त्वे दुर्विमर्शकारिणा शास्त्रिणा, परिपूते  
 धान्यराशौ अवकरराशिमभिवर्षता दुर्वर्तनेव जातां अशुद्धिं परिजिही-  
 र्षता इदं सानुबन्धं शतपर्व-व्यलेखि । मन्ये एतद्वलोकनं शास्त्रिणोऽपि  
 धियं प्रसन्नां करिष्यति ।





“जयति यतिराजसूक्ति-  
जयति मुकुन्दस्य पादुकायुगली ।  
तदुभयधनास्त्रिवेदी-  
मवन्ध्ययन्तो जयन्ति भुवि सन्तः ॥”



श्रीः

## उद्यानपत्रिका

नाम

संस्कृतमासपत्रिका

वार्षिकमूल्यम्—३ रु०

---

## निशिष्टाद्वैतज्ञेशः

मूल्यम्—२० रु०

---

## मीमांसास्युद्धयः

मीमांसाशास्त्रसम्बन्धिग्रन्थग्रन्थकारः

प्रमाणप्रमेयादिप्रतिपादकी

त्रिमर्षग्रन्थः । मूल्यम्—२. ५० रु०

---

The Editor

Udyanapatrika

13, G. South Mada Street

Tirupati,

Andhra Pradesh.

